प्रेमचन्द

जन्म बनारस के पास लमही में १८८० ई० में। असली नाम थी धनपतराय। आठ वर्ष की आयु में माता और चौदह में पिता का निधन हो गया। अपने बल-भरोसे से पढ़े। बी० ए० किया। १९०१ में उपन्यास लिखना शुरू किया। कहानी १९०७ से लिखने लगे। उर्दू में नवाबराय के नाम से लिखते थे। १९१० में सोजेवतन जब्त की गई, उसके बाद प्रेमचन्द के नाम से लिखने लगे। १९२० तक सरकारी नौकरी की। फिर सत्याग्रह से प्रभावित हो नौकरी छोड़ दी। १९३० में 'हंस' और १९२३ में सरस्वती प्रेस की स्थापना की। ८ अक्तूबर १९३६ को स्वर्गवास हुआ।

कायाकल्प का रचना-काल—१९२९ ई०

कायाकल्प

१

दोपहर का समय था, पर चारों तरफ अँधेरा था। आकाश में तारे छिटके हुए थे। ऐसा सन्नाटा छाया हुआ था मानो संसार से जीवन का लोप हो गया हो। हवा भी बन्द हो गयी थी। सूर्यग्रहण लगा हुआ था। त्रिवेणी के घाट पर यात्रियों की भीड़ थी—ऐसी भीड़ जिसकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती। वे सभी हिन्दू, जिनके दिल में श्रद्धा और धर्म का अनुराग था, भारत के हर एक प्रान्त से इस महान् अवसर पर त्रिवेणी की पावन धारा में अपने पापों का विसर्जन करने के लिए आ पहुँचे थे, मानो उस अँधेरे में भक्ति और विश्वास ने अधर्म पर छापा मारने के लिए अपनी असंख्य सेना सजायी हो। लोग इतने उत्साह से त्रिवेणी के सकरे घाट की ओर गिरते-पड़ते लपके चले जाते थे कि यदि जल की शीतल धारा की जगह अग्नि का जलता हुआ कुण्ड होता, तो भी लोग उसमें कूदते हुए जरा भी न झिझकते!

कितने आदमी कुचल गये, कितने डूब गये, कितने खो गये, कितने अपंग हो गये, इसका अनुमान करना कठिन है। धर्म का विकट संग्राम था। एक तो सूर्यग्रहण, उसपर यह असाधारण और अद्भुत प्राकृतिक छटा! सारा दृश्य धार्मिक वृत्तियों को जगानेवाला था। दोपहर को तारों का प्रकाश माया के परदे को फाड़कर आत्मा को आलोकित करता हुआ मालूम होता था। वैज्ञानिकों की बात जाने दीजिए; पर जनता में न जाने कितने दिनों से यह विश्वास फैला हुआ था कि तारागण दिन को कहीं किसी सागर में डूब जाते हैं। आज वही तारागण आँखों के सामने चमक रहे थे। फिर भक्ति क्यों न जाग उठे! सद्वृत्तियाँ क्यों न आँखें खोल दें!

घण्टे-भर के बाद फिर प्रकाश होने लगा, तारागण फिर अदृश्य हो गये, सूर्य भगवान् की समाधि टूटने लगी।

यात्रीगण अपने-अपने पापों की गठरियाँ त्रिवेणी में डाल-डालकर जाने लगे। सन्ध्या होते-होते घाट पर सन्नाटा छा गया। हाँ, कुछ घायल, कुछ अधमरे प्राणी जहाँ-तहाँ पड़े कराह रहे थे और ऊँचे करार से कुछ दूर एक नाली में पड़ी तीन-चार साल की एक लड़की चिल्ला-चिल्लाकर रो रही थी।

सेवा-समितियों के युवक, जो अब तक भीड़ सँभालने का विफल प्रयत्न कर रहे थे, अब डोलियाँ कंधों पर ले-लेकर घायलों और भूले-भटकों की खबर लेने आ पहुँचे। सेवा और दया का कितना अनुपम दृश्य था!

सहसा एक युवक के कानों में उस बालिका के रोने की आवाज पड़ी। अपने साथी से बोला—यशोदा, उधर कोई लड़का रो रहा है।

यशोदा—हाँ, मालूम तो होता है। इन मूर्खों को कोई कैसे समझाये कि यहाँ बच्चों को लाने का काम नहीं। चलो, देखें।

दोनों ने उधर जाकर देखा, तो एक बालिका नाली में पड़ी रो रही है। गोरा रङ्ग था, भरा हुआ शरीर, बड़ी बड़ी आँखें, गोरा मुखड़ा, सिर से पाँव तक गहनों से लदी हुई। किसी अच्छे घर की लड़की थी। रोते-रोते उसकी आँखें लाल हो गयी थीं। इन दोनो युवकों को देखकर डरी और चिल्लाकर रो पड़ी। यशोदा ने उसे गोद में उठा लिया और प्यार करके बोले—बेटी, रो मत, हम तुझे तेरी अम्मा के घर पहुँचा देंगे। तुझी को खोज रहे थे। तेरे बाप का क्या नाम है?

लड़की चुप तो हो गयी, पर संशय की दृष्टि से देख देख सिसक रही थी। इस प्रश्न का कोई उत्तर न दे सकी।

यशोदा ने फिर चुमकारकर पूछा—बेटी, तेरा घर कहाँ है?

लड़की ने कोई जवाब न दिया।

यशोदा—अब बताओ महमूद, क्या करें?

महमूद एक अमीर मुसलमान का लड़का था। यशोदानन्दन से उसकी बड़ी दोस्ती थी। उनके साथ वह भी सेवासमिति में दाखिल हो गया था। बोला—क्या बताऊँ? कैंप में ले चलो, शायद कुछ पता चले।

यशोदा—अभागे जरा-जरा से बच्चों को लाते हैं और इतना भी नहीं करते कि उन्हें अपना नाम और पता तो याद करा दें।

महमूद—क्यों बिटिया, तुम्हारे बाबूजी का क्या नाम है?

लड़की ने धीरे से कहा—बाबूजी!

महमूद—तुम्हारा घर इसी शहर में है या कहीं और?

लड़की—मैं तो बाबूदी के साथ लेल पर आई थी!

महमूद—तुम्हारे बाबूदी क्या करते हैं?

लड़की—कुछ नहीं कलते।

यशोदा—इस वक्त अगर इसका बाप मिल जाय, तो सच कहता हूँ, बिना मारे न छोड़ूँ! बचा गहने पहनाकर लाये थे, जाने कोई तमाशा देखने आये हों!

महमूद—और मेरा जी चाहता है कि तुम्हें पीटूँ। मियाँ बीवी यहाँ आये तो बच्चे को किस पर छोड़ आते? घर में और कोई न हो तो?

यशोदा—तो फिर उन्हीं को यहाँ आने की क्या जरूरत थी।

महमूद—तुम atheist (नास्तिक) हो, तुम क्या जानो कि सच्चा मजहबी जोश किसे कहते हैं?

यशोदा—ऐसे मजहबी जोश को दूर से ही सलाम करता हूँ। इस वक्त दोनों मियाँबीवी हाय हाय कर रहे होंगे।

महमूद—कौन जाने, वे भी यहीं कुचल कुचला गये हों।

लड़की ने साहस कर कहा—तुम हमें घल पहुँचा दोगे? वाबूदी तुमको पैछा देंगे।

यशोदा—अच्छा बेटी, चलो तुम्हारे बाबूदी को खोजें।

दोनों मित्र बालिका को लिये हुए कैम्प में आये; पर यहाँ कुछ पता न चला। तब दोनों उस तरफ गये जहाँ मैदान में बहुत से यात्री पड़े हुए थे। महमूद ने बालिका को कन्धे पर बैठा लिया और यशोदानन्दन चारों तरफ चिल्लाते फिरे—यह किसकी लड़की है? किसी की लड़की तो नहीं खो गयी? यह आवाज़ सुनकर कितने ही यात्री 'हाँ-हाँ, कहाँ-कहाँ' करके दौड़े; पर लड़की को देखकर निराश लौट गये।

चिराग जले तक दोनों मित्र घूमते रहे। नीचे-ऊपर, किले के आस-पास, रेल के स्टेशन पर, अलोपी देवी के मन्दिर की तरफ यात्री-ही-यात्री पड़े हुए थे; पर बालिका के माता-पिता का कहीं पता न चला! आखिर निराश होकर दोनों आदमी कैम्प लौट आये।

दूसरे दिन समिति के और कई सेवकों ने फिर पता लगाना शुरू किया। दिन भर दौड़े, सारा प्रयाग छान मारा, सभी धर्मशालाओं की खाक छानी; पर कहीं पता न चला।

तीसरे दिन समाचार-पत्रों में नोटिस दिया गया और दो दिन वहाँ और रहकर समिति आगरे लौट गयी। लड़की को भी अपने साथ लेती गयी। उसे आशा थी कि समाचार-पत्रों से शायद सफलता हो। जब समाचार-पत्रों से कुछ पता न चला तब विवश होकर कार्यकर्ताओं ने उसे वहाँ के अनाथालय में रख दिया। महाशय यशोदानन्दन ही इस अनाथालय के मैनेजर थे।

२

बनारस में महात्मा कबीर के चौरे के निकट मुंशी वज्रधरसिंह का मकान है। आप हैं तो राजपूत, पर अपने को 'मुंशी' लिखते और कहते हैं। 'मुन्शी' की उपाधि से आपको बहुत प्रेम है। 'ठाकुर' के साथ आपको गँवारपन का बोध होता है, इसलिए हम भी आपको मुन्शीजी कहेंगे। आप कई साल से सरकारी पेंशन पाते हैं। बहुत छोटे पद से तरक्की करते करते आपने अन्त में तहसीलदारी का उच्च पद प्राप्त कर लिया था। यद्यपि आप उस महान् पद पर तीन मास से अधिक न रहे और उतने दिन भी केवल एवज पर रहे; पर आप अपने को 'साबिक तहसीलदार' लिखते थे और मुहल्लेवाले भी उन्हें खुश करने को 'तहसीलदार साहब' ही कहते थे। यह नाम सुनकर आप खुशी से अकड़ जाते थे; पर पेंशन केवल २५) मिलती थी; इसलिए तहसीलदार साहब को बाजार-हाट खुद ही करना पड़ता था। घर में चार प्राणियों का खर्च था। एक लड़की थी, एक लड़का और स्त्री। लड़के का नाम चक्रधर था। वह इतना जहीन था कि पिता के पेन्शन के जमाने में जब घर से किसी प्रकार की सहायता न मिल सकती थी, केवल अपने बुद्धि-बल से उसने एम० ए० की उपाधि प्राप्त कर ली थी। मुन्शीजीने पहले ही से सिफारिश पहुँचानी शुरू की थी। दरबारदारी की

कला में वह निपुण थे। हुक्काम को सलाम करने का उन्हें मरज था। हाकिमों के दिये हुए सैकड़ों प्रशंसा पत्र उनकी अतुल सम्पत्ति थे। उन्हें वह बड़े गर्व से दूसरों को दिखाया करते थे। कोई नया हाकिम आये, उससे जरूर रब्त-जब्त कर लेते थे। हुक्काम ने चक्रधर का ख्याल करने के वादे भी किये थे, लेकिन जब परीक्षा का नतीजा निकला और मुन्शीजीने चक्रधर से कमिश्नर के यहाँ चलने को कहा, तो उन्होंने जाने से साफ इनकार किया।

मुन्शीजीने त्योरी चढ़ाकर पूछा—क्यों? क्या घर-बैठे तुम्हें नौकरी मिल जायगी?

चक्रधर—मेरी नौकरी करने की इच्छा नहीं है।

वज्रधर—यह खब्त तुम्हें कब से सवार हुआ? नौकरी के सिवा और करोगे ही क्या?

चक्रधर—मैं आजाद रहना चाहता हूँ।

वज्रधर—आजाद रहना था, तो एम० ए० क्यों पास किया?

चक्रधर—इसीलिए कि आजादी का महत्व समझूँ।

उस दिन से पिता और पुत्र मे आये-दिन बमचख मचती रहती थी। मुन्शीजी बुढ़ापे मे भी शौकीन आदमी थे। अच्छा खाने और अच्छा पहनने की इच्छा अभी तक बनी हुई थी। अब तक इसी खयाल से दिल को समझाते थे कि लड़का नौकर हो जायगा तो मौज करेंगे। अब लड़के का रंग देखकर बार-बार झुँझलाते और उसे काम-चोर, घमण्डी, मूर्ख कहकर अपना गुस्सा उतारते रहते थे। अभी तुम्हें कुछ नहीं सूझती, जब मैं मर जाऊँगा तब सूझेगी। तब सिर पर हाथ रखकर रोओगे। लाख बार कह दिया—बेटा, यह जमाना खुशामद और सलामी का है। तुम विद्या के सागर बने बैठे रहो, कोई सेंत भो न पूछेगा। तुम बैठे आजादी का मजा उठा रहे हो और तुम्हारे पीछेवाले बाजी मारे जाते हैं। वह जमाना लद गया, जब विद्वानो की कद्र थी, अब तो विद्वान् टके सेर मिलते हैं, कोई बात नहीं पूछता। जैसे और भी चीजें बनाने के कारखाने खुल गये हैं, उसी तरह विद्वानों के कारखाने हैं, और उनकी संख्या हर साल बढ़ती जाती है।

चक्रधर पिता का अदब करते थे, उनका जवाब तो न देते, पर अपना जीवन सार्थक बनाने के लिए उन्होंने जो मार्ग तय कर लिया था, उससे वह न हटते थे। उन्हें यह हास्यास्पद मालूम होता था कि आदमी केवल पेट पालने के लिए आधी उम्र पढ़ने में लगा दे। अगर पेट पालना ही जीवन का आदर्श हो, तो पढ़ने की जरूरत ही क्या है। मजदूर एक अक्षर भी नहीं जानता, फिर भी वह अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट बड़े मजे से पाल लेता है। विद्या के साथ जीवन का आदर्श कुछ ऊँचा न हुआ, तो पढ़ना व्यर्थ है। विद्या को जीविका का साधन बनाते उन्हें लज्जा आती थी। वह भूखों मर जाते, लेकिन नौकरी के लिए आवेदन-पत्र लेकर कहीं न जाते। विद्याभ्यास के दिनों में भी वह सेवा कार्य में अग्रसर रहा करते थे

अब तो इसके सिवा उन्हें और कुछ सूझता ही न था। दीनों की सेवा और ता में जो आनन्द और आत्मगौरव था, वह दफ्तर मे बैठकर कलम घिसने ह्रॉ।

इस प्रकार दो साल गुजर गये। मुशी वज्रधर ने समझा था, जब यह भूत इसके न उतर जायगा, शादी-ब्याह की फिक्र होगी, तो आप-ही-आप नौकरी की तलाश ड़ेगा! जवानी का नशा बहुत दिन तक नहीं ठहरता। लेकिन जब दो साल जाने पर भी भूत के उतरने का कोई लक्षण न दिखायी दिया, तो एक उन्होंने चक्रधर को खूब फटकारा—दुनिया का दस्तूर है कि पहले अपने घर मे जलाकर तब मसजिद मे जलाते हैं। तुम अपने घर को अँधेरा रखकर मस- को रोशन करना चाहते हो। जो मनुष्य अपनों का पालन न कर सका, वह की किस मुँह से मदद करेगा। मै बुढ़ापे में खाने-कपड़े को तरसूँ और सरो का कल्याण करते फिरो। मैंने तुम्हें पैदा किया, दूसरो ने नहीं, मैंने तुम्हें पोसा, दूसरो ने नहीं, मैं गोद में लेकर हकीम-वैद्यों के द्वार-द्वार दौड़ता फिरा, नहीं। तुम पर सबसे ज्यादा हक मेरा है, दूसरो का नहीं।

चक्रधर अब पिता की इच्छा से मुँह न मोड़ सके। उन्हे अपने कॉलेज ही मे जगह मिल सकती थी। वहॉ सभी उनका आदर करते थे; लेकिन यह उन्हे न था। बस कोई ऐसा धन्धा चाहते थे, जिससे थोड़ी देर रोज काम करके अपने की मदद कर सकें। एक घण्टे से अधिक समय न देना चाहते थे। सयोग से शपुर के दीवान ठाकुर हरिसेवकसिंह की अपनी लड़की को पढ़ाने के लिए ुयोग्य और सच्चरित्र अध्यापक की जरूरत पड़ी। उन्होने कालेज के प्रधाना- क को इस विषय मे एक पत्र लिखा। वेतन ३०) मासिक तक रक्खा। कालेज का अध्यापक इतने वेतन पर राजी न हुआ। आखिर उन्होने चक्रधर को उस काम गा दिया। काम बड़ी जिम्मेदारी का था, किन्तु चक्रधर इतने सुशील, इतने र और इतने सयमी थे कि उन पर सबको पूरा विश्वास था।

दूसरे दिन से चक्रधर ने लडकी को पढ़ाना शुरू कर दिया।

३

कई महीने बीत गये। चक्रधर महीने के अन्त मे रुपए लाते और माता के हाथ र देते। अपने लिए उन्हे रुपए की कोई जरूरत न थी। दो मोटे कुरतों पर काट देते थे। हॉ, पुस्तकों से उन्हें रुचि थी; पर इसके लिए कॉलेज का पुस्तका- ुला हुआ था, सेवा-कार्य के लिए चन्दों से रुपये आ जाते थे। मुंशी वज्रधर र भी कुछ सीधा हो गया। डरे कि इससे ज्यादा दबाऊँ, तो शायद यह भी हाथ य। समझ गये कि जब तक विवाह की बेड़ी पॉव मे न पड़ेगी यह महाशय काबू आयेंगे। वह बेडी बनवाने का विचार करने लगे।

मनोरमा की उम्र अभी १३ वर्ष से अधिक न थी, लेकिन चक्रधर को उसे पढ़ाते

हुए बड़ी झेंप होती थी। वह यही प्रयत्न करते थे कि ठाकुर साहब की उपस्थिति ही में उसे पढ़ायें। यदि कभी ठाकुर साहब कहीं चले जाते, तो चक्रधर को महान् संकट का सामना करना पड़ता था।

एक दिन चक्रधर इसी संकट में आ फँसे। ठाकुर साहब कहीं गये हुए थे। चक्रधर कुरसी पर बैठे, पर मनोरमा की ओर न ताककर द्वार की ओर ताक रहे थे, मानो वहाँ बैठते डरते हों। मनोरमा वाल्मीकीय रामायण पढ़ रही थी। उसने दो-तीन बार चक्रधर की ओर ताका, पर उन्हें द्वार की ओर ताकते देखकर फिर किताब देखने लगी। उसके मन में सीता के वनवास पर एक शङ्का हुई थी और वह इसका समाधान करना चाहती थी। चक्रधर ने द्वार की ओर ताकते हुए पूछा—चुप क्यों बैठी हो, आज का पाठ क्यों नहीं पढ़ती?

मनोरमा—मैं आपसे एक बात पूछना चाहती हूँ, आज्ञा हो तो पूछूँ?

चक्रधर ने कातर भाव से कहा—क्या बात है?

मनोरमा—रामचन्द्र ने सीताजी को घर से निकाला, तो वह चली क्यों गयीं?

चक्रधर—और क्या करतीं?

मनोरमा—वह जाने से इनकार कर सकती थीं। एक तो राज्य पर उनका अधिकार भी रामचन्द्र ही के समान था, दूसरे वह निर्दोष थीं। अगर वह यह अन्याय न स्वीकार करतीं, तो क्या उन पर कोई आपत्ति हो सकती थी?

चक्रधर—हमारे यहाँ पुरुषों की आज्ञा मानना स्त्रियों का परम धर्म माना गया है। यदि सीताजी पति की आज्ञा न मानतीं, तो वह भारतीय सती के आदर्श से गिर जातीं।

मनोरमा—यह तो मैं जानती हूँ कि स्त्री को पुरुष की आज्ञा माननी चाहिए। लेकिन क्या सभी दशाओं में? जब राजा से साधारण प्रजा न्याय का दावा कर सकती है, तो क्या उसकी स्त्री नहीं कर सकती? जब रामचन्द्र ने सीता की परीक्षा ले ली थी और अन्तःकरण से उन्हें पवित्र समझते थे, तो केवल झूठी निन्दा से बचने के लिए उन्हें घर से निकाल देना कहाँ का न्याय था?

चक्रधर—राज धर्म का आदर्श भी तो पालन करना था।

मनोरमा—तो क्या दोनों प्राणी जानते थे कि हम संसार के लिए आदर्श खड़ा कर रहे हैं? इससे तो यह सिद्ध होता है कि वे कोई अभिनय कर रहे थे। अगर आदर्श भी मान लें, तो यह ऐसा आदर्श है, जो सत्य की हत्या करके पाला गया है। यह आदर्श नहीं है, चरित्र की दुर्बलता है। मैं आपसे पूछती हूँ, आप रामचन्द्र की जगह होते, तो क्या आप भी सीता को घर से निकाल देते?

चक्रधर बड़े असमंजस में पड़ गये। उनके मन में स्वयं यही शङ्का और लगभग इसी उम्र में पैदा हुई थी, पर वह इसका समाधान न कर सके थे। अब साफ-साफ जवाब देने की जरूरत पड़ी, तो बगलें झाँकने लगे।

मनोरमा ने उन्हें चुप देखकर फिर पूछा—क्या आप भी उन्हे घर से निकाल देते ?

चक्रधर—नहीं, मै तो शायद न निकालता।

मनोरमा—आप निन्दा की जरा भी परवा न करते ?

चक्रधर—नहीं, मैं झूठी निन्दा की परवा न करता।

मनोरमा की आँखें खुशी से चमक उठीं, प्रफुल्लित होकर बोली—यही बात मेरे भी मन में थी। मैंने दादाजी से, भाई जी से, पण्डितजी से, लौंगी अम्माँ से, भाभी से यही शङ्का की, पर सब लोग यही कहते थे कि रामचन्द्र तो भगवान् हैं, उनके विषय में कोई शङ्का हो ही नहीं सकती। आपने आज मेरे मन की बात कही। मैं जानती थी कि आप यही जवाब देंगे। इसीलिए मैंने आपसे पूछा था। अब मै उन लोगों को खूब आड़े-हाथों लूँगी।

उस दिन से मनोरमा को चक्रधर से कुछ स्नेह हो गया। पढ़ने-लिखने से उसे विशेष रुचि हो गयी। चक्रधर उसे जो काम करने को दे जाते, वह उसे अवश्य पूरा करती। पहले की भाँति अब हीले-हवाले न करती। जब उनके आने का समय होता, तो वह पहले ही से आकर बैठ जाती और उनका इन्तजार करती। अब उसे उनसे अपने मन के भाव प्रकट करते हुए संकोच न होता। वह जानती थी कि कम-से कम यहाँ उनका निरादर न होगा, उनकी हँसी न उड़ायी जायगी।

ठाकुर हरिसेवकसिंह की आदत थी कि पहले दो चार महीनो तक तो नौकरों का वेतन ठीक समय पर दे देते; पर ज्यों ज्यों नौकर पुराना होता जाता था, उन्हें उसके वेतन की याद भूलती जाती थी। उनके यहाँ कई नौकर ऐसे भी पडे थे, जिन्होंने बरसों से अपने वेतन नहीं पाये थे। चक्रधर को भी इधर चार महीनों से कुछ न मिला था। न वह आप-ही-आप देते थे, न चक्रधर संकोचवश माँगते थे। उधर घर मे रोज तकरार होती थी। मुशी वज्रधर बार बार तकाजे करते, झुँझलाते—माँगते क्यों नहीं ? क्या मुँह मे दही जमाया हुआ है, या काम नहीं करते ? लिहाज भले आदमी का किया जाता है। ऐसे लुच्चो का लिहाज नहीं किया जाता, जो मुफ्त मे काम कराना चाहते हैं। आखिर एक दिन चक्रधर ने विवश हो ठाकुर साहब को एक पुरजा लिखकर अपना वेतन माँगा। ठाकुर साहब ने पुरजा लौटा दिया—व्यर्थ की लिखा-पढ़ी करने की उन्हें फुरसत न थी और कहा—उनको जो कुछ कहना हो खुद आकर कहें। चक्रधर शरमाते हुए गये और बहुत-कुछ शिष्टाचार के बाद रुपए माँगे। ठाकुर साहब हँसकर बोले—वाह बाबूजी, वाह ! आप भी अच्छे मौजी जीव हैं। चार महीनों से वेतन नहीं मिला और आपने एक बार भी न माँगा। अब तो आपके पूरे १२०) हो गये। मेरा हाथ इस वक्त तंग है। जरा दस-पाँच दिन ठहरिए। आपको महीने-महीने अपना वेतन ले लेना चाहिए था। सोचिए, मुझे एक मुश्त देने में कितनी असुविधा होगी। खैर, जाइये दस पाँच दिन मे रुपये मिल जायेंगे।

चक्रधर कुछ न कह सके। लौटे, तो मुँह पर घोर निराशा छायी हुई थी। आज दादाजी शायद जीता न छोड़ेंगे। इस ख्याल से उनका दिल काँपने लगा। मनोरमा ने उनका पुरजा अपने पिता के पास ले जाते हुए राह में पढ़ लिया था। उन्हें उदास देखकर पूछा—दादाजी ने आपसे क्या कहा!

चक्रधर उसके सामने रुपये पैसे का जिक्र न करना चाहते थे। झेंपते हुए बोले—कुछ तो नहीं।

मनोरमा—आपको रुपए नहीं दिये?

चक्रधर का मुँह लाल हो गया। बोले—मिल जायँगे।

मनोरमा—आपको १२०) चाहिए न?

चक्रधर—इस वक्त कोई ऐसी जरूरत नहीं है।

मनोरमा—जरूरत न होती तो आप माँगते ही न। दादाजी में बड़ा ऐब है कि किसी के रुपये देते हुए उन्हें मोह लगता है। देखिए, मैं जाकर'

चक्रधर ने रोककर कहा—नहीं नहीं, कोई जरूरत नहीं।

मनोरमा ने न माना। तुरन्त घर में गई और एक क्षण में पूरे रुपये लाकर मेज पर रख दिये, मानो कहीं गिने गिनाये रक्खे हुए थे।

चक्रधर—तुमने ठाकुर साहब को व्यर्थ कष्ट दिया।

मनोरमा—मैंने उन्हें कष्ट नहीं दिया। उनसे तो कहा भी नहीं। दादाजी किसी की जरूरत नहीं समझते। अगर अपने लिए कभी मोटर मँगवानी हो तो तुरत मँगवा लेंगे, पहाड़ों पर जाना हो, तो तुरन्त चले जायँगे, पर जिसके रुपए आते हैं, उसको न देंगे।

वह तो पढ़ने बैठ गयी, लेकिन चक्रधर के सामने यह समस्या आ पड़ी कि रुपए लूँ, या न लूँ। उन्होंने निश्चय किया कि न लेना चाहिए। पाठ हो चुकने पर वह उठ खड़े हुए और बिना रुपये लिये बाहर निकल आये। मनोरमा रुपये लिये हुए पीछे पीछे बरामदे तक आयी। बार-बार कहती रही—इसे आप लेते जाइए, जब दादाजी दें, तो मुझे लौटा दीजिएगा। पर चक्रधर ने एक न सुनी और जल्दी से बाहर निकल गये।

४

चक्रधर डरते हुए घर पहुँचे, तो क्या देखते हैं कि द्वार पर चारपाई पड़ी हुई है; उसपर कालीन बिछी हुई है और एक अधेड़ उम्र के महाशय उसपर बैठे हुए हैं। उनके सामने ही एक कुरसी पर मुंशी वज्रधर बैठे फर्शी पी रहे थे और नाई खड़ा पखा झल रहा था। चक्रधर के प्राण सूख गये। अनुमान से ताड़ गये कि यह महाशय वर की खोज में आये हैं। निश्चय करने के लिए घर में जाकर माता से पूछा, तो अनुमान सच्चा निकला। बोले—दादाजी ने इनसे क्या कहा?

निर्मला ने मुस्कराकर कहा—नानी क्यों मरी जाती है, क्या जन्म भर क्वाँरे ही

रहोगे! जाओ, बाहर बैठो; तुम्हारी तो बड़ी देर से जोहाई हो रही है। आज क्यों इतनी देर लगायी?

चक्रधर—यह हैं कौन?

निर्मला—आगरे के कोई वकील हैं, मुंशी यशोदानन्दन!

चक्रधर—मैं तो घूमने जाता हूँ। जब यह यमदूत चला जायगा, तो आऊँगा।

निर्मला—वाह रे शर्मीले! तेरा-सा लड़का तो देखा ही नहीं। आ, जरा सिर में तेल डाल दूँ, बाल न जाने कैसे बिखरे हुए हैं। साफ कपड़े पहनकर जरा देर के लिए बाहर जाकर बैठ।

चक्रधर—घर में भोजन भी है कि ब्याह ही कर देने का जी चाहता है? मैं कहे देता हूँ, विवाह न करूँगा, चाहे इधर की दुनिया उधर हो जाय।

किन्तु स्नेहमयी माता कब सुननेवाली थी। उसने उन्हें जबरदस्ती पकड़कर सिर में तेल डाल दिया, सन्दूक से एक धुला हुआ कुरता निकाल लायी और यों पहनाने लगी, जैसे कोई बच्चे को पहनाये। चक्रधर ने गरदन फेर ली।

निर्मला—मुझसे शरारत करेगा, तो मार बैठूँगी। इधर ला सिर! क्या जन्म-भर छूटे साँड़ बने रहने का जी चाहता है? क्या मुझसे मरते दम तक चूल्हा-चक्की कराता रहेगा? कुछ दिनों तो बहू का सुख उठा लेने दे।

चक्रधर—तुमसे कौन कहता है भोजन बनाने को? मैं कल से बना दिया करूँगा। मंगला को क्यों छोड़ रखा है?

निर्मला—अब मैं मारनेवाली ही हूँ। आज तक कभी न मारा; पर आज पीट चलूँगी, नहीं तो जाकर चुपके से बाहर बैठ।

इतने में मुंशीजी ने पुकारा—नन्हें, क्या कर रहे हो? जरा यहाँ तो आओ।

चक्रधर के रहे-सहे होश भी उड़ गये। बोले—जाता तो हूँ, लेकिन कहे देता हूँ, मैं यह जुआ गले में न डालूँगा। जीवन में मनुष्य का यही काम नहीं है कि विवाह कर ले, बच्चों का बाप बन जाय और कोल्हू के बैल की तरह आँखों पर पट्टी बाँधकर गृहस्थी में जुत जाय।

निर्मला—सारी दुनिया जो करती है, वही तुम्हें भी करना पड़ेगा। मनुष्य का जन्म होता ही किस लिए है?

चक्रधर—हजारों काम हैं।

निर्मला—रुपए आज भी नहीं लाये क्या? कैसे आदमी हैं कि चार-चार महीने हो गये, रुपए देने का नाम ही नहीं लेते! जाकर अपने दादा को किसी बहाने से भेज दो। कहीं से जाकर रुपए लायें। कुछ दावत आवत का सामान करना ही पड़ेगा, नहीं तो कहेंगे कि नाम बड़े और दर्शन थोड़े।

चक्रधर बाहर आये, तो मुंशी यशोदानन्दन ने खड़े होकर उन्हें छाती से लगा लिया और कुर्सी पर बैठाते हुए बोले—अब की 'सरस्वती' में आपका लेख दे

चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। इस वैमनस्य को मिटाने के लिए आपने जो उपाय बताये हैं, वे बहुत ही विचारपूर्ण हैं।

इस स्नेह-मृदुल आलिंगन और सहृदयता-पूर्ण आलोचना ने चक्रधर को मोहित कर लिया। वह कुछ जवाब देना ही चाहते थे कि मुशी वज्रधर बोल उठे—आज बहुत देर लगा दी। राजा साहब से कुछ बातचीत होने लगी क्या? (यशोदानन्दन से) राजा साहब की इनके ऊपर बड़ी कृपा है। बिलकुल लड़कों की तरह मानते हैं। इनकी बातें सुनने से उनका जी ही नहीं भरता। (नाई से) देख, चिलम बदल दे और जाकर भिनकू से कह दे, सितार वितार लेकर थोड़ी देर के लिए यहाँ आ जाय। इधर ही से गणेश के घर जाकर कहना कि तहसीलदार साहब ने एक हाँड़ी अच्छा दही माँगा है। कह देना, दही खराब हुआ, तो दाम न मिलेंगे।

यह हुक्म देकर मुशीजी घर मे चले गये। उधर की फ़िक्र थी, पर मेहमान को छोड़कर न जा सकते थे। आज उनका ठाट बाट देखते ही बनता था। अपना अल्प कालीन तहसीलदारी के समय का आलपाके का चोंगा निकाला था उसी जमाने की मदील भी सिर पर थी। आँखों में सुरमा भी था, बालों में तेल भी, मानो उन्हीं का ब्याह होनेवाला है। चक्रधर शरमा रहे थे कि यह महाशय इनके वेश पर दिल में क्या कहते होंगे। राजा साहब की बात सुनकर तो वह गड़-से गये।

मुशीजी चले गये, तो यशोदानन्दन बोले—अब आपका क्या काम करने का इरादा है?

चक्रधर—अभी तो कुछ निश्चय नहीं किया है, हाँ, यह इरादा है कि कुछ दिनों आजाद रहकर सेवा-कार्य करूँ।

यशोदा—इससे बढकर क्या हो सकता है। आप जितने उत्साह से समिति को चला रहे हैं, उसकी तारीफ नहीं की जा सकती। आप-जैसे उत्साही युवकों का ऊँचे आदर्शों के साथ सेवा-क्षेत्र में आना जाति के लिए सौभाग्य की बात है। आपके इन्हीं गुणों ने मुझे आपकी ओर खींचा है। यह तो आपको मालूम ही होगा कि मैं किस इरादे से आया हूँ। अगर मुझे धन या जायदाद की परवा होती, तो यहाँ न आता! मेरी दृष्टि में चरित्र का जो मूल्य है, वह और किसी वस्तु का नहीं।

चक्रधर ने आँखें नीची करके कहा—लेकिन मैं तो अभी गृहस्थी के बन्धन में नहीं पड़ना चाहता। मेरा विचार है कि गृहस्थी में फँसकर कोई तन मन से सेवा-कार्य नहीं कर सकता।

यशोदा—ऐसी बात तो नहीं। इस वक्त भी जितने आदमी सेवा कार्य कर रहे हैं, वे प्राय सभी बाल-बच्चोंवाले आदमी हैं।

चक्रधर—इसी से तो सेवा कार्य इतना शिथिल है!

यशोदा—मैं समझता हूँ कि यदि स्त्री और पुरुष के विचार और आदर्श एक-से हों, तो स्त्री पुरुष के कामो में बाधक होने के बदले सहायक हो सकती है। मेरी पुत्री

का स्वभाव, विचार, सिद्धान्त सभी आपसे मिलते हैं और मुझे पूरा विश्वास है कि आप दोनों एक साथ रहकर सुखी होंगे। उसे कपड़े का शौक नहीं, गहने का शौक नहीं; अपनी हैसियत को बढ़ाकर दिखाने की धुन नहीं। आप के साथ वह मोटे-से-मोटे वस्त्र और मोटे-से-मोटे भोजन में सन्तुष्ट रहेगी। अगर आप इसे अत्युक्ति न समझें, तो मै यहाँ तक कह सकता हूँ कि ईश्वर ने आपको उसके लिए बनाया है और उसको आपके लिए। सेवा-कार्य में वह हमेशा आपसे एक कदम आगे रहेगी। अँगरेजी, हिन्दी, उर्दू, संस्कृत पढ़ी हुई है; घर के कामों में इतनी कुशल है कि मैं नहीं समझता, उसके बिना मेरी गृहस्थी कैसे चलेगी? मेरी दो बहुएँ हैं, लड़की की मा है; किन्तु सब-की-सब फूहड़; किसी में भी वह तमीज नहीं। रही शक्ल सूरत, वह भी आपको इस तसवीर से मालूम हो जायगी।

यह कहकर यशोदानन्दन ने कहार से तसवीर मँगवायी और चक्रधर के सामने रखते हुए बोले—मै तो इसमें कोई हरज नहीं समझता। लड़के को क्या खबर है कि मुझे बहू कैसी मिलेगी। स्त्री मे कितने ही गुण हों, लेकिन यदि उसकी सूरत पुरुष को पसन्द न आयी, तो वह उसकी नजरों से गिर जाती है, और उनका दाम्पत्य-जीवन दुःखमय हो जाता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि वर और कन्या में दो-चार बार मुलाकात भी हो जानी चाहिए। कन्या के लिए तो वह अनिवार्य है। पुरुष को स्त्री पसन्द न आयी, तो वह और शादियाँ कर सकता है। स्त्री को पुरुष पसन्द न आया, तो उसकी सारी उम्र रोते ही गुजरेगी।

चक्रधर के पेट में चूहे दौड़ने लगे कि तसवीर क्योंकर ध्यान से देखूँ। वहाँ देखते शरम आती थी, मेहमान को अकेला छोड़कर घर में न जाते बनता था। कई मिनट तक तो सब्र किये बैठे रहे, लेकिन न रहा गया। पान की तश्तरी और तसवीर लिये हुए घर में चले आए। चाहते थे कि अपने कमरे में जाकर देखें कि निर्मला ने पूछा—क्या बातचीत हुई? कुछ देंगे दिलायेंगे कि वही ५१) वालों मे हैं?

चक्रधर ने उग्र होकर कहा—अगर तुम मेरे सामने देने दिलाने का नाम लोगी तो जहर खा लूँगा।

निर्मला—वाह रे! तो क्या पचीस बरस तक यों ही पाला-पोसा है क्या? मुँह धो रखें!

चक्रधर—तो बाजार में खड़ा करके बेच क्यों नहीं लेतीं? देखो, कै टके मिलते हैं?

निर्मला—तुम तो अभी से ससुर के पक्ष मे मुझसे लड़ने लगे। ब्याह के नाम ही में कुछ जादू है क्या!

इतने में चक्रधर की छोटी बहन मंगला तश्तरी में पान रखकर उनको देने लगी तो कागज में लिपटी हुई तस्वीर उसे नजर आयी। उसने तस्वीर ले ली और लालटेन के सामने ले जाकर बोली—यह बहू की तस्वीर है। देखो, कितनी सुन्दर है!

झिनकू—(यशोदानन्दन से) हुजूर को गाने का शौक मालूम होता है !

यशोदा०—अजी, जब था तब था ! सितार-वितार की दो-चार गतें बजा लेता था। अब सब छोड़-छाड़ दिया।

झिनकू—कितना ही छोड़-छाड़ दिया है, लेकिन आजकल के नौसिखियों से अच्छे ही होंगे। अब की आप ही की हो।

यशोदानन्दन ने भी दो-चार बार इनकार करने के बाद काफी की धुन में एक ठुमरी छेड़ दी। उनका गला मँजा हुआ था, इस कला में निपुण थे, ऐसा मस्त होकर गाया कि सुनने वाले झूम-झूम गये। उनकी सुरीली तान साज में मिल जाती थी। वज्रधर ने तो वाह-वाह का तार बाँध दिया। झिनकू के भी छक्के छूट गये। मजा यह कि साथ-ही-साथ सितार भी बजाते थे। आस-पास के लोग आकर जमा हो गये। समाँ बँध गया। चक्रधर ने यह आवाज सुनी, तो दिल में कहा—यह महाशय भी उसी टुकरी के लोगों में हैं, उसी रंग में रँगे हुए। अब झेंप जाती रही। बाहर आकर बैठ गये।

वज्रधर ने कहा—भाई साहब, आपने तो कमाल कर दिया। बहुत दिनों से ऐसा गाना न सुना था। कैसी रही, झिनकू ?

झिनकू—हुजूर, कुछ न पूछिए, सिर धुन रहा हूँ। मेरी तो अब गाने की हिम्मत ही नहीं पड़ती। आपने हम सबों का रंग फीका कर दिया। पुराने जमाने के रईसों की क्या बातें हैं।

यशोदा०—कभी-कभी जी बहला लिया करता हूँ, वह भी लुक-छिपकर। लड़के सुनते हैं, तो कानों पर हाथ रख लेते हैं। मैं समझता हूँ, जिसमें यह रस नहीं, वह किसी सोहबत में बैठने लायक नहीं। क्यों बाबू चक्रधर, आपको तो शौक होगा ?

वज्रधर—जी, छू नहीं गया। बस, अपने लड़कों का हाल समझिए।

चक्रधर ने झेंपते हुए कहा—मैं गाने को बुरा नहीं समझता। हाँ, इतना जरूर चाहता हूँ कि शरीफ लोग शरीफों ही में गायें-बजायें।

यशोदा०—गुणियों की जात-पाँत नहीं देखी जाती। हमने तो बरसों एक अन्धे फकीर की गुलामी की, तब जाके सितार बजाना आया।

आधीरात के करीब गाना बन्द हुआ। लोगों ने भोजन किया। जब मुंशी यशोदानन्दन बाहर आकर बैठे, तो वज्रधर ने पूछा—आपसे कुछ बातचीत हुई ?

यशोदा०—जी हाँ, हुई, लेकिन साफ नहीं खुले।

वज्रधर – विवाह के नाम से चिढ़ता है।

यशोदा०—अब शायद राजी हो जायँ।

वज्रधर—अजी, सैकड़ों आदमी आ-आकर लौट गये। कई आदमी तो दस-दस हजार तक देने पर तैयार थे। एक साहब तो अपनी रियासत ही लिख देते थे, लेकिन इसने हामी न भरी।

दोनों आदमी सोये। प्रातःकाल यशोदानन्दन ने चक्रधर से पूछा—क्यों बेटा, एक दिन के लिए मेरे साथ आगरे चलोगे?

चक्रधर—मुझे तो आप इस जंजाल मे न फँसायें, तो बहुत अच्छा हो।

यशोदा०—तुम्हें जंजाल में नहीं फँसाता बेटा, तुम्हें ऐसा सच्चा मन्त्री, ऐसा सच्चा सहायक और ऐसा सच्चा मित्र दे रहा हूँ, जो तुम्हारे उद्देश्यों को पूरा करना अपने जीवन का मुख्य कर्त्तव्य समझेगी। मै स्वार्थवश ऐसा नहीं कह रहा हूँ। मै स्वय आगरे की हिन्दू-सभा का मन्त्री हूँ और सेवा-कार्य का महत्व समझता हूँ। अगर मै समझता कि यह सम्बन्ध आपके काम में बाधक होगा, तो कभी आग्रह न करता। मै चाहता हूँ कि आप एक बार अहल्या से मिल लें। यों तो मैं मन से आपको अपना दामाद बना चुका, पर अहल्या की अनुमति ले लेनी आवश्यक समझता हूँ। आप भी शायद यह पसन्द न करेंगे कि मैं इस विषय में स्वेच्छा से काम लूँ। आप शरमायें नहीं, यों समझ लीजिए कि आप मेरे दामाद हो चुके; केवल मेरे साथ सैर करने चल रहे हैं। आपको देखकर आपकी सास, साले सभी खुश होंगे।

चक्रधर बड़े सकट में पड़े। सिद्धान्त-रूप से वह विवाह के विषय मे स्त्रियों को पूरी स्वाधीनता देने के पक्ष में थे; पर इस समय आगरे जाते हुए उन्हें बड़ा सकोच हो रहा था। कहीं उसकी इच्छा न हुई तो? कौन बड़ा सजीला जवान हूँ, बात-चीत करने मे भी तो चतुर नहीं, और उसके सामने तो शायद मेरा मुँह ही न खुले। कहीं उसने मन फीका कर लिया, तो मेरे लिए डूब मरने की जगह होगी। फिर कपड़े-लत्ते भी नहीं हैं, बस, यही दो कुरतों की पूँजी है। बहुत हैस-बैस के बाद बोले—मै आपसे सच कहता हूँ, मै अपने को ऐसी - ऐसी सुयोग्य स्त्री के योग्य नहीं समझता।

यशोदा०—इन हीलों से मैं आपका दामन छोड़नेवाला नहीं हूँ। मैं आपके मनोभावों को समझ रहा हूँ। आप सकोच के कारण ऐसा कह रहे हैं; पर अहल्या उन चचल लड़कियों में नहीं है, जिसके सामने जाते हुए आपको शरमाना पड़े। आप उसकी सरलता देखकर प्रसन्न होंगे। हाँ, मैं इतना कर सकता हूँ कि आपकी ख़ातिर से पहले यह कहूँ कि आप परदेशी आदमी हैं, यहाँ सैर करने आये हैं। स्टेशन पर होटल पूछ रहे थे। मैंने समझा, सीधे आदमी हैं, होटल मे लुट जायँगे, साथ लेता आया। क्यो, कैसी रहेगी?

चक्रधर ने अपनी प्रसन्नता को छिपाकर कहा—क्या यह नहीं हो सकता कि मै और किसी समय आ जाऊँ?

यशोदा०—नहीं, मै इस काम मे विलम्ब नहीं करना चाहता। मै तो उसी को लाकर दो चार दिन के लिए यहाँ ठहरा सकता हूँ, पर शायद आपके घर के लोग यह पसन्द न करेंगे।

चक्रधर ने सोचा—अगर मैंने और ज्यादा टालमटोल की, तो कहीं यह महाशय सचमुच ही अहल्या को यहाँ न पहुँचा दें। तब तो सारा परदा ही खुल जायगा!

घर की दशा देखकर अवश्य ही उसका दिल फिर जायगा। एक तो जरा-सा घर, कहीं बैठने की जगह नहीं, उसपर न कोई साज, न सामान। विवाह हो जाने के बाद दूसरी बात हो जाती है। लड़की कितने ही बड़े घराने की हो, समझ लेती है, अब तो यही मेरा घर है—अच्छा हो या बुरा। दो चार दिन अपनी तकदीर को रोकर शान्त हो जाती है। बोले—जी हाँ, यह मुनासिब नहीं मालूम होता। मैं ही चला चलूँगा।

घर में विद्या का प्रचार होने से प्रायः सभी प्राणी कुछ न-कुछ उदार हो जाते हैं। निर्मला तो खुशी से राजी हो गयी। हाँ, मुन्शी वज्रधर को कुछ सकोच हुआ, लेकिन यह समझकर कि यह महाशय लड़के पर लट्टू हो रहे हैं, कोई अच्छी रकम दे मरेंगे, उन्होंने भी कोई आपत्ति न की। अब केवल ठाकुर हरिसेवकसिंह को सूचना देनी थी। चक्रधर यों तीसरे पहर पढ़ाने जाया करते थे, पर आज ९ बजते-बजते जा पहुँचे।

ठाकुर साहब इस वक्त अपनी प्राणेश्वरी लौंगी से कुछ बातें कर रहे थे। मनोरमा की माता का देहान्त हो चुका था। लौंगी उस वक्त लौंडी थी। उसने इतनी कुशलता से घर सँभाला कि ठाकुर साहब उसपर रीझ गये और उसे गृहिणी के रिक्त स्थान पर अभिषिक्त कर दिया। नाम और गुण में इतना प्रत्यक्ष विरोध बहुत कम होगा। लोग कहते हैं, पहले वह इतनी दुबली थी कि फूँक दो तो उड़ जाय, पर गृहिणी का पद पाते ही उसकी प्रतिमा स्थूल रूप धारण करने लगी।

क्षीण जलधारा बरसात की नदी की भाँति बढ़ने लगी और इस समय तो स्थूल प्रतिमा की विशाल मूर्ति थी, अचल और अपार। बरसाती नदी का जल गढ़हों और गढ़हियों में भर गया था। बस, जल ही-जल दिखायी देता था। न आँखों का पता था, न नाक का, न मुँह का, सभी जगह स्थूलता व्याप्त हो रही थी, पर बाहर की स्थूलता ने अन्दर की कोमलता को अक्षुण्ण रखा था। सरल, सदय, हँसमुख, सहनशील स्त्री थी, जिसने सारे घर को वशीभूत कर लिया था। यह उसी की सज्जनता थी, जो नौकरों को वेतन न मिलने पर भी जाने न देती थी। मनोरमा पर तो वह प्राण देती थी। ईर्ष्या, क्रोध, मत्सर उसे छू भी न गया था। वह उदार न हो, पर कृपण न थी। ठाकुर साहब कभी कभी उसपर भी बिगड़ जाते थे, मारने दौड़ते थे, दो-एक बार मारा भी था, पर उसके माथे पर जरा भी बल न आता था। ठाकुर साहब का सिर भी दुखे, तो उसकी जान निकल जाती थी। वह उसकी स्नेहमयी सेवा ही थी, जिसने ऐसे हिंसक जीव को जकड़ रखा था।

इस वक्त दोनों प्राणियों में कोई बहस छिड़ी हुई थी। ठाकुर साहब झल्ला झल्लाकर बोल रहे थे, और लौंगी अपराधियों की भाँति सिर झुकाये खड़ी थी कि मनोरमा ने आकर कहा—बाबूजी आये हुए हैं, आपसे कुछ कहना चाहते हैं।

ठाकुर साहब की भौंहें तन गयीं। बोले—कहना क्या चाहते होंगे, रुपए माँगने आये होंगे। अच्छा, जाकर कह दो कि आते हैं, बैठिए।

लौंगी—इनके रुपए दे क्यों नहीं देते ? बेचारे गरीब आदमी हैं; सकोच के मारे नहीं माँगते, कई महीने तो चढ गये ?

ठाकुर—यह भी तुम्हारी मूर्खता थी जिसकी बदौलत मुझे यह तावान देना पड़ता है। कहता था कि कोई ईसाइन रख लो, दो-चार रुपये में काम चल जायगा। तुमने कहा—नहीं, कोई लायक आदमी होना चाहिए। इनके लायक होने में शक नहीं; पर यह तो बुरा मालूम होता है कि जब देखो रुपए के लिए सिर पर सवार! अभी कल कह दिया कि घबराइए नहीं, दस-पाँच दिनों में मिल जायँगे। तब तक फिर भूत की तरह सवार हो गये।

लौंगी—कोई ऐसी ही जरूरत आ पड़ी होगी, तभी आये होंगे। १२०) हुए न ? मैं लाये देती हूँ।

ठाकुर—हाँ, सन्दूक खोल कर लाना तो कोई कठिन काम नहीं। अखर तो उसे होती है, जिसे कुआँ खोदना पड़ता है।

लौंगी—वही कुआँ तो उन्होंने भी खोदा है। तुम्हें चार महीने तक कुछ न मिले, तो क्या हाल होगा, सोचो। मुझे तो बेचारे पर दया आती है।

कह कहकर लौंगी गयी और रुपये लाकर ठाकुर साहब से बोली—लो, दे आओ। सुन लेना, शायद कुछ कहना भी चाहते हों।

ठाकुर—लायी भी तो रुपये, नोट न थे क्या ?

लौंगी—जैसे नोट वैसे रुपए, क्या इसमें भी कुछ भेद है ?

ठाकुर—अब तुमसे क्या कहूँ। अच्छा, रख दो, जाता हूँ। पानी तो नहीं बरस रहा है कि भीग रहे होंगे।

ठाकुर साहब ने झुँझलाकर रुपए उठा लिये और बाहर चले; लेकिन रास्ते में क्रोध शान्त हो गया। चक्रधर के पास पहुँचे, तो विनय के देवता बने हुए थे।

चक्रधर—आपको कष्ट देने..

ठाकुर—नहीं-नहीं, मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ। मैंने आपसे दस-पाँच दिन में देने का वादा किया था। मेरे पास रुपए न थे, पर स्त्रियों को तो आप जानते हैं, कितनी चतुर होती हैं! घर में रुपए निकल आए। यह लीजिए।

चक्रधर—मैं इस वक्त एक दूसरे ही काम से आया हूँ। मुझे एक काम से आगरे जाना है। शायद दो-तीन दिन लगेंगे। इसके लिए क्षमा चाहता हूँ।

ठाकुर—हाँ हाँ, शौक से जाइए, मुझसे पूछने की जरूरत न थी।

ठाकुर साहब अन्दर चले गये, तो मनोरमा ने पूछा—आप आगरे क्या करने जा रहे हैं ?

चक्रधर—एक जरूरत से जाता हूँ।

मनोरमा—कोई बीमार है क्या ?

चक्रधर—नहीं, बीमार कोई नहीं है।

मनोरमा—फिर क्या काम है, बताते क्यों नहीं ? जब तक न बतलाइएगा, मैं जाने न दूँगी।

चक्रधर—लौटकर बता दूँगा।

मनोरमा—जी नहीं, मैं यह नहीं मानती, अभी बतलाइए।

चक्रधर—एक मित्र से मिलने जाता हूँ।

मनोरमा—आप मुस्करा रहे हैं ! मैं समझ गयी, नौकरी की तलाश में जाते हैं।

चक्रधर—नहीं मनोरमा, यह बात नहीं है। मेरी नौकरी करने की इच्छा नहीं है।

मनोरमा—तो क्या आप हमेशा इसी तरह देहातों में घूमा करेंगे ?

चक्रधर—विचार तो ऐसा ही है, फिर जैसी ईश्वर की इच्छा।

मनोरमा—आप रुपए कहाँ से लायेंगे ? उन कामों के लिए भी तो रुपयों की जरूरत होती होगी ?

चक्रधर—भिक्षा माँगूँगा। पुण्य कार्य भिक्षा ही पर चलते हैं।

मनोरमा—तो आजकल भी आप भिक्षा माँगते होंगे ?

चक्रधर—हाँ, माँगता क्यों नहीं। न माँगूँ, तो काम कैसे चले।

मनोरमा—मुझसे तो आपने कभी नहीं माँगा।

चक्रधर—तुम्हारे ऊपर तो विश्वास है कि जब माँगूँगा, तब दे दोगी, इसीलिए कोई विशेष काम आ पड़ने पर माँगूँगा।

मनोरमा—और जो उस वक्त मेरे पास न हुए तो ?

चक्रधर—तो फिर कभी माँगूँगा।

मनोरमा—तो आप मुझसे अभी माँग लीजिए, अभी मेरे पास रुपए हैं, दे दूँगी। फिर आप न जाने किस वक्त माँग बैठें।

यह कहकर मनोरमा अन्दर गयी और कलवाले १२०) रुपए लाकर चक्रधर के सामने रख दिये।

चक्रधर—इस वक्त तो मुझे जरूरत नहीं। फिर कभी ले लूँगा।

मनोरमा—जी नहीं, लेते जाइए। मेरे पास खर्च हो जायँगे। एक दफे भी बाजार गयी, तो यह गायब हो जायँगे। इसी डर के मारे मैं बाजार नहीं जाती।

चक्रधर—तुमने ठाकुर साहब से पूछ लिया है ?

मनोरमा—उनसे क्यों पूछूँ ? गुड़िया लाती हूँ, तो उनसे नहीं पूछती, तो फिर इसके लिए उनसे क्यों पूछूँ ?

चक्रधर—तो फिर यों मैं न लूँगा। यह स्थिति और ही है। यह ख्याल हो सकता है कि मैंने तुमसे रुपए ठग लिये। तुम्हीं सोचो, हो सकता है या नहीं।

मनोरमा—अच्छा, आप अमानत समझकर अपने पास रखे रहिए। इतने में सामने से मुश्की घोड़ों की फिटन जाती हुई दिखायी दी। घोड़ों के साजों पर गंगा-जमुनी काम किया हुआ था। चार सवार भाले उठाये पीछे दौड़ते चले आते थे।

चक्रधर—कोई रानी मालूम होती है।

मनोरमा—जगदीशपुर की महारानी हैं। जब उनके यहाँ जाती हूँ, मुझे एक गिनी देती हैं। ये आठों गिनियाँ उन्हीं की दी हुई हैं। न-जाने क्यों मुझे बहुत मानती हैं।

चक्रधर—इनकी कोठी दुर्गाकुण्ड की तरफ है न? मैं एक दिन इनके यहाँ भिक्षा माँगने जाऊँगा।

मनोरमा—मैं जगदीशपुर की रानी होती, तो आपको बिना माँगे ही बहुत-सा धन दे देती।

चक्रधर ने मुस्कराकर कहा—तब भूल जातीं।

मनोरमा—जी नहीं, मैं कभी न भूलती।

चक्रधर—अच्छा, कभी याद दिलाऊँगा। इस वक्त यह रुपए अपने ही पास रहने दो।

मनोरमा—आपको इन्हें लेते संकोच क्यों होता है? रुपए मेरे हैं, महारानी ने मुझे दिये हैं। मैं इन्हें पानी में डाल सकती हूँ, किसीको मुझे रोकने का क्या अधिकार है। आप न लेंगे तो मैं सच कहती हूँ, आज ही जाकर इन्हें गंगा में फेंक आऊँगी।

चक्रधर ने धर्म-संकट में पड़कर कहा—तुम इतना आग्रह करती हो, तो मैं लिये लेता हूँ, लेकिन इसे अमानत समझूँगा।

मनोरमा प्रसन्न होकर बोली—हाँ, अमानत ही समझ लीजिए।

चक्रधर—तो मैं जाता हूँ। किताब देखती रहना।

मनोरमा—आप अगर मुझसे बिना बताये चले जायँगे, तो मैं कुछ न पढ़ूँगी।

चक्रधर—यह तो बड़ी टेढ़ी शर्त है। बतला ही दूँ। अच्छा, हँसना मत। तुम जरा भी मुस्कराईं और मैं चला।

मनोरमा—मैं दोनों हाथों से मुँह बन्द किये लेती हूँ।

चक्रधर ने झेंपते हुए कहा—मेरे विवाह की कुछ बातचीत है। मेरी तो इच्छा नहीं है; पर एक महाशय जबरदस्ती खींचे लिये जाते हैं।

यह कहकर चक्रधर उठ खड़े हुए। मनोरमा भी उनके साथ साथ आयी। जब वह बरामदे से नीचे उतरे, तो प्रणाम किया और तुरत अपने कमरे में लौट आयी। उसकी आँखें डबडबायी हुई थीं और बार-बार रुलाई आती थी, मानो चक्रधर किसी दूर देश जा रहे हों!

५

सन्ध्या समय जब रेलगाड़ी बनारस से चली, तो यशोदानन्दन ने चक्रधर से पूछा—क्यों भैया, तुम्हारी राय में झूठ बोलना किसी दशा में क्षम्य है, या नहीं?

चक्रधर ने विस्मित होकर कहा—मैं तो समझता हूँ, नहीं।

यशोदा०—किसी भी दशा में नहीं?

चक्रधर—मैं तो यही कहूँगा कि किसी दशा में भी नहीं, हालाँकि कुछ लोग परोपकार के लिए असत्य को क्षम्य समझते हैं।

यशोदा०—मैं भी उन्हीं लोगों मे हूँ। मेरा ख्याल है कि पूरा वृत्तान्त सुनकर शायद आप भी मुझसे सहमत हो जायँ। मैंने अहल्या के विषय मे आप से झूठी बातें कही हैं। वह वास्तवमे मेरी लड़की नहीं है। उसके माता-पिता का हमें कुछ भी पता नहीं।

चक्रधर ने बड़ी-बड़ी आँखें करके कहा—तो फिर आपके यहाँ कैसे आयी?

यशोदा०—विचित्र कथा है। १५ वर्ष हुए, एक बार सूर्यग्रहण लगा था। मैं उन दिनों कालेज में था। हमारी एक सेवा समिति थी। हम लोग उसी स्नान के अवसर पर यात्रियों की सेवा करने प्रयाग आये थे। तुम तो उस वक्त बहुत छोटे-से रहे होगे। इतना बड़ा मेला फिर नहीं लगा। वहीं हमें यह लड़की एक नाली मे पड़ी रोती मिली।। न-जाने उसके माँ बाप नदी मे डूब गये, या भीड़ मे कुचल गये। बहुत खोज की, पर उनका पता न लगा। विवश होकर उसे साथ लेते गये। ४५ वर्ष तक तो उसे अनाथालय मे रखा, लेकिन जब कार्यकर्ताओं की फूट के कारण अनाथालय बन्द हो गया, तो अपने ही घर मे उसका पालन पोषण करने लगा। जन्म से न हो, पर सस्कारों से वह हमारी लडकी है। उसके कुलीन होने मे भी सन्देह नहा। उसका शील, स्वभाव और चातुर्य देखकर अच्छे-अच्छे घरों की स्त्रियाँ चकित रह जाती हैं। मै इधर एक साल से उसके लिए योग्य वर की तलाश मे था। ऐसा आदमी चाहता था, जो स्थिति को जानकर उसे सहर्ष स्वीकार करे और पाकर अपने को धन्य समझे। पत्रों मे आपके लेख देखकर और आपके सेवाकार्य की प्रशंसा सुनकर मेरी धारणा हो गयी कि आप ही उसके लिए सबसे योग्य हैं। यह निश्चय करके आपके यहाँ आया। मैंने आपसे सारा वृत्तान्त कह दिया। अब आपको अख्तियार है, उसे अपनायें या त्यागें। हाँ, इतना कह सकता हूँ कि ऐसा रत्न आप फिर न पायेंगे। मै यह जानता हूँ कि आपके पिताजी को यह बात असह्य होगी, पर यह भी जानता हूँ कि वीरात्माएँ सत्कार्य में विरोध की परवा नहीं करतीं और अन्त मे उस पर विजय ही पाती है।

चक्रधर गहरे विचार में पड़ गये। एक तरफ अहल्या का अनुपम सौन्दर्य और उज्ज्वल चरित्र था, दूसरी ओर माता पिता का विरोध और लोक-निन्दा का भय, मन मे तर्क सग्राम होने लगा। यशोदानन्दन ने उन्हें असमजस में पड़े देखकर कहा—आप चिन्तित देख पड़ते हैं और चिन्ता की बात भी है, लेकिन जब आप जैसे सुशिक्षित और उदार पुरुष विरोध और भय के कारण कर्तव्य और न्याय से मुँह मोड़ें, तो फिर हमारा उद्धार हो चुका। मै आपसे सच कहता हूँ, यदि मेरे दो पुत्रों में से एक भी क्वाँरा होता और अहल्या उसे स्वीकार करती, तो मैं बड़े हर्ष स उसका विवाह उससे कर देता। आपके सामाजिक विचारो की स्वतन्त्रता का परिचय पाकर ही मने आपके ऊपर इस बालिका के उद्धार का भार रखा है और यदि आपने

भी अपने कर्तव्य को न समझा, तो मैं नहीं कह सकता, उस अबला की क्या दशा होगी।

चक्रधर रूप-लावण्य की ओर से तो आँखें बन्द कर सकते थे; लेकिन उद्धार के भाव को दबाना उनके लिए असम्भव था। वह स्वतन्त्रता के उपासक थे और निर्भीकता स्वतन्त्रता की पहली सीढ़ी है। उनके मन ने कहा—क्या यह काम ऐसा है कि समाज हँसे? समाज को इसकी प्रशंसा करनी चाहिए। अगर ऐसे काम के लिए कोई मेरा तिरस्कार करे, तो मैं तृण बराबर भी उसकी परवाह न करूँगा। चाहे वह मेरे माता-पिता ही हों। दृढ़ भाव से बोले—मेरी ओर से आप जरा भी शंका न करें। मैं इतना भीरु नहीं हूँ कि ऐसे कामों में समाज-निन्दा से डरूँ। माता-पिता को प्रसन्न रखना मेरा धर्म है; लेकिन कर्तव्य और न्याय की हत्या करके नहीं। कर्तव्य के सामने माता पिता की इच्छा का मूल्य नहीं है।

यशोदानन्दन ने चक्रधर को गले लगाते हुए कहा—भैया, तुमसे ऐसी ही आशा थी।

यह कहकर यशोदानन्दन ने अपना सितार उठा लिया और बजाने लगे। चक्रधर को कभी सितार की ध्वनि इतनी प्रिय, इतनी मधुर न लगी थी। और न चाँदनी कभी इतनी सुहृदय और विहसित। दायें-बायें चाँदनी छिटकी हुई थी और उसकी मन्द छटा में अहल्या रेलगाड़ी के साथ, अगणित रूप धारण किये दौड़ती चली जाती थी। कभी वह उछलकर आकाश जा पहुँचती थी, कभी नदियों की चन्द्र-चञ्चल तरंगों में। यशोदानन्दन को न कभी इतना उल्लास हुआ था, न चक्रधर को कभी इतना गर्व, दोनों आनन्द-कल्पना में डूबे हुए थे।

गाड़ी आगरे पहुँची, तो दिन निकल आया था। सुनहरा नगर हरे-हरे कुञ्जों के बीच में विश्राम कर रहा था, मानों बालक माता की गोद में सोया हो।

इस नगर को देखते ही चक्रधर को कितनी ही ऐतिहासिक घटनाएँ याद आ गयीं। सारा नगर किसी उजड़े हुए घर की भाँति श्री-हीन हो रहा था।

मुंशी यशोदानन्दन अभी कुलियों को पुकार रहे थे कि उनकी निगाह पुलिस के सिपाहियों पर पड़ी। चारों तरफ पहरा था। मुसाफिरों के बिस्तरे, सन्दूक खोल-खोलकर देखे जाने लगे। एक थानेदार ने यशोदानन्दन का भी असबाब देखना शुरू किया।

यशोदानन्दन ने आश्चर्य से पूछा—क्यों साहब, आज यह सख्ती क्यों है?

थानेदार—आप लोगों ने जो काँटे बोये हैं, उन्हीं का फल है। शहर में फिसाद हो गया है।

यशोदा०—अभी तीन दिन पहले तो अमन का राज्य था, यह भूत कहाँ से उठ खड़ा हुआ?

इतने में समिति का एक सेवक दौड़ता हुआ आ पहुँचा। यशोदानन्दन ने आगे

बढकर पूछा—क्यों राधामोहन, यह क्या मामला हो गया ? अभी जिस दिन म गया हूँ, उस दिन तक तो दगे का कोई लक्षण न था।

राधा—जिस दिन आप गये, उसी दिन पंजाब से मौलवी दीनमुहम्मद साहब का आगमन हुआ। खुले मैदान मे मुसलमानों का एक बड़ा जलसा हुआ। उसमें मौलाना साहब ने न जाने क्या जहर उगला कि तभी से मुसलमानो को कुरबानी की धुन सवार है। इधर हिन्दुओं को भी यह जिद है कि चाहे खून की नदी बह जाय, पर कुरबानी न होने पायेगी। दोनों तरफ से तैयारियाँ हो रही हैं, हम लोग तो समझाकर हार गये।

यशोदानन्दन ने पूछा—ख्वाजा महमूद कुछ न बोले।

राधा—वही तो उस जलसे के प्रधान थे।

यशोदानन्दन आँखें फाड़कर बोले—ख्वाजा महमूद !

राधा—जी हाँ, ख्वाजा महमूद ! आप उन्हें फरिश्ता समझें, असल में वे रँगे सियार हैं। हम लोग हमेशा से कहते आते हैं कि इनसे होशियार रहए, लेकिन आपको न जाने क्यों उन पर इतना विश्वास था !

यशोदानन्दन ने आत्म ग्लानि से पीड़ित होकर कहा—जिस आदमी को आज २५ बरसों से देखता आता हूँ, जिसके साथ कालेज में पढा, जो इसी समिति का किसी जमाने में मेम्बर था, उसपर क्योंकर विश्वास न करता। दुनिया कुछ कहे, पर मुझे ख्वाजा महमूद पर कभी शक न होगा।

राधा—आपको अख्तियार है कि उन्हें देवता समझें, मगर अभी अभी आप देखेंगे कि वह कितनी मुस्तैदी से कुरबानी की तैयारियाँ कर रहे हैं। उन्होंने देहातों से लठैत बुलाये हैं, उन्हीं ने गौएँ मोल ली हैं और उन्हीं के द्वार पर कुरबानी होने जा रही है।

यशादा०—ख्वाजा महमूद के द्वार पर कुरबानी होगी ! उनके द्वार पर इसके पहले या तो मेरी कुरबानी हो जायगी, या ख्वाजा महमूद की। ताँगेवाले को बुलाओ।

राधा—बहुत अच्छा हो यदि आप इस समय यहीं ठहर जायँ।

यशादा०—वाह-वाह ! शहर में आग लगी हुई है और तुम कहते हो, मैं यहीं रह जाऊँ। जो औरों पर बीतेगी वही मुझपर भी बीतेगी, इससे क्या भागना। तुम लोगों ने बड़ी भूल की कि मुझे पहले से सूचना न दी।

राधा—कल दोपहर तक तो हमें खुद ही न मालूम था कि क्या गुल खिल रहा है। ख्वाजा साहब के पास गये तो उन्होंने विश्वास दिलाया कि कुरबानी न होने पायेगी, आप लोग इत्मीनान रखें। हमसे तो यह कहा, उधर शाम ही को लठैत आ पहुँचे और मुसलमानों का डेपुटेशन सिटी मैजिस्ट्रेट के पास कुरबानी की सूचना देने पहुँच गया।

यशादा०—महमूद भी डेपुटेशन में थे ?

राधा—वही तो उसके कर्ता-धर्ता थे, भला वही क्यों न होते ? हमारा तो विचार है कि वही इस फिसाद की जड़ हैं ।

यशोदा—अगर महमूद में सचमुच यह काया पलट हो गयी है, तो मैं यही कहूँगा कि धर्म से ज्यादा द्वेष पैदा करनेवाली वस्तु संसार में नहीं । और कोई ऐसी शक्ति नहीं है, जो महमूद में द्वेष के भाव पैदा कर सके । चलो, पहले उन्हीं से बातें होंगी । मेरे द्वार पर तो इस वक्त बड़ा जमाव होगा ।

राधा—जी हाँ, इधर आपके द्वार पर जमाव है, उधर ख्वाजा साहब के । बीच में थोड़ी-सी जगह खाली है ।

तीनों आदमी ताँगे पर बैठकर चले । सड़कों पर पुलिस के जवान चक्कर लगा रहे थे । मुसाफिरों की छड़ियाँ छीन ली जाती थीं । दो-चार आदमी भी साथ न खड़े होने पाते थे । सिपाही तुरन्त ललकारता था । दूकानें सब बन्द थीं, कुँजड़े भी साग बेचते न नजर आते थे । हाँ, गलियों में लोग जमा हो-होकर बातें कर रहे थे ।

कुछ दूर तक तीनों आदमी मौन धारण किये बैठे रहे । चक्रधर शंकित होकर इधर उधर ताक रहे थे । जरा भी घोड़ा रुक जाता, तो उनका दिल धड़कने लगता कि किसी ने ताँगा रोक तो नहीं लिया; लेकिन यशोदानन्दन के मुख पर ग्लानि का गहरा चिन्ह दिखायी दे रहा था । उनके मुहल्ले में आज तक कभी कुरबानी न हुई थी । हिंदू और मुसलमान का भेद ही न मालूम होता था । उन्हें आश्चर्य होता था कि और शहरों में कैसे हिन्दू-मुसलमानों में झगड़े हो जाते हैं । और तीन ही दिन में यह नौबत आ गयी !

सहसा उन्होंने उत्तेजित होकर कहा—राधामोहन, देखो, मैं तो यहीं उतरा जाता हूँ ! जरा महमूद से मिलूँगा । तुम इन बाबू साहब को लेकर घर जाओ । आप मेरे एक मित्र के लड़के हैं, यहाँ सैर करने आये हैं । बैठक में आपकी चारपाई डलवा देना और देखो, अगर दैवसयोग से मैं लौटकर न आ सकूँ, तो घबराने की बात नहीं । जब लोग खून खच्चर करने पर तुले हुए हैं, तो सब कुछ सम्भव है और मैं उन आदमियों में नहीं हूँ कि गौ की हत्या होते देखूँ और शान्त खड़ा रहूँ । अगर मैं लौटकर न आ सकूँ, तो तुम घर में कहला देना कि अहल्या का पाणिग्रहण आप ही के साथ कर दिया जाय ।

यह कहकर उन्होंने कोचवान से ताँगा रोकने को कहा ।

चक्रधर—मैं भी आपके साथ ही रहना चाहता हूँ ।

यशोदा०—नहीं भैया, तुम मेरे मेहमान हो, तुम्हें मेरे साथ रहने की जरूरत नहीं । तुम चलो, मैं भी अभी आता हूँ ।

चक्रधर—क्या आप समझते हैं कि गौरक्षा आप ही का धर्म है, मेरा धर्म नहीं ?

यशोदा०—नहीं, यह बात नहीं बेटा । तुम मेरे मेहमान हो और तुम्हारी रक्षा करना मेरा धर्म है ।

इस वक्त ताँगा धीरे-धीरे ख्वाजा महमूद के मकान के सामने आ पहुँचा। हजारों आदमियों का जमाव था। यद्यपि किसी के हाथ मे लाठी या डण्डे न थे, पर उनके मुख जिहाद के जोश से तमतमाये हुए थे। यशोदानन्दन को देखते ही कई आदमी उनकी तरफ लपके, लेकिन जब उन्होंने जोर से कहा—मैं तुमसे लड़ने नहीं आया हूँ। कहाँ हैं ख्वाजा महमूद? मुमकिन हो तो जरा उन्हें बुला लो, तो लोग हट गये?

जरा देर में एक लम्बा सा आदमी, गाढे की अचकन पहने, आकर खड़ा हो गया। भरा हुआ बदन था, लम्बी दाढी, जिसके कुछ बाल खिचड़ी हो गये थे और गोरा रंग। मुख से शिष्टता झलक रही थी। यही ख्वाजा महमूद थे।

यशोदानन्दन ने त्योरियाँ बदलकर कहा—क्यों ख्वाजा साहब, आपको याद है, इस मुहल्ले में कभी कुरबानी हुई है?

महमूद—जी नहीं, जहाँ तक मेरा ख्याल है, यहाँ कभी कुरबानी नहीं हुई।

यशोदा०—तो फिर आज आप यहाँ कुरबानी करने की नयी रस्म क्यों निकाल रहे हैं?

महमूद—इसलिए कि कुरबानी करना हमारा हक है। अब तक हम आपके जज-बात का लिहाज करते थे, अपने माने हुए हक को भूल गये थे, लेकिन जब आप लोग अपने हकों के सामने हमारे जजबात की परवा नहीं करते, तो कोई वजह नहीं कि हम अपने हकों के सामने आपके जजबात की परवा करें। मुसलमानों की शुद्धि करने का आप को पूरा हक हासिल है, लेकिन कम-से कम पाँच सौ बरसों मे आपके यहाँ शुद्धि की कोई मिसाल नहीं मिलती। आप लोगों ने एक मुर्दा हक को जिन्दा किया है। इसी लिए न, कि मुसलमानों की ताकत और असर कम हो जाय। जब आप हमें जेर करने के लिए नये नये हथियार निकाल रहे हैं, तो हमारे लिए इसके सिवा और क्या चारा है कि अपने हथियारों को दूनी ताकत से चलायें।

यशोदा०—इसके यह मानी हैं कि कल आप हमारे द्वारों पर, हमारे मन्दिरों के सामने, कुरबानी करें और हम चुपचाप देखा करें। आप यहाँ हरगिज कुरबानी नहीं कर सकते और करेंगे, तो इसकी जिम्मेदारी आपके सिर होगी।

यह कहकर यशोदानन्दन फिर ताँगे पर बैठे। दस-पाँच आदमियों ने ताँगे को रोकना चाहा, पर कोचवान ने घोड़ा तेज कर दिया। दम के दम ताँगा उड़ता हुआ यशोदानन्दन के द्वार पर पहुँच गया, जहाँ हजारों आदमी खड़े थे। इन्हें देखते ही चारों तरफ हलचल मच गयी। लोगों ने चारों तरफ से आकर उन्हें घेर लिया। अभी तक फौज का अफसर न था, फौज दुविधे में पड़ी हुई थी, समझ में न आता था कि क्या करें। सेनापति के आते ही सिपाहियों में जान-सी पड़ गयी, जैसे सूखे धान में पानी पड़ जाय।

यशोदानन्दन ताँगे से उतर पड़े और ललकारकर बोले—क्यों भाइयो, क्या विचार है? यहाँ कुरबानी होगी? आप जानते हैं, इस मुहल्ले में आज तक कभी कुर-

बानी नहीं हुई। अगर आज हम यहाँ कुरबानी करने देंगे, तो कौन कह सकता है कि कल को हमारे मन्दिर के सामने गौ-हत्या न होगी!

कई आवाजें एक साथ आयीं—हम मर मिटेंगे, पर यहाँ कुरबानी न होने देंगे।

यशोदा०—खूब सोच लो, क्या करने जा रहे हो। वह लोग सब तरह से लैस हैं। ऐसा न हो कि तुम लाठियों के पहले ही वार में वहाँ से भाग खड़े हो?

कई आवाजें एक साथ आयीं—भाइयो, सुन लो; अगर कोई पीछे कदम हटायेगा, तो उसे गौ-हत्या का पाप लगेगा।

एक सिक्ख जवान—अजी देखिए, छक्के छुड़ा देंगे।

एक पञ्जाबी हिन्दू—एक-एक की गरदन तोड़ के रख दूँगा।

आदमियों को यों उत्तेजित करके यशोदानन्दन आगे बढ़े और जनता 'महावीर' और 'श्रीरामचन्द्र' की जय ध्वनि से वायुमण्डल को कम्पायमान करती हुई उनके पीछे चली। उधर मुसलमानों ने भी डण्डे सँभाले। करीब था कि दोनों दलों में मुठभेड़ हो जाय कि एकाएक चक्रधर आगे बढ़कर यशोदानन्दन के सामने खड़े हो गये और विनीत, किन्तु दृढ़ भाव से बोले—आप अगर उधर जाते हैं, तो मेरी छाती पर पाँव रखकर जाइए। मेरे देखते यह अनर्थ न होने पायेगा।

यशोदानन्दन ने चिढ़कर कहा—हट जाओ। अगर एक क्षण की भी देर हुई, तो फिर पछताने के सिवा और कुछ हाथ न आयेगा।

चक्रधर—आप लोग वहाँ जाकर करेंगे क्या?

यशोदा०—हम इन जालिमों से गौ को छीन लेंगे।

चक्रधर—अहिंसा का नियम गौओं ही के लिए नहीं, मनुष्यों के लिए भी तो है।

यशोदा०—कैसी बातें करते हो, जी! क्या यहाँ खड़े होकर अपनी आँखों से गौ की हत्या होते देखें?

चक्रधर—अगर आप एक बार दिल थामकर देख लेंगे, तो यकीन है कि फिर आपको कभी यह दृश्य न देखना पड़े।

यशोदा०—हम इतने उदार नहीं हैं।

चक्रधर—ऐसे अवसर पर भी?

यशोदा०—हम महान्-से-महान् उद्देश्य के लिए भी यह मूल्य नहीं दे सकते। इन दामों स्वर्ग भी महँगा है।

चक्रधर—मित्रो, ज़रा विचार से काम लो।

कई आवाजें—विचार से काम लेना कायरों का काम है।

एक सिक्ख जवान—जब डण्डे से काम लेने का मौका आए, तो विचार को बन्द करके रख देना चाहिए।

चक्रधर—तो फिर जाइए; लेकिन उस गौ को बचाने के लिए आप को अपने एक भाई का खून करना पड़ेगा।

सहसा एक पत्थर किसी तरफ से आकर चक्रधर के सिर में लगा। खून की धारा बह निकली, लेकिन चक्रधर अपनी जगह से हिले नहीं। सिर थामकर बोले—अगर मेरे रक्त से आपकी क्रोधाग्नि शान्त होती हो, तो यह मेरे लिए सौभाग्य की बात है। अगर मेरा खून और कई जानों की रक्षा कर सके, तो इससे उत्तम कौन सी मृत्यु होगी।

फिर दूसरा पत्थर आया, पर अब की चक्रधर को चोट न लगी। पत्थर कानों के पास से निकल गया।

यशोदानन्दन गरजकर बोले—यह कौन पत्थर फेंक रहा है? सामने क्यों नहीं आता? क्या वह समझता है कि उसी ने गोरक्षा का ठीका ले लिया है? अगर वह बड़ा वीर है तो क्यों नहीं चन्द कदम आगे आकर अपनी वीरता दिखाता? पीछे खड़ा पत्थर क्यों फेंकता है?

एक आवाज—धर्म-द्रोहियों को मारना अधर्म नहीं है?

यशोदानन्दन—जिसे तुम धर्म का द्रोही समझते हो, वह तुमसे कहीं सच्चा हिन्दू है।

एक आवाज—सच्चे हिन्दू वही तो होते हैं, जो मौके पर बगलें झाँकने लगें और शहर छोड़कर दो चार दिन के लिए खिसक जायँ।

कई आदमी—यह कौन मन्त्री पर आक्षेप कर रहा है? कोई उसकी जबान पकड़ कर क्यों नहीं खींच लेता?

यशोदानन्दन—आप लोग सुन रहे हैं, मुझपर कैसे-कैसे दोष लगाये जा रहे हैं। मैं सच्चा हिन्दू नहीं हूँ, मैं मौका पड़ने पर बगलें झाँकता हूँ और जान बचाने के लिए शहर से भाग जाता हूँ। ऐसा आदमी आपका मन्त्री बनने के योग्य नहीं है। आप उस आदमी को अपना मन्त्री बनायें, जिसे आप सच्चा हिन्दू समझते हों। मैं धर्म से पहले अपने आत्म गौरव की रक्षा करना चाहता हूँ।

कई आदमी—महाशय, आपको ऐसे मुँहफट आदमियों की बात का खयाल न करना चाहिए।

यशोदा०—यह मेरी पच्चीस बरसों की सेवा का उपहार है! जिस सेवा का फल अपमान हो, उसे दूर ही से मेरा सलाम है।

यह कहते हुए मुंशी यशोदानन्दन घर की तरफ चले। कई आदमियों ने उन्हें रोकना चाहा, कई आदमी उनके पैरो पड़ने लगे, लेकिन उन्होंने एक न मानी। वह तेजस्वी आदमी थे। अपनी संस्था पर स्वेच्छाचारी राजाओं की भाँति शासन करना चाहते थे। आलोचनाओं को सहन करने की उनमें सामर्थ्य ही न थी।

उनके जाते ही यहाँ आपस में 'तू तू, मैं-मैं' होने लगी। एक दूसरे पर आक्षेप करने लगा। गालियों की नौबत आयी, यहाँ तक कि दो-चार आदमियों से हाथा-पाई भी हो गयी।

चक्रधर ने जब देखा कि इधर से अब कोई शंका नहीं है, तो वह लपककर मुसलमानों के सामने आ पहुँचे और उच्च स्वर से बोले—हजरात, मैं कुछ अर्ज करने की इजाजत चाहता हूँ।

एक आदमी—सुनो, सुनो, यही तो अभी हिन्दुओं के सामने खड़ा था।

दूसरा आदमी—दुश्मनों के कदम उखड़ गये। सब भागे जा रहे हैं।

तीसरा आदमी—इसी ने शायद उन्हें समझा-बुझाकर हटा दिया है। देखो, क्या कहता है ?

चक्रधर—अगर इस गाय की कुरबानी करना आप अपना मजहबी फर्ज समझते हों, तो शौक से कीजिए। मैं आपके मजहबी मामले में दखल नहीं दे रहा हूँ। लेकिन क्या यह लाजमी है कि इसी जगह कुरबानी की जाय ?

एक आदमी—हमारी खुशी है; जहाँ चाहेंगे, कुरबानी करेंगे, तुमसे मतलब ?

चक्रधर—बेशक, मुझे बोलने का कोई हक नहीं है; लेकिन इसलाम की जो इज्जत मेरे दिल में है, वह मुझे बोलने के लिए मजबूर कर रही है। इसलाम ने कभी दूसरे मजहबवालों की दिलजारी नहीं की। उसने हमेशा दूसरों के जज्बात का एहतराम किया है। बगदाद और रूम, स्पेन और मिस्र की तारीखें उस मजहबी आजादी की शाहिद हैं, जो इसलाम ने उन्हें अता की थीं। अगर आप हिन्दू जज्बात का लिहाज करके किसी दूसरी जगह कुरबानी करें, तो यकीनन इसलाम के वकार में फर्क न आयेगा !

एक मौलवी ने जोर देकर कहा—ऐसी मीठी-मीठी बातें हमने बहुत सुनी हैं। कुरबानी यहीं होगी। जब दूसरे हमारे ऊपर जब्र करते हैं, तो हम उनके जज्बात का क्यों लिहाज करें ?

ख्वाजा महमूद बड़े गौर से चक्रधर की बातें सुन रहे थे। मौलवी साहब की उद्दण्डता पर चिढ़कर बोले—क्या शरीयत का हुक्म है कि कुरबानी यहीं हो ? किसी दूसरी जगह नहीं की जा सकती ?

मौलवी साहब ने ख्वाजा महमूद की तरफ अविश्वास की दृष्टि से देखकर कहा—मजहब के मामले में उलमा के सिवा और किसी को दखल देने का मजाज नहीं है।

ख्वाजा—बुरा न मानिएगा, मौलवी साहब ! अगर दस सिपाही आकर यहाँ खड़े हो जाँय, तो बगलें झाँकने लगिएगा !

मौलवी—किसीकी मजाल है कि हमारे दीनी उमूर में मजाहमत करे।

ख्वाजा—आपको तो अपने हलवे-मांडे से काम है, जिम्मेदारी तो हमारे ऊपर आयेगी, दूकानें तो हमारी लुटेंगी, आपके पास फटे बोरिये और फूटे बधने के सिवा और क्या रखा है। जब वे लोग मसलहत देखकर किनारा कर गये, तो हमें भी अपनी जिद से बाज आ जाना चाहिए। क्या आप समझते हैं, वे लोग आपसे डरकर भागे ? हमारे दुगुने आदमी थे। अगर चढ़ आते, तो सँभलना मुश्किल हो जाता।

मौलवी—जनाब, जिहाद करना कोई खालाजी का घर नहीं। आप दुनिया के बन्दे हैं, दीन हकीकत क्या समझें?

ख्वाजा—बजा है, आपकी शहादत तो कहीं नहीं गयी है। जिल्लत तो हमारी है।

मौलवी—भाइयो, आप लोग ख्वाजा साहब की ज्यादती देख रहे हैं। आप ही फैसला कीजिए कि दीन मामलात में उलमा का फैसला वाजिब है, या उमरा का?

एक मोटे-ताजे दढ़ियल आदमी ने कहा—आप बिस्मिल्लाह कीजिए। उमरा को दीन से कोई सरोकार नहीं।

यह सुनते ही एक आदमी बड़ा सा छुरा लेकर निकल पड़ा और कई आदमी गाय की सींगें पकड़ने लगे। गाय अब तक तो चुपचाप खड़ी थी। छुरा देखते ही वह छटपटाने लगी। चक्रधर यह दृश्य देखकर तिलमिला उठे। निराशा और क्रोध से काँपते हुए बोले—भाइयो, एक गरीब, बेकस जानवर को मारना बहादुरी नहीं। खुदा बेकसों के खून से नहीं खुश होता। अगर जवाँमर्दी दिखानी है तो किसी शेर का शिकार करो, किसी चीते को मारो, किसी जंगली सुअर का पीछा करो। उसकी कुरबानी से, मुमकिन है, खुदा खुश हो। जब तक हिन्दू सामने खड़े थे, किसी की हिम्मत न पड़ी कि छुरा हाथ में लेता। जब वे चले गये, तो आप लोग शेर हो गये?

एक आदमी—तो क्यों चले गये? मैदान में खड़े क्यों न रहे? गौ-रक्षा का जोश दिखाते। दुम दबाकर भाग क्यों खड़े हुए?

चक्रधर—भाग नहीं खड़े हुए और न लड़ने में वे आपसे कम ही हैं। उनकी समझ में यह बात आ गयी कि जानवर की हिमायत में इन्सान का खून बहाना इन्सान को मुनासिब नहीं।

मौलवी—शुक्र है, उन्हें इतनी समझ तो आयी!

चक्रधर—लेकिन आप तो अभी तक उनकी दिलजारी पर कमर बाँधे हुए हैं। खैर, आपको अख्तियार है, जो चाहें, करें। मगर मैं यकीन के साथ कहता हूँ कि यह दिलजारी एक दिन रंग लायेगी। यह न समझिए कि इस वक्त कोई हिन्दू मैदान में नहीं है। हर एक कुरबानी हिन्दुस्तान के २१ करोड़ हिन्दुओं के दिलों में जख्म कर देती है, और इतनी बड़ी तादाद के दिलों को दुखाना बड़ी से बड़ी कौम के लिए भी एक दिन पछतावे का बाइस हो सकता है। अगर आपकी गिजा है, तो शौक से खाइए। लाखों गौएँ रोज कत्ल होती हैं, हिन्दू सिर नहीं उठाते। फिर यह क्योंकर मुमकिन है कि वह आपके मजहबी मामले में दखल दें? हिन्दुओं से ज्यादा बेतअस्सुब कौम दुनिया में नहीं है, लेकिन जब आप उनकी दिलजारी और महज दिलजारी के लिए कुरबानी करते हैं, तो उनको जरूर सदमा होता है। और उनके दिलों में जो शोला उठता है, उसका आप कयास नहीं कर सकते। अगर आपको यकीन न आये, तो देख लीजिये कि इस गाय के साथ ही एक हिन्दू कितनी खुशी से अपनी जान दे देता है!

यह कहते हुए चक्रधर ने तेजी से लपककर गाय की गरदन पकड़ ली और बोले—आज आपको इस गौ के साथ एक इन्सान की भी कुरबानी करनी पड़ेगी।

सभी आदमी चकित हो-होकर चक्रधर की ओर ताकने लगे। मौलवी साहब ने क्रोध से उन्मत्त होकर कहा—कलाम-पाक की कसम,-हट जाओ, वरना गजब हो जायगा।

चक्रधर—हो जाने दीजिए। खुदा की यही मरजी है कि आज गाय के साथ मेरी भी कुरबानी हो।

ख्वाजा महमूद—क्यो भई, तुम्हारा घर कहाँ है?

चक्रधर परदेशी मुसाफिर हूँ।

ख्वाजा—कसम, खुदा की, तुम जैसा दिलेर आदमी नहीं देखा। नाम के लिए तो गाय को माता कहनेवाले बहुत हैं; पर ऐसे बिरले ही देखे, जो गौ के पीछे जान लड़ा दें। तुम कलमा क्यों नहीं पढ़ लेते?

चक्रधर—मैं एक खुदा का कायल हूँ। वही सारे जहान का खालिक और मालिक है। फिर और किस पर ईमान लाऊँ?

ख्वाजा—वल्लाह, तब तो तुम सच्चे मुसलमान हो। हमारे हजरत को अल्लाह ताला का रसूल मानते हो?

चक्रधर—बेशक मानता हूँ, उनकी इज्जत करता हूँ और उनकी तौहीद का कायल हूँ।

ख्वाजा—हमारे साथ खाने-पीने से परहेज तो नहीं करते?

चक्रधर—जरूर करता हूँ, उसी तरह, जैसे किसी ब्राह्मण के साथ खाने से परहेज करता हूँ, अगर वह पाक-साफ न हो।

ख्वाजा—काश, तुम-जैसे समझदार तुम्हारे और भाई भी होते। मगर यहाँ तो लोग हमे मलिच्छ कहते हैं। यहाँ तक कि हमे कुत्तों से भी नजिस समझते हैं। उनकी थालियों मे कुत्ते खाते हैं; पर मुसलमान उनके गिलास में पानी नहीं पी सकता। वल्लाह, आपसे मिलकर दिल खुश हो गया। अब कुछ कुछ उम्मीद हो रही है कि शायद दोनों कौमों में इत्तफाक हो जाय। अब आप जाइए। मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि कुरबानी न होगी।

चक्रधर—और साहबों से तो पूछिए।

कई आवाजें—होती तो जरूर, लेकिन अब न होगी। आप वाकई दिलेर आदमी हैं।

ख्वाजा—यहाँ आप कहाँ ठहरे हुए हैं? मैं आपसे मिलूँगा।

चक्रधर—आप क्यों तकलीफ उठायेंगे, मैं खुद हाजिर हूँगा।

ख्वाजा महमूद ने चक्रधर को गले लगाकर रुखसत किया। इधर उसी वक्त गाय

की पगड़िया खोल दी गयी। वह जान लेकर भागी। और लोग भी इस 'नौजवान' की 'हिम्मत' और 'जवाँमर्दी' की तारीफ करते हुए चले।

चक्रधर को आते देखकर यशोदानन्दन अपने कमरे से निकल आये और उन्हें छाती से लगाते हुए बोले—भैया, आज तुम्हारा धैर्य और साहस देखकर मैं दंग रह गया। तुम्हें देखकर मुझे अपने ऊपर लज्जा आ रही है। तुमने आज हमारी लाज रख ली। अगर यहाँ कुरबानी हो जाती, तो हम मुँह दिखाने लायक भी न रहते!

एक बूढ़ा—आज तुमने वह काम कर दिखाया, जो सैकड़ों आदमियों के रक्त पात से भी न होता!

चक्रधर—मैंने कुछ भी नहीं किया। यह उन लोगों की शराफत थी कि उन्होंने मेरी अनुनय-विनय सुन ली।

यशोदा०—अरे भाई, रोने का भी तो ढंग होता है। अनुनय विनय हमने भी सैकड़ों ही बार की, लेकिन हर दफे गुत्थी और उलझती ही गयी। आइए, आपके घाव की मरहम-पट्टी तो हो जाय!

चक्रधर को कमरे में बिठाकर यशोदानन्दन ने घर में जाकर अपनी स्त्री वागीश्वरी से कहा—आज मेरे एक दोस्त की दावत करनी होगी। भोजन खूब दिल लगाकर बनाना। अहल्या, आज तुम्हारी पाक परीक्षा होगी।

अहल्या—वह कौन आदमी था दादा, जिसने मुसलमानों के हाथों से गौ की रक्षा की?

यशोदा०—वही तो मेरे दोस्त हैं, जिनकी दावत करने को कह रहा हूँ। बेचारे रास्ते में मिल गये। यहाँ सैर करने आये हैं। मसूरी जायेंगे।

अहल्या—(वागीश्वरी से) अम्माँ, जरा उन्हें अन्दर बुला लेना, तो दर्शन करेंगे। दादा, मैं कोठे पर बैठी सब तमाशा देख रही थी। जब हिन्दुओं ने उनपर पत्थर फेंकना शुरू किया, तो ऐसा क्रोध आता था कि वहीं से फटकारूँ। बेचारे के सिर से खून निकलने लगा, लेकिन वह जरा भी न बोले। जब वह मुसलमानों के सामने आकर खड़े हुए, तो मेरा कलेजा धड़कने लगा कि कहीं सब-के सब उनपर टूट न पड़ें। बड़े ही साहसी आदमी मालूम होते हैं? सिर में चोट आयी है क्या?

यशोदा०—हाँ, खून जम गया है, लेकिन उन्हें उसकी कुछ परवा ही नहीं। डॉक्टर को बुला रहा हूँ।

वागीश्वरी—खा पी चुकें, तो जरा देर के लिए यहीं भेज देना। मेरे लड़कों की जोड़ी तो हैं?

यशोदा०—अच्छी बात है। जरा सफाई कर लेना।

पड़ोस में एक डॉक्टर रहते थे। यशोनन्दन ने उन्हें बुलाकर घाव पर पट्टी बँधवा दी। फिर देर तक बातें होती रहीं। धीरे-धीरे सारा मुहल्ला जमा हो गया। कई श्रद्धालु-जनों ने तो चक्रधर के चरण छुए। आखिर भोजन का समय आया।

जब लोग खाने बैठे, तो यशोदानन्दन ने कहा—भाई, बाबूजी से जो कुछ कहना हो, कह लो; फिर मुझसे शिकायत न करना कि तुम उन्हें नहीं लाये। बाबूजी, इस घर की तथा मुहल्ले की कई स्त्रियों की इच्छा है कि आपके दर्शन करें। आपको कोई आपत्ति तो नहीं है?

वागीश्वरी—हाँ बेटा, जरा देर के लिए चले आना; नहीं तो अपने घर जाके कहोगे न कि मैंने जिन लोगों के लिए जान लड़ा दी, उन्होंने बात भी न पूछी।

चक्रधर ने शरमाते हुए कहा—आप लोगों ने मेरी जो खातिर की है, वह कभी नहीं भूल सकता। उसके लिए मैं सदैव आपका एहसान मानता रहूँगा।

ज्योंही लोग चौके से उठे, अहल्या ने कमरे की सफाई करनी शुरू की। दीवार की तस्वीरें साफ कीं, फर्श फिर से झाड़कर बिछाया, एक छोटी सी मेज पर फूलों का गिलास रख दिया, एक कोने में अगरबत्ती जलाकर रख दी। पान बनाकर तश्तरी में रखे। इन कामों से फुरसत पाकर उसने एकान्त में बैठकर फूलों की एक माला गूँथनी शुरू की। मन में सोचती थी कि न जाने कौन हैं, स्वभाव कितना सरल है! लजाने में तो औरतों से भी बढ़े हुए हैं। खाना खा चुके, पर सिर न उठाया। देखने में ब्राह्मण मालूम होते हैं। चेहरा देखकर तो कोई नहीं कह सकता कि यह इतने साहसी होंगे।

सहसा वागीश्वरी ने आकर कहा—बेटी, दोनों आदमी आ रहे हैं। साड़ी तो बदल लो।

अहल्या 'ऊँह' करके रह गयी। हाँ, उसकी छाती में धड़कन होने लगी। एक क्षण में यशोदानन्दनजी चक्रधर को लिये हुए कमरे में आये। वागीश्वरी और अहल्या दोनों खड़ी हो गयीं। यशोदानन्दन ने चक्रधर को कालीन पर बैठा दिया और खुद बाहर चले गये। वागीश्वरी पंखा झलने लगी; लेकिन अहल्या मूर्ति की भाँति खड़ी रही।

चक्रधर ने उड़ती हुई निगाहों से अहल्या को देखा। ऐसा मालूम हुआ, मानो कोमल, स्निग्ध एवं सुगन्धमय प्रकाश की लहर सी आँखों में समा गयी।

वागीश्वरी ने मिठाई की तश्तरी सामने रखते हुए कहा—कुछ जल-पान कर लो भैया, तुमने कुछ खाना भी तो नहीं खाया। तुम जैसे वीरों को सवा सेर से कम न खाना चाहिए। धन्य है वह माता, जिसने ऐसे बालक को जन्म दिया! अहल्या, जरा गिलास में पानी तो ला। भैया, जब तुम मुसलमानों के सामने अकेले खड़े थे तो यह ईश्वर से तुम्हारी कुशल मना रही थी। जाने कितनी मनौतियाँ कर डालीं। कहाँ है वह माला, जो तूने गूँथी थी? अब पहनाती क्यों नहीं?

अहल्या ने लजाते हुए काँपते हाथों से माला चक्रधर के गले में डाल दी, और आहिस्ता से बोली—क्या सिर में ज्यादा चोट आयी?

चक्रधर—नहीं तो; बाबूजी ने ख्वाहमख्वाह पट्टी बँधवा दी।

वागीश्वरी--जब तुम्हें चोट लगी है, तब इसे इतना क्रोध आया था कि उस आदमी को पा जाती, तो मुँह नोच लेती। क्या काम करते हो, बेटा ?

चक्रधर--अभी तो कुछ नहीं करता, पड़े-पड़े खाया करता हूँ, मगर जल्द ही कुछ-न कुछ करना ही पड़ेगा। धन से तो मुझे बहुत प्रेम नहीं है और मिल भी जाय, तो मुझे उसको भोगने के लिए दूसरों की मदद लेना पड़े। हाँ, इतना अवश्य चाहता हूँ कि किसी का आश्रित होकर न रहना पड़े।

वागीश्वरी--कोई सरकारी नौकरी नहीं मिलती क्या ?

चक्रधर--नौकरी करने की तो मेरी इच्छा ही नहीं है। मैंने पक्का निश्चय कर लिया है कि नौकरी न करूँगा। न मुझे खाने का शौक है, न पहनने का, न ठाट-बाट का, मेरा निर्वाह बहुत थोड़े में हो सकता है।

वागीश्वरी--और जब विवाह हो जायगा, तब क्या करोगे ?

चक्रधर--उस वक्त सिर पर जो आयेगी, देखी जायगी। अभी से क्यों उसकी चिन्ता करूँ ?

वागीश्वरी--जल-पान तो कर लो, या मिठाई भी नहीं खाते ?

चक्रधर मिठाइयाँ खाने लगे। इतने में महरी ने आकर कहा--बड़ी बहूजी, मेरे लाला को रात से खाँसी आ रही है, तिल-भर भी नहीं रुकती, कोई दवाई दे दो।

वागीश्वरी दवा देने चली गयी। अहल्या अकेली रह गयी तो चक्रधर ने उसकी ओर देखकर कहा--आपको मेरे कारण बड़ा कष्ट हुआ। मैं तो इस उपहार के योग्य न था।

अहल्या--वह उपहार नहीं, भक्त की भेंट है।

चक्रधर--मेरा परम सौभाग्य है कि बैठे बैठाये इस पद को पहुँच गया।

अहल्या--आपने आज इस शहर के हिन्दू मात्र की लाज रख ली। क्या और पानी दूँ ?

चक्रधर--तृप्त हो गया। आज मालूम हुआ कि जल में कितना स्वाद है! शायद अमृत में भी यह स्वाद न होगा।

वागीश्वरी ने आकर मुस्कराते हुए कहा--भैया, तुमने तो आधी भी मिठाइयाँ नहीं खायीं। क्या उसे देखकर भूख-प्यास बन्द हो गयी? यह मोहनी है, जरा इससे सचेत रहना।

अहल्या--अम्माँ, तुम छोटे बड़े किसी का लिहाज नहीं करतीं।

वागीश्वरी--अच्छा, बताओ, तुमने इनकी रक्षा के लिए कौन कौन सी मनौतियाँ की थीं ?

अहल्या--मुझे आप दिक करेंगी, तो चली जाऊँगी।

चक्रधर यहाँ कोई घण्टे-भर तक बैठे रहे। वागीश्वरी ने उनके घर का सारा वृत्तान्त पूछा--कै भाई हैं, कै बहिनें हैं, पिताजी क्या करते हैं, बहनों का विवाह हुआ है या

नहीं ? चक्रधर को उसके व्यवहार में इतना मातृ-स्नेह भरा मालूम होता था, मानों उससे उनका पुराना परिचय है ! चार बजते-बजते ख्वाजा महमूद के आने की खबर पाकर चक्रधर बाहर चले आये। और भी कितने ही आदमी मिलने आये थे। शाम तक उन लोगों से बातें होती रहीं। निश्चय हुआ कि एक पंचायत बनायी जाय और आपस के झगड़े उसी के द्वारा तय हुआ करें। चक्रधर को भी लोगों ने उस पंचायत का एक मेम्बर बनाया। रात को जब अहल्या और वागीश्वरी छत पर लेटीं, तो वागीश्वरी ने पूछा--अहल्या, सो गयी क्या ?

अहल्या—नहीं अम्माँ, जाग तो रही हूँ।

वागीश्वरी—हाँ, आज तुझे क्यों नींद आयेगी ! इनसे ब्याह करेगी ?

अहल्या--अम्माँ, मुझे गालियाँ दोगी, तो मैं नीचे जाकर लेटूँगी, चाहे मच्छर भले ही नोच खायें।

वागीश्वरी- अरे, तो मै कौन-सी गाली दे रही हूँ। क्या ब्याह न करेगी ? ऐसा अच्छा वर तुझे और कहाँ मिलेगा ?

अहल्या--तुम न मानोगी, लो, मैं जाती हूँ।

वागीश्वरी—मै दिल्लगी नहीं कर रही हूँ, सचमुच पूछती हूँ। तुम्हारी इच्छा हो, तो बातचीत की जाय। अपनी ही बिरादरी के हैं। कौन जाने, राजी हो जायँ।

अहल्या —सब बातें जानकर भी ?

वागीश्वरी—तुम्हारे बाबूजी ने सारी कथा पहले ही सुना दी है।

अहल्या--तो कहीं मानें न ?

वागीश्वरी--टालो मत, दिल की बात साफ-साफ कह दो।

अहल्या--तुम मेरे दिल का हाल मुझसे अधिक जानती हो, फिर मुझसे क्यों पूछती हो ?

वागीश्वरी वह धनी नहीं, याद रखो !

अहल्या--मै धन की लौंडी कभी नहीं रही।

वागीश्वरी--तो अब तुम्हें संशय में क्यों रखूँ। तुम्हारे बाबूजी तुमसे मिलाने ह के लिए इन्हें काशी से लाये हैं। इनके पास और कुछ हो या न हो, हृदय अवश्य है। और ऐसा हृदय, जो बहुत कम लोगों के हिस्से में आता है। ऐसा स्वामी पाक तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा।

अहल्या ने डबडबायी हुई आँखों से वागीश्वरी को देखा, पर मुँह से कुछ न बोली कृतज्ञता शब्दों में आकर शिष्टाचार का रूप धारण कर लेती है। उसका मौलिक रू वही है, जो आँखों से बाहर निकलते हुए काँपता और लजाता है।

६

मुंशी वज्रधर उन रेल के मुसाफिरों में थे, जो पहले तो गाड़ी मे खड़े होने व जगह माँगते हैं, फिर बैठने की फिक्र करने लगते हैं और अन्त में सोने की तैयारी क

देते हैं। चक्रधर एक बड़ी रियासत के दीवान की लड़की को पढ़ायें और वह इस स्वर्ण सयोग से लाभ न उठायें! यह क्योंकर हो सकता था! दीवान साहब को सलाम करने आने जाने लगे। बातें करने में तो निगुण थे ही, दो ही चार मुलाकातों में उनका सिक्का जम गया। इस परिचय ने शीघ्र ही मित्रता का रूप धारण किया। एक दिन दीवान साहब के साथ वह रानी जगदीशपुर के दरबार में जा पहुँचे और ऐसी लच्छेदार बातें की, अपनी तहसीलदारी की ऐसी डींट उड़ायी कि रानीजी मुग्ध हो गयीं! कोई क्या तहसीलदारी करेगा! जिस इलाके मे मैं था, वहाँ के आदमी आज तक मुझे याद करते हैं। डींग नही मारता, डींग मारने की मेरी आदत नहीं, लेकिन जिस इलाके मे मुश्किल से ५० हजार वसूल होता था, उसी इलाके से साल के अन्दर मैंने दो लाख वसूल करके दिखा दिया और लुत्फ यह कि किसी को हिरासत मे रखने या कुरकी करने की जरूरत नहीं पड़ी।

ऐसे कार्य-कुशल आदमी की सभी जगह जरूरत रहती है। रानी ने सोचा—इस आदमी को रख लूँ, तो इलाके की आमदनी बढ जाय। ठाकुर साहब से सलाह की। यहाँ तो पहले ही से सारी बातें सधी बधी थीं। ठाकुर साहब ने रग और भी चोखा कर दिया। उनके दोस्तों मे यही ऐसे थे, जिसपर लौंगी की असीम कृपा दृष्टि थी। दूसरी ही सलामी में मुशीजी को २५) मासिक की तहसीलदारी मिल गयी। मुँह-माँगी मुराद पूरी हुई। सवारी के लिए घोड़ा भी मिल गया। सोने का सुहागा हो गया।

अब मुशीजी की पाँचों अगुली घी मे थी! जहाँ महीने मे एक बार भी महफिल न जमने पाती थी, वहाँ अब तीसों दिन जमघट होने लगा। इतने बड़े अहलकार के लिए शराब की क्या कमी! कभी इलाके पर चुरके से दस-बीस बोतलें खिचवा लेते कभी शहर के किसी कलवार पर धौंस जमाकर दो चार बोतल ऐंठ लेते। बिना हर्र फिटकरी रग चोखा हो जाता था। एक कहार भी नौकर रख लिया और ठाकुर साहब के घर से दो चार कुरसियाँ उठवा लाये। उनके हौसले बहुत ऊँचे न थे, केवल एक भले आदमी की भाँति जीवन व्यतीत करना चाहते थे। इस नौकरी ने उनके हौसले को बहुत-कुछ पूरा कर दिया, लेकिन यह जानते थे कि इस नौकरी का कोई ठिकाना नहीं। रईसों का मिजाज एक सा नहीं रहता। मान लिया, रानी साहब के साथ निभ ही गयी, तो कै दिन। राजा साहब आते ही पुराने नौकरों को निकाल बाहर करेंगे। जब दीवान साहब ही न रहेंगे, तो मेरी क्या हस्ती! इसलिए उन्होंने पहले ही से नये राजा साहब के यहाँ आना जाना शुरू कर दिया था। इनका नाम ठाकुर विशालसिंह था। रानी साहब के चचेरे देवर होते थे। उनके दादा दो भाई थे। बड़े भाई रियासत के मालिक थे। उन्हीं के वशजों ने दो पीढ़ियों तक राज्य का आनन्द भोगा था। अब रानी के निस्सन्तान होने के कारण विशालसिंह के भाग्य उदय हुए थे। दो-चार गाँव जो उनके दादा को गुजारे के लिए मिले थे, उन्हीं को रेहन बय करके इन लोगों ने ५० वर्ष काट दिये थे—यहाँ तक कि विशालसिंह के पास अब इतनी भी सम्पत्ति न थी कि

गुजर बसर के लिए काफी होती। उसपर कुल-मर्यादा का पालन करना आवश्यक था। वह महारानी के पट्टीदार थे और इस हैसियत का निर्वाह करने के लिए उन्हें नौकर-चाकर, घोड़ा-गाड़ी, सभी कुछ रखना पड़ता था। अभी तक परम्परा की नकल होती चली आती थी। दशहरे के दिन उत्सव जरूर मनाया जाता, जन्माष्टमी के दिन जरूर धूमधाम होती।

प्रातःकाल था, माघ की ठण्ढ पड़ रही थी। मुन्शीजी ने गरम पानी से स्नान किया और चौकी से उतरे। मगर खड़ाऊँ उलटे रखे हुए थे। कहार खड़ा था कि यह जायँ, तो धोती छाटूँ! मुन्शीजी ने उलटे खड़ाऊँ देखे, तो कहार को डाँटा—तुझसे कितनी बार कह चुका कि खड़ाऊँ सीधे रखा कर। तुझे याद क्यों नहीं रहता? बता, उलटे खड़ाऊँ पर कैसे पैर रखूँ? आज तो मैं छोड़े देता हूँ, लेकिन कल जो तूने उलटे खड़ाऊँ रखे, तो इतना पीटूँगा कि तू भी याद करेगा।

कहार ने काँपते हुए हाथों से खड़ाऊँ सीधे कर दिये।

निर्मला ने हलवा बना रखा था। मुन्शीजी आकर एक कुरसी पर बैठ गये और जलता हुआ हलवा मुँह में डाल लिया। बारे किसी तरह उसे निगल गये और आँखों से पानी पोंछते हुए बोले—तुम्हारा कोई काम ठीक नहीं होता। जलता हुआ हलवा सामने रख दिया। आखिर मेरा मुँह जलाने से तुम्हें कुछ मिल तो नहीं गया।

निर्मला—जरा हाथ से देख क्यों न लिया?

वज्रधर—वाह, उलटा चोर कोतवाले डाँटे! मुझीको उल्लू बनाती हो। तुम्हें खुद सोच लेना चाहिए था कि जलता हुआ हलवा खा गये, तो मुँह की क्या दशा होगी। लेकिन तुम्हें क्या परवा! लल्लू कहाँ हैं?

निर्मला—लल्लू मुझसे कहके कहीं जाते हैं? पहर रात रहे, न जाने किधर चले गये। जाने कहीं किसानों की सभा होनेवाली है। वहीं गये हैं।

वज्रधर—वहाँ दिन-भर भूखों मरेगा! न जाने इसके सिर से यह भूत कब उतरेगा? मुझसे कल दारोगाजी कहते थे, आप लड़के को सँभालिए, नहीं तो धोखा खाइएगा। समझ में नहीं आता, क्या करूँ। मेरे इलाके के आदमी भी इन सभाओं में अब जाने लगे हैं और मुझे खौफ हो रहा है कि कहीं रानी साहब के कानों में भनक पड़ गयी, तो मेरे सिर हो जायँगी। मैं यह तो मानता हूँ कि अहलकार लोग गरीबों को बहुत सताते हैं, मगर किया क्या जाय, सताये बगैर काम भी तो नहीं चलता। आखिर उनका गुजर बसर कैसे हो। किसानों को समझाना बुरा नहीं, लेकिन आग में कूदना तो बुरी बात है। मेरी तो सुनने की उसने कसम खा ली है, मगर तुम क्यों नहीं समझातीं?

निर्मला—जो आग में कूदेगा, आप जलेगा, मुझे क्या करना है। उससे बहस कौन करे। आज सबेरे-सबेरे कहाँ जा रहे हो?

वज्रधर—जरा ठाकुर विशालसिंह के यहाँ जाता हूँ।

निर्मला—दोपहर तक तो लौट आओगे न?

दूँ। हाँ, इसका वादा करता हूँ कि रियासत मिलने के साल भर बाद भर कौड़ी कौड़ी सूद के साथ चुका दूँगा। सच्ची बात तो यह है कि मुझे पहले ही मालूम था कि इस शर्त पर कोई महाजन रुपए देने पर राजी न होगा। ये बला के चघड होते हैं। मुझे तो इनके नाम से चिढ है। मेरा वश चले, तो आज इन सबों को तोप पर उड़ा दूँ। जितना डर मुझे इनसे लगता है, उतना साँप से भी नहीं लगता। इन्हीं के हाथों आज मेरी यह दुर्गति है, नहीं तो इस गयी बीती दशा में भी आदमी होता। इन नर पिशाचों ने सारा रक्त चूस लिया। पिताजी ने केवल पाँच हजार लिये थे, जिनके पचास हजार हो गये। और मेरे तीन गाँव, जो इस वक्त दो लाख को सस्ते थे, नीलाम हो गये। पिताजी का मुझे यह अन्तिम उपदेश था कि कर्ज कभी मत लेना। इसी शोक में उन्होंने देह त्याग दी।

यहाँ अभी यह बातें हो ही रही थीं कि जनानखाने में से कलह शब्द आने लगे। मालूम होता था, कई स्त्रियों में संग्राम छिड़ा हुआ है। ठाकुर साहब ये कर्कश शब्द सुनते ही विकल हो गये, उनके माथे पर बल पड़ गये, मुख तेजहीन हो गया। यही उनके जीवन की सबसे दारुण व्यथा थी; यही काँटा था, जो नित्य उनके हृदय में खटका करता था। उनकी बड़ी स्त्री का नाम वसुमती था। वह अत्यन्त गर्वशीला थीं; नाक पर मक्खी भी न बैठने देतीं। उनकी तलवार सदैव म्यान से बाहर रहती थी। वह अपनी सपत्नियों पर उसी भाँति शासन करना चाहती थीं, जैसे कोई सास अपनी बहुओं पर करती है। वह यह भूल जाती थीं कि ये उनकी बहुएँ नहीं, सपत्नियाँ हैं। जो उनकी 'हाँ में हाँ' मिलाता, उसपर प्राण देती थीं, किन्तु उनकी इच्छा के विरुद्ध जरा भी कोई बात हो जाती, तो सिंहनी का सा विकराल रूप धारण कर लेती थीं।

दूसरी स्त्री का नाम रामप्रिया था। यह रानी जगदीशपुर की सगी बहन थीं। उनके पिता पुराने खिलाड़ी थे, दो दस्ती भाँकते थे, दो-धारी तलवार से लड़ते थे। रामप्रिया दया और विनय की मूर्ति थीं, बड़ी विचारशील और वाक्य-मधुर, जितना कोमल अंग था, उतना ही कोमल हृदय भी था। वह घर में इस तरह रहती थीं मानों थीं ही नहीं। उन्हें पुस्तकों से विशेष रुचि थी, हरदम कुछ न कुछ पढ़ा लिखा करती थीं। सब से अलग-विलग रहती थीं, न किसी के लेने में, न देने में, न किसी से बैर, न प्रेम।

तीसरी महिला का नाम रोहिणी था। ठाकुर साहब का उनपर विशेष प्रेम था, और वह भी प्राणपण से उनकी सेवा करती थीं। इनमें प्रेम की मात्रा अधिक थी या माया की—इसका निर्णय करना कठिन था। उन्हें यह असह्य था कि ठाकुर साहब उनकी सौतों से बात चीत भी करें। वसुमती कर्कशा होने पर भी मलिन हृदया न थीं, जो कुछ मन में होता, वही मुख में। एक बार मुँह से बात निकाल डालने पर फिर उसके हृदय पर उसका कोई चिह्न न रहता था। रोहिणी द्वेष को पालती थी, जैसे चिड़िया अपने अण्डे को सेती है। वह जितना मुँह से कहती थी, उससे कहीं अधिक मन में रखती थी।

ठाकुर साहब ने अन्दर जाकर वसुमती से कहा—तुम घर में रहने दोगी या नहीं ? जरा भी शरम-लिहाज नहीं कि बाहर कौन बैठा हुआ है। बस, जब देखो, संग्राम मचा रहता है। इस जिन्दगी से तंग आ गया। सुनते-सुनते कलेजे में नासूर पड़ गये।

वसुमती—कर्म तो तुमने किये हैं, भोगेगा कौन ?

ठाकुर—तो जहर दे दो। जला जलाकर मारने से क्या फायदा !

वसुमती—क्या वह महारानी लड़ने के लिए कम थी कि तुम उनका पक्ष लेकर आ दौड़े ? पूछते क्यों नहीं, क्या हुआ, जो तीरों की बौछार करने लगीं ?

रोहिणी—आप चाहती हैं कि मैं कान पकड़कर उठाऊँ, या बैठाऊँ, तो यहाँ कुछ आपके गाँव में नहीं बसी हूँ। क्यों कोई आपसे थर-थर काँपा करे !

ठाकुर—आखिर कुछ मालूम भी तो हो, क्या बात हुई ?

रोहिणी—वही हुई, जो रोज होती है। मैंने हिरिया से कहा, जरा मेरे सिर में तेल डाल दे। मालकिन ने उसे तेल डालते देखा, तो आग हो गयीं। तलवार खींचे हुए आ पहुँचीं और उसका हाथ पकड़कर खींच ले गयीं। आज आप निश्चित कर लीजिए कि हिरिया उन्हीं की लौंडी है या मेरी भी। यह निश्चय किये बिना आप यहाँ से न जाने पायेंगे।

वसुमती—वह क्या निश्चय करेंगे, निश्चय मैं करूँगी। हिरिया मेरे साथ मेरे नैहर से आयी है और मेरी लौंडी है। किसी दूसरे का उस पर कोई दावा नहीं है।

रोहिणी—सुना आपने ? हिरिया पर किसी का दावा नहीं है, वह अकेली उन्हीं की लौंडी है।

ठाकुर—हिरिया इस घर में रहेगी, तो उसे सब का काम करना पड़ेगा।

वसुमती यह सुनकर जल उठी। नागिन की भाँति फुफकारकर बोली—इस वक्त तो आपने चहेती रानी की ऐसी डिग्री कर दी, मानो यहाँ उन्हीं का राज्य है। ऐसे ही न्यायशील होते, तो सन्तान का मुँह देखने को न तरसते।

ठाकुर साहब को ये शब्द बाण-से लगे। कुछ जवाब न दिया। बाहर आकर कई मिनट तक मर्माहत दशा में बैठे रहे। वसुमती इतनी मुँहफट है, यह उन्हें आज मालूम हुआ। सोचा, मैंने तो कोई ऐसी बात नहीं कही थी, जिस पर वह इतना झल्ला जाती। मैंने क्या बुरा कहा कि हिरिया को सबका काम करना पड़ेगा। अगर हिरिया केवल उसी का काम करती है, तो दो महरियाँ और रखनी पड़ती हैं। क्या वसुमती इतना भी नहीं समझती ? ताना ही देना था, तो और कोई लगती हुई बात कह देती। यह तो कठोर से कठोर आघात है, जो वह मुझ पर कर सकती थी। ऐसी स्त्री का तो मुँह न देखना चाहिए।

सहसा उन्हें एक बात सूझी। मुंशीजी से बोले—ज्योतिष की भविष्यवाणी के विषय में आपके क्या विचार हैं। क्या यह हमेशा सच निकलती है ?

मुंशीजी असमंजस में पड़े कि इसका क्या जवाब दूँ। कैसा जवाब रुचिकर होगा—

यह उनकी समझ में न आया। अँधेरे में टटोलते हुए बोले--यह तो उसी विद्या के विषय में कहा जा सकता है, जहाँ अनुमान से काम न लिया जाय। ज्योतिष में बहुत-कुछ पूर्व अनुभव और अनुमान ही से काम लिया जाता है।

ठाकुर--बस, ठीक यही मेरा विचार है। अगर ज्योतिष मुझे धनी बतलाये, तो यह आवश्यक नहीं कि मैं धनी हो जाऊँ। ज्योतिष के धनी कहने पर भी सम्भव है कि मैं जिन्दगी भर कौड़ियों को मुहताज रहूँ। इसी भाँति ज्योतिष का दरिद्र लक्ष्मी का कृपा पात्र भी हो सकता है, क्यों?

मुंशीजी को अब भी पाँव जमाने को भूमि न मिली। सन्दिग्ध भाव से बोले—हाँ, ज्योतिष की धारणा जब अनुष्ठानों से बदली जा सकती है, तो उसे विधि का लेख क्यों समझा जाय?

ठाकुर साहब ने बड़ी उत्सुकता से पूछा--अनुष्ठानों पर आपका विश्वास है?

मुंशीजीको जमीन मिल गयी। बोले---अवश्य!

विशालसिंह यह तो जानते थे कि अनुष्ठानों से शंकाओं का निवारण होता है। शनि, राहु आदि का शमन करने के अनुष्ठानों से परिचित थे। बहुत दिनों से मंगल का व्रत भी रखते थे, लेकिन इन अनुष्ठानों पर अब उन्हें विश्वास न था। वह कोई ऐसा अनुष्ठान करना चाहते थे जो किसी तरह निष्फल ही न हो। बोले—यदि आप यहाँ के किसी विद्वान् ज्योतिषी से परिचित हों, तो कृपा करके उन्हें मेरे यहाँ भेज दीजिएगा। मुझे एक विषय में उनसे कुछ पूछना है।

मुंशी—आज ही लीजिए, यहाँ एक से एक बढ़कर ज्योतिषी पड़े हुए हैं। आप मुझे कोई गैर न समझिए। जब, जिस काम की इच्छा हो, मुझे कहला भेजिए। सिर के बल दौड़ा आऊँगा। बाजार से कोई अच्छी चीज मँगानी हो, मुझे हुक्म दीजिए, किसी वैद्य या हकीम की जरूरत हो, मुझे सूचना दीजिए। मैं तो जैसे महारानीजी को समझता हूँ, वैसे ही आपको भी समझता हूँ।

ठाकुर—मुझे आपसे ऐसी ही आशा है। जरा रानी साहबा का कुशल-समाचार जल्द जल्द भेजिएगा। वहाँ आपके सिवा मेरा और कोई नहीं है। आप ही के ऊपर मेरा भरोसा है। जरा देखिएगा, कोई चीज इधर उधर न होने पाये, यार लोग नोच-खसोट न शुरू कर दें।

मुंशी—आप इससे निश्चिन्त रहें। मैं देख भाल करता रहूँगा।

ठाकुर—हो सके, तो जरा यह भी पता लगाइएगा कि रानी ने कहाँ-कहाँ से कितने रुपये कर्ज लिये हैं।

मुंशी—समझ गया, यह तो सहज ही में मालूम हो सकता है।

ठाकुर--जरा इसका भी पता लगाइएगा कि आजकल उनका भोजन कौन बनाता है। पहले तो उनके मैके ही की कोई स्त्री थी। मालूम नहीं, अब भी वही बनाती है, या कोई दूसरा रसोइया रखा गया है।

ग्रधर ने ठाकुर साहब के मन का भाव ताड़कर दृढ़ता से कहा—महाराज, क्षमा गा, मै आपका सेवक हूँ, पर रानी जी का भी सेवक हूँ। उनका शत्रु नही हूँ। ग्रौर वह दोनों सिंह और सिंहनी की भाँति लड़ सकते हैं। मै गीदड़ की भाँति स्वार्थ के लिए बीच मे कूदना अपमान-जनक समझता हूँ। मै वहाँ तक तो ग्रापकी सेवा कर सकता हूँ, जहाँ तक रानीजी का अहित न हो। मै तो दोनों ो का भिक्षुक हूँ।

ाकुर साहब दिल मे शरमाये, पर इसके साथ मुशीजी पर उनका विश्वास और ; हो गया। बात बनाते हुए बोले—नहीं, नहीं, मेरा मतलब आपने गलत समझा। छीः! मै इतना नीच नही। मै केवल इसलिए पूछता था कि नया रसोइया है या नहीं। अगर वह सुपात्र है, तो वही मेरा भी भोजन बनाता रहेगा।

ाकुर साहब ने बात तो बनायी, पर उन्हें स्वय ज्ञात हो गया कि बात बनी नहीं। झेंप मिटाने को वह एक समाचार-पत्र देखने लगे, मानों उन्हें विश्वास हो गया शीजी ने उनकी बात सच मान ली।

इतने मे हिरिया ने आकर मुशीजी से कहा—बाबा, मालकिन ने कहा है कि आप लगें, तो मुझसे मिल लीजिएगा।

ठाकुर साहब ने गरज कर कहा—ऐसी क्या बात है, जिसको कहने की इतनी जल्दी इन बेचारो को देर हो रही है, कुछ निठल्ले थोड़े ही हैं कि बैठे-बैठे औरतों का सुना करें। जा, अन्दर बैठ।

यह कह कर ठाकुर साहब उठ खड़े हुए, मानो मुशी जी को विदा कर रहे हैं। वह ती को उनसे बातें करने का अवसर न देना चाहते थे। मुशीजी को भी अब विवश विदा माँगनी पड़ी।

मुशीजी यहाँ से चले तो उनके दिल मे एक शङ्का समायी हुई थी कि ठाकुर साहब मुझसे नाराज तो नहीं हो गये। हाँ, इतना सन्तोष था कि मैंने कोई बुरा काम नहीं। यदि वह सच्ची बात कहने के लिए नाराज हो जाते हैं, तो हो जायँ। मैं क्यों साहब का बुरा चेतूँ। बहुत होगा, राजा होने पर मुझे जवाब दे देंगे। इसकी क्या ा। इस विचार से मुंशीजी और अकड़कर घोड़े पर बैठ गये। वह इतने खुश थे, हवा मे उड़े जा रहे हैं। उनकी आत्मा कभी इतनी गौरवोन्मत्त न हुई थी। ात्रों को कभी उन्होंने इतना तुच्छ न समझा था।

७

चक्रधर की कीर्ति उनसे पहले ही बनारस पहुँच चुकी थी। उनके मित्र और अन्य उनसे मिलने के लिए उत्सुक हो रहे थे। बार बार आते थे और पूछकर लौट जाते जब वह पाँचवें दिन घर पहुँचे तो लोग मिलने और बधाई देने आ पहुँचे। नगर सभ्य समाज मुक्तकंठ से उनकी तारीफ कर रहा था। यद्यपि चक्रधर गभीर आदमी पर अपनी कीर्ति की प्रशंसा से उन्हें सच्चा आनन्द मिल रहा था। मुसलमानो की

संख्या के विषय में किसी को भ्रम होता, तो वह तुरन्त उसे ठीक कर देते थे—एक हजार? अजी, पूरे पाँच हजार आदमी थे और सभी की त्योरियाँ चढ़ी हुई! मालूम होता था, मुझे खड़ा निगल जायँगे। जान पर खेल गया और क्या कहूँ। कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्हें चक्रधर की वह अनुनय-विनय अपमानजनक जान पड़ती थी। उनका खयाल था कि इससे तो मुसलमान और भी शेर हो गये होंगे। इन लोगों से चक्रधर को घण्टों बहस करनी पड़ी, पर वे कायल न हुए। मुसलमानों में भी चक्रधर की तारीफ हो रही थी। दो-चार आदमी मिलने भी आये, लेकिन हिन्दुओं का जमघट देखकर लौट गये।

और लोग तो तारीफ कर रहे थे, पर मुंशी वज्रधर लड़के की नादानी पर बिगड़ रहे थे। तुम्हीं को क्यों यह भूत सवार हो जाता है? क्या तुम्हारी ही जान सस्ती है? तुम्हीं को अपनी जान भारी पड़ी है? क्या वहाँ और लोग न थे, फिर तुम क्यों आग में कूदने गये? मान लो, मुसलमानों ने हाथ चला दिया होता, तो क्या करते? फिर तो कोई साहब पास न फटकते! ये हजारों आदमी, जो आज खुशी के मारे फूले नहीं समाते, बात तक न पूछते! निर्मला तो इतनी बिगड़ी कि चक्रधर से बात न करना चाहती थी।

शाम को चक्रधर मनोरमा के घर गये। वह बगीचे में दौड़-दौड़कर हजारे से पौधों को सींच रही थी। पानी से कपड़े लथपथ हो गये थे। उन्हें देखते ही हजारा फेंककर दौड़ी और पास आकर बोली—आप कब आये, बाबूजी? मैं पत्रों में रोज वहाँ का समाचार देखती थी और सोचती थी कि आप यहाँ आयेंगे, तो आपकी पूजा करूँगी। आप न होते तो वहाँ जरूर दंगा हो जाता। आपको बिगड़े हुए मुसलमानों के सामने अकेले जाते हुए जरा भी शंका न हुई?

चक्रधर ने कुरसी पर बैठते हुए कहा—जरा भी नहीं! मुझे तो यही धुन थी कि इस वक्त कुरबानी न होने दूँगा, इसके सिवा दिल में और कोई खयाल न था। अब सोचता हूँ, तो आश्चर्य होता है कि मुझमें इतना बल और साहस कहाँ से आ गया था। मैं तो यही कहूँगा कि मुसलमानों को लोग नाहक बदनाम करते हैं। फिसाद से वे भी उतना ही डरते हैं, जितना हिन्दू! शान्ति की इच्छा भी उनमें हिन्दुओं से कम नहीं है। लोगों का यह खयाल कि मुसलमान लोग हिन्दुओं पर राज्य करने का स्वप्न देख रहे हैं बिलकुल गलत है। मुसलमानों को केवल यह शंका हो गयी है कि हिन्दू उनसे पुराना बैर चुकाना चाहते हैं, और उनकी हस्ती को मिटा देने की फिक्र कर रहे हैं। इसी भय से वे जरा-जरा सी बात पर तिनक उठते हैं और मरने मारने पर आमादा हो जाते हैं।

मनोरमा—मैंने तो जब पढ़ा कि आप उन बौखलाये हुए आदमियों के सामने निःशंक भाव से खड़े थे, तो मेरे रोंगटे खड़े हो गये। आगे पढ़ने की हिम्मत न पड़ती

थी कि कहीं कोई बुरी खबर न हो। क्षमा कीजिएगा, मैं उस समय वहाँ होती, तो आपको पकड़कर खींच लाती। आपको अपनी जान का जरा भी मोह नहीं है।

चक्रधर—(हँसकर) जान और हई किस लिए ? पेट पालने ही के लिए तो हम आदमी नहीं बनाये गये हैं। हमारे जीवन का आदर्श कुछ तो ऊँचा होना चाहिए, विशेषकर उन लोगों का, जो सभ्य कहलाते हैं। ठाट से रहना ही सभ्यता नहीं।

मनोरमा—(मुस्कराकर) अच्छा, अगर इस वक्त आपको पाँच लाख रुपए मिल जायँ, तो आप लें या न लें ?

चक्रधर—कह नहीं सकता, मनोरमा उस वक्त दिल की क्या हालत हो। दान तो न लूँगा, पड़ा हुआ धन भी न लूँगा; लेकिन अगर किसी ऐसी विधि से मिले कि उसे लेने में आत्मा की हत्या न होती हो, तो शायद मैं प्रलोभन को रोक न सकूँ; पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि उसे भोग-विलास में न उड़ाऊँगा। धन की मैं निन्दा नहीं करता, उससे मुझे डर लगता है। दूसरों का आश्रित बनना तो लज्जा की बात है, लेकिन जीवन को इतना सरल रखना चाहता हूँ कि सारी शक्ति धन कमाने और अपनी जरूरतों को पूरा करने ही में न लगानी पड़े।

मनोरमा—धन के बिना परोपकार भी तो नहीं हो सकता ?

चक्रधर—परोपकार मैं करना नहीं चाहता, मुझमें इतनी सामर्थ्य ही नहीं। यह तो वे ही लोग कर सकते हैं, जिन पर ईश्वर की कृपा-दृष्टि हो। मैं परोपकार के लिए अपने जीवन को सरल नहीं बनाना चाहता; बल्कि अपने उपकार के लिए, अपनी आत्मा के सुधार के लिए। मुझे अपने ऊपर इतना भरोसा नहीं है कि धन पाकर भी भोग में न पड़ जाऊँ। इसलिए मैं उससे दूर ही रहना चाहता हूँ।

मनोरमा—अच्छा, अब यह तो बतलाइए कि आपसे वधूजी ने क्या बातें कीं ? (मुस्कराकर) मैं तो जानती हूँ, आपने कोई बात-चीत न की होगी, चुपचाप लजाये बैठे रहे होंगे। उसी तरह वह भी आपके सामने आकर खड़ी हो गयी होंगी और खड़ी-खड़ी चली गयी होंगी।

चक्रधर शरम से सिर झुकाकर बोले—हाँ, मनोरमा, हुआ तो ऐसा ही। मेरी समझ ही में न आता था कि क्या बातें करूँ। उसने दो एक बार कुछ बोलने का साहस भी किया।

मनोरमा—आपको देखकर खुश तो बहुत हुई होंगी।

चक्रधर—(शरमाकर) किसी के मन का हाल मैं क्या जानूँ ?

मनोरमा ने अत्यन्त सरल भाव से कहा—सब मालूम हो जाता है। आप मुझसे बता नहीं रहे हैं। कम-से-कम उनकी इच्छा तो मालूम ही हो गयी होगी। मैं तो समझती हूँ, जो विवाह लड़की की इच्छा के विरुद्ध किया जाता है वह विवाह ही नहीं है। आपका क्या विचार है ?

चक्रधर बड़े असमञ्जस में पड़े। मनोरमा से ऐसी बातें करते उन्हें संकोच होता

था। डरते थे कि कहीं ठाकुर साहब को खबर मिल जाय--सरला मनोरमा ही कह दे --तो वह समझेंगे, मैं इसके सामाजिक विचारों में क्रांति पैदा करना चाहता हूँ, अब तक उन्हें ज्ञात न था कि ठाकुर साहब किन विचारों के आदमी हैं। हाँ, उनके गङ्गा-स्नान से यह आभास होता था कि वह सनातन-धर्म के भक्त हैं। सिर झुकाकर बोले --मनोरमा, हमारे यहाँ विवाह का आधार प्रेम और इच्छा पर नहीं, धर्म और कर्तव्य पर रखा गया है। इच्छा चञ्चल है, क्षण-क्षण में बदलती रहती है। कर्तव्य स्थायी है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता।

मनोरमा--अगर यह बात है, तो पुराने जमाने में स्वयम्बर क्यों होते थे?

चक्रधर--स्वयम्बर में कन्या की इच्छा ही सर्वप्रधान नहीं होती थी। वह वीर-युग था, और वीरता ही मनुष्य का सबसे उज्ज्वल गुण समझा जाता था। लोग आजकल वैवाहिक प्रथा सुधारने का प्रयत्न तो कर रहे हैं।

मनोरमा--जानती हूँ, लेकिन कहीं सुधार हो रहा है? माता पिता धन देखकर लट्टू हो जाते हैं। इच्छा अस्थायी है, मानती हूँ, लेकिन एक बार अनुमति देने के बाद फिर लड़की को पछताने के लिए कोई हीला नहीं रहता।

चक्रधर--अपने मन को समझाने के लिए तर्कों की कमी कभी नहीं रहती, मनोरमा! कर्तव्य ही ऐसा आदर्श है, जो कभी धोखा नहीं दे सकता।

मनोरमा--हाँ, लेकिन आदर्श आदर्श ही रहता है, यथार्थ नहीं हो सकता। (मुस्कराकर) यदि आप ही का विवाह किसी कानी, काली-कलूटी स्त्री से हो जाय, तो क्या आपको दुःख न होगा? बोलिए! क्या आप समझते हैं कि लड़की का विवाह किसी खूसट से हो जाता है, तो उसे दुःख नहीं होता। उसका बस चले तो वह पति का मुँह तक न देखे। लेकिन इन बातों को जाने दीजिए। वधूजी बहुत सुन्दर हैं?

चक्रधर ने बात टालने के लिए कहा--सुन्दरता मनोभावों पर निर्भर होती है। माता अपने कुरूप बालक को भी सुन्दर समझती है।

मनोरमा--आप तो ऐसी बातें कर रहे हैं, जैसे भागना चाहते हों। क्या माता किसी सुन्दर बालक को देखकर यह नहीं सोचती कि मेरा भी बालक ऐसा ही होता!

चक्रधर ने लज्जित होकर कहा--मेरा आशय यह न था। मैं यही कहना चाहता था कि सुन्दरता के विषय में सब की राय एक-सी नहीं हो सकती।

मनोरमा--आप फिर भागने लगे। मैं जब आपसे यह प्रश्न करती हूँ, तो उसका साफ मतलब यह है कि आप उन्हें सुन्दर समझते हैं या नहीं?

चक्रधर लज्जा से सिर झुकाकर बोले--ऐसी बुरी तो नहीं है।

मनोरमा--तब तो आप उन्हें खूब प्यार करेंगे?

चक्रधर--प्रेम केवल रूप का भक्त नहीं होता।

सहसा घर के अन्दर से किसी के कर्कश शब्द कान में आये, फिर लौंगी का रोना सुनायी दिया। चक्रधर ने पूछा--यह तो लौंगी रो रही है?

मनोरमा—जी हाँ! आपसे तो भाई साहब से भेंट नहीं हुई। गुरुसेवकसिंह नाम है। कई महीनों से देहात में जमींदारी का काम करते हैं। हैं तो मेरे सगे भाई और पढ़े-लिखे भी खूब हैं; लेकिन भलमनसी छू भी नहीं गयी। जब आते हैं, लौंगी अम्माँ से झूठ-मूठ तकरार करते हैं। न जाने उससे इन्हें क्या अदावत है।

इतने में गुरुसेवकसिंह लाल-लाल आँखें किये निकल आये और मनोरमा से बोले—बाबूजी कहाँ गये हैं? तुझे मालूम है कब तक आयेंगे? मैं आज ही फैसला कर लेना चाहता हूँ।

गुरुसेवकसिंह की उम्र २५ वर्ष से अधिक न थी। लम्बे, छरहरे एवं रूपवान् थे, आँखों पर ऐनक थी, मुँह में पान का बीड़ा, देह पर तनजेब का कुरता, माँग निकली हुई। बहुत शौकीन आदमी थे।

चक्रधर को बैठे देखकर वह कुछ झिझके और अन्दर लौटना ही चाहते थे कि लौंगी रोती हुई आकर चक्रधर के पास खड़ी हो गयी और बोली—बाबूजी, इन्हें समझाइए कि मैं अब बुढ़ापे में कहाँ जाऊँ? इतनी उम्र तो इस घर में कटी, अब किसके द्वार पर जाऊँ? जहाँ इतने नौकरों-चाकरों के लिए खाने को रोटियाँ हैं, क्या वहाँ मेरे लिए एक टुकड़ा भी नहीं? बाबूजी, सच कहती हूँ, मैंने इन्हें अपना दूध पिलाकर पाला है; मालकिन के दूध न होता था, और अब यह मुझे घर से निकालने पर तुले हुए हैं।

गुरुसेवकसिंह की इच्छा तो न थी कि चक्रधर से इस कलह के सम्बन्ध में कुछ कहें; लेकिन जब लौंगी ने उन्हें पंच बनाने में संकोच न किया, तो वह भी खुल पड़े। बोले—महाशय, इससे यह पूछिए कि अब यह बुढ़िया हुई, इसके मरने के दिन आये, क्यों नहीं किसी तीर्थस्थान में जाकर अपने कलुषित जीवन के बचे हुए दिन काटती? मैंने दादाजी से कहा था कि इसे वृन्दावन पहुँचा दीजिए, और वह तैयार भी हो गये थे; पर इसने सैकड़ों बहाने किये और वहाँ न गयी। आपसे तो अब कोई परदा नहीं है, इसके कारण मैंने यहाँ रहना छोड़ दिया। इसके साथ इस घर में रहते हुए मुझे लज्जा आती है। इसे इसकी जरा भी परवाह नहीं कि जो लोग सुनते होंगे, तो दिल में क्या कहते होंगे। हमें कहीं मुँह दिखाने की जगह नहीं रही। मनोरमा अब सयानी हुई। उसका विवाह करना है या नहीं। इसके घर में रहते हुए हम किस भले आदमी के द्वार पर जा सकते हैं। मगर इसे इन बातों की बिलकुल चिन्ता नहीं। बस मरते दम तक घर की स्वामिनी बनी रहना चाहती है। दादाजी भी सठिया गये हैं, उन्हें मानापमान की जरा भी फिक्र नहीं। इसने उनपर न जाने क्या मोहिनी डाल दी है कि इसके पीछे मुझसे लड़ने पर तैयार रहते हैं। आज मैं निश्चय करके आया हूँ कि इसे घर के बाहर निकालकर ही छोड़ूँगा। या तो यह किसी दूसरे मकान में रहे, या किसी तीर्थस्थान को प्रस्थान करे।

लौंगी—तो बच्चा सुनो, जब तक मालिक जीता है, लौंगी इसी घर में रहेगी और इसी तरह रहेगी। जब वह न रहेगा, तो जो कुछ सिर पर पड़ेगी, झेल लूँगी। जो तुम चाहो कि लौंगी गली गली ठोकरें खाये, तो यह न होगा। मैं लौंडी नहीं हूँ कि घर से

बाहर जाकर रहूँ। तुम्हें यह कहते लज्जा नहीं आती? चार भाँवरें फिर जाने से ही ब्याह नहीं हो जाता। मैंने अपने मालिक की जितनी सेवा की है और करने को तैयार हूँ, उतनी कौन ब्याहता करेगी? लाये तो हो बहू, कभी उठकर एक लुटिया पानी भी देती है? खायी है कभी उसकी बनायी हुई कोई चीज? नाम से कोई ब्याहता नहीं होती, सेवा और प्रेम से होती है।

गुरुसेवक—यह तो मैं जानता हूँ कि तुझे बातें बहुत करनी आती हैं, पर अपने मुँह से जो चाहे बने, मैं तुझे लौंडी ही समझता हूँ।

लौंगी—तुम्हारे समझने से क्या होता है, अभी तो मेरा मालिक जीता है। भगवान् उसे अमर करें! जब तक जीती हूँ, इसी तरह रहूँगी, चाहे तुम्हें अच्छा लगे या बुरा। जिसने जवानी में बाँह पकड़ी, वह क्या अब छोड़ देगा? भगवान् को कौन मुँह दिखायेगा?

यह कहती हुई लौंगी घर में चली गयी। मनोरमा चुपचाप सिर झुकाये दोनों की बातें सुन रही थी। उसे लौंगी से सच्चा प्रेम था। मातृ स्नेह का जो कुछ सुख उसे मिला था, लौंगी ही से मिला था। उसकी माता तो उसे गोद में छोड़कर परलोक सिधारी थी। उस एहसान को वह कभी न भूल सकती थी। अब भी लौंगी उसपर प्राण देती थी। इसलिए गुरुसेवकसिंह की यह निर्दयता उसे बहुत बुरी मालूम होती थी।

लौंगी के जाते ही गुरुसेवकसिंह बड़े शान्त भाव से एक कुरसी पर बैठ गये और चक्रधर से बोले—महाशय, आपसे मिलने की इच्छा हो रही थी और इस समय मेरे यहाँ आने का एक कारण यह भी था। आपने आगरे की समस्या जिस बुद्धिमानी से हल की उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, कम है।

चक्रधर—वह तो मेरा कर्तव्य ही था?

गुरुसेवक—इसीलिए कि आपके कर्तव्य का आदर्श बहुत ऊँचा है। १०० में ९९ आदमी तो ऐसे अवसर पर लड़ जाना ही अपना कर्तव्य समझते हैं। मुश्किल से एक आदमी ऐसा निकलता है, जो धैर्य से काम ले। शान्ति के लिए आत्म-समर्पण करनेवाला तो लाख-दो-लाख में एक होता है। आप विलक्षण धैर्य और साहस के मनुष्य हैं। मैंने भी अपने इलाके में कुछ लड़कों का खेल-सा कर रखा है, वहाँ पठानों के कई बड़े-बड़े गाँव हैं, उन्हीं से मिले हुए ठाकुरों के भी कई गाँव हैं। पहले पठानों और ठाकुरों में इतना मेल था कि शादी-गमी, तीज-त्योहार में एक दूसरे के साथ शरीक होते थे, लेकिन अब तो यह हाल है कि कोई त्योहार ऐसा नहीं जाता, जिसमें खून-खच्चर या कम-से कम मार पीट न हो। आप अगर दो-एक दिन के लिए वहाँ चलें तो आपस में बहुत कुछ सफाई हो जाय। मुसलमानों ने अपने पत्रों में आपका जिक्र देखा है और शौक से आपका स्वागत करेंगे। आपके उपदेशों का बहुत कुछ असर पड़ सकता है।

चक्रधर—बातों में असर डालना तो ईश्वर की इच्छा के अधीन है। हाँ, मैं आपके साथ चलने को तैयार हूँ। मुझसे जो सेवा हो सकेगी, वह उठा न रखूँगा। कब चलने का इरादा है?

गुरुसेवक—चलता तो इसी गाड़ी से, लेकिन मैं इस कुलटा को अबकी निकाल बाहर किये बगैर नहीं जाना चाहता। दादाजी ने रोक-टोक की, तो मनोरमा को लेता जाऊँगा और फिर इस घर में कदम न रखूँगा। सोचिए तो, कितनी बड़ी बदनामी है।

चक्रधर बड़े संकट में पड़ गये। विरोध की कटुता को मिटाने के लिए मुस्कराते हुए बोले—मेरे और आपके सामाजिक विचारों में बड़ा अन्तर है। मैं बिल्कुल भ्रष्ट हो गया हूँ।

गुरुसेवक—क्या आप लौंगी का यहाँ रहना अनुचित नहीं समझते?

चक्रधर—जी नहीं, खानदान की बदनामी अवश्य है; लेकिन मैं बदनामी के भय से अन्याय करने की सलाह नहीं दे सकता। क्षमा कीजिएगा, मैं बड़ी निर्भीकता से अपना मत प्रकट कर रहा हूँ।

गुरुसेवक—नहीं, नहीं; मैं बुरा नहीं मान रहा हूँ। (मुस्कराकर) इतना उजड्ड नहीं हूँ कि किसी मित्र की सच्ची राय न सुन सकूँ। अगर आप मुझे समझा दें कि उसका यहाँ रहना उचित है, तो मैं आपका बहुत अनुगृहीत हूँगा। मैं खुद नहीं चाहता कि मेरे हाथों किसी को अकारण कष्ट पहुँचे।

चक्रधर—जब किसी पुरुष का एक स्त्री के साथ पति-पत्नी का-सा सम्बन्ध हो जाय, तो पुरुष का धर्म है कि जब तक स्त्री की ओर से कोई विरुद्ध आचरण न देखे, उस सम्बन्ध को निबाहे।

गुरुसेवक—चाहे स्त्री कितनी ही नीच जाति की हो?

चक्रधर—हाँ, चाहे किसी भी जाति की हो!

मनोरमा यह जवाब सुनकर गर्व से फूल उठी। वह आवेश में उठ खड़ी हुई और पुलकित होकर खिड़की के बाहर झाँकने लगी। गुरुसेवकसिंह वहाँ न होते, तो वह जरूर कह उठती—आप मेरे मुँह से बात ले गये।

एकाएक फिटन की आवाज आयी और ठाकुर साहब उतरकर अन्दर गये। गुरुसेवकसिंह भी उनके पीछे-पीछे चले। वह डर रहे थे कि लौंगी अवसर पाकर कहीं उनके कान न भर दे।

जब वह चले गये, तो मनोरमा बोली—आपने मेरे मन की बात कही। बहुत सी बातों में मेरे विचार आपके विचारों से मिलते हैं।

चक्रधर—उन्हें बुरा तो जरूर लगा होगा!

मनोरमा—वह फिर आपसे बहस करने आते होंगे। अगर आज मौका न मिलेगा तो कल करेंगे। अबकी वह शास्त्रों के प्रमाण पेश करेंगे, देख लीजिएगा!

चक्रधर—खैर, यह तो बताओ कि तुमने इन चार-पाँच दिनों में क्या काम किया?

मनोरमा—मैंने तो किताब तक नहीं खोली। बस, समाचार पढ़ती थी और वही बातें सोचती थी। आप नहीं रहते, तो मेरा किसी काम में जी नहीं लगता। आप अब कभी बाहर न जाइएगा।

चक्रधर ने मनोरमा की ओर देखा, तो उसकी आँखें सजल हो गयी थीं। सोचने लगे—बालिका का हृदय कितना सरल, कितना उदार, कितना कोमल और कितना भावमय है!

८

जगदीशपुर की रानी देवप्रिया का जीवन केवल दो शब्दों में समाप्त हो जाता था—विनोद और विलास। इस वृद्धावस्था में भी उनकी विलास-वृत्ति अणुमात्र भी कम न हुई थी। हमारी कर्मेन्द्रियाँ भले ही जर्जर हो जायँ, चेष्टाएँ तो वृद्ध नहीं होतीं! कहते हैं, बुढ़ापा मरी हुई अभिलाषाओं की समाधि है, या पुराने पापों का पश्चात्ताप, पर रानी देवप्रिया का बुढ़ापा अतृप्त तृष्णा थी और अपूर्ण विलासाराधना। वह दान पुण्य बहुत करती थीं; साल में दो-चार यज्ञ भी कर लिया करती थीं, साधु-सन्तों पर उनकी असीम श्रद्धा थी और इस धर्मनिष्ठा में उनका ऐहिक स्वार्थ छिपा होता था। परलोक की उन्हें कभी भूलकर भी याद न आती थी। वह भूल गई थीं कि इस जीवन के बाद भी कुछ है। उनके दान और स्नान का मुख्य उद्देश्य था—शारीरिक विकारों से निवृत्ति, विलास में रत रहने की परम योग्यता। यदि वह किसी देवता को प्रसन्न कर सकतीं, तो कदाचित् उससे यही वरदान माँगतीं कि वह कभी बूढ़ी न हों। इस पूजा और व्रत के सिवा वह इस महान् उद्देश्य को पूरा करने के लिए भाँति भाँति के रसों और पुष्टिकारक औषधियों का सेवन करती रहती थीं। झुर्रियाँ मिटाने और रंग को चमकाने के लिए भी कितने ही प्रकार के पाउडरों, उपटनों और तेलों से काम लिया जाता था। वृद्धावस्था उनके लिए नरक से कम भयङ्कर न थी। चिन्ता को तो वह अपने पास न फटकने देती थीं। रियासत उनके भोग विलास का साधन मात्र थी। प्रजा को क्या कष्ट होता है, उनपर कैसे-कैसे अत्याचार होते हैं, सूखे भूरे की विपत्ति क्योंकर उनका सर्वनाश कर देती है, इन बातों की ओर कभी उनका ध्यान न जाता था। उन्हें जिस समय जितने धन की जरूरत हो, उतना तुरन्त देना मैनेजर का काम था। वह ऋण लेकर दे, चोरी करे, या प्रजा का गला काटे, इससे उन्हें कोई प्रयोजन न था।

यों तो रानी साहब को हरएक प्रकार के विनोद से समान प्रेम था। चाहे वह थिएटर हो, या पहलवानों का दंगल, या अँगरेजी नाच, पर उनके जीवन की सबसे आनन्दमय घड़ियाँ वे होती थीं, जब वह युवकों और युवतियों के साथ प्रेम-क्रीड़ा करती थीं। इस मण्डली में बैठकर उन्हें आत्म प्रवचना का सबसे अच्छा अवसर मिलता था। वह भूल जाती थीं कि मेरा यौवन काल बीत चुका है। अपने बुझे हुए यौवन दीपक को युवा की प्रज्वलित स्फूर्ति से जलाना चाहती थीं, किन्तु इस धुन में वह कितने ही अन्य विलासान्ध प्राणियों की भाँति नीचों को मुँह न लगाती थीं। काशी आनेवाले राजकुमारों और राजकुमारियों ही से उनका सहवास रहता था। आनेवालों की कमी न थी। एक न-एक हमेशा ही आता रहता था। रानी की अतिथि-शाला हमेशा आबाद रहती थी। उन्हें युवकों की आँखों में खुब जाने की सनक-सी थी। वह चाहती थीं कि

मेरे सौन्दर्य-दीपक पर युवक पतंगे की भाँति आकर गिरें। उनकी रसमयी कल्पना प्रेम के आघात-प्रत्याघात से एक विशेष स्फूर्ति का अनुभव करती थी।

एक दिन ठाकुर हरिसेवकसिंह मनोरमा को रानी साहब के पास ले गये। रानी उसे देखकर मोहित हो गयीं। तबसे दिन में एक बार उससे जरूर मिलतीं। वह किसी कारण से न आती तो उसे बुला भेजतीं। उसका मधुर गाना सुनकर वह मुग्ध हो जाती थीं। हरिसेवक सिंह का उद्देश्य कदाचित् यही था कि वहाँ मनोरमा को रईसों और राजकुमारों को आकर्षित करने का मौका मिलेगा।

भादों की अँधेरी रात थी। मूसलाधार वर्षा हो रही थी। रानी साहब को आज कुछ ज्वर था, चेष्टा गिरी हुई थी, सिर उठाने को जी न चाहता था, पर पड़े रहने का अवसर न था। हर्षपुर के राजकुमार को आज उन्होंने निमन्त्रित किया था। उनके आदर-सत्कार का काम करना जरूरी था। उनके सहवास के सुख से वह अपने को वंचित न कर सकती थीं। उनके आने का समय भी निकट था। रानी ने बड़ी मुश्किल से उठकर आइने में अपनी सूरत देखी। उनके हृदय पर आघात-सा हुआ। मुख प्रभात-चन्द्र की भाँति मन्द हो रहा था।

रानी ने सोचा—अभी राजकुमार आते होंगे। क्या मैं उनसे इसी दशा में मिलूँगी? संसार में क्या कोई ऐसी सञ्जीवनी नहीं है, जो काल के कुटिल चिह्न को मिटा दे? ऐसी वस्तु कहीं मिल जाती, तो मैं अपना सारा राज्य बेचकर उसे ले लेती। जब भोगने की सामर्थ्य ही न हो, तो राज्य से और सुख ही क्या! हा निर्दयी काल! तूने मेरा कोई प्रयत्न सफल न होने दिया।

राजकुमार अब आते होंगे, मुझे तैयार हो जाना चाहिए। ज्वर है, कोई परवा नहीं। मालूम नहीं, जीवन में फिर ऐसा अवसर मिले या न मिले।

सामने मेज पर एक अलबम रखा था। रानी ने राजकुमार का चित्र निकालकर देखा। कितना सहास मुख था, कितना तपस्वी स्वरूप, कितनी सुधामयी छवि!

रानी एक आरामकुरसी पर लेटकर सोचने लगीं—यह चित्र न जाने क्यों मेरे चित्त को इतने जोर से खींच रहा है। मेरा चित्त कभी इतना चंचल न हुआ था। इसी अलबम में और भी कई चित्र हैं, जो इससे कहीं सुन्दर हैं; लेकिन उन नवयुवकों को मैंने कठपुतलियों की तरह नचाकर छोड़ा। यह एक ऐसा चित्र है, जो मेरे हृदय में भूली हुई बातों की याद दिला रहा है, जिसके सामने ताकते हुए मुझे लज्जा-सी आती है!

रानी ने घड़ी की ओर आतुर नेत्रों से देखा। ९ बज रहे थे। अब वह लेटी न रह सकीं; सँभलकर उठीं; आलमारी में से एक शीशी निकाली। उसमें से कई बूँदें एक प्याली में डालीं और आँखें बन्द करके पी गयीं। इसका चमत्कारिक असर हुआ, मानो कोई कुम्हलाया हुआ फूल ताजा हो जाय; कोई सूखी पत्ती हरी हो जाय। उनके मुख-मण्डल पर आभा दौड़ गयी। आँखों में चंचल सजीवता का विकास हो गया, शरीर में नये रक्त का प्रवाह-सा होने लगा। उन्होंने फिर आईने की ओर देखा और उनके

अधरों पर एक मृदुल हास्य की झलक दिखाई दी। उनके उठने की आहट पाकर लौंडी कमरे में आकर खड़ी हो गयी। यह उनकी नाइन थी। गुजराती नाम था।

रानी—समय बहुत थोड़ा है, जल्दी कर।

गुजराती—रानियों को कैसी जल्दी! जिसे मिलना होगा, वह स्वयं आयेगा और बैठा रहेगा!

रानी—नहीं, आज ऐसा ही अवसर है।

नाइन बड़ी निपुण थी, तुरन्त शृंगारदान खोलकर बैठ गयी और रानी का शृंगार करने लगी, मानों कोई चित्रकार तसवीर में रंग भर रहा हो। आध घंटा भी न गुजरा था कि उसने रानी के केश गूँथकर नागिन की सी लटें डाल दीं। कपोलों पर एक ऐसा रंग भरा कि झुर्रियाँ गायब हो गयीं और मुख पर मनोहर आभा झलकने लगी। ऐसा मालूम होने लगा, मानो कोई सुन्दरी युवती सोकर उठी है। वही अलसाया हुआ अंग था, वही मतवाली आँखें। रानी ने आईने की ओर देखा और प्रसन्न होकर बोलीं—गुजराती, तेरे हाथ में कोई जादू है। मैं तुझे अपने साथ स्वर्ग में ले चलूँगी। वहाँ तो देवता लोग होंगे, तेरी मदद की और भी जरूरत होगी।

गुजराती—आप कभी इनाम तो देती नहीं। बस, बखान करके रह जाती हैं!

रानी—अच्छा, बता क्या लेगी?

गुजराती—मैं लूँगी, तो वही लूँगी, जो कई बार माँग चुकी हूँ। रुपए-पैसे लेकर मुझे क्या करना है!

यह एक दीवारगीर पर रखी हुई मदन की छोटी-सी मूर्ति थी। चतुर मूर्तिकार ने इस पर कुछ ऐसी कारीगरी की थी जिससे कि दिन के साथ उसका भी रंग बदलता रहता था।

गुजराती—अच्छा, तो न दीजिए, लेकिन फिर मुझसे कभी न पूछिएगा कि क्या लेगी?

रानी—क्या मुझसे नाराज हो गयी? (चौंककर) वह रोशनी दिखायी दी! कुँवर साहब आ गये! मैं झूला-घर में जाती हूँ। वहीं लाना।

यह कहकर रानी ने फिर वही शीशी निकाली और दुगुनी मात्रा में दवा पीकर झूला घर की ओर चलीं। यह एक विशाल भवन था, बहुत ऊँचा और इतना लम्बा-चौड़ा कि झूले पर बैठकर खूब पेंग ली जा सकती थी। रेशम की डोरियों में पड़ा हुआ एक पटरा छत से लटक रहा था; पर चित्रकारों ने ऐसी कारीगरी की थी कि मालूम होता था, किसी वृक्ष की डाल में पड़ा हुआ है। पौधों, झाड़ियों और लताओं ने उसे यमुना-तट का कुञ्ज-सा बना दिया था। कई हिरन और मोर इधर-उधर विचरा करते थे। रात को उस भवन में पहुँचकर सहसा यह ज्ञान न होता था कि यह कोई भवन है। पानी का रिमझिम बरसना, ऊपर से हल्की-हल्की फुहारों का पड़ना, हौज में जल-पक्षियों का क्रीड़ा करना—यह सब किसी उपवन की शोभा दरसाता था।

रानी झूले की डोरी पकड़कर खड़ी हो गयीं और एक हिरन के बच्चे को बुलाकर उसका मुँह सहलाने लगीं। सहसा कदमों की आहट हुई। रानी मेहमान का स्वागत करने के लिए द्वार पर आयीं पर यह राजकुमार न थे, मनोरमा थी। रानी को कुछ निराशा तो हुई; किन्तु मनोरमा भी आज के अभिनय की पात्री थी। उन्होंने उसे बुलवा भेजा था।

रानी—बड़ी देर लगायी! तेरी राह देखते-देखते आँखें थक गयीं।

मनोरमा—पानी के मारे घर से निकलने की हिम्मत ही न पड़ती थी।

रानी—राजकुमार ने न-जाने क्यों देर की। आ, तब तक कोई गीत सुना।

यहीं हौज के किनारे एक संगमरमर का चबूतरा था। दोनों जाकर उस पर बैठ गयीं।

रानी—क्या मैं बहुत बुरी लगती हूँ?

मनोरमा—आप? आप तो सौन्दर्य की देवी मालूम होती हैं!

रानी—चल, झूठी। मुझसे अपना रूप बदलेगी?

मनोरमा—मैं तो आपकी लौंडी की तरह भी नहीं हूँ। मुझे आपके साथ बैठते शरम आती है।

रानी—अच्छा, बता, संसार मे सबसे अमूल्य रत्न कौन-सा है?

मनोरमा—कोहनूर हीरा होगा, और क्या?

रानी—दुत् पगली! संसार की सबसे उत्तम, देव-दुर्लभ वस्तु यौवन है। बता, तूने किसी से प्रेम किया है?

मनोरमा—जाइए, मै आपसे नहीं बोलती।

रानी—आह! तूने तीर मार दिया। यही बिगड़ना तो पुरुषों पर जादू का काम करता है। काश, मेरे मुँह से ऐसी बातें निकलतीं! सच बता, तूने किसी युवक से कभी प्रेम किया है? अच्छा आ, आज मैं सिखा दूँ।

मनोरमा—आप मुझे छेड़ेंगी, तो मै चली जाऊँगी।

रानी—ऐं, तो इतना चिढ़ती क्यों है? ऐसी कोई बालिका तो नहीं। देख, सबसे पहली बात है—कटाक्ष करने की कला में निपुण होना। जिसे यह कला आती है, वह चाहे चन्द्रमुखी न हो; फिर भी पुरुष का हृदय छीन सकती है। सौन्दर्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता, उसी तरह जैसे कोई सिपाही शस्त्रों से कुछ नहीं कर सकता, जबतक वह उन्हें चलाना न जानता हो। चतुर खिलाड़ी एक बाँस की छड़ी से वह काम कर सकता है, जो दूसरे संगीन और बन्दूक से भी नहीं कर सकते। मान ले, मैं तेरा प्रेमी हूँ। बता, मेरी ओर कैसे ताकेगी?

मनोरमा ने लज्जा से सिर झुका लिया। उसे रानी की रसिकता पर कुतूहल हो रहा था। वह कितनी ही बार यहाँ आयी थी, पर रानी को कभी इतना मदमत्त न पाया था।

रानी ने उसकी ठुड्डी पकड़कर मुँह उठा दिया और बोली—पगली, इस भाँति

सिर झुकाने से क्या होगा? पुरुष समझेगा, यह कुछ जानती ही नहीं। अच्छा, समझ ले कि तू पुरुष है; देख, मैं तेरी ओर कैसे ताकती हूँ। सिर उठाकर मेरी ओर देख। कहती हूँ सिर उठा, नहीं तो मैं चुटकी काट लूँगी। हाँ, इस तरह।

यह कहकर रानी ने मनोरमा को भृकुटि-विलास और लोचन-कटाक्ष का ऐसा कौशल दिखाया कि मनोरमा का अज्ञान मन भी एक क्षण के लिए चंचल हो उठा। कटाक्ष में कितनी उत्तेजक शक्ति है, इसका कुछ अनुमान हो गया।

रानी—तुझे कुछ मालूम हुआ?

मनोरमा—मुझे तो तीर-सा लगा। आप मोहिनी-मन्त्र जानती होंगी।

रानी—तू युवक होती, तो इस समय छाती पर हाथ धरे आहतों की भाँति खड़ी होती, यह तो कटाक्ष हुआ। आ, अब तुझे बताऊँ कि आँखों से प्रेम की बातें कैसे की जाती हैं। मेरी ओर देख।

यह कहते-कहते रानी को फिर शिथिलता का अनुभव हुआ। 'सुधाबिन्दु' का प्रकाश मन्द होने लगा। विकल होकर पूछा—क्यों री, देख तो मेरा मुख कुछ उतरा जाता है।

मनोरमा ने चौंककर कहा—आपको यह क्या हो गया? मुख बिलकुल पीला पड़ गया है। क्या आप बीमार हैं?

रानी—हाँ बेटी, बीमार हूँ। राजकुमार अब भी नहीं आये? तू जाकर गुजराती से 'सुधाबिन्दु' की शीशी और प्याला माँग ला। जल्द आना, नहीं तो मैं गिर पड़ूँगी।

मनोरमा दवा लाने गयी, तो राजकुमार इन्द्रविक्रमसिंह को मोटर से उतरते देखा। कोई ३० वर्ष की अवस्था थी। मुख से संयम, तेज और संकल्प झलक रहा था। ऊँचा कद था, गोरा रंग, चौड़ी छाती ऊँचा मस्तक, आँखों में इतनी चमक और तेजी थी कि हृदय में चुभ जाती थी। वह केवल एक पीले रंग का रेशमी कुरता पहने हुए थे और गले में एक सफेद चादर डाल ली थी। मनोरमा ने किसी देव-ऋषि का एक चित्र देखा था। मालूम होता था, इन्हीं को देखकर वह चित्र खींचा गया था।

उनके मोटर से उतरते ही चपरासी ने सलाम किया और लाकर दीवानखाने में बैठा दिया। इधर मनोरमा ने गुजराती से शीशी ली और जाकर रानी से यह समाचार कहा। रानी चबूतरे पर लेटी हुई थीं। सुनते ही उठ बैठीं और मनोरमा के हाथ से शीशी ले, प्याली में बिना गिने कई बूँद निकाल, पी गयी।

दवा ने जाते ही अपना असर दिखाया। रानी के मुखमण्डल पर फिर वही मनोरम छवि, अंगों मे फिर वही चपलता, वाणी में फिर वही सरसता, आँखों मे फिर वही मधुर हास्य, कपोलों पर वही अरुण ज्योति शोभा देने लगी। वह उठकर झूले पर जा बैठीं। झूला धीरे धीरे झूलने लगा। रानी का अञ्चल हवा से उड़ने लगा और केश बिखर गये। यही मोहिनी छवि वह राजकुमार को दिखाना चाहती थीं।

एक क्षण मे राजकुमार ने झूले-घर में प्रवेश किया। रानी झूले से उतरना ही चाहती थीं कि वह उनके पास आ गये और बोले—क्या मधुर कल्पना स्वप्न-साम्राज्य मे विहार कर रही है?

रानी—जी नहीं, प्रतीक्षा नैराश्य की गोद में विश्राम कर रही है। इतने देर क्यों राह दिखायी?

राजकुमार—मेरा अपराध नहीं। मैं आ ही रहा था कि विश्वविद्यालय के कई छात्र आ पहुँचे और मुझे एक गम्भीर विषय पर व्याख्यान देने के लिए घसीट ले गये। बहुत हीले-हवाले किये; लेकिन उन सबों ने एक न सुनी।

रानी—तो मैं आपसे शिकायत कब करती हूँ। आप आ गये, यही क्या कम अनुग्रह है। न आते तो मैं क्या कर लेती? लेकिन इसका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा, याद रखिए। आज रात-भर कैद रखूँगी।

राजकुमार—अगर प्रेम के कारावास में प्रायश्चित है, तो मैं उसमें जीवन पर्यन्त रहने को तैयार हूँ।

रानी—आप बातें बनाने मे निपुण मालूम होते हैं। इन निर्दयी केशों को जरा सँभाल दीजिए, बार-बार मुख पर आ जाते हैं।

राजकुमार—मेरे कठोर हाथ उन्हें स्पर्श करने-योग्य नहीं हैं।

रानी ने कनखियों से—मर्मभेदी कनखियों से—राजकुमार को देखा। यह असाधारण जवाब था। उन कोमल, सुगन्धित, लहराते हुए केशों के स्पर्श का अवसर पाकर ऐसा कौन था, जो अपना धन्य भाग न समझता! रानी दिल में कटकर रह गयी। उन्होंने पुरुष को सदैव विलास की एक वस्तु समझा था। प्रेम से उनका हृदय कभी आन्दोलित न हुआ था। वह लालसा ही को प्रेम समझती थीं। उस प्रेम से, जिसमें त्याग और भक्ति है, वह वञ्चित थीं; लेकिन इस समय उन्हें उसी प्रेम का अनुभव हो रहा था। उन्होंने दिल को बहुत सँभालकर राजकुमार से इतनी बातें की थीं। उनका अन्तःकरण उन्हें राजकुमार से यह वासनामय व्यवहार करने पर धिक्कार रहा था। राजकुमार का देव-स्वरूप ही उनकी वासना-वृत्ति को लज्जित कर रहा था। सिर नीचा करके कहा—यदि हाथों की भाँति हृदय भी कठोर है, तो वहाँ प्रेम का प्रवेश कैसे होगा?

राजकुमार—बिना प्रेम के तो कोई उपासक देवी के सम्मुख नहीं जाता। प्यास के बिना भी आपने किसी को सागर की ओर जाते देखा है?

रानी अब झूले पर न रह सकी। इन शब्दों मे निर्मल प्रेम झलक रहा था। जीवन मे यह पहला ही अवसर था कि देवप्रिया के कानों में ऐसे सच्चे अनुराग में डूबे हुए शब्द पड़े। उन्हें ऐसा मालूम हो रहा था कि इनकी आँखें मेरे मर्म-स्थल में चुभी जा रही हैं। वह उन तीव्र नेत्रों से बचना चाहती थी। झूले से उतरकर रानी ने अपने केश समेट लिये और घूँघट से माथा छिपाती हुई बोलीं—श्रद्धा देवताओं को भी खींच लाती है। भक्त के पास सागर भी उमड़ता चला आता है।

यह कहकर वह हौज के किनारे जा बैठीं और फौवारे को घुमाकर खोला, तो राजकुमार पर गुलाब-जल की फुहारें पड़ने लगीं। उन्होंने मुस्कराकर कहा—गुलाब से सिंचा हुआ पौधा लू के झोंके न सह सकेगा। इसका खयाल रखिएगा।

रानी ने प्रेम-सजल नेत्रों से ताकते हुए कहा—अभी गुलाब से सींचती हूँ, फिर अपने प्राण-जल से सींचूँगी, पर उसका फल खाना मेरे भाग्य में है या नहीं, कौन जाने। उस वस्तु की आशा कैसे करूँ, जिसे मैं जानती हूँ कि मेरे लिए दुर्लभ है।

देवप्रिया ने यह कहते-कहते एक लम्बी साँस ली और आकाश की ओर देखने लगी। उसके मन में एक शका हो उठी, क्या यह दुर्लभ वस्तु मुझे मिल सकती है? मेरा यह मुँह कहाँ?

राजकुमार ने करुण-स्वर में कहा—जिस वस्तु को आप दुर्लभ समझ रही हैं, वह आज से बहुत पहले आपको भेंट हो चुकी है। आप मुझे नहीं जानतीं, पर मैं आपको जानता हूँ—बहुत दिनों से जानता हूँ। अब आपके मुँह से केवल यह सुनना चाहता हूँ कि आपने मेरी भेंट स्वीकार कर ली?

रानी—उस रत्न को ग्रहण करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है। आपकी दया के योग्य हूँ, प्रेम के योग्य नहीं।

राजकुमार—कोई ऐसा धब्बा नहीं है, जो प्रेम के जल से छूट न जाय।

रानी—समय के चिह्न को कौन मिटा सकता है? हाय! आपने मेरा असली रूप नहीं देखा। यह मोहिनी छवि, जो आप देख रहे हैं, बहुत दिन हुए, मेरा साथ छोड़ चुकी। अब मैं अपने यौवनकाल की चित्र-मात्र हूँ। आप मेरी असली सूरत देखेंगे, तो कदाचित् घृणा से मुँह फेर लेंगे।

यह कहते-कहते रानी को अपनी देह शिथिल होती हुई जान पड़ी। 'सुधाबिंदु' का असर मिटने लगा। उनका चेहरा पीला पड़ गया, झुर्रियाँ दिखायी देने लगीं। उन्होंने लज्जा से मुँह छिपा लिया और यह सोचकर कि शीघ्र ही यह प्रेमाभिनय समाप्त हो जायगा, वह फूट फूटकर रोने लगीं। राजकुमार ने धीरे से उनका हाथ पकड़ लिया और प्रेम-मधुर स्वर में बोले—प्रिये, मैं तुम्हारे इसी रूप पर मुग्ध हूँ, उस बने हुए रूप पर नहीं। मैं वह वस्तु चाहता हूँ, जो इस परदे के पीछे छिपी हुई है। वह बहुत दिनों से मेरी थी, हाँ, इधर कुछ दिनों से उस पर मेरा अधिकार न था। मेरी तरफ ध्यान से देखो, मुझे पहचानती हो? कभी देखा है?

रानी ने हैरत में आकर राजकुमार के मुँह पर नजर डाली। ऐसा मालूम हुआ, मानो आँखों के सामने से परदा हट गया। याद आया, मैंने इन्हें कहीं देखा है। जरूर देखा है। वह सोचने लगी, मैंने इन्हें कहाँ देखा है। याद न आया। बोली—मैंने आपको कहीं पहले देखा है।

राजकुमार—खूब याद है कि आपने मुझे देखा है? भ्रम तो नहीं हो रहा है?

रानी—नहीं, मैने आपको अवश्य देखा है। सम्भव है, कभी रेलगाड़ी में देखा हो, मगर मुझे ऐसा मालूम होता है कि आप और मैं कभी बहुत दिनों एक ही जगह रहे हैं। मुझे तो याद नहीं आता। आप ही बताइए।

राजकुमार—खूब याद कर लिया?

रानी—(सोचकर) हाँ, कुछ ठीक याद नहीं आता। शायद तब आपकी उम्र कुछ कम थी; मगर थे आप ही।

राजकुमार से गम्भीर भाव से कहा—हाँ प्रिये, मैं ही था। तुमने मुझे अवश्य देखा है, हम और तुम एक साथ रहे हैं और इसी घर में। यही मेरा घर था। तुम स्त्री थीं, मैं पुरुष था। तुम्हें याद है, हम और तुम इसी जगह, इसी हौज के किनारे शाम को बैठा करते थे? अब पहचाना?

देवप्रिया की आँखें फिर राजकुमार की ओर उठीं। आइने की गर्द साफ हो गयी। बोली—प्राणेश! तुम्हीं हो इस रूप में!!

यह कहते-कहते वह मूर्च्छित हो गयीं!

६

रानी देवप्रिया का सिर राजकुमार के पैरों पर था और आँखों से आँसू बह रहे थे। उनकी ओर ताकते हुए विचित्र भय हो रहा था। उसे कुछ-कुछ सन्देह हो रहा था कि मैं सो तो नहीं रही हूँ। कोई मनुष्य माया के दुर्भेद्य अंधकार को चीर सकता है? जीवन और मृत्यु के मध्यवर्ती अपार विस्मृत-सागर को पार कर सकता है। जिसमें यह सामर्थ्य हो, वह मनुष्य नहीं, प्रेत योनि का जीव है। यह विचार आते ही रानी का सारा शरीर काँप उठा, पर इस भय के साथ ही उसके मन में उत्कण्ठा हो रही थी कि उन्हीं चरणों से लिपटी हुई इसी क्षण प्राण त्याग दूँ। राजकुमार उसके पति हैं, इसमें तो सन्देह न था, सन्देह केवल यह था कि मेरे साथ यह कोई प्रेत-लीला तो नहीं कर रहे हैं। वह रह रहकर छिपी हुई निगाहों से उनके मुख की ओर ताकती थी, मानों निश्चय कर रही हो कि पति ही हैं या मुझे भ्रम हो रहा है।

सहसा राजकुमार ने उसे उठाकर बैठा दिया और उसके मनोभावों को शान्त करते हुए बोले—हाँ प्रिये, मैं तुम्हारा वही चिरसंगी हूँ, जो अपने प्रेमाभिलाषाओं को लिये हुए कुछ दिनों को तुमसे जुदा हो गया था। मुझे तो ऐसा मालूम हो रहा है कि कोई यात्रा करके लौटा आ रहा हूँ। जिसे हम मृत्यु कहते हैं, और जिसके भय से संसार काँपता है, वह केवल एक यात्रा है। उस यात्रा में भी मुझे तुम्हारी याद आती रहती थी। विकल होकर आकाश में इधर-उधर दौड़ा करता था। प्रायः सभी प्राणियों की यही दशा थी। कोई अपने संचित धन का अपव्यय देख-देखकर कुढ़ता था, कोई अपने बाल-बच्चों को ठोकरें खाते देखकर रोता था। वे दृश्य इस मर्त्यलोक के दृश्यों से कहीं करुणा-जनक, कहीं दुःखमय थे। कितने ही ऐसे जीव दिखायी दिये, जिनके सामने यहाँ सम्मान से मस्तक झुकता था, वहाँ उनका नग्न स्वरूप देखकर उनसे घृणा होती थी। यह कर्म-लोक है, वहाँ भोग लोक; और कर्म का दण्ड कर्म से कहीं भयङ्कर होता है। मैं भी उन्हीं अभागों में था। देखता था कि मेरे प्रेम-सिंचित उद्यान को भाँति-भाँति के पशु कुचल रहे हैं, मेरे प्रणय के पवित्र सागर में हिंसक जल-जन्तु दौड़ रहे हैं, और देख-देखकर क्रोध से विह्वल हो जाता था। अगर मुझमें वज्र गिराने की सामर्थ्य होती, तो

गिराकर उन पशुओं का अन्त कर देता। मुझे यही जलन थी। कितने दिनों मेरी यह अवस्था रही इसका कुछ निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि वहाँ समय का बोध करानेवाली मात्राएँ न थीं, पर मुझे तो ऐसा जान पड़ता था कि उस दशा मे पड़े हुए मुझे कई युग बीत गये। रोज नयी नयी सूरतें आतीं और पुरानी सूरतें लुप्त होती रहती थीं। सहसा एक दिन मैं भी लुप्त हो गया। कैसे लुप्त हुआ, यह याद नहीं, पर होश आया, तो मैंने अपने को बालक के रूप में पाया। मैंने राजा हर्षपुर के घर में जन्म लिया था।

इस नये घर में मेरा लालन-पालन होने लगा। ज्यों-ज्यों बढ़ता था, स्मृति पर परदा-सा पड़ता जाता था, पिछली बातें भूलता जाता था। यहाँ तक कि जब बोलने की सामर्थ्य हुई, तो माया अपना काम पूरा कर चुकी थी। बहुत दिनों तक अध्यापकों से पढ़ता रहा। मुझे विज्ञान में विशेष रुचि थी। भारतवर्ष मे विज्ञान की कोई अच्छी प्रयोगशाला न होने के कारण मुझे यूरप जाना पड़ा। वहाँ मै कई वैज्ञानिक परीक्षाएँ करता रहा। जितना ही रहस्यों का ज्ञान बढ़ता था, उतनी ही ज्ञान पिपासा भी बढ़ती थी, किन्तु इन परीक्षाओं का फल मुझे लक्ष्य से दूर लिये जाता था। मैंने सोचा था, विज्ञान द्वारा जीव का तत्व निकाल लूँगा, पर सात वर्षों तक अनवरत परिश्रम करने पर भी मनोरथ न पूरा हुआ।

एक दिन मैं बर्लिन की प्रधान प्रयोगशाला में बैठा हुआ यही सोच रहा था कि एक तिब्बती भिक्षु आ निकला। मुझे चिन्तित देखकर वह एक क्षण मेरी ओर ताकता रहा, फिर बोला—बालू से मोती नहीं निकलते, भौतिक ज्ञान से आत्मा का ज्ञान नहीं प्राप्त होता।

मैंने चकित होकर पूछा—आपको मेरे मन की बात कैसे मालूम हुई?

भिक्षु ने हँसकर कहा—आपके मन की इच्छा तो आपके मुख पर लिखी हुई है। जड़ से चेतन का ज्ञान नहीं होता। यह क्रिया ही उलटी है। उन महात्माओं के पास जाओ, जिन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त किया है। वही तुम्हें वह मार्ग दिखायेंगे।

मैंने पूछा—ऐसे महात्माओं के दर्शन कहाँ होंगे? मेरा तो अनुमान है कि वह विद्या ही लोप हो गयी और उसके जानने का जो दावा करते हैं, वे बने हुए महात्मा हैं।

भिक्षु—यथार्थ कहते हो, लेकिन अब भी खोजने से ऐसे महात्मा मिल जायेंगे। तिब्बत की तपोभूमि में आज भी ऐसी महान् आत्माएँ हैं, जो माया का रहस्य खोल सकती हैं। हाँ, जिज्ञासा की सच्ची लगन चाहिए।

मेरे मन में बात बैठ गयी। तिब्बत की चरचा बहुत दिनों से सुनता आता था। भिक्षु से वहाँ की कितनी ही बातें पूछता रहा। अन्त में उसी के साथ तिब्बत चलने की ठहरी। मेरे मित्रों को यह बात मालूम हुई, तो वे भी मेरे साथ चलने पर तैयार हो गये। हमारी एक समिति बनायी गयी, जिसमें २ अँगरेज, २ फ्रेंच और ३ जर्मन थे। अपने साथ नाना प्रकार के यन्त्र लेकर हम लोग अपने मिशन पर चले। मार्ग में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, वहाँ कैसे पहुँचे, विहारों में क्या क्या दृश्य

देखे, इसकी चर्चा करने लगूँ तो कई दिन लग जायँगे। कई बार तो हम लोग मरते-मरते बचे; लेकिन यहाँ चित्त को जो शान्ति मिली, उसके लिए हम मर भी जाते, तो दुःख न होता। अँगरेजों को तो सफलता न हुई; क्योंकि वे तिब्बत की सैनिक स्थिति का निरीक्षण करने आये थे और भिक्षुओं ने उनकी नीयत भाँप ली थी। लेकिन शेष पाँचों मित्रों ने तो पाली और संस्कृत के ऐसे-ऐसे ग्रन्थ रत्न खोज निकाले कि उन्हें यहाँ से ले जाना कठिन हो गया। जर्मन तो ऐसे प्रसन्न थे, मानो उन्हें कोई प्रदेश हाथ आ गया हो।

शरद-ऋतु थी, जलाशय हिम से ढक गये थे। चारों ओर बर्फ-ही बर्फ दिखायी देती थी। मेरे मित्र लोग तो पहले ही चले गये थे। अकेला मैं ही रह गया था। एक दिन सन्ध्या समय मैं इधर-उधर विचरता हुआ एक शिला पर जाकर खड़ा हो गया। सामने का दृश्य अत्यन्त मनोरम था, मानो स्वर्ग का द्वार खुला हुआ है। उसका बखान करना उसका अपमान करना है। मनुष्य की वाणी में न इतनी शक्ति है, न शब्दों में इतना वैचित्र्य। इतना ही कह देना काफी है कि वह दृश्य अलौकिक था, स्वर्गोपम था। विशाल दृश्यों के सामने हम मन्त्र मुग्ध-से हो जाते हैं, अवाक् होकर ताकते हैं, कुछ कह नहीं सकते। मौन आश्चर्य की दशा में खड़ा ताक ही रहा था कि सहसा मैंने एक वृद्ध पुरुष को सामने की एक गुफा से निकलकर पर्वत-शिखर की ओर जाते देखा। जिन शिलाओं पर कल्पना के भी पाँव डगमगा जायँ, उनपर वह इतनी सुगमता से चले जाते थे कि विस्मय होता था। बड़े-बड़े दर्रों को इस भाँति फाँद जाते थे, मानों छोटी-छोटी नालियाँ हैं। मनुष्य की यह शक्ति कि वह, उस हिम से ढके हुए दुर्गम शृङ्ग पर इतनी चपलता से चला जाय और मनुष्य भी वह जिसके सिर के बाल सन् की भाँति सफेद हो गये थे। मुझे ख्याल आया कि इतना पुरुषार्थ प्राप्त करना किसी सिद्ध ही का काम है। मेरे मन में उनके दर्शनों की तीव्र उत्कण्ठा हुई, पर मेरे लिए ऊपर चढ़ना असाध्य था। वह न-जाने फिर कब तक उतरें, कब तक वहाँ खड़ा रहना पड़े। उधर अँधेरा बढ़ता जाता था। आखिर मैंने निश्चय किया कि आज लौट चलूँ, कल से रोज दिन भर यहीं बैठा रहूँगा, कभी न-कभी तो दर्शन होंगे ही। मेरा मन कह रहा था कि इन्हीं से तुझे आत्मज्ञान प्राप्त होगा। दूसरे दिन मैं प्रातःकाल वहाँ आकर बैठ गया और सारे दिन शिखर की ओर टकटकी लगाये देखता रहा; पर चिड़िया का पूत भी न दिखायी दिया। एक महीने तक यही मेरा नित्य का नियम रहा। रात भर विहार में पड़ा रहता, दिन-भर शिला पर बैठा रहता; पर महात्माजी न जाने कहाँ गायब हो गये थे उनकी झलक तक न दिखायी देती थी। मैंने कई बार ऊपर चढ़ने का प्रयत्न किया, पर सौ गज से आगे न जा सका। कील काँटे ठोंकते, शिलाओं पर रास्ता बनाते कई महीनों में शिखर पर पहुँचना सम्भव था; पर यह अकेले आदमी का काम न था, अन्य भिक्षुओं से पूछता तो वे हँसकर कहते—उनके दर्शन हमें दुर्लभ हैं, तुम्हें क्या होंगे? बरसों में कभी एक बार दिखायी दे जाते हैं। कहाँ रहते हैं, कोई नहीं जानता, किन्तु अधीर न होना। वह

यदि तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न हो गये, तो तुम्हारी मनोकामना पूरी हो जायगी। यह भी सुनने में आया कि कई भिक्षु उनके दर्शनों की चेष्टा में प्राणों से हाथ धो बैठे हैं। उनमें इतना विद्युत्तेज है कि साधारण मनुष्य उनके सम्मुख खड़ा ही नहीं हो सकता। उनकी नेत्र-ज्योति बिजली की तरह हृत्स्थल में लगती है। जिसने यह आघात सह लिया, उसकी तो कुशल है, जो नहीं सह सकता, वह वहीं खड़ा-खड़ा भस्म हो जाता है। कोई योगी ही उनसे साक्षात् कर सकता है।

यह बातें सुन-सुनकर मेरी भक्ति और भी दृढ होती चली जाती थी। मरूँ या जिऊँ; पर उनके दर्शन अवश्य करूँगा, यह धारणा मन में जम गयी। योगी की क्रियाएँ तो पहले ही करने लगा था, इसलिए मुझे विश्वास था कि मैं उनके तेज का सामना कर सकता हूँ। दिव्य-ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न में मर जाना भी श्रेय की बात होगी। क्या था, क्या हूँगा? कहाँ मैं आया हूँ, कहाँ जाऊँगा? इन स्वप्नों का उत्तर किसी ने आज तक न दिया और न दे सकता है। वह तो अपने अनुभव की बात है। हम उसका अनुभव ही कर सकते हैं, किसी को बता नहीं सकते। इस महान् उद्योग में मर जाना भी मनुष्य के लिए गौरव की बात है।

एक वर्ष गुजर गया और महात्माजी के दर्शन न हुए। न जाने कहाँ जाकर अन्तर्द्धान हो गये। वहाँ से न किसी को पत्र लिख सकता था, न संसार की कुछ खबर मिलती थी। कभी कभी जी ऐसा घबराता कि चलकर अन्य सांसारिक प्राणियों की भाँति जीवन का सुख भोगूँ। इसमें रखा ही क्या है कि मैं क्या था और क्या हूँगा। पहले तो यही निश्चित नहीं कि मुझे यह ज्ञान प्राप्त भी होगा और हो भी गया, तो उससे मेरा या संसार का क्या उपकार होगा। बिना इन रहस्यों के जाने भी जीवन को उच्च और पवित्र बनाया जा सकता है। वहाँ की सुरम्यता अजीर्ण हो गयी, वह कमनीय प्राकृतिक छटा आँखों में खटकने लगी। विवश होकर स्वर्ग में भी रहना पड़े, तो वह नरक-तुल्य हो जाय।

अन्त में एक दिन मैंने निश्चय किया कि अब जो होना हो, सो हो, इस पर्वत-शृंग पर अवश्य चढ़ूँगा। यह निश्चय करके मैंने चढना शुरू किया, लेकिन दिन गुजर गया और मैं सौ गज से आगे न जा सका। मेरी चढाई उन विज्ञान के खोजियों की सी न थी, जो सभी साधनों से लैस होते हैं। मैं अकेला था, न कोई यन्त्र, न मन्त्र, न कोई रक्षक, न प्रदर्शक, भोजन का भी ठिकाना नहीं, प्राणों पर खेलना था। पर करता क्या! ज्ञान के मार्ग में यन्त्रों का जिक्र ही क्या। आत्म-समर्पण तो उसकी पहली क्रिया है। जानता था कि मर जाऊँगा, किन्तु पड़े-पड़े मरने से उद्योग करते हुए मरना अच्छा था।

पहली रात मैंने एक चट्टान पर बैठकर काटी। बार-बार झपकियाँ आती थीं, पर चौंक-चौंक पडता था। जरा चूका और रसातल पहुँचा। इतनी कुशल थी कि गरमी के दिन आ गये थे। हिम का गिरना बन्द था, पर जहाँ इतना आराम था, वहाँ पिघली हुई हिम-शिलाओं के गिरने से क्षण-मात्र में जीवन से हाथ धोने की शंका भी थी। वह

भयंकर निशा, वह भयकर जन्तुओं की गरज और तड़प याद करता हूँ, तो आज भी रोमाञ्च हो जाता है। बार-बार पूर्व दिशा की ओर ताकता था; पर निर्दयी सूर्य उदय होने का नाम न लेता था। खैर, किसी तरह रात कटी, सबेरे फिर चला। आज की चढ़ाई इतनी सीधी न थी, फिर भी ५० गज से आगे न जा सका। रास्ते में एक दर्रा पड़ गया, जिसे पार करना असम्भव था। इधर-उधर बहुत निगाह दौड़ायी; पर ऐसा कोई उतार न दिखायी दिया जहाँ से उतरकर दर्रे को पार कर सकता। इधर भी सीधी दीवार थी, उधर भी। संयोग से एक जगह दोनों ओर दो छोटे-छोटे वृक्ष दिखायी दिये। मेरी जेब में पतली रस्सी का एक टुकड़ा पड़ा हुआ था। अगर किसी तरह इस रस्सी को दोनों वृक्षों में बाँध सकूँ, तो समस्या हल हो जाय, लेकिन उस पार रस्सी को पेड़ में कौन बाँधे? आखिर मैंने रस्सी के एक सिरे में पत्थर का एक भारी टुकड़ा खूब कस-कर बाँधा और उसको लंगर की भाँति उस पारवाले वृक्ष पर फेंकने लगा कि किसी डाल में फँस जाय, तो पार हो जाऊँ। बार-बार पूरा जोर लगाकर लंगर फेंकता था; पर लंगर वहाँ तक न पहुँचता था। सारा दिन इसी लगरबाजी में कट गया, रात आ गयी। शिलाओं पर सोना जान-जोखिम था। इसलिए वह रात मैंने वृक्ष ही पर काटने की ठानी। मैं उस पर चढ़ गया और दो डालों में रस्सी फँसा फँसाकर एक छोटी-सी खाट बना ली। आधी रात गुजरी थी कि बड़े जोर का धमाका हुआ। उस अथाह खोह में कई मिनट तक उसकी आवाज गूँजती रही। सवेरे देखा तो बर्फ की एक बड़ी शिला ऊपर से पिघलकर गिर पड़ी थी और उस दर्रे पर उसका एक पुल-सा बन गया था। मैं खुशी के मारे फूला न समाया। जो मेरे किए कभी न हो सकता, वह प्रकृति ने अपने-आप ही कर दिया। यद्यपि उस पुल पर से दर्रे को पार करना प्राणों से खेलना था—मृत्यु के मुख में पाँव रखना था; पर दूसरा कोई उपाय न था। मैंने ईश्वर को स्मरण किया और सँभल-सँभलकर उस हिम-राशि पर पाँव रखता हुआ खाई को पार कर गया। इस असाध्य साधना में सफल होने से मेरे मन में यह धारणा होने लगी कि मैं मर नहीं सकता। कोई अज्ञात शक्ति मेरी रक्षा कर रही है। किसी कठिन कार्य में सफल हो जाना आत्मविश्वास के लिए सञ्जीवनी के समान है। मुझे पक्का विश्वास हो गया कि मेरा मनोरथ अवश्य पूरा होगा।

उस पार पहुँचते ही सीधी चट्टान मिली। दर्रे के किनारे और चट्टान में केवल एक बालिश्त, और कहीं-कहीं एक हाथ का अन्तर था। उस पतले रास्ते पर चलना तल-वार की बाढ़ पर पैर रखना था। चट्टान से चिमट-चिमटकर चलता हुआ, दो-तीन घण्टों के बाद मैं एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचा, जहाँ चट्टान की तेजी बहुत कम हो गयी थी। मैं लेटकर ऊपर को रेंगने लगा। सम्भव था, मै सन्ध्या तक इस तरह रेंगता रहता, पर सयोग से एक समतल शिला मिल गयी और उसे देखते ही मुझे जोर की थकान मालूम होने लगी। जानता था कि यहाँ सोकर फिर उठने की नौबत न आयेगी, पर जरा-से लेट जाने के लोभ को मैं किसी तरह संवरण न कर सका। नींद को दूर रखने

के लिए एक गीत गाने लगा। लेकिन न-जाने कब आँखें झपक गयीं। कह नहीं सकता, कितनी देर तक सोया, कब नींद खुली और चाहा कि उठूँ, तो ऐसा मालूम हुआ कि ऊपर मनों बोझ रखा हुआ है। सब अंग जकड़े हुए थे। कितना ही जोर मारता था, पर अपनी जगह से हिल न सकता था। चेतना किसी डूबते हुए नक्षत्र की भाँति डूबती जाती थी। समझ गया कि जीवन से इतने दिनों तक का साथ था। पूर्व स्मृतियाँ चेतना की अन्तिम जागृति की भाँति जाग्रत हो गयीं। अपनी मूर्खता पर पछताने लगा। व्यर्थ प्राण खोये। इतना जानने ही से तो उद्धार न होगा कि मैं पूर्व जन्म में क्या था। यह ज्ञान न रखते हुए भी संसार में एक-से-एक ज्ञानी, एक-से-एक प्रणवीर, एक से एक धर्मात्मा हो गये, क्या उनका जीवन सार्थक हुआ? यही सोचते-सोचते न-जाने कब मेरी चेतना का अपहरण हो गया। जब आँखें खुली, तो देखा कि एक छोटी-सी कुटी में मृग-चर्म पर कम्बल ओढे पड़ा हुआ हूँ और एक पुरुष बैठा मेरे मुख की ओर वात्सल्य दृष्टि से देख रहा है। मैंने इन्हें पहचान लिया। यह वही महात्मा थे, जिनके दर्शनों के लिए मैं लालायित हो रहा था। मुझे आँखें खोलते देखकर वह सदय भाव से मुस्कराये और बोले— हिम-शय्या कितनी प्रिय वस्तु है। पुष्प शय्या पर तुम्हें कभी इतना सुख मिला था?

मैं उठ बैठा और महात्मा के चरणों पर सिर रखकर बोला—आपके दर्शनों से जीवन सफल हो गया। आपकी दया न होती, तो शायद वहीं मेरा अन्त हो जाता।

महात्मा—अन्त कभी किसी का नहीं होता। जीव अनन्त है। हाँ, अज्ञानवश हम ऐसा समझ लेते हैं।

मैं—मुझे आपके दर्शनों की बड़ी इच्छा थी। आपमें अमानुषीय शक्ति है।

महात्मा—इसी लिए ऐसा समझते हो कि तुमने मुझे शिलाओं पर चढ़ते देखा है? यह तो अमानुषीय शक्ति नहीं है। यह तो साधारण मनुष्य भी अभ्यास से कर सकता है।

मैं—आपने योग द्वारा ही यह बल प्राप्त किया होगा?

महात्मा—नहीं, मैं योगी नहीं, प्रयोगी हूँ। आपने डारविन का नाम सुना होगा? पूर्व-जन्म में मेरा ही नाम डारविन था।

मैंने विस्मित होकर कहा—आप ही डारविन थे?

महात्मा—हाँ, उन दिनों मैं प्राणि-शास्त्र का प्रेमी था। अब प्राण-शास्त्र का खोजी हूँ।

सहसा मुझे अपनी देह में एक अद्भुत शक्ति का सञ्चालन होता हुआ मालूम हुआ। नाड़ी की गति तीव्र हो गयी, आँखों से ज्योति की रेखाएँ-सी निकलने लगीं। वाणी में ऐसा विकास हुआ, मानो कोई कली खिल गयी हो। मैं फुर्ती से उठ बैठा और महात्माजी के चरणों पर झुकने लगा, किन्तु उन्होंने मुझे रोककर कहा—तुम मुझे शिलाओं पर चलते देखकर विस्मित हो गये, पर वह समय आ रहा है, जब आनेवाली जाति जल, स्थल और आकाश में समान रीति से चल सकेगी। यह मेरा विश्वास है।

पृथ्वी का क्षेत्र उन्हें छोटा मालूम होगा। वह पृथ्वी से अन्य पिण्डो मे उतनी ही सुगमता से आ-जा सकेंगे, जैसे एक देश से दूसरे देश मे।

मैं—आपको अपने पूर्व-जन्म का ज्ञान योग द्वारा ही हुआ होगा?

महात्मा—नहीं, मैं पहले ही कह चुका कि मै योगी नहीं, प्रयोगी हूॅ। तुमने तो विज्ञान पढा है, क्या तुम्हें मालूम नहीं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विद्युत् का अपार सागर है। जब हम विज्ञान द्वारा मन के गुप्त रहस्य जान सकते हैं, तो क्या अपने पूर्व सस्कार न जान सकेंगे। केवल स्मृति को जगा देने ही से पूर्व जन्म का ज्ञान हो जाता है।

मै—मुझे भी वह ज्ञान प्राप्त हो सकता है?

महात्मा—मुझे हो सकता है, तो आपको क्यों न हो सकेगा। अभी तो आप थके हुए हैं। कुछ भोजन करके स्वस्थ हो जाइए, तो मै आपको अपनी प्रयोगशाला की सैर कराऊॅ।

मैं—क्या आपकी प्रयोगशाला भी यही है?

महात्मा—हॉ, इसी कमरे से मिली हुई है। क्या आप भोजन करना चाहते हैं?

मैं—उसके लिए आप कोई चिन्ता न करें। आपका जूठन मैं भी खा लूॅगा।

महात्मा (हँसकर) अभी नहीं खा सकते। अभी तुम्हारी पाचन-शक्ति इतनी बलवान नहीं है। तुम जिन पदार्थों को खाद्य समझते हो, उन्हें मैंने बरसों से नहीं खाया। मेरे लिए उदर को स्थूल वस्तुओं से भरना वैसा ही अवैज्ञानिक है, जैसे इस वायुयान के दिनों मे बैलगाड़ी पर चलना। भोजन का उद्देश्य केवल संचालन-शक्ति को उत्पन्न करना है। जब वह शक्ति हमे भोजन करने की अपेक्षा कहीं आसानी से मिल सकती है, तो उदर को क्यों अनावश्यक वस्तुओ से भरें। वास्तव में आनेवाली जाति उदर-विहीन होगी।

यह कहकर उन्होंने मुझे थोड़े-से फल खिलाये, जिनका स्वाद आज तक याद करता हूॅ। भोजन करते ही मेरी आँखें खुल सी गयीं। ऐसे फल न जाने किस बाग में पैदा होते होंगे। यहाँ की विद्युन्मय वायु ने पहले ही आश्चर्यजनक स्फूर्ति उत्पन्न कर दी थी। यह भोजन करके तो मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि मै आकाश म उड़ सकता हूॅ। वह चढ़ाई, जिसे मै असाध्य समझ रहा था, अब तुच्छ मालूम होती थी।

अब महात्माजी मुझे अपनी प्रयोगशाला की सैर कराने चले। यह एक विशाल गुफा थी, जिसके विस्तार का अनुमान करना कठिन था, उसकी चौडाई ५०० हाथ से कम न रही होगी। लम्बाई उसकी चौगुनी थी। ऊॅची इतनी कि हमारे ऊॅचे-से-ऊॅचे मीनार भी उसके पेट में समा सकते थे। बौद्ध मूर्तिकारों की अद्भुत चित्रकला यहॉ भी विद्यमान थी। यह पुराने समय का कोई विहार था। महात्माजी ने उसे प्रयोगशाला बना लिया था।

प्रयोगशाला में कदम रखते ही मैं एक दूसरी ही दुनिया मे पहुॅच गया। जेनेवा नगर ऑखों के सामने था और एक भवन म राष्ट्रों के मन्त्री बैठे हुए किसी राजनीतिक

विषय पर बहस कर रहे थे। उनकी आँखों के इशारे, ओठों का हिलना और हाथों का उठना साफ दिखाई देता था। उनके मुख से निकला हुआ एक एक शब्द साफ-साफ कानों में आता था। एक क्षण के लिए मैं धोखे में आ गया कि जेनेवा ही में बैठा हूँ। जरा और आगे बढ़ा तो संगीत की ध्वनि कानों में आयी। मैंने यूरप में यह आवाज सुनी थी। पहचान गया, पैड्रोस्की की आवाज थी। मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। जिन आविष्कारों का बड़े बड़े विद्वानों को आभास मात्र था, वे सब यहाँ अपने समुन्नत, पूर्ण रूप में दिखायी दे रहे थे। इस निर्जन स्थान में, आबादी से कोसों दूर, इतनी ऊँचाई पर कैसे उन प्रयोगों में सफलता हुई, ईश्वर ही जान सकते हैं। महात्मा लोग तो योग की क्रियाओं ही में कुशल होते हैं। अध्यात्म उनका क्षेत्र है। विज्ञान पर उन्होंने कैसे आधिपत्य जमाया। महात्माजी मेरी ओर देखकर मुस्कराये और बोले—विज्ञान अन्तःकरण को भी गुप्त नहीं छोड़ता। तुम्हें इन बातों से आश्चर्य हो रहा है, पर यथार्थ यह है कि विज्ञान ने योग को बहुत सरल कर दिया है। वह बहिर्जगत् से अब धीरे धीरे अन्तर्जगत् में प्रवेश कर रहा है। मनोयोग की जटिल क्रियाओं द्वारा जो सिद्धि बरसों में प्राप्त होती थी, वह अब क्षणों में हो जाती है। कदाचित् वह समय दूर नहीं कि हम विज्ञान द्वारा मोक्ष भी प्राप्त कर सकेंगे।

मैंने पूछा—क्या पूर्व-समय का ज्ञान भी किसी प्रयोग द्वारा हो सकता है?

महात्मा—हो सकता है, लेकिन उससे किसी उपकार की आशा नहीं। विज्ञान अगर प्राणियों का उपकार न करे, तो उसका मिट जाना ही अच्छा। केवल जिज्ञासा को शान्त करने, विलास में योग देने, या यथार्थ की सहायता करने के लिए योग करना उसका दुरुपयोग करना है। मैं चाहूँ तो अभी एक क्षण में यूरप के बड़े से-बड़े नगर को नष्ट-भ्रष्ट कर दूँ, लेकिन विज्ञान प्राण-रक्षा के लिए है, वध करने के लिए नहीं।

मुझे निराशा तो हुई, पर आग्रह न कर सका। शाम तक प्रयोगशाला के यन्त्रों को देखता रहा। किन्तु उनमें अब मन न लगता था। यही धुन सवार थी कि क्योंकर यह दुस्तर कार्य सिद्ध करूँ। आखिर, उन्हें किसी तरह पसीजते न देखकर मैंने उसी हिकमत से काम लिया, जो निरुपायों का आधार है। बोला—भगवन्, आपने वह सब कर दिखाया, जिसका संसार के विज्ञानवेत्ता अभी केवल स्वप्न देख रहे हैं।

महात्माजी पर इन शब्दों का वही असर पड़ा, जो मैं चाहता था। यद्यपि मैंने यथार्थ ही कहा था, लेकिन कभी-कभी यथार्थ भी खुशामद का काम कर जाता है। प्रसन्न होकर बोले—मैं गर्व तो नहीं करता, पर ऐसी प्रयोगशाला संसार में दूसरी नहीं है।

मैं—यूरपवालों को खबर मिल जाय, तो आपको आराम से बैठना मुश्किल हो जाय।

महात्मा—मैंने कितनी ही नयी-नयी बातें खोज निकालीं, पर उनका गौरव आज दूसरों को प्राप्त है। लेकिन इसकी क्या चिन्ता। मैं विज्ञान का उपासक हूँ, अपनी ख्याति और गौरव का नहीं।

मैं—आपने इस देश का मुख उज्ज्वल कर दिया।

महात्मा—मेरा यान आकाश में जितनी ऊँचाई तक पहुँच सकता है, उसकी यूरप वाले कल्पना भी नहीं कर सकते। मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही मेरी चन्द्रलोक की यात्रा सफल होगी। यूरप के वैज्ञानिकों की तैयारियाँ देख-देखकर मुझे हँसी आती है। जब तक हमको यहाँ की प्राकृतिक स्थिति का ज्ञान न हो, हमारी यात्रा सफल नहीं हो सकती। सबसे पहले विचार-धाराओं को वहाँ ले जाना होगा। विद्वान् लोग भी कभी-कभी बालकों की-सी कल्पनाएँ करने लगते हैं।

मैं—वह दिन हमारे लिए सौभाग्य और गर्व का होगा।

महात्मा—प्राचीन काल में ऋषिगण योग-बल से त्रिकाल दृष्टि प्राप्त किया करते थे। पर उसमें बहुधा भ्रम हो जाता था। उसकी सहायता का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण न होता था। मैंने वैज्ञानिक परीक्षाओं से उस कार्य को सिद्ध किया है। प्रण तो मैंने यही किया था कि किसी को यह रहस्य न बताऊँगा, लेकिन तुम्हारी तपस्या देखकर दया आ रही है। मेरे साथ आओ।

मैं महात्माजी के पीछे-पीछे एक ऐसी गुफा में पहुँचा, जहाँ केवल एक छोटी-सी चौकी रखी हुई थी। महात्माजी ने गम्भीर मुख से कहा—तुम्हें यह बात गुप्त रखनी होगी। मैंने कहा—जैसी आज्ञा।

महात्मा—तुम इसका वचन देते हो।

मैं—आप इसकी किंचित्-मात्र भी चिन्ता न करें।

महात्मा—अगर किसी यश और धन के इच्छुक को यह खबर मिल गयी तो वह संसार में एक महान् क्रांति उपस्थित कर देगा और कदाचित् मुझे प्राणों से हाथ धोना पड़े। मैं मर जाऊँगा, किन्तु इस गुप्त ज्ञान का प्रचार न करूँगा। तुम इस चौकी पर लेट जाओ और आँखें बन्द कर लो।

चौकी पर लेटते ही मेरी आँखें झपक गयी और पूर्व-जन्म के दृश्य आँखों के सामने आ गये। हाँ प्रिये, मेरा अतीत जीवित हो गया। यही भवन था, यही माता-पिता थे, जिनकी तसवीरें दीवानखाने में लगी हुई हैं। मैं लड़कों के साथ बाग में गेंद खेल रहा था। फिर दूसरा दृश्य सामने आया। मैं गुरु की सेवा में बैठा हुआ पढ़ रहा था। यह वही गुरुजी थे, जिनकी तसवीर तुम्हारे कमरे में है। एक तिल का भी अन्तर नहीं है। इसके बाद युवावस्था का दृश्य आया। मैं तुम्हारे साथ एक नौका पर बैठा हुआ नदी में जल-क्रीड़ा कर रहा था। याद है वह दृश्य जब हवा वेग से चलने लगी थी और तुम डरकर मेरे हृदय से चिमट गयी थीं?

देवप्रिया—खूब याद है, प्राणेश! खूब याद है।

राजकुमार—वह दृश्य याद है, जब मैं लताकुञ्ज में घास पर बैठा हुआ तुम्हें पुष्पाभूषणों से अलंकृत कर रहा था?

देवप्रिया—हाँ प्राणनाथ, खूब याद है। यही तो स्थान है!

राजकुमार—पाँचवा दृश्य वह था, जब मैं मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ था। माता-

पिता सिरहाने खड़े थे और तुम मेरे पैरों पर सिर रखे रो रही थीं। याद है ?

देवप्रिया—हाय प्राणनाथ ! वह दिन भी भूल सकती हूँ ?

राजकुमार—एक क्षण मे मेरी आँखें खुल गयीं। पर जो कुछ देखा था, वह सब आँखों में फिर रहा था, मानों बचपन की बातें हों। मैंने महात्मा से पूछा—मरे माता पिता जीवित हैं ? उन्होंने एक क्षण आँखें बन्द करके सोचने के बाद कहा—उनका देहावसान हो गया है। तुम्हारे शोक में दोनों घुल-घुलकर मर गये।

मैं—और मेरी स्त्री ?

महात्मा – वह अभी जीवित है।

मैं—किस नगर मे है ?

महात्मा—काशी के समीप जगदीशपुर मे। किन्तु तुम्हारा वहाँ जाना उचित नहीं, यह ईश्वरी इच्छा के विरुद्ध होगा और संस्कारों के क्रम को पलटना अनिष्ट का मूल है।

मैंने उस समय तो कुछ न कहा, पर उसी क्षण मैंने तुमसे मिलने का दृढ सकल्प कर लिया। मुझे अब वहाँ एक एक क्षण एक-एक युग हो गया। दो दिन तो मैं किसी तरह रहा, तीसरे दिन मैंने महात्माजी से विदा होकर प्रस्थान कर दिया। महात्माजी बड़े प्रेम से मुझसे गले मिले और चलते चलते ऐसी क्रिया बतलायी, जिसके द्वारा हम अपनी आयु और बल को इच्छानुसार बढा सकते हैं। तब मुझे गले से लगाकर एक यान पर बैठा दिया। यान मुझे हरिद्वार पहुँचा कर आपही आप लौट गया। यह उनके यानों की विशेषता है। हरिद्वार से मे सीधा हर्षपुर पहुँचा और एक सप्ताह तक माता-पिता की सेवा मे रहकर यहाँ आ पहुँचा। तुमसे मिलने के पहले मैं कई बार इधर निकला। यहाँ की हरएक वस्तु मेरी जानी-पहचानी मालूम होती थी। दो-चार पुराने दोस्त भी दिखायी दिये, पर उनसे मै बोला नहीं। एक दिन जगदीशपुर की सैर भी कर आया। ऐसा मालूम होता था कि मेरी बाल्यावस्था वहीं गुजरी हो। तुमसे मिलने के पहले कई दिन गहरी चिन्ता मे पड़ा रहा। एक विचित्र शका होती थी। अकस्मात् तुमसे पार्क में मुलाकात हो गयी। कह नहीं सकता, तुम्हें देखकर मेरे चित्त की क्या दशा हुई। ऐसा जी चाहता था, दौड़कर हृदय से लगा लूँ। महात्मा के अन्तिम शब्द भूल गये और मैं वहाँ तुमसे मिल गया।

देवप्रिया ने रोते हुए कहा—प्राणनाथ, आपके दर्शन पाते ही मेरा हृदय गद्गद हो गया। ऐसा मालूम हुआ, मानो आपसे मेरा पुराना परिचय है 'मानों मैंने आपको कहीं देखा है। आपने एक दृष्टि मे मेरे मन के उन भावों को जाग्रत कर दिया, जिन्हें मेरी विलासिता ने कुचल कुचलकर शिथिल कर दिया था। स्वामी ! मैं, आपके चरणों को स्पर्श करने-योग्य नहीं हूँ, लेकिन जब तक जीऊँगी, तब तक आपकी स्मृति क हृदय में संचित रखूँगी।

राजकुमार—प्रिये, तुम्हें मालूम है, विवाह का सम्बन्ध देह से नहीं आत्मा से है। क्या आत्मा अनन्त और अमर नहीं ?

देवप्रिया ने उसका कोई उत्तर न दिया। प्रश्नसूचक नेत्रों से राजकुमार की ओर ताकने लगी।

राजकुमार—तो अब तुम्हें मेरे साथ चलने में कोई आपत्ति नहीं है ?

देवप्रिया ने रुँधे हुए कण्ठ से कहा—प्राणनाथ, आप मुझसे यह प्रश्न क्यों करते हैं ? आप मेरा उद्धार कर रहे हैं, आपको छोड़कर और किसकी शरण जाऊँगी ? अब तो मुझे आप मार-मारकर भी भगायें, तो आपका दामन न छोड़ूँगी। आह स्वामी ! यह शुभ अवसर जीते-जी मिलेगा, इसकी तो स्वप्न में भी आशा न थी। मेरा सौभाग्य-सूर्य इतने दिनों के बाद फिर उदय होगा, यह तो कदाचित् मेरे देवताओं को भी न मालूम होगा। न-जाने किसके पुण्य-प्रताप से मुझे यह दिन देखना नसीब हुआ है। कौन स्त्री इतनी सौभाग्यवती हुई है ? आपको पाकर मैं सब कुछ पा गयी। अब मुझे किसी बात की अभिलाषा नहीं रही। आपकी चेरी हूँ—वही चेरी, जो एक बार आपके ऊपर अपना सर्वस्व अर्पण कर चुकी है।

राजकुमार ने रानी को कण्ठ से लगाकर कहा यह हमारा पुनर्संयोग है।

देवप्रिया—नहीं प्राणनाथ, मैं इसे प्रेम-मिलन समझती हूँ !

यह कहते-कहते रानी चुप हो गयी। उसे याद आ गया कि मुझ-जैसी वृद्धा ऐसे देव-रूप पुरुष के योग्य नहीं है। अभी दया के वशीभूत होकर यह मेरा उद्धार कर देंगे, पर दया कब तक प्रेम का पार्ट खेलेगी ? सम्भव है, इनकी दया-दृष्टि मुझपर सदैव बनी रहे, लेकिन मैं रनिवास की युवतियों को कौन मुँह दिखाऊँगी, जनता के सामने कैसे निकलूँगी। उस दशा में तो दया मेरी रक्षा न कर सकेगी। यह अवस्था तो असह्य हो जायगी। राजकुमार ने उसके मनोभावों को ताड़कर कहा—प्रिये, तुम्हारे मन में शंकाओं का उठना स्वाभाविक है; लेकिन उन्हें निकाल डालो। मैं विलास का दास होता, तो तुम्हारे पास आता ही नहीं। मेरे चित्त की वृत्ति वासना की ओर नहीं है। मैं रूप-सौन्दर्य का मूल्य जानता हूँ और उसका मुझपर कोई आकर्षण नहीं हो सकता। मेरे लिए तो तुम इस रूप में भी उतनी ही प्रिय हो। हाँ, तुम्हारे सन्तोष के लिए मुझे वह क्रियाएँ करनी पड़ेंगी, जो महात्माजी ने चलते-चलते बतायी थीं। जिसके द्वारा मैंने मायान्धकार पर विजय पायी, उसके द्वारा काल की गति को भी पलट सकूँगा। मुझे पूरा विश्वास है कि मुरझाया हुआ फूल एक बार फिर हरा हो जायगा—वही छवि, वही सौरभ, वही कोमलता फिर इसकी बलाएँ लेंगी। लेकिन तुम्हे भी मेरे लिए बड़े-बड़े त्याग करने पड़ेंगे। सम्भव है, तुम्हें राजभवन के बदले किसी वन में वृक्षों के नीचे रहना पड़े, रत्न-जटित आभूषणों के बदले वन्य पुष्पों पर ही सन्तोष करना पड़े। क्या तुम उन कष्टों को सह सकोगी ?

देवप्रिया—आपको पाकर अब मुझे किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं रही। विलास सच्चे सुख की छाया-मात्र है। जिसे सच्चा सुख मयस्सर हो, वह विलास की तृष्णा क्यों करे।

रानी मुँह से तो ये बातें कह रही थीं, किन्तु इस विचार से उनका चित्त प्रफुल्लित

हो रहा था कि मेरा यौवन पुष्प फिर खिलेगा, और सौन्दर्य दीपक फिर जलेगा।

राजकुमार—तो अब मै जाता हूँ। कल सध्या-समय फिर आऊँगा। इसी बीच में तुम यात्रा की तैयारियाँ कर लेना।

देवप्रिया ने राजकुमार का हाथ पकड़कर कहा—मै आपके साथ चलूँगी! मुझे न-जाने कैसी शकाएँ हो रही हैं। मै अब एक क्षण के लिए भी आपको न छोड़ूँगी।

राजकुमार—यों चलने से लोगो के मन में भाँति-भाँति की शकाएँ होंगी। मेरे पुनर्जन्म का किसी को विश्वास न आयेगा, लोग समझेंगे कि ऐब को छिपाने के लिए यह कथा गढ ली गयी है, केवल कुत्सित प्रेम को छिपाने के लिए यह कौशल किया गया है। इसलिए तुम किसी तीर्थ-यात्रा .

रानी ने बात काटकर कहा—मुझे अब लोक-निन्दा का भय नहीं है। मै यह कहने को तैयार हूँ कि अपने प्राणपति के साथ जा रही हूँ।

राजकुमार ने मुस्कुराकर कहा—अगर मैं तुमसे दगा करूँ, तो?

रानी ने भयातुर होकर कहा—प्राणनाथ, ऐसी बातें न करो। मैं अपने को तुम्हारे चरणों पर अर्पण कर चुकी, लेकिन कुसस्कारों से मुक्त नहीं हूँ। यदि कोई आदमी अभी आकर मुझसे कहे कि इन्द्रजाल का खेल कर रहे हैं, तो मै नहीं कह सकती कि मेरी क्या दशा होगी। अलौकिक बातो को समझने के लिए अलौकिक बुद्धि चाहिए और मैं इससे वञ्चित हूँ। मैं निष्कपट भाव से अपने मन की दुर्वलताएँ, प्रकट कर रही हूँ। मुझे क्षमा कीजिएगा। अभी बहुत दिन गुजरेंगे, जब मैं इस स्वप्न को यथार्थ समझूँगी। उस स्वप्न को भंग न कीजिए। इस वक्त यहीं आराम कीजिए, रात बहुत बीत गयी है। मै तब तक कुँवर विशालसिंह को सूचना दे दूँ कि वह आकर अपना राज्य सँभालें। कल मैं प्रातःकाल आपके साथ चलने को तैयार हो जाऊँगी।

यह कहकर रानी ने राजकुमार के लिए भोजन लाने की आज्ञा दी। जब वह भोजन करने लगे, तो आप ही खड़ी होकर उन्हें पखा झलने लगी। ऐसा स्वर्गीय आनन्द उसे कभी प्राप्त न हुआ था। उसके मर्मस्थल में प्रेम और उल्लास की तरगें उठ रही थीं, जी चाहता था कि इसी क्षण इनके चरणों पर गिरकर प्राण त्याग दूँ।

कुँवर साहब लेटने गये, तो रानी ने विशालसिंह के नाम पत्र लिखा—

'कुवर विशालसिंहजी',

इतने दिनों तक मायाजाल में फँसे रहने के बाद अब मेरा चित्त ससार से विरक्त हो गया है। मै तीर्थयात्रा करने जा रही हूँ और शायद फिर न लौटूँगी। किसी तीर्थ-स्थान में ही अपने जीवन के शेष दिन काटूँगी। आपको उचित है कि आकर अपने राज्य का भार सँभालें। मुझे खेद है कि मेरे कारण आपको बड़े-बड़े कष्ट भोगने पड़े। आपने मेरे साथ जो अनीति की, उसे भी मैं क्षमा करती हूँ। मायान्ध होकर हम सभी ऐसा करते हैं। मेरी आपसे इतनी ही प्रार्थना है कि मेरी लौंडियों और सेवकों पर दया कीजिएगा। मै अपने साथ कोई चीज नहीं ले जा रही हूँ। मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना

है कि वह आपको सद्बुद्धि दे और आपकी की कीर्ति देश-देशान्तरों में फैलाये ! मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि मेरे लिए इससे बढ़कर आनन्द की और कोई बात न होगी।

आपकी—देवप्रिया

यह पत्र लिखकर रानी ने मेज पर रखा ही था कि उन्हें खयाल आया, मैं अपना राज्य क्यों छोड़ूँ? मैं हर्षपुर से भी तो इसकी देखभाल कर सकती हूँ। साल में महीने दो-महीने के लिए यहाँ आना कौन मुश्किल है? चलकर प्राणनाथ से पूछूँ, उन्हें इसमे कोई आपत्ति तो न होगी। वह राजकुमार के कमरे के द्वार तक गयी, पर अन्दर कदम न रख सकी। खयाल आया, समझेंगे अभी तक इसकी तृष्णा बनी हुई है! उलटे पाँव लौट आयी।

रात के दो बज गये थे। देवप्रिया यात्रा की तैयारियाँ कर रही थी। उसके मन में प्रश्न हो रहा था, कौन-कौन सी चीजें साथ ले जाऊँ? पहले वह अपने वस्त्रागार में गयी। शीशे की आलमारियो में एक-से-एक अपूर्व वस्त्र चुने हुए रखे थे। इस समूह में से उसने खोजकर अपनी सोहाग की साड़ी निकाल ली, जिसे पहने आज २५ वर्ष हो गये। आज उसकी शोभा और सभी साड़ियों से बढी हुई थी। उसके सामने सभी कपड़े फीके जँचते थे।

फिर वह अपने आभूषणों की कोठरी मे गयी। इन आभूषणों पर वह जान देती थी। ये उसे अपने राज्य से भी प्रिय थे। लेकिन इस समय इनको छूते हुए उसे ऐसा भय हो रहा था, मानो चोरी कर रही है। उसने बहुत साहस करके रत्नों का वह सन्दूकचा निकाला, जिसपर इन २५ बरसो में उसने लाखों रुपए खर्च किये थे और उसे अञ्चल में छिपाये हुए बाहर निकली। इस लोभ को वह सवरण न कर सकी।

वह अपने कमरे मे आकर बैठी ही थी कि गुजराती आकर खड़ी हो गयी। देवप्रिया ने पूछा—सोयी नहीं?

गुजराती—सरकार नहीं सोयीं, तो मै कैसे सोती?

'मैं तो कल तीर्थ-यात्रा करने जा रही हूँ?'

'मुझे भी साथ ले चलिएगा?'

'नहीं, मै अकेली जाऊँगी।'

'सरकार लौटेंगी कब तक?'

'कह नही सकती। बहुत दिन लगेंगे। बता, तुझे क्या उपहार दूँ?'

'मैं तो एक बार माँग चुकी। लूँगी तो वही लूँगी।'

'मैं तुझे नौलखा हार दूँगी।'

'उसकी मुझे इच्छा नही।'

'जड़ाऊँ कगन लेगी?'

'जी नहीं!'

'वह रत्न लेगी, जो बड़ी बड़ी रानियो को भी मयस्सर नहीं?'

क्यों नहीं मँगवा लेतीं? अपने कृष्ण से कह दें, गाड़ी-भर बरतन भेज दें। क्या जबर-दस्ती दूसरों को भूखों मारेंगी?

रोहिणी रसोई से बाहर निकलकर बोली—बहन, जरा मुँह सँभालकर बातें करो। देवताओं का अपमान करना अच्छा नहीं।

वसुमती—अपमान तो तुम करती हो, जो व्रत के दिन यों बन-ठनकर अठिलाती फिरती हो। देवता रंग-रूप नहीं देखते, भक्ति देखते हैं।

रोहिणी—मैं बनती-ठनती हूँ, तो दूसरों की आँखें क्यों फूटती हैं? भगवान् के जन्म के दिन भी न बनूँ-ठनूँ? उत्सव में तो रोया नहीं जाता!

वसुमती—तो और बनो ठनो, मेरे अँगूठे से। आँखें क्यों फोड़ती हो? आँखें फूट जायँगी, तो चिल्लू भर पानी भी तो न दोगी।

रोहिणी—क्या आज लड़ने ही पर उतारू होकर आयी हो, क्या? भगवान् सब दु:ख दें, पर बुरी संगत न दें। लो, यही गहने कपड़े आँखों में गड़ रहे हैं? न पह-नूँगी। जाकर बाहर कह दे, पकवान प्रसाद किसी हलवाई से बनवा ले। मुझे क्या, मेरे मन का हाल भगवान् आप जानते हैं, पड़ेगी उनपर, जिनके कारण यह सब हो रहा है।

यह कहकर रोहिणी अपने कमरे में चली गयी। सारे गहने-कपड़े उतार फेंके और मुँह ढाँपकर चारपाई पर पड़ रही। ठाकुर साहब ने यह समाचार सुना, तो माथा कूट-कर बोले—इन चाण्डालिनों से आज शुभोत्सव के दिन भी शान्त नहीं बैठा जाता। इस जिन्दगी से तो मौत ही अच्छी। घर में आकर रोहिणी से बोले—तुम मुँह ढाँपकर सो रही हो, या उठकर पकवान बनाती हो? रोहिणी ने पड़े-पड़े उत्तर दिया—फट पड़े वह सोना जिससे टूटें कान। ऐसे उत्सव से बाज आयी, जिसे देखकर घरवालों की छाती फटे।

विशालसिंह—तुमसे तो बार-बार कहा कि उनके मुँह न लगा करो। एक चुप सौ वक्ताओं को हरा देता है। दो बातें सुन लो, तो तीसरी बात कहने का साहस न हो। फिर तुमसे बड़ी भी तो ठहरीं, यों भी तुमको उनका लिहाज करना ही चाहिए।

जिस दिन वसुमती ने विशालसिंह को व्यंग्य-बाण मारा था, जिसकी कथा हम कह चुके हैं, उसी दिन से उन्होंने उससे बोलना-चालना छोड़ दिया था। उससे कुछ डरने लगे थे, उसके क्रोध की भयंकरता का अन्दाज़ पा लिया था। किन्तु रोहिणी क्यों दबने लगी। यह उपदेश सुना तो झुँझलाकर बोली—रहने भी दो, जले पर नमक छिड़कते हो! जब बड़ा देख-देखकर जले, बात-बात पर कोसे, तो कोई कहाँ तक उसका लिहाज करे। इन्हें मेरा रहना जहर लगता है, तो क्या करूँ। घर छोड़कर निकल जाऊँ? वह इसी पर लगी हुई हैं। तुम्हीं ने उन्हें सिर चढ़ा लिया है। कोई बात होती है, तो मुझी को उपदेश करने दौड़ते हो, सीधा पा लिया है न! उनसे बोलते हुए तो तुम्हारा भी कलेजा काँपता है। तुम न शह देते तो उनकी मजाल थी कि यों मुझे आँखें दिखातीं!

विशालसिंह—तो क्या मैं उन्हें सिखा देता हूँ कि तुम्हें गालियाँ दें?

रोहिणी—और क्या करते हो। जब घर में कोई न्याय करनेवाला नही रहा, तो इसके सिवा और क्या होगा। सामने तो चुड़ैल की तरह बैठी हुई हैं, जाकर पूछते क्यों नहीं? मुँह में कालिख क्यों नहीं लगाते? दूसरा पुरुष होता, तो जूतों से बात करता, सारी शेखी किरकिरी हो जाती। लेकिन तुम तो खुद मेरी दुर्गति कराना चाहते हो। न जाने क्यों तुम्हें ब्याह का शौक चर्राया था।

कुँवर साहब ज्यों ज्यों रोहिणी का क्रोध शान्त करने की चेष्टा करते थे, वह और भी बफरती जाती थी और बार-बार कहती थी, तुमने मेरे साथ क्यो ब्याह किया। यहाँ तक कि अन्त में वह भी गर्म पड़ गये और बोले—और पुरुष स्त्रियो से विवाह करके कौन-सा सुख देते हैं, जो मैं तुम्हें नही दे रहा हूँ? रही लड़ाई-झगड़े की बात। तुम न लड़ना चाहो, तो कोई जबरदस्ती तुमसे न लडेगा। आखिर, रामप्रिया भी तो इसी घर में रहती है!

रोहिणी—तो मैं स्वभाव ही से लड़ाकू हूँ?

विशालसिंह—यह मैं थोड़े ही कहता हूँ।

रोहिणी—और क्या कहते हो? साफ साफ कहते हो, फिर मुकरते क्यों हो? मैं स्वभाव से ही झगड़ालू हूँ। दूसरों से छेड़-छेड़कर लड़ती हूँ। यह तुम्हें बहुत दूर की सूझी। वाह! क्या नयी बात निकाली है। कहीं छपवा दो, तो खासा इनाम मिल जायगा।

विशालसिंह तुम बरबस बिगड़ रही हो। मैंने तो दुनिया की बात कही थी और तुम अपने ऊपर ले गयीं।

रोहिणी—क्या करूँ, भगवान ने बुद्धि ही नही दी। वहाँ भी 'अन्धेर नगरी और चौपट राजा' होंगे। बुद्धि तो दो ही प्राणियो के हिस्से मे पड़ी है, एक आपकी ठकुराइन के—नही नहीं, महारानी के—और दूसरे आपके। जो कुछ बची-खुची, वह आपके सिर में ठूँस दी गयी।

विशालसिंह—अच्छा, उठकर पकवान बनाती हो कि नहीं? कुछ खबर है, नौ बज रहे हैं।

रोहिणी—मेरी बला जाती है! उत्सव मनाने की लालसा नहीं रही।

विशालसिंह—तो तुम न उठोगी?

रोहिणी—नही, नहीं, नहीं, या और दो-चार बार कह दूँ?

वसुमती सायबान में बैठी हुई दोनों प्राणियो की बातें तन्मय होकर सुन रही थी, मानो कोई सेनापति अपने प्रतिपक्षी की गति का अध्ययन कर रहा हो, कि कब यह चूके और कब मैं दबा बैठूँ। क्षण क्षण मे परिस्थिति बदल रही थी। कभी अवसर आता हुआ दिखायी देता था, फिर निकल जाता था, यहाँ तक कि अन्त में प्रतिद्वन्द्वी की एक भद्दी चाल ने उसे अपेक्षित अवसर दे ही दिया। विशालसिंह को मुँह लटकाये रोहिणी की कोठरी से निकलते देखकर बोली—क्या मेरी सूरत देखने की कसम खा ली

तुम्हारे हिसाब से मैं घर में हूँ ही नहीं ? बहुत दिन तो हो गये रूठे, क्या जन्म-
ठे ही रहोगे ? क्या बात है ? इतने उदास क्यों हो ?
वेशालसिंह ने ठिठककर कहा—तुम्हारी ही लगाई हुई आग को तो शात कर रहा
र उलटे हाथ जल गये। यह क्या रोज रोज तूफान खड़ा किया करती हो। चार
की जिन्दगी है, इसे हँस खेलकर नहीं काटते बनता। मै तो ऐसा तग हो गया हूँ
। चाहता है कि कही भाग जाऊँ। सच कहता हूँ, जिन्दगी से तग आ गया। यह
आग तुम्हीं लगा रही हो।
वसुमती—कहाँ भागकर जाओगे ? नयी-नवेली बहू को किस पर छोड़ोगे ? नये
का कुछ सुख तो उठाया ही नहीं ?
विशालसिंह—बहुत उठा चुका, जी भर गया।
वसुमती—बस, एक ब्याह और कर लो, एक ही और, जिसमें चौकड़ी पूरी हो जाय।
विशालसिंह—क्यों बैठे-बैठे जलाती हो ? विवाह क्या किया था, भोग विलास करने
ए, या तुमसे कोई बड़ी सुन्दरी होगी।
वसुमती—अच्छा, आओ, सुनते जाओ।
विशालसिंह—जाने दो, लोग बाहर बैठे होंगे।
वसुमती—अब यही तो नहीं अच्छा लगता। अभी घण्टे भर वहाँ बैठे चिकनी-
ी बातें करते रहे तो नहीं देर हुई, मैं एक क्षण के लिए बुलाती हूँ तो भागे जाते
इसी दोअक्खी की तो तुम्हें सजा मिल रही है।
यह कहकर वसुमती ने आकर उनका हाथ पकड़ लिया, घसीटती हुई अपने कमरे
गयी और चारपाई पर बैठाती हुई बोली—औरतों को सिर चढाने का यही फल
उसे तो तब चैन आये, जब घर में अकेली वही रहे। जब देखो तब अपने भाग्य
ोया करती है, किस्मत फूट गयी, मा बाप ने कुएँ में झोंक दिया, जिन्दगी खराब
यी। यह सब मुझसे नहीं सुना जाता, यही मेरा अपराध है। तुम उसके मन के
हो, सारी जलन इसी बात की है। पूछो, तुझे कोई जबरदस्ती निकाल लाया था,
ेरे मा-बाप की आँखें फूट गयी थीं। वहाँ तो यह मसूबे थे कि बेटी मुँहजोर है ही,
ही-जाते राजा को अपनी मुट्ठी में करके रानी बन बैठेगी! क्या मालूम था कि यहाँ
का सिर कुचलने को कोई और भी बैठा हुआ है। यही बातें खोलकर कह देती हूँ,
तिलमिला उठती है और तुम दौड़ते हो मनाने। बस, उसका मिजाज और आस-
पर चढ़ जाता है। दो दिन, चार दिन, दस दिन रूठी पड़ी रहने दो, फिर देखो
ी बिल्ली हो जाती है या नहीं। यह निरन्तर का नियम है कि लोहे को लोहा ही
ता है। कुमानुस के साथ कुमानुस बनने ही से काम चलता है। गोस्वामी तुलसी-
जी ने नारियों के विषय में जो कहा है, बिलकुल सच है।
विशालसिंह—यहाँ वह खटवाँस लेकर पड़ी, अब पकवान कौन बनाये ?
वसुमती—तो क्या जहाँ मुर्गा न होगा, वहाँ सवेरा ही न होगा ? आखिर जब वह

रामप्रिया—एक समय सखि सुअर सुन्दर ! जवानी में कौन नहीं सुन्दर होता ?

वसुमती—उसके माथे से तो तुम्हारे तलुवे अच्छे। सात जन्म ले, तो भी तुम्हारे गर्द को न पहुँचे।

विशालसिंह—मैं मेहर-बस हूँ ?

वसुमती—और क्या हो ?

विशालसिंह—मैं उसे ऐसी ऐसी बातें कहता हूँ कि वह भी याद करती होगी। घंटों रुलाता हूँ।

वसुमती—क्या जाने, यहाँ तो जब देखती हूँ, उसे मुस्कराते देखती हूँ। कभी आँखों में आँसू न देखा।

रामप्रिया—कड़ी बात भी हँसकर कही जाय, तो मीठी हो जाती है।

विशालसिंह—हँसकर नहीं कहता। डाँटता हूँ, फटकारता हूँ। लौंडा नहीं हूँ कि सूरत पर लट्टू हो जाऊँ।

वसुमती—डाँटते होंगे, मगर प्रेम के साथ। ढलती उम्र में सभी मर्द तुम्हारे ही जैसे हो जाते हैं। कोई नयी बात नहीं है। मैं तुमसे लाख रूठी रहूँ, लेकिन तुम्हारा मुँह जरा भी गिरा देखा और जान निकल गयी। सारा क्रोध हवा हो जाता है। वहाँ जब तक जाकर पैर न सहलाओ, तलुओं से आँखें न मलो, देवीजी सीधी ही नहीं होतीं। कभी-कभी तुम्हारी लम्पटता पर मुझे हँसी आती है। आदमी कड़े दम चाहिए। जिसका अन्याय देखे, उसे डाँट दे, बुरी तरह डाँट दे, खून पी लेने पर उतारू हो जाय। ऐसे ही पुरुषों से स्त्रियाँ प्रेम करती हैं। भय बिना प्रीति नहीं होती। आदमी ने स्त्री की पूजा की कि वह उनकी आँखों से गिरा। जैसे घोड़ा पैदल और सवार पहचानता है, उसी तरह औरत भी भकुए और मर्द को पहचानती है। जिसने सच्चा आसन जमाया और लगाम कड़ी रखी, उसी की जय है। जिसने रास ढीली कर दी, उसकी कुशल नहीं।

रामप्रिया मुँह फेरकर मुस्करायी और बोली—बहन, तुम सब गुर बताये देती हो, किसके माथे जायगी ?

वसुमती—हम लोगों की लगाम कब ढीली थी ?

रामप्रिया—जिसकी लगाम कभी कड़ी न थी, वह आज लगाम तानने से थोड़े ही काबू में आयी जाती है, और भी दुलत्तियाँ झाड़ने लगेगी।

विशालसिंह—मैंने तो अपनी जान में कभी लगाम ढीली नहीं की थी। आज ही देखो, कैसी फटकार बतायी।

वसुमती—क्या कहना है, जरा मूँछें खड़ी कर लो, लाओ, पगिया मैं सँवार दूँ। यह नहीं कहते कि उसने ऐसी-ऐसी चोटें कीं कि भागते ही बनी।

सहसा किसी के पैरों की आहट पाकर वसुमती ने द्वार की ओर देखा। रोहिणी रसोई के द्वार से दबे-पाँव चली जा रही थी। मुँह का रंग उड़ गया। दाँतों से ओठ दबाकर बोली—छिपी खड़ी थी। मैंने साफ देखा। अब घर में रहना मुश्किल है। देखो, क्या रंग लाती है।

विशालसिंह ने पीछे की ओर सशंक-नेत्रों से देखकर कहा—बड़ा गजब हुआ। चुड़ैल सब सुन गयी होगी। मुझे जरा भी आहट न मिली।

वसुमती—उँह, रानी रूठेंगी, अपना सोहाग लेंगी। कोई कहाँ तक डरे। आदमियों को बुलाओ, यह सामान यहाँ से ले जायँ।

भादों की अँधेरी रात थी। हाथ को हाथ न सूझता था। मालूम होता था, पृथ्वी पाताल में चली गयी है, या किसी विराट् जन्तु ने उसे निगल लिया है। मोमबत्तियों का प्रकाश उस तिमिर-सागर में पाँव रखते काँपता था। विशालसिंह भोग के पदार्थ थालियों में भरवा-भरवाकर बाहर रखवाने में लगे हुए थे। कोई केले छील रहा था, कोई खीरे काटता था, कोई दोनों में प्रसाद सजा रहा था। एकाएक रोहिणी एक चादर ओढ़े हुए घर से निकली और बाहर की ओर चली। विशालसिंह दहलीज के द्वार पर खड़े थे। इस भरी सभा में उसे यों निश्शंक भाव से निकलते देखकर उनका रक्त खौलने लगा। जरा भी न पूछा, कहाँ जाती हो, क्या बात है। मूर्ति की भाँति खड़े रहे। दिल ने कहा—जिसने इतनी बेहयाई की, उससे और क्या आशा की जा सकती है। वह जहाँ जाती हो, जाय; जो जी में आये, करे। जब उसने मेरा सिर ही नीचा कर दिया, तो मुझे उसकी क्या परवा। बेहया, निर्लज्ज तो है ही, कुछ पूछूँ और गालियाँ देने लगे, तो मुँह में और भी कालिख लग जाय। जब उसको मेरी परवा नहीं, तो मैं क्यों उसके पीछे दौड़ूँ। और लोग अपने-अपने काम मे लगे हुए थे। रोहिणी पर किसी की निगाह न पड़ी।

इतने में चक्रधर उनसे कुछ पूछने आये, तो देखा कि महरी उनके सामने खड़ी है और क्रोध से आँखें लाल किये कह रहे हैं—अगर वह मेरी लौंडी नहीं है, तो मैं भी उसका गुलाम नहीं हूँ। अगर वह स्त्री होकर इतना आपे से बाहर हो सकती है, तो मैं पुरुष होकर उसके पैरों पर सिर न रखूँगा। जहाँ इच्छा हो जाय, मैंने तिलाञ्जलि दे दी। अब इस घर में कदम न रखने दूँगा। (चक्रधर को देखकर) आपने भी तो उसे देखा होगा ?

चक्रधर—किसे ? मै तो केले छील रहा था। कौन गया है ?

विशालसिंह—मेरी छोटी पत्नीजी रूठकर बाहर चली गयी हैं। आपसे घर का वास्ता है। आज औरतों मे किसी बात पर तकरार हो गयी। अब तक तो मुँह फुलाये पड़ी रहीं, अब यह सनक सवार हुई। मेरा धर्म नहीं है कि मै उसे मनाने जाऊँ! आप धक्के खायँगी। उसके सिर पर कुबुद्धि सवार है।

चक्रधर—किधर गयी हैं, महरी ?

महरी—क्या जानूँ, बाबूजी ? मै तो बरतन माँज रही थी। सामने ही गयी होंगी।

चक्रधर ने लपककर एक लालटेन उठा ली और बाहर निकलकर दायें-बायें निगाहें दौड़ाते, तेजी से कदम बढ़ाते हुए चले। कोई दो सौ कदम गये होंगे कि रोहिणी एक वृक्ष के नीचे खड़ी दिखलायी दी। ऐसा मालूम होता था कि वह छिपने के लिए कोई

जगह तलाश कर रही है। चक्रधर उसे देखते ही लपककर समीप जा पहुँचे और कुछ कहना ही चाहते थे कि रोहिणी खुद बोली—क्या मुझे पकड़ने आये हो? अपना भला चाहते हो, तो लौट जाओ, नहीं तो अच्छा न होगा। मैं उन पापियों का मुँह न देखूँगी।

चक्रधर—आप इस अँधेरे में कहाँ जायँगी? हाथ को तो हाथ सूझता नहीं।

रोहिणी—अँधेरे में डर उसे लगता है, जिसका कोई अवलम्ब हो। जिसका संसार में कोई नहीं, उसे किसका भय? गला काटनेवाले अपने होते हैं, पराये गला नहीं काटते। जाकर कह देना, अब आराम से टाँगें फैलाकर सोइए, अब तो काँटा निकल गया।

चक्रधर—आप कुँवर साहब के साथ बड़ा अन्याय कर रही हैं। बेचारे लज्जा और शोक से खड़े रो रहे हैं।

रोहिणी—क्यों बातें बनाते हो? वह रोयेंगे, और मेरे लिए? मैं जिस दिन मर जाऊँगी, उस दिन घी के चिराग जलेंगे। संसार में ऐसे अभागे प्राणी भी होते हैं। अपने मा बाप को क्या कहूँ। ईश्वर उन्हें नरक में भी चैन न दे। सोचे थे, बेटी रानी हो जायगी, तो हम राज करेंगे। यहाँ जिस दिन डोली से उतरी, उसी दिन से सिर पर विपत्ति सवार हुई। पुरुष रोगी हो, बूढ़ा हो, दरिद्र हो, पर नीच न हो। ऐसा नीच और निर्दयी आदमी संसार में न होगा। नीचों के साथ नीच बनना ही पड़ता है।

चक्रधर—आपके यहाँ खड़े होने से कुँवर साहब का कितना अपमान हो रहा है, इसकी आपको जरा भी फिक्र नहीं?

रोहिणी—तुम्हीं ने तो मुझे रोक रक्खा है।

चक्रधर—आखिर आप कहाँ जा रही हैं?

रोहिणी—तुम पूछनेवाले कौन होते हो? मेरा जहाँ जी चाहेगा, जाऊँगी। उनके पाँव में मेंहदी नहीं रची हुई थी। उन्होंने मुझे घर से निकलते भी देखा था। क्या इसका मतलब यह नहीं है कि अच्छा हुआ, सिर से बला टली। दुत्कार सहकर जीने से मर जाना अच्छा है।

चक्रधर—आपको मेरे साथ चलना होगा।

रोहिणी—तुम्हें यह कहने का क्या अधिकार है?

चक्रधर—जो अधिकार सचेत को अचेत पर, सजान को अजान पर होता है, वही अधिकार मुझे आपके ऊपर है। अन्धे को कुएँ में गिरने से बचाना हरएक प्राणी का धर्म है।

रोहिणी—मैं न अचेत हूँ, न अजान, न अन्धी। स्त्री होने ही से बावली नहीं हो गयी हूँ। जिस घर में मेरा पहनना-ओढ़ना, हँसना-बोलना देख देखकर दूसरों की छाती फटती है, जहाँ कोई अपनी बात तक नहीं पूछता, जहाँ तरह-तरह के आक्षेप लगाये जाते हैं, उस घर में कदम न रखूँगी।

यह कहकर रोहिणी आगे बढ़ी कि चक्रधर ने सामने खड़े होकर कहा—आप आगे नहीं जा सकतीं।

रोहिणी—जबरदस्ती रोकोगे ?

चक्रधर—हाँ, जबरदस्ती रोकूँगा।

रोहिणी—सामने से हट जाओ।

चक्रधर—मै आपको कदम भी आगे न रखने दूँगा। सोचिए, आप अपनी अन्य बहनों को किस कुमार्ग पर ले जा रही हैं। जब वे देखेंगी कि बड़े-बड़े घरो की स्त्रियाँ भी रूठकर घर से निकल खड़ी होती हैं, तो उन्हें भी जरा-जरा-सी बात पर ऐसा ही साहस होगा या नहीं ? नीति के विरुद्ध कोई काम करने का फल अपने ही तक नहीं रहता, दूसरों पर उसका और भी बुरा असर पड़ता है।

रोहिणी—मैं चुपके से चली जाती थी, तुम्हीं तो ढिंढोरा पीट रहे हो।

चक्रधर—जिस तरह रण से भागते हुए सिपाही को देखकर लोगों को उससे घृणा होती है—यहाँ तक कि उसका वध कर डालना भी पाप नहीं समझा जाता, उसी तरह कुल में कलंक लगानेवाली स्त्रियों से भी सबसे घृणा हो जाती है और कोई उनकी सूरत तक नहीं देखना चाहता। हम चाहते हैं कि सिपाही गोली और आग के सामने अटल खड़ा रहे। उसी तरह हम यह भी चाहते हैं कि स्त्री सब कुछ झेलकर अपनी मर्यादा का पालन करती रहे। हमारा मुँह हमारी देवियो से उज्ज्वल है और जिस दिन हमारी देवियाँ इस भाँति मर्यादा को हत्या करने लगेंगी, उसी दिन हमारा सर्वनाश हो जायगा।

रोहिणी के रुँधे हुए कण्ठ से बोली—तो क्या चाहते हो कि मै फिर उसी आग में जलूँ ?

चक्रधर—हाँ, यही चाहता हूँ। रणक्षेत्र मे फूलों की वर्षा नही होती। मर्यादा की रक्षा करना उससे कहीं कठिन है।

रोहिणी—लोग हँसेंगे कि घर से निकली तो थी बड़े दिमाग से, आखिर झख मार-कर लौट आयो।

चक्रधर—ऐसा वही कहेंगे, जो नीच और दुर्जन हैं। समझदार लोग तो आपकी सराहना ही करेंगे।

रोहिणी ने कई मिनट तक आगा-पीछा करने के बाद कहा—अच्छा चलिए आप भी क्या कहेंगे। कोई बुरा कहे या भला। हाँ, कुँवर साहब को इतना जरूर समझा दीजिएगा कि जिन महरानी को आज वह घर की लक्ष्मी समझे हुए हैं, वह एक दिन उनको बड़ा धोखा देंगी। मै कितनी ही आपे से बाहर हो जाऊँ; पर अपना ही प्राण दूँगी। वह बिगड़ेंगी, तो प्राण लेकर छोड़ेंगी। आप किसी मौके से जरूर समझा दीजिएगा।

यह कहकर रोहिणी घर की ओर लौट पड़ी; लेकिन चक्रधर का उसके ऊपर कहाँ तक असर पड़ा और कहाँ तक स्वयम् अपनी सहज बुद्धि का, इसका अनुमान कौन कर सकता है। वह लौटते वक्त लज्जा से सिर नहो गड़ाये हुए थी। गर्व से उसकी गर्दन उठी हुई थी। उसने अपनो टेक को मर्यादा की वेदी पर बलिदान कर दिया था; पर

इसके साथ ही उन व्यंग्य वाक्यों की रचना भी करती थी, जिनसे वह कुँवर साहब का स्वागत करना चाहती थी।

जब दोनों आदमी घर पहुँचे, तो विशालसिंह अभी तक वहाँ मूर्तिवत् खड़े थे, महरी भी खड़ी थी। भक्त-जन अपना-अपना काम छोड़कर लालटेन की ओर ताक रहे थे। सन्नाटा छाया हुआ था।

रोहिणी ने देहलीज मे कदम रखा, मगर ठाकुर साहब ने उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखा। जब वह अन्दर चली गयी, तो उन्होंने चक्रधर का हाथ पकड़ लिया और बोले—मै तो समझता था, किसी तरह न आयेगी, मगर आप खींच ही लाये। क्या बहुत बिगड़ती थी?

चक्रधर ने कहा—आपको कुछ नहीं कहा। मुझे तो बहुत समझदार मालूम होती हैं। हाँ, मिजाज नाजुक है, बात बर्दाश्त नहीं कर सकतीं।

विशालसिंह—मैं यहाँ से टला तो नहीं, लेकिन सच पूछिए तो ज्यादती मेरी ही थी। मेरा क्रोध बहुत बुरा है। अगर आप न पहुँच जाते, तो बड़ी मुश्किल पड़ती। जान पर खेल जानेवाली स्त्री है। आपका यह एहसान कभी न भूलूँगा। देखिए तो, सामने कुछ रोशनी सी मालूम हो रही है। बैंड भी बज रहा है। क्या माजरा है?

चक्रधर—हाँ मशालें और लालटेनें हैं। बहुत-से आदमी भी साथ हैं।

और लोग भी आँगन मे उतर आये और सामने देखने लगे। सैकड़ों आदमी कतार बाँधे मशालों और लालटेनो के साथ चले आ रहे थे, आगे आगे दो अश्वारोही भी नजर आते थे। बैंड की मनोहर ध्वनि आ रही थी। सब खड़े-खड़े देख रहे थे, पर किसी की समझ में न आता था कि माजरा क्या है।

११

सभी लोग बड़े कुतूहल से आनेवालों को देख रहे थे। कोई दस-बारह मिनट में वह विशालसिंह के घर के सामने आ पहुँचे। आगे आगे दो घोड़ों पर मुशी वज्रधर और ठाकुर हरिसेवकसिंह थे। पीछे कोई पचीस-तीस आदमी साफ सुथरे कपड़े पहने चले आते थे। दोनों तरफ कई झण्डी-बरदार थे, जिनकी झण्डियाँ हवा में लहरा रही थीं। सबसे पीछे बाजेवाले थे। मकान के सामने पहुँचते ही दोनों सवार घोड़ों से उतर पडे और हाथ बाँधे हुए कुँवर साहब के सामने आकर खड़े हो गये। मुशीजी की सज धज निराली थी। सिर पर एक शमला था, देह पर एक नीचा आबा। ठाकुर साहब भी हिन्दुस्तानी लिबास में थे। मुशीजी खुशी से मुस्कराते थे, पर ठाकुर साहब का मुख मलिन था।

ठाकुर साहब बोले—दीनबन्धु, हम सब आपके सेवक आपकी सेवा में यह शुभ-सूचना देने के लिए हाजिर हुए हैं कि महारानी ने राज्य से विरक्त होकर तीर्थ-यात्रा को प्रस्थान किया है और अब हमें श्रीमान् की छत्र-छाया के नीचे आश्रय लेने का वह स्वर्णावसर प्राप्त हुआ है, जिसके लिए हम सदैव ईश्वर से प्रार्थना करते रहते थे। यह हमारा परम सौभाग्य है कि आज से श्रीमान् हमारे भाग्य विधाता हुए। यह पत्र है,

जो महारानीजी ने श्रीमान् के नाम लिख रखा था।

यह कहकर ठाकुर साहब ने रानी का पत्र विशालसिंह के हाथ में रख दिया। कुँवर साहब ने एक ही निगाह में उसे आद्योपांत पढ़ लिया और उनके मुख पर मन्द हास्य की आभा झलकने लगी। पत्र जेब मे रखते हुए बोले—यद्यपि महारानी की तीर्थ-यात्रा का समाचार जानकर मुझे अत्यन्त खेद हो रहा है; लेकिन इस बात का सच्चा आनन्द भी है कि उन्होंने निवृत्ति-मार्ग पर पग रखा; क्योंकि ज्ञान ही से मुक्ति प्राप्त होती है। मेरी ईश्वर से यही विनय है कि उसने मेरी गरदन पर जो कर्तव्य-भार रखा है, उसे सँभालने की मुझे शक्ति दे और प्रजा के प्रति मेरा जो धर्म है, उसके पालन करने की भी शक्ति प्रदान करे। आप लोगों को मै विश्वास दिलाता हूँ कि मै यथासाध्य अपना कर्तव्य पालन करने में ऊँचे आदर्शों को सामने रखूँगा, लेकिन मेरी सफलता बहुत कुछ आप ही लोगो की सहानुभूति और सहकारिता पर निर्भर है, और मुझे आशा है कि आप मेरी सहायता करने में किसी प्रकार की कोताही न करेंगे। मै इस समय यह भी जता देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि मै अत्याचार का घोर शत्रु हूँ और ऐसे महापुरुषों को, जो प्रजा पर अत्याचार करने के अभ्यस्त हो रहे हैं, मुझसे जरा भी नरमी की आशा न रखनी चाहिए।

इस कथन में शिष्टता की मात्रा अधिक और नीति की बहुत कम थी, फिर भी सभी राज्य-कर्मचारियों को यह बातें अप्रिय जान पड़ीं। सबसे कान खड़े हो गये और हरिसेवक को तो ऐसा मालूम हुआ कि यह निशाना मुझी पर है। उनके प्राण सूख गये सभी आपस में काना-फूसी करने लगे।

कुँवर साहब ने लोगों को ले जाकर फर्श पर बैठाया और खुद मसनद लगाकर बैठे। नजराने की निरर्थक रस्म अदा होने लगी। बैंड ने बधाई देनी शुरू की। चक्रधर ने पान और इलायची से सबका सत्कार किया। कुँवर साहब का जी बार-बार चाहता था कि घर में जाकर यह सुख-संवाद सुनाऊँ; पर मौका न देखकर जब्त किये हुए थे मुंशी वज्रधर अब तक खामोश बैठे थे। ठाकुर हरसेवक को यह खुशखबरी सुनाने का मौका देकर उन्होंने अपने ऊपर कुछ कम अत्याचार न किया था। अब उनसे चुप न रहा गया। बोले—हुजूर, आज सबसे पहले मुझी को यह हाल मालूम हुआ।

हरिसेवक ने इसका खण्डन किया—मै भी तो आपके साथ ही पहुँच गया था।

वज्रधर—आप मुझसे जरा देर बाद पहुँचे। मेरी आदत है कि बहुत सवेरे उठता हूँ। देर तक सोता, तो एक दिन भी तहसीलदारी न निभती। बड़ी हुकूमत की जगह है, हुजूर! वेतन तो कुछ ऐसा ज्यादा न था; पर हुजूर, अपने इलाके का बादशाह था। खैर, ड्योढ़ी पर पहुँचा तो सन्नाटा छाया हुआ था। न दरबान का पता, न सिपाही का। घबराया कि माजरा क्या है! बेधड़क अन्दर चला गया। मुझे देखते ही गुजराती रोती हुई दौड़ी और तुरन्त रानी साहब का खत लाकर मेरे हाथ मे रख दिया। रानीजी ने उससे शायद यह खत मेरे ही हाथ में देने को कहा था।

ताल देने लगे। यहाँ तक कि वह नाचने लगे। उन्हें इसकी जरा भी झेंप न थी कि लोग दिल में क्या कहते होंगे। गुणी को अपना गुण दिखाते शर्म नहीं आती। पहलवान को अखाड़े में ताल ठोंककर उतरते क्या शर्म! जो लड़ना नहीं जानते, वे ढकेलने से भी अखाड़े में नहीं जाते। सभी कर्मचारी मुँह फेर-फेरकर हँसते थे। जो लोग बाहर चले गये थे, वे भी यह ताण्डव-नृत्य देखने के लिए आ पहुँचे। यहाँ तक कि विशालसिंह भी हँस रहे थे। मुंशीजी के बदले देखनेवालों को झेंप हो रही थी, लेकिन मुंशीजी अपनी धुन में मग्न थे। गुणी गुणियों के सामने अनुरक्त हो जाता है। अनाड़ी लोग तो हँस रहे थे और गुणी लोग नृत्य का आनन्द उठा रहे थे। नृत्य ही अनुराग की चरम सीमा है।

नाचते नाचते आनन्द से विह्वल होकर मुंशीजी गाने लगे। उनका मुख अनुराग से प्रदीप्त हो रहा था। आज बड़े सौभाग्य से और बहुत दिनों के बाद उन्हें यह स्वर्गीय आनन्द प्राप्त करने का अवसर मिला था। उनकी बूढ़ी हड्डियों में इतनी चपलता कहाँ से आ गयी, इसका निश्चय करना कठिन है। इस समय तो उनकी फुर्ती और चुस्ती जवानों को भी लज्जित करती थी। उनका उछलकर आगे जाना, फिर उछलकर पीछे आना, झुकना और मुड़ना, और एक एक अंग को फेरना वास्तव में आश्चर्यजनक था। इतने में कृष्ण के जन्म का मुहूर्त आ पहुँचा। सारी महफिल खड़ी हो गयी और सभी उस्तादों ने एक स्वर से मंगलगान शुरू किया। साजों के मेले ने समाँ बाँध दिया। केवल दो ही प्राणी ऐसे थे, जिन्हें इस समय भी चिन्ता घेरे हुए थी। एक तो ठाकुर हरिसेवकसिंह, दूसरे कुँवर विशालसिंह। एक को यह चिन्ता लगी हुई थी कि देखें, कल क्या मुसीबत आती है, दूसरे को यह फिक्र थी कि इस दुष्ट से क्योंकर पुरानी कसर निकालूँ। चक्रधर अब तक तो लज्जा से मुँह छिपाये बाहर खड़े थे, मंगल गान समाप्त होते ही आकर प्रसाद बाँटने लगे। किसी ने मोहन-भोग का थाल उठाया, किसी ने फलों का। कोई पञ्चामृत बाँटने लगा। हरबोंग-सा मच गया। कुँवर साहब ने मौका पाया, तो उठे और मुंशी वज्रधर को इशारे से बुला, दालान में ले जाकर पूछने लगे—दीवान साहब ने तो मौका पाकर खूब हाथ साफ किये होंगे।

वज्रधर—मैंने तो ऐसी कोई बात नहीं देखी। बेचारे दिन-भर सामान की जाँच पड़ताल करते रहे। घर तक न गये।

विशालसिंह—यह सब तो आपके कहने से किया। आप न होते, न जाने क्या गजब ढाते।

वज्रधर—मेरी बातों का यह मतलब न था कि वह आपसे कीना रखते हैं। इन छोटी छोटी बातों की ओर ध्यान देना उनका काम नहीं है। मुझे तो यह फिक्र थी कि दफ्तर के कागज तैयार हो जायँ। मैं किसीकी बुराई न करूँगा। दीवान साहब को आपसे अदावत थी, यह मैं मानता हूँ। रानी साहब का नमक खाते थे और आपका बुरा चाहना उनका धर्म था, लेकिन अब वह आपके सेवक हैं और मुझे पूरा विश्वास है कि वह उतनी ही ईमानदारी से आपकी सेवा करेंगे।

विशालसिंह—आपको पुरानी कथा मालूम नहीं। इसने मुझपर बड़े-बड़े जुल्म किये हैं। इसी के कारण मुझे जगदीशपुर छोड़ना पड़ा। बस चला होता, तो इसने मुझे कत्ल करा दिया होता।

वज्रधर—गुस्ताखी माफ कीजिएगा। आपका बस चलता तो क्या रानीजी की जान बच जाती, या दीवान साहब जिन्दा रहते? उन पिछली बातों को भूल जाइए। भगवान् ने आज आपको ऊँचा रुतबा दिया है। अब आपको उदार होना चाहिए। ऐसी बातें आपके दिल में न आनी चाहिए। मातहतों से उनके अफसर के विषय में कुछ पूछ-ताछ करना अफसर को जलील कर देना है। मैंने इतने दिनों तहसीलदारी की; लेकिन नायब साहब ने तहसीलदार के विषय में चपरासियों से कभी कुछ नहीं पूछा। मैं तो खैर इन मामलों को समझता हूँ; लेकिन दूसरे मातहतों से यदि आप ऐसी बातें करेंगे, तो वह अपने अफसर की हजारों बुराइयाँ आपसे करेंगे। मैंने ठाकुर साहब के मुँह से एक भी बात ऐसी नहीं सुनी, जिससे यह मालूम हो कि वह आपसे कोई अदावत रखते हैं।

विशालसिंह ने कुछ लज्जित होकर कहा—मैं आपको ठाकुर साहब का मातहत नहीं, अपना मित्र समझता हूँ, और इसी नाते से मैंने आपसे यह बात पूछी थी। मैंने निश्चय कर लिया था कि सबसे पहला वार इन्हीं पर करूँगा; लेकिन आपकी बातों ने मेरा विचार पलट दिया। आप भी उन्हें समझा दीजिएगा कि मेरी तरफ से कोई शंका न रखें। हाँ, प्रजापर अत्याचार न करें।

वज्रधर—नौकर अपने मालिक का रुख देखकर ही काम करता है। रानीजी को हमेशा रुपए की तंगी रहती थी। दस लाख की आमदनी भी उनके लिए काफी न होती थी। इसी हालत में ठाकुर साहब को मजबूर होकर प्रजा पर सख्ती करनी पड़ती थी। वह कभी आमदनी और खर्च का हिसाब न देखती थीं। जिस वक्त जितने रुपयों की उन्हें जरूरत पड़ती थी, ठाकुर साहब को देने पड़ते थे। जहाँ तक मुझे मालूम है, इस वक्त रोकड़ में एक पैसा भी नहीं है। गद्दी के उत्सव के लिए रुपयों का कोई न-कोई और प्रबन्ध करना पड़ेगा। दो ही उपाय हैं—या तो कर्ज लिया जाय, अथवा प्रजा से कर वसूलने के सिवा ठाकुर साहब और क्या कर सकते हैं?

विशालसिंह—गद्दी के उत्सव के लिए मैं प्रजा का गला नहीं दबाऊँगा। इससे तो यह कहीं अच्छा है कि उत्सव मनाया ही न जाय।

वज्रधर—हुजूर यह क्या फरमाते हैं। ऐसा भी कहीं हो सकता है?

विशालसिंह—खैर, देखा जायगा। जरा अन्दर जाकर रानियों को भी खुशखबरी दे आऊँ।

यह कहकर कुँवर साहब घर में गये। सबसे पहले रोहिणी के कमरे में कदम रखा। वह पीछे की तरफ की खिड़की खोले खड़ी थी। उस अन्धकार में उसे अपने भविष्य का रूप खिंचा हुआ नजर आता था। पति की निष्ठुरता ने आज उसकी मदान्ध आँखें

खोल दी थीं। वह घर से निकलने की भूल स्वीकार करती थी। लेकिन कुँवर साहब का उसको मनाने न जाना बहुत अखर रहा था। इस अपराध का इतना कठोर दण्ड! ज्यों-ज्यों वह उस स्थिति पर विचार करती थी, उसका अपमानित हृदय और भी तड़प उठता था।

कुँवर साहब ने कमरे में कदम रखते ही कहा—रोहिणी, ईश्वर ने आज हमारी अभिलाषा पूरी की। जिस बात की आशा न थी, वह पूरी हो गयी।

रोहिणी—तब तो घर में रहना और भी मुश्किल हो जायगा। जब कुछ न था, तभी मिजाज न मिलता था। अब तो आकाश पर चढ़ जायगा। काहे को कोई जीने पायेगा?

विशालसिंह ने दुखित होकर कहा—प्रिये, यह इन बातों का समय नहीं है। ईश्वर को धन्यवाद दो कि उसने हमारी विनय सुन ली।

रोहिणी—जब अपना कोई रहा ही नहीं, तो राजपाट लेकर चाटूँगी?

विशालसिंह को क्रोध आया; लेकिन इस भय से कि बात बढ़ जायगी, कुछ बोले नहीं। वहाँ से वसुमती के पास पहुँचे। वह मुँह लपेटे पड़ी हुई थी। जगाकर बोले—क्या सोती हो, उठो खुशखबरी सुनायें।

वसुमती—पटरानीजी को तो सुना ही आये, मैं सुनकर क्या करूँगी। अब तक जो बात मन में थी, वह आज तुमने खोल दी। तो यहाँ बचा हुआ सत्तू खानेवाले पाहुने नहीं हैं।

विशालसिंह—क्या कहती हो? मेरी समझ में नहीं आता।

वसुमती—हाँ, अभी भोले नादान बच्चे हो, समझ में क्यों आयेगा। गरदन पर छुरी फेर रहे हो, ऊपर से कहते हो कि तुम्हारी बातें समझ मे नहीं आतीं। ईश्वर मौत भी नहीं दे देते कि इस आये-दिन की दाँता-किलकिल से छूटती। यह जलन अब नहीं सही जाती। पीछेवाली आगे आयी, आगेवाली कोने में। मैं यहाँ से बाहर पाँव निकालती, तो सिर काट लेते, नहीं तो कैसी खुशामदें कर रहे हो। किसी के हाथों में भी जस नहीं, किसी की लातों में भी जस है।

विशालसिंह दुखी होकर बोले—यह बात नहीं है, वसुमती! तुम जान बूझकर नादान बनती हो। मैं इधर ही आ रहा था। ईश्वर से कहता हूँ, उसका कमरा अँधेरा देखकर चला गया, देखूँ क्या बात है।

वसुमती—मुझसे बातें न बनाओ, समझ गये। तुम्हें तो ईश्वर ने नाहक मूँछें दे दीं। औरत होते, तो किसी भले आदमी का घर बसता। जाँघ-तले की स्त्री सामने से निकल गयी और तुम टुकुर-टुकुर ताकते रहे। मैं कहती हूँ, आखिर तुम्हें यह क्या हो गया है? उसने कहीं कुछ कर-करा तो नहीं दिया? जैसे काया ही पलट गयी। जो एक औरत को काबू में नहीं रख सकता, वह रियासत का भार क्या सँभालेगा?

यह कहकर उठी और झल्लायी हुई छत पर चली गयी। विशालसिंह कुछ देर

उदास खड़े रहे, तब रामप्रिया के कमरे में प्रवेश किया। वह चिराग के सामने बैठी कुछ लिख रही थी। पति की आहट पाकर सिर ऊपर उठाया, तो आँखों में आँसू भरे हुए थे। विशालसिंह ने चौंककर पूछा—क्या बात है, प्रिये, रो क्यों रही हो? मैं तुम्हें एक खुशखबरी सुनाने आया हूँ?

रामप्रिया ने आँसू पोंछते हुए कहा—सुन चुकी हूँ। मगर आप उसे खुशखबरी कैसे कहते हैं? मेरी प्यारी बहन सदा के लिए संसार से चली गयी, क्या यह खुशखबरी है? अब तक और कुछ नहीं था तो उसकी कुशल-क्षेम का समाचार तो मिलता रहता था। अब क्या मालूम होगा कि उसपर क्या बीत रही है। दुखिया ने संसार का कुछ सुख न देखा। उसका तो जन्म ही व्यर्थ हुआ। रोते-ही-रोते उम्र बीत गयी।

यह कहकर रामप्रिया फिर सिसक-सिसककर रोने लगी।

विशालसिंह—उन्होंने पत्र में तो लिखा है कि मेरा मन संसार से विरक्त हो गया है।

रामप्रिया—इसको विरक्त होना नहीं कहते। यह तो जिन्दगी से घबराकर भाग जाना है। जब आदमी को कोई आशा नहीं रहती, तो वह मर जाना चाहता है। यह विराग नहीं है। विराग ज्ञान से होता है, और उस दशा में किसी को घर से निकल भागने की जरूरत नहीं होती। जिसे फूलों की सेज पर भी नींद नहीं आती थी, वह पत्थर की चट्टानों पर कैसे सोयेगी। बहन से बड़ी भूल हुई। क्या अन्त समय ठोकरें खाना ही उनके कर्म में लिखा था?

यह कहकर वह फिर सिसकने लगी। विशालसिंह को उसका रोना बुरा मालूम हुआ। बाहर आकर महफिल में बैठ गये। मेडू खाँ सितार बजा रहे थे। सारी महफिल तन्मय हो रही थी। जो लोग फजलू का गाना न सुन सके थे, वे भी इस वक्त सिर घुमाते और झूमते नजर आते थे। ऐसा मालूम होता था, मानो सुधा का अनन्त प्रवाह स्वर्ग की सुनहरी शिलाओं से गले मिल मिलकर नन्ही-नन्ही फुहारों में किलोल कर रहा हो। सितार के तारों से स्वर्गीय तितलियों की कतारें-सी निकल-निकलकर समस्त वायु-मण्डल में अपने झीने परों से नाच रही थीं। उसका आनन्द उठाने के लिए लोगों के हृदय कानों के पास आ बैठे थे।

किन्तु इस आनन्द और सुधा के अनन्त प्रवाह में एक प्राणी हृदय की ताप से विकल हो रहा था। वह राजा विशालसिंह थे, सारी बारात हँसती थी, दूल्हा रो रहा था।

राजा साहब! ऐश्वर्य के उपासक थे। तीन पीढ़ियों से उनके पुरखे यही उपासना करते चले आते थे। उन्होंने स्वयं इस देवता की तन मन से आराधना की थी। आज देवता प्रसन्न हुए थे। तीन पीढ़ियों की अविरल भक्ति के बाद उनके दर्शन मिले थे। इस समय घर के सभी प्राणियों को पवित्र हृदय से उनकी वन्दना करनी चाहिए थी, सबको दौड़-दौड़कर उनके चरणों को धोना और उनकी आरती करनी चाहिए थी। इस समय ईर्ष्या, द्वेष और क्षोभ को हृदय में पालना उस देवता के प्रति घोर अभक्ति थी। राजा साहब को महिलाओं पर दया न आती, क्रोध आता था। सोच रहे थे सब

अभी से ईर्ष्या के मारे इनका यह हाल है, तो आगे क्या होगा। तब तो आये दिन तलवारें चलेंगी। इनकी सजा यह है कि इन्हें इसी जगह छोड़ दूँ। लड़ें जितना लड़ने का बूता हो। रोयें जितना रोने की शक्ति हो। जो रोने के लिए बनाया गया हो, उसे हँसाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। इन्हें राज भवन ले जाकर गले का हार क्यों बनाऊँ? उस सुख को, जिसका मेरे जीवन के साथ ही अन्त हो जाना है, इन क्रूर क्रीड़ाओं से क्यों नष्ट करूँ?

१२

दूसरी वर्षा भी आधी से ज्यादा बीत गयी, लेकिन चक्रधर ने माता पिता से अहल्या का वृत्तान्त गुप्त ही रखा। जब मुशीजी पूछते--वहाँ क्या बात कर आये? आखिर यशोदानन्दन को विवाह करना है या नहीं? न आते हैं, न चिट्ठी-पत्री लिखते हैं, अजीब आदमी हैं। न करना हो, तो साफ-साफ कह दें। करना हो, तो उसकी तैयारी करें। ख्वाहमख्वाह झमेले में फँसा रखा है—तो चक्रधर कुछ इधर-उधर की बातें करके टाल जाते। उधर यशोदानन्दन बार-बार लिखते, तुमने मुशीजी से सलाह की या नहीं। अगर तुम्हें उनसे कहते शर्म आती हो, तो मैं ही आकर कहूँ? आखिर इस तरह कबतक समय टालोगे? अहल्या तुम्हारे सिवा किसी और से विवाह न करेगी। यह मानी हुई बात है। फिर उसे वियोग का व्यर्थ क्यों कष्ट देते हो? चक्रधर इन पत्रों के जवाब मे भी यही लिखते कि मैं खुद फिक्र में हूँ। ज्योंही मौका मिला, जिक्र करूँगा। मुझे विश्वास है कि पिताजी राजी हो जायँगे।

जन्माष्टमी के उत्सव के बाद मुशीजी घर आये, तो उनके हौसले बढे हुए थे। राजा साहब के साथ-ही-साथ उनके सौभाग्य का सूर्य उदय होता हुआ मालूम होता था। अब वह अपने ही शहर के किसी रईस के घर चक्रधर की शादी कर सकते थे। अब इस बात की जरूरत न होगी कि लड़की के पिता से विवाह का खर्च माँगा जाय। अब वह मनमाना दहेज ले सकते थे और धूमधाम से बारात निकाल सकते थे। राजा साहब जरूर उनकी मदद करेंगे, लेकिन मुशी यशोदानन्दन को वचन दे चुके थे, इस लिए उनसे एक बार पूछ लेना उचित था। अगर उनकी तरफ से जरा भी विलम्ब हो, तो साफ कह देना चाहते थे कि मुझे आपके यहाँ विवाह करना मजूर नहीं। यों दिल में निश्चय करके एक दिन भोजन करते समय उन्होंने चक्रधर से कहा—मुशी यशोदानन्दन भी कुछ ऊल-जलूल आदमी हैं। अभी तक कानों में तेल डाले हुए बैठे हैं। क्या समझते हैं कि मैं गरजू हूँ?

चक्रधर—उनकी तरफ से तो देर नहीं है। वह तो मेरे खत का इन्तजार कर रहे हैं।

वज्रधर—मैं तो तैयार हूँ, लेकिन अगर उन्हें कुछ पशोपेश हो, तो मैं उन्हें मजबूर नहीं करना चाहता। उन्हें अख्तियार है, जहाँ चाहें करें। यहाँ सैकड़ों आदमी मुँह खोले हुए हैं। उस वक्त जो बात थी, वह अब नही है। तुम आज उन्हें लिख दो कि या तो इसी जाड़े में शादी कर दें, या कहीं और बातचीत करें। उन्हें समझता क्या

हूँ। तुम देखोगे कि उनके जैसे आदमी इसी द्वार पर नाक रगड़ेंगे। आदमी को बिगड़ते देर लगती है बनते देर नहीं लगती। ईश्वर ने चाहा, तो एक बार फिर धूम से तहसीलदारी करूँगा।

चक्रधर ने देखा कि अब अवसर आ गया है। इस वक्त चूके तो फिर न जाने कब ऐसा अच्छा मौका मिले। आज निश्चय ही कर लेना चाहिए। बोले—उन्हें तो कोई पशोपेश नहीं। पशोपेश जो कुछ होगा, आप ही की तरफ से होगा। बात यह है कि वह कन्या मुशी यशोदानन्दन की पुत्री नहीं है।

वज्रधर—पुत्री नहीं है! वह तो लड़की ही बताते थे। हमारे सामने की तो बात है। खैर, पुत्री न होगी, भतीजी होगी; भाञ्जी होगी, नातिन होगी, बहन होगी। मुझे आम खाने से मतलब है, या पेड़ गिनने से? जब लड़की तुम्हें पसन्द है और वह अच्छा दहेज दे सकते हैं, तो मुझे और किसी बात की चिन्ता नहीं।

चक्रधर—वह लड़की उन्हें किसी मेले में मिली थी। तब उसकी उम्र तीन-चार बरस की थी। उन्हें उसपर दया आ गयी, घर लाकर पाला, पढ़ाया लिखाया।

वज्रधर—(स्त्री से) कितना दगाबाज आदमी है! क्या अभी तक लड़की के मा-बाप का पता नहीं चला?

चक्रधर—जी नहीं, मुशीजी ने उनका पता लगाने की बड़ी चेष्टा की, पर कोई फल न निकला।

वज्रधर—अच्छा, तो यह किस्सा है! बड़ा झूठा आदमी है, बना हुआ मक्कार!

निर्मला—जो लोग मीठी बातें करते, उनके पेट में छुरी छिपी रहती है। न जाने किस जाति की लड़की है। क्या ठिकाना। तुम साफ-साफ लिख दो, मुझे नहीं करना है। बस!

वज्रधर—मैं तुमसे तो सलाह नहीं पूछता हूँ। तुम्हीं ने इतने दिनों नेक-नामी के साथ तहसीलदारी नहीं की है। मैं खुद जानता हूँ, ऐसे धोखेबाजों के साथ कैसे पेश आना चाहिए।

खाना खाकर दोनों आदमी उठे, तो मुशीजी ने कहा—कमल दावात लाओ, मैं इसी वक्त यशोदानन्दन को खत लिख दूँ। बिरादरी का वास्ता न होता, तो हरजाने का दावा कर देता।

चक्रधर आरक्त मुख और सकोच रुद्ध कण्ठ से बोले—मैं तो वचन दे आया हूँ।

निर्मला—चल, झूठा कहीं का, खा मेरी कसम!

चक्रधर—सच अम्माँ, तुम्हारे सिर की कसम!

वज्रधर—तो यह क्यों नहीं कहते कि तुमने सब कुछ आप ही आप तय कर लिया है। फिर मुझसे क्या सलाह पूछते हो? आखिर विद्वान् हो, बालिग हो, अपना भला-बुरा सोच सकते हो, मुझसे पूछने की जरूरत ही क्या, लेकिन तुमने लाख एम० ए० पास कर लिया हो, वह तजुरबा कहाँ से लाओगे, जो मुझे है। इसी लिए तो

मक्कार तुम्हें यहाँ से ले गया था। तुमने लड़की सुन्दर देखी, रीझ गये, मगर याद रखो स्त्री में सुन्दरता ही सबसे बड़ा गुण नहीं है। मैं तुम्हें हर्गिज यह शादी न करने दूँगा।

चक्रधर—अगर और लोग भी यही सोचने लगें तो सोचिए, उस बालिका की क्या दशा होगी?

वज्रधर—तुम कोई शहर के काजी हो? तुमसे मतलब? बहुत होगा, जहर खालेगी। तुम्हीं को उसकी सबसे ज्यादा फिक्र क्यों है? सारा देश तो पड़ा हुआ है।

चक्रधर—अगर दूसरों को अपने कर्तव्य का विचार न हो, तो इसका यह मतलब नहीं कि मैं भी अपने कर्तव्य का विचार न करूँ।

वज्रधर—कैसी वेतुकी बातें करते हो, जी! जिस लड़की के मा-बाप का पता नहीं, उससे विवाह करके क्या खानदान का नाम डुबाओगे? ऐसी बात करते हुए तुम्हें शर्म भी नहीं आती?

चक्रधर—मेरा खयाल है कि स्त्री हो या पुरुष, गुण और स्वभाव ही उसमें मुख्य वस्तु है। इसके सिवा और सभी बातें गौण हैं।

वज्रधर—तुम्हारे सिर नयी रोशनी का भूत तो नहीं सवार हुआ था। एकाएक यह क्या कायापलट हो गयी?

चक्रधर—मेरी सबसे बड़ी अभिलाषा तो यही है कि आप लोगों की सेवा करता जाऊँ, आपकी मरजी के खिलाफ कोई काम न करूँ, लेकिन सिद्धान्त के विषय में मजबूर हूँ।

वज्रधर—सेवा करना तो नहीं चाहते, मुँह में कालिख लगाना चाहते हो, मगर याद रखो, तुमने यह विवाह किया तो अच्छा न होगा। ईश्वर वह दिन न लाये कि मैं अपने कुल में कलक लगते देखूँ।

चक्रधर—तो मेरा भी यही निश्चय है कि मैं और कहीं विवाह न करूँगा।

यह कहते हुए चक्रधर बाहर चले आये और बाबू यशोदानन्दन को एक पत्र लिखकर सारा किस्सा बयान किया। उसके अन्तिम शब्द ये थे—'पिताजी राजी नहीं होते और यद्यपि मैं सिद्धान्त के विषय में उनसे दबना नहीं चाहता, लेकिन उनसे अलग रहने और बुढापे में उन्हें इतना बड़ा सदमा पहुँचाने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। मैं बहुत लज्जित होकर आपसे क्षमा चाहता हूँ। अगर ईश्वर की यही इच्छा है, तो मैं जीवन पर्यन्त अविवाहित ही रहूँगा, लेकिन यह असम्भव है कि कहीं और विवाह कर लूँ। जिस तरह अपनी इच्छा से विवाह करके माता पिता को दुखी करने की कल्पना नहीं सकता, उसी तरह उनकी इच्छा से विवाह करके जीवन व्यतीत करने की कल्पना मेरे लिए असह्य है।

इसके बाद उन्होंने दूसरा पत्र अहिल्या के नाम लिखा। यह काम इतना आसान न था, प्रेम पत्र की रचना कवित्त की रचना से कहीं कठिन होती है। कवि चौड़ी सड़क पर चलता है, प्रेमी तलवार की धार पर। तीन बजे कहीं जाकर चक्रधर ने यह पत्र पूरा कर पाया। उसके अन्तिम शब्द ये थे—'हे प्रिये मैं अपने माता-पिता का वैसा ही भक्त हूँ, जैसा

कोई और बेटा हो सकता है। उनकी सेवा मे अपने प्राण तक दे सकता हूँ, किन्तु यदि इस भक्ति और आत्मा की स्वाधीनता में विरोध आ पड़े, तो मुझे आत्मा की रक्षा करने में जरा भी संकोच न होगा। अगर मुझे यह भय न होता कि माताजी अवज्ञा से रो रोकर प्राण दे देंगी और पिताजी देश-विदेश मारे-मारे फिरेंगे, तो मैं यह असह्य यातना न सहता। लेकिन मैं सब-कुछ तुम्हारे ही फैसले पर छोड़ता हूँ, केवल इतनी ही याचना करता हूँ कि मुझपर दया करो।'

दोनों पत्रो को डाकघर में डालते हुए वह मनोरमा को पढ़ाने चले गये।

मनोरमा बोली—आज आप बड़ी जल्दी आ गये; लेकिन देखिए, मैं आपको तैयार मिली। मैं जानती थी कि आप आ रहे होंगे, सच

चक्रधर ने मुस्कराकर पूछा—तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मै आ रहा हूँ?

मनोरमा—यह न बताऊँगी; किन्तु मै जान गयी थी। अच्छा कहिए तो आपके विषय में कुछ और बताऊँ। आज आप किसी न-किसी बात पर रोये हैं। बताइए, सच है कि नहीं?

चक्रधर ने झेंपते हुए कहा—झूठी बात है, मै क्यो रोता, कोई बालक हूँ?

मनोरमा खिलखिलाकर हँस पड़ी और बोली—बाबूजी, कभी कभी आप बड़ी मौलिक बात कहते हैं। क्या रोना और हँसना बालकों ही के लिए है? जवान और बूढे नहीं रोते?

चक्रधर पर उदासी छा गयी। हँसने की विफल चेष्टा करके बोले—तुम चाहती हो कि मैं तुम्हारे दिव्य ज्ञान की प्रशंसा करूँ। वह मै न करूँगा।

मनोरमा—अन्याय की बात दूसरी है; लेकिन आपकी आँखें कहे देती हैं कि आप रोये हैं। (हँसकर) अभी आपने वह विद्या नहीं पढ़ी, जो हँसी को रोने का और रोने को हँसी का रूप दे सकती है।

चक्रधर—क्या आजकल तुम उस विद्या का अभ्यास कर रही हो?

मनोरमा—कर तो नहीं रही हूँ; पर करना चाहती हूँ।

चक्रधर—नहीं मनोरमा, तुम वह विद्या न सीखना। मुलम्मे की जरूरत सोने को नहीं होती।

मनोरमा—होती है, बाबूजी, होती है। इससे सोने का मूल्य चाहे न बढ़े; पर चमक बढ़ जाती है। आपने महारानी की तीर्थ-यात्रा का हाल तो सुना ही होगा। अच्छा बताइए, आप इस रहस्य को समझते हैं?

चक्रधर—क्या इसमे भी कोई रहस्य है?

मनोरमा—और नहीं क्या! मै परसों रात को बड़ी देर तक वहीं थी। हर्षपुर के राजकुमार आये हुए थे। उन्ही के साथ गयी हैं।

चक्रधर—खैर; होगा, तुमने आज क्या काम किया है? लाओ, देखूँ।

मनोरमा—एक छोटा-सा लेख लिखा हैं; पर आपको दिखाते शर्म आती है।

चक्रधर—तुम्हारे लेख बहुत अच्छे होते हैं। शर्म की क्या बात है?

मनोरमा ने सकुचाते हुए अपना लेख उनके सामने रख दिया और वहाँ से उठकर चली गयी। चक्रधर ने लेख पढ़ा, तो दंग रह गये। विषय था ऐश्वर्य से सुख! वे क्या हैं? काल पर विजय, लोकमत पर विजय, आत्मा पर विजय। लेख में इन्हीं तीनों अंगो की विस्तार के साथ व्याख्या की गयी थी? चक्रधर उन विचारों की मौलिकता पर मुग्ध तो हुए, पर इसके साथ ही उन्हें उनकी स्वच्छन्दता पर खेद भी हुआ! ये भाव किसी व्यंग्य में तो उपयुक्त हो सकते थे, लेकिन एक विचारपूर्ण निबन्ध में शोभा न देते थे। उन्होंने लेख समाप्त करके रखा ही था कि मनोरमा लौट आयी और बोली—हाथ जोड़ती हूँ बाबूजी, इस लेख के विषय में कुछ न पूछिएगा, मैं इसी के भय से चली गयी थी।

चक्रधर—पूछता तो बहुत कुछ चाहता था, लेकिन तुम्हारी इच्छा नहीं है, तो न पूछूँगा। केवल इतना बता दो कि ये विचार तुम्हारे मन में क्योंकर आये? ऐश्वर्य का सुख विहार और विलास तो नहीं, यह तो ऐश्वर्य का दुरुपयोग है। यह तो व्यंग्य मालूम होता है।

मनोरमा—आप जो समझिए।

चक्रधर—तुमने क्या समझकर लिखा है?

मनोरमा—जो कुछ आँखों देखा, वही लिखा।

यह कहकर मनोरमा ने वह लेख उठा लिया और तुरन्त फाड़कर खिड़की के बाहर फेंक दिया। चक्रधर 'हाँ हाँ' करते रह गये। जब वह फिर अपनी जगह पर आकर बैठी, तो चक्रधर ने गम्भीर स्वर से कहा—तुम्हारे मन में ऐसे कुत्सित विचारों को स्थान पाते देखकर मुझे दुःख होता है।

मनोरमा ने सजल-नयन होकर कहा—अब मैं ऐसा लेख कभी न लिखूँगी।

चक्रधर—लिखने की बात नहीं है। तुम्हारे मन में ऐसे भाव आने ही न चाहिए। काल पर हम विजय पाते हैं, अपनी सुकीर्ति से, यश से, व्रत से। परोपकार ही अमरत्व प्रदान करता है। काल पर विजय पाने का अर्थ यह नहीं है कि कृत्रिम साधनों से भोग-विलास में प्रवृत्त हों, वृद्ध होकर जवान बनने का स्वप्न देखें और अपनी आत्मा को धोखा दें। लोकमत पर विजय पाने का अर्थ है, अपने सद्विचारों और सत्कर्मों से जनता का आदर और सन्मान प्राप्त करना। आत्मा पर विजय पाने का आशय निर्लज्जता या विषय-वासना नहीं, बल्कि इच्छाओं का दमन करना और कुवृत्तियों को रोकना है। यह मैं नहीं कहता कि तुमने जो कुछ लिखा है, वह यथार्थ नहीं है। उनकी नग्न यथार्थता ही ने उन्हें इतना घृणित बना दिया है। यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है और हम यथार्थ ही को आदर्श मान लें, तो संसार नरक के तुल्य हो जाय। हमारी दृष्टि मन की दुर्बलताओं पर पड़नी चाहिए, बल्कि दुर्बलताओं में भी सत्य और सुन्दर की खोज करनी चाहिए। दुर्बलताओं की ओर हमारी प्रवृत्ति स्वयं इतनी बलवती है कि उसे उधर ढकेलने की जरूरत नहीं। ऐश्वर्य का एक सुख और है जिसे तुमने न-जाने क्यों छोड़ दिया। जानती हो, वह क्या है?

मनोरमा—अब उसकी और व्याख्या करके मुझे लज्जित न कीजिए।

चक्रधर—तुम्हें लज्जित करने के लिए नहीं, तुम्हारा मनोरञ्जन करने के लिए बताता हूँ। वह पुरानी बातों को भूल जाना है। ऐश्वर्य पाते ही हमें अपना पूर्व-जीवन विस्मृत हो जाता है। हम अपने पुराने हमजोलियों को नहीं पहचानते। ऐसा भूल जाते हैं, मानो कभी देखा ही न था। मेरे जितने धनी मित्र थे, वे मुझे भूल गये। कभी सलाम करता हूँ, तो हाथ तक नहीं उठाते। ऐश्वर्य का यह एक खास लक्षण है। कौन कह सकता है कि कुछ दिनों के बाद तुम्हीं मुझे न भूल जाओगी!

मनोरमा—मैं आपको भूल जाऊँगी! असम्भव है। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि पूर्व जन्म में भी मेरा और आपका किसी-न-किसी रूप मे साथ था। पहले ही दिन से मुझे आपसे इतनी श्रद्धा हो गयी, मानो पुराना परिचय हो। मैं जब कभी कोई बात सोचती हूँ, तो आप उसमे अवश्य पहुँच जाते हैं। अगर ऐश्वर्य पाकर आपको भूल जाने की सम्भावना हो, तो मैं उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखूँगी।

चक्रधर ने मुस्कराकर—जब हृदय यही रहे तब तो!

मनोरमा—यही रहेगा, देख लीजिएगा। मै मरकर भी आपको नहीं भूल सकती।

इतने में ठाकुर हरिसेवक आकर बैठ गये। आज वह बहुत प्रसन्नचित्त मालूम होते थे। अभी थोड़ी ही देर पहले राजभवन से लौटकर आये थे। रात को नशा जमाने का अवसर न मिला था, उसकी कसर इस वक्त पूरी कर ली थी। आँखें चढ़ी हुई थीं। चक्रधर से बोले—आपने कल महाराजा साहब के यहाँ उत्सव का प्रबन्ध जितनी सुन्दरता से किया, उसके लिए आपको बधाई देता हूँ। आप न होते, तो सारा खेल बिगड़ जाता। महाराजा साहब बड़े ही उदार आदमी हैं। अब तक मै उनके विषय मे कुछ और ही समझे हुए था। कल उनकी उदारता और सज्जनता ने मेरा संशय दूर कर दिया। आपसे तो बिल्कुल मित्रों का सा बर्ताव करते हैं।

चक्रधर—जी हाँ, अभी तक तो उनके बारे में कोई शिकायत नहीं है।

हरिसेवक—महाराजा को एक प्राइवेट सेक्रेटरी की जरूरत तो पड़ेगी ही। आप कोशिश करें, तो आपको अवश्य ही वह जगह मिल जायगी। आप घर के आदमी हैं, आपके हो जाने से बड़ा इतमीनान हो जायगा। एक सेक्रेटरी के बगैर महाराजा साहब का काम नहीं चल सकता। कहिए तो जिक्र करूँ।

चक्रधर—जी नहीं, अभी तो मेरा इरादा कोई स्थायी नौकरी करने का नहीं है, दूसरे मुझे विश्वास भी नहीं है कि मैं उस काम को सँभाल सकूँगा।

हरिसेवक—अजी, काम करने से सब आ जाता है और आपकी योग्यता मेरे सामने है। मनोरमा को पढ़ाने के लिए कितने ही मास्टर आये, कोई भी दो-चार महीनों से ज्यादा न ठहरा। आप जब से आये हैं इसने बहुत खासी तरक्की कर ली है। मैं अब तक आपकी तरक्की नहीं कर सका, इसका मुझे खेद है। इस महीने से आपको ५०)

महीने मिलेंगे, यद्यपि मैं इसे भी आपकी योग्यता और परिश्रम को देखते बहुत कम समझता हूँ।

लौंगी देवी भी आ पहुँचीं। कही बदी बात थी। ठाकुर साहब का समर्थन करके बोलीं—देवता-रूप हैं, देवता-रूप! मेरी तो इन्हें देखकर भूख प्यास बन्द हो जाती है।

हरिसेवक—तो तुम इन्हीं को देख लिया करो, खाने का कष्ट न उठाना पड़े।

लौंगी—मेरे ऐसे भाग्य कहाँ! क्यों बेटा, तुम नौकरी क्यों नहीं कर लेते?

चक्रधर—जितना आप देती हैं, मेरे लिए उतना ही काफी है।

लौंगी—इसी से शादी-ब्याह नहीं करते? अब की लाला (वज्रधर) आते हैं, तो उनसे कहती हूँ, लड़के को कब तक छूटा रखोगे।

हरिसेवक—शादी यह खुद ही नहीं करते, वह बेचारे क्या करें। यह स्वाधीन रहना चाहते हैं।

लौंगी—तो कोई रोजगार क्यों नहीं करते, बेटा?

चक्रधर—अभी इस चरखे में नहीं पड़ना चाहता।

हरिसेवक - यह और ही विचार के आदमी हैं। माया फाँस में नहीं पड़ना चाहते।

लौंगी—धन्य है, बेटा! धन्य है। तुम सच्चे साधु हो।

इस तरह की बातें करके ठाकुर साहब अन्दर चले गये लौंगी भी उनके पीछे पीछे चली गयी। मनोरमा सिर झुकाये दोनो प्राणियों की बातें सुन रही थी और किसी शका से उसका दिल काँप रहा था। किसी आदमी मे स्वभाव के विपरीत आचरण देखकर शका होती ही है। आज दादाजी इतने उदार क्यों हो रहे हैं? आज तक इन्होंने किसी-को पूरा वेतन भी नहीं दिया, तरक्की करने का जिक्र ही क्या। आज विनय और दया की मूर्ति क्यों बने जाते हैं, इसमें अवश्य कोई रहस्य है। बाबूजी से कोई कपट-लीला तो नहीं करना चाहते हैं? जरूर यही बात है। कैसे इन्हें सचेत कर दूँ?

वह यही सोच रही थी कि गुरुसेवकसिंह कन्धे पर बन्दूक रखे, शिकारी कपड़े पहने एक कमरे से निकल आये और बोले—कहिए महाशय, दादाजी तो आज आपसे बहुत प्रसन्न मालूम होते थे।

चक्रधर ने कहा—यह उनकी कृपा है।

गुरुसेवक—कृपा के धोखे में न रहिएगा। ऐसे कृपालु नहीं हैं। इनका मारा पानी भी नहीं माँगता। इस डाइन ने इन्हें पूरा राक्षस बना दिया है। शर्म भी नहीं आती। आपसे जरूर कोई मतलब गाँठना चाहते हैं।

चक्रधर ने मुस्कराकर कहा—लौंगी अम्मा से आपका मेल नहीं हुआ?

गुरुसेवक—मेल? मैं उससे मेल करूँगा! मर जाय, तो कन्धा तक न दूँ। डाइन है, लका की डाइन, उसके हथकण्डों से बचते रहिएगा। वेतन कभी बाकी न रखिएगा। दादाजी को तो इसने बुद्धू बना छोड़ा है। दादाजी जब किसी पर सख्ती करते हैं तो तुरन्त घाव पर मरहम रखने पहुँच जाती है। आदमी धोखे में आकर समझता है, यह

दया और क्षमा की देवी है। वह क्या जाने कि यही आग लगानेवाली है और बुझाने-वाली भी। इसका चरित्र समझने के लिए मनोविज्ञान के किसी बड़े पण्डित की जरूरत है।

चक्रधर ने आकाश की ओर देखा, तो घटा घिर आई थीं। पानी बरसा ही चाहता था। उठकर बोले—आप इस विद्या में बहुत कुशल मालूम होते हैं।

जब वह बाहर निकल गये, तो गुरुसेवक ने मनोरमा से पूछा—आज दोनों इन्हें क्या पढ़ा रहे थे ?

मनोरमा—कोई खास बात तो नहीं थी।

गुरुसेवक—यह महाशय भी बने हुए मालूम होते हैं। सरल जीवनवालों से बहुत घबराता हूँ। जिसे यह राग अलापते देखो, समझ जाओ कि या तो उसके लिए अंगूर खट्टे हैं, या वह स्वांग रचकर कोई बड़ा शिकार मारना चाहता है।

मनोरमा—बाबूजी उन आदमियों में नहीं हैं।

गुरुसेवक—तुम क्या जानों। ऐसे गुरुघण्टालों को मैं खूब पहचानता हूँ।

मनोरमा—नहीं भाई साहब, बाबूजी के विषय में आप धोखा खा रहे हैं। महाराजा साहब इन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाना चाहते हैं, लेकिन यह मंजूर नही करते।

गुरुसेवक—सच! उस जगह का वेतन तो ४-५ सौ से कम न होगा।

मनोरमा—इससे क्या कम होगा। चाहें तो इन्हें अभी वह जगह मिल सकती है। राजा साहब इन्हें बहुत मानते हैं, लेकिन यह कहते हैं, मैं स्वाधीन रहना चाहता हूँ। यहाँ भी अपने घरवालो के बहुत दबाने से आते हैं।

गुरुसेवक—मुझे वह जगह मिल जाय, तो बड़ा मजा आये।

मनोरमा—मैं तो समझती हूँ, इसका दुगुना वेतन मिले, तो भी बाबूजी स्वीकार न करेंगे। सोचिए, कितना ऊँचा आदर्श है!

गुरुसेवक—मुझे किसी तरह वह जगह मिल-जाती, तो जिन्दगी बड़े चैन से कटती।

मनोरमा—अब गाँवों का सुधार न कीजिएगा ?

गुरुसेवक—वह भी करता रहूँगा, यह भी करता रहूँगा। राजमन्त्री होकर प्रजा की सेवा करने का जितना अवसर मिल सकता है, उतना स्वाधीन रहकर नहीं। कोशिश करके देखूँ, इसमें तो कोई बुराई नहीं है।

यह कहते हुए वह कमरे में चले गये।

मेघों का दल उमडा चला आता था। मनोरमा खिड़की के सामने खड़ी आकाश की ओर भयातुर नेत्रों से देख रही थी। अभी बाबूजी घर न पहुँचे होंगे। पानी आ गया तो जरूर भींग जायँगे। मुझे चाहिये था कि उन्हें रोक देती। भैया न आ जाते, तो शायद वह अभी खुद ही बैठते। ईश्वर करे, वह घर पहुँच गये हों।

२१

मुद्दत के बाद जगदीशपुर के भाग जगे। राजभवन आबाद हुआ। बरसात मे मकानो

की मरम्मत न हो सकती थी, इसलिए क्वार तक शहर ही में गुजर करना पड़ा। कातिक लगते ही एक ओर जगदीशपुर के राजभवन की मरम्मत होने लगी, दूसरी ओर गद्दी के उत्सव की तैयारियाँ शुरू हुईं। शहर से सामान लद लदकर जगदीशपुर जाने लगा। राजा साहब स्वयं एक बार रोज जगदीशपुर जाते, लेकिन रहते शहर में ही। रानियाँ जगदीशपुर चली गयी थीं और राजा साहब को अब उनसे चिढ़ सी हो गयी थी। घण्टे दो घण्टे के लिए भी वहाँ जाते तो सारा समय गृह-कलह सुनने में कट जाता था और कोई काम देखने की मुहलत न मिलती थी। रानियों में पहले ही बमचख मची रहती थी। राजा साहब ने जीवन का नया अध्याय शुरू कर दिया था।

राजा साहब ताकीद करते थे कि प्रजा पर जरा भी सख्ती न होने पाये। दीवान साहब से उन्होंने जोर देकर कह दिया था कि बिना पूरी मजदूरी दिये किसी से काम न लीजिए, लेकिन यह उनकी शक्ति के बाहर था कि आठों पहर बैठे रहें। उनके पास अगर कोई शिकायत पहुँचती, तो कदाचित् वह राज-कर्मचारियों को फाड़ खाते लेकिन प्रजा सहनशील होती है, जब तक प्याला भर न जाय, वह जबान नहीं खोलती। फिर गद्दी के उत्सव में थोड़ा बहुत कष्ट होना स्वाभाविक समझकर और भी कोई न बोलता था। अपना काम तो बारहों मास करते ही हैं, मालिक की भी तो कुछ सेवा होनी चाहिए। यह खयाल करके सभी लोग उत्सव की तैयारियों में लगे हुए थे। सुन रखा था कि राजा साहब बड़े दयालु, प्रजा-वत्सल पुरुष हैं, इससे लोग खुशी से इस अवसर पर योग दे रहे थे। समझते थे, महीने दो महीने का झंझट है, फिर तो चैन-ही-चैन है। रानी साहब के समय की सी धाँधली तो इनके समय में न होगी।

तीन महीने तक सारी रियासत के बढ़ई, मिस्त्री, दरजी, चमार, कहार सब दिल तोड़ कर काम करते रहे। चक्रधर को रोज खबरें मिलती रहती थीं कि प्रजा पर बड़े-बड़े अत्याचार हो रहे हैं, लेकिन वह राजा साहब से शिकायत करके उन्हें असमंजस में न डालना चाहते थे। अकसर खुद जाकर मजूरों और कारीगरों को समझाते थे। १५ ही मील का तो रास्ता था। रेलगाड़ी आध घण्टे में पहुँचा देती थी। इस तरह तीन महीने गुजर गये। राजभवन का कलेवर नया हो गया। सारे कस्बे में रोशनी के फाटक बन गये, तिलकोत्सव का विशाल पण्डाल तैयार हो गया। चारों तरफ भवन में, पण्डाल में, कस्बे में सफाई और सजावट नजर आती थी। कर्मचारियों को नई वरदियाँ बनवा दी गयीं। प्रान्त भर के रईसों के नाम निमन्त्रण-पत्र भेज दिये गये और रसद का सामान जमा होने लगा। बसन्त की ऋतु थी, चारों तरफ बसन्ती रंग की बहार नजर आती थी। राजभवन बसन्ती रंग से पुताया गया था। पण्डाल भी बसन्ती था। मेहमानों के लिए जो कैंप बनाये गये थे, वे भी बसन्ती थे। कर्मचारियों की वरदियाँ भी बसन्ती। दो मील के घेरे में बसन्ती ही-बसन्ती था। सूर्य के प्रकाश से सारा दृश्य कञ्चनमय हो जाता था। ऐसा मालूम होता था, मानो स्वयं ऋतुराज के अभिषेक की तैयारियाँ हो रही हैं।

लेकिन अब तक बहुत-कुछ काम बेगार से चल गया था। मजूरों को भोजन मात्र मिल

जाता था, अब नकद रुपये की जरूरत सामने आ रही थी। राजाओं का आदर सत्कार और अँगरेज हुक्काम की दावत तवाजा तो बेगार में न हो सकती थी! कलकत्ते से थिएटर की कम्पनी बुलायी गयी थी, मथुरा की रासलीला-मण्डली को नेवता दिया गया था। खर्च का तखमीना पाँच लाख से ऊपर था। प्रश्न था, ये रुपए कहाँ से आयें। खजाने में झंझी कौड़ी न थी! असामियों से छमाही लगान पहले ही वसूल किया जा चुका था। कोई कुछ कहता था, कोई कुछ। मुहूर्त आता जाता था और कुछ निश्चय न होता था। यहाँ तक कि केवल १५ दिन और रह गये।

सन्ध्या का समय था। राजा साहब उस्ताद मेंडूखाँ के साथ बैठे सितार का अभ्यास कर रहे थे। राज्य पाकर उन्होंने अब तक केवल यही एक व्यसन पाला था। वह कोई नयी बात करते हुए डरते रहते थे कि कहीं लोग कहने लगें कि ऐश्वर्य पाकर मतवाला हो गया, अपने को भूल गया। वह छोटे बड़े सभी से बड़ी नम्रता से बोलते थे और यथाशक्ति किसी टहलू पर भी न बिगड़ते थे। मेंडूखाँ इस वक्त उन्हे डाँट रहे थे—सितार बजाना कोई मुँह का नेवाला नहीं है—कि दीवान साहब और मुंशीजी आकर खड़े हो गये।

विशालसिंह ने पूछा—कोई जरूरी काम है?

ठाकुर—जरूरी काम न होता, तो हुजूर को इस वक्त क्यों कष्ट देने आता?

मुंशी—दीवान साहब तो आते हिचकते थे। मैंने कहा कि इन्तजाम की बात मे कैसी हिचक। चलकर साफ-साफ कहिए। तब डरते-डरते आये हैं।

ठाकुर—हुजूर, उत्सव को अब केवल एक सप्ताह रह गया है और अभी तक रुपए की कोई सबील नहीं हो सकी। अगर आज्ञा हो, तो किसी बैंक से ५ लाख कर्ज ले लिया जाय।

राजा—हरगिज नहीं। आपको याद है तहसीलदार साहब, मैंने आपसे क्या कहा था? मैंने उस वक्त तो कर्ज ही नहीं लिया, जब कौड़ी-कौडी का मुहताज था। कर्ज का तो आप जिक्र ही न करें।

मुंशी—हुजूर, कर्ज और फर्ज के रूप मे तो केवल जरा सा अन्तर है, पर अर्थ में जमीन और आसमान का फर्क है।

दीवान—तो अब महाराज क्या हुक्म देते हैं?

राजा—ये हीरे जवाहिरात ढेरों पड़े हुए हैं। क्यों न इन्हें निकाल डालिए? किसी जौहरी को बुलाकर उनके दाम लगवाइए।

दीवान—महाराज, इसमें तो रियासत की बदनामी है।

मुंशी—घर के जेवर ही तो आबरू हैं। वे घर मे गये और आबरू गयी।

राजा—हाँ, बदनामी तो जरूर है, लेकिन दूसरे उपाय ही क्या हैं?

दीवान—मेरी तो राय है कि असामियों पर हल पीछे १०) चन्दा लगा दिया जाय।

राजा—मैं अपने तिलकोत्सव के लिए असामियों पर जुल्म न करूँगा। इससे तो यही अच्छा है कि उत्सव ही न हो।

दीवान—महाराज, रियासतों में पुरानी प्रथा है। सब असामी खुशी से देंगे, किसी को आपत्ति न होगी।

मुन्शी—गाते-बजाते आयेंगे और दे जायँगे।

राजा—मैं किस मुँह से उनसे रुपए लूँ? गद्दी पर बैठ रहा हूँ, मेरे उत्सव के लिए असामी क्यों इतना जब्र सहें?

दीवान—महाराज, यह तो परस्पर का व्यवहार है। रियातस भी तो अवसर पड़ने पर हर तरह से असामियों की सहायता करती है। शादी गमी में रियासत से लकड़ियाँ मिलती हैं, सरकारी चरावर में लोगों की गौएँ चरती हैं। और भी कितनी बातें हैं। जब रियासत को अपना नुकसान उठाकर प्रजा की मदद करनी पड़ती है, तब प्रजा राजा की शादी-गमी में क्यों न शरीक हो?

राजा—अधिकाश असामी गरीब हैं, उन्हें कष्ट होगा।

मुंशी—हुजूर असामियों को जितना गरीब समझते हैं, उतने गरीब वे नहीं हैं। एक-एक आदमी लड़के-लड़कियों की शादी में हजारों उड़ा देता है। दस रुपए की रकम इतनी ज्यादा नहीं कि किसी को अखर सके। मेरा तो पुराना तजरबा है। तहसीलदार था, तो हाकिमों को डाली देने के लिए बात की बात में हजारों रुपए वसूल कर लेता था।

राजा—मैं असामियों को किसी भी हालत में कष्ट नहीं देना चाहता। इससे तो कहीं अच्छी बात होगी कि उत्सव को कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया जाय, लेकिन अगर आप लोगों का विचार है कि किसी को कष्ट न होगा और लोग खुशी से मदद देंगे, तो आप अपनी जिम्मेदारी पर वह काम कर सकते हैं। मेरे कानों तक कोई शिकायत न आये।

दीवान—हुजूर, शिकायत तो थोड़ी बहुत हर हालत में होती ही है। इससे बचना असम्भव है। अगर कोई शिकायत न होगी, तो यही होगी कि महाराज साहब की गद्दी हो गयी और हमारा मुँह भी न मीठा हुआ, कोई जलसा तक न हुआ। अगर किसी से कुछ न लीजिए, केवल तिलकोत्सव में शरीक होने के लिए बुलाइए, तब भी लोग शिकायत से बाज न आयेंगे। नेवते को तलबी समझेंगे और रोयेंगे कि हम अपने काम-धन्धे छोड़कर कैसे जायँ। रोना तो उनकी घुट्टी में पड़ गया है। रियासत का कोई नौकर जा पड़ता है, तो उसे उपले तक नहीं मिलते, और कोई धूर्त जटा बढ़ाकर पहुँच जाता है, तो महीनों उसका आदर सत्कार होता है। राजा और प्रजा का सम्बन्ध ही ऐसा है। प्रजा-हित के लिए भी कोई काम कीजिए, तो उसमें भी लोगों को शका होती है। हल पीछे १०) बैठा देने से कोई ५ लाख रुपये हाथ आयँगे। रही रसद, वह तो बेगार में मिलती ही है। आपकी अनुमति की देर है।

मुशी—जब सरकार ने यह कह दिया कि आप अपनी जिम्मेदारी पर वसूल कर सकते हैं, तो अनुमति का क्या प्रश्न? इसका मतलब तो इतना गहरा नहीं है कि बहुत ढूँढने

से मिले। आप महाजनों को देखते हैं, मालिक मुनीम को लिखता है कि फलाँ काम के लिए रुपया दे दो, मुनीम हीले हवाले करके टाल देता है। हमारी अँगरेजी सरकार ही को देखिए। ऊपरवाले हुक्काम कितनी मुलायमियत से बातें करते हैं; लेकिन उनके मातहत खूब जानते हैं कि किसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए। चलिए, अब हुजूर को तकलीफ न दीजिए। मँझूखाँ, बस यही समझ लो कि निहाल हो जाओगे।

राजा—बस, इतना खयाल रखिए कि किसी को कष्ट न होने पाये। आपको ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि आसामी लोग सहर्ष आकर शरीक हों।

मुशी—हुजूर का फरमाना बहुत वाजिब है। अगर हुजूर सख्ती करने लगेंगे, तो उन गरीबों के आँसू कौन पोछेगा। उन्हें तसकीन कौन देगा। हुकूमत करने के लिए तो आपके गुलाम हम हैं। सूरज जलता भी है, रोशनी भी देता है। जलानेवाले हम हैं, रोशनी देनेवाले आप हैं। दुआ का हक आपका है, गालियों का हक हमारा। चलिए, दीवान साहब, अब हुजूर को सितार का शौक करने दीजिए।

दोनों आदमी यहाँ से चले, तो दीवान साहब ने कहा—ऐसा न हो कि शोर-गुल मचे तो हमारी जान आफत में फँसे।

मुंशीजी बोले—यह सब बगला भगत पन है। मैं तो रुख पहचानता हूँ। गरीबों का जिक्र ही क्या, हमें कभी एक पैसा का नुकसान हो जाता है, तो कितना बुरा मालूम होता है। जिससे आप १०) ऐंठ लेंगे, क्या वह खुशी से दे देगा? इसका मतलब यही है कि धड़ल्ले से रुपए की वसूली कीजिए। किसी राजा ने आज तक न कहा होगा कि प्रजा को सताकर रुपये वसूल कीजिए। लेकिन चन्दे जब वसूल होने लगे और शोर मचा, तो किसी ने कर्मचारियों की तम्बीह नहीं की। यही हमेशा से होता आया है और यही अब भी हो रहा है।

हुक्म मिलने की देर थी। कर्मचारियों के हाथ तो खुजला रहे थे। वसूली का हुक्म पाते ही बाग-बाग हो गये। फिर तो वह अन्धेर मचा कि सारे इलाके में कुहराम पड़ गया। आसामियों ने नये राजा साहब से दूसरी आशाएँ बाँध रखी थीं। यह बला सिर पड़ी, तो झल्ला गये। यहाँ तक कि कर्मचारियों के अत्याचार देखकर चक्रधर का भी खून उबल पड़ा। समझ गये कि राजा साहब भी कर्मचारियों के पंजे मे आ गये। उनसे कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है। चारों तरफ लूट-खसोट हो रही थी। गालियाँ और ठोंक-पीट तो साधारण बात थी, किसी के बैल खोल लिए जाते थे, किसी की गाय छीन ली जाती थी, कितनों ही के खेत कटवा लिये गये। बे-दखली और इजाफे की धमकियाँ दी जाती थीं। जिसने खुशी से दिये, उसका तो १०) ही मे गला छूटा। जिसने हीले-हवाले किये, कानून बघारा, उसे १०) के बदले २०), ३०), ४०) देने पड़े। आखिर विवश होकर एक दिन चक्रधर ने राजा साहब से शिकायत कर ही दी।

राजा साहब ने त्योरी बदल कर कहा—मेरे पास तो आज तक कोई आसामी शिका-

यत करने नहीं आया। जब उनको कोई शिकायत नहीं है, तो आप उनकी तरफ से क्या वकालत कर रहे हैं?

चक्रधर--आपको आसामियों का स्वभाव तो मालूम होगा? उन्हें आपसे शिकायत करने का क्योंकर साहस हो सकता है?

राजा--यह मैं नहीं मानता। आसामी ऐसे बे सींग की गाय नहीं होते। जिसको किसी बात की खबर होती है, वह चुप नहीं बैठा रहता। उसका चुप रहना ही इस बात का प्रमाण है कि उसे खबर नहीं, या है तो बहुत कम। आपके पिताजी और दीवान साहब यही दो आदमी करता धरता हैं, आप उनसे क्यों नहीं कहते?

चक्रधर--तो आपसे कोई आशा न रखूँ?

राजा--मैं अपने कर्मचारियों से अलग कुछ नहीं हूँ।

चक्रधर ने इसका और कुछ जवाब न दिया। दीवान साहब या मुंशीजी से इस मामले में सहायता की याचना करना अन्धे के आगे रोना था। क्रोध तो ऐसा आया कि इसी वक्त जगदीशपुर चलूँ और सारे आदमियों से कह दूँ, अपने घर जाओ। देखूँ, लोग क्या करते हैं। समिति के सेवकों के साथ रियासत में दौरा करना शुरू करूँ, देखूँ, लोग कैसे रुपये वसूल करते हैं, पर राजा साहब की बदनामी का खयाल करके रुक गये। अभी राजभवन ही में थे कि मुंशीजी अपना पुराना तहसीलदारी के दिनों का ओवरकोट डाटे, मोटरकार से उतरे और इन्हें देखकर बोले--तुम यहाँ क्या करने आये थे? अपने लिए कुछ नहीं कहा?

चक्रधर--अपने लिए क्या कहता? सुनता हूँ, रियासत में बड़ा अन्धेर मचा हुआ है।

वज्रधर--यह सब तुम्हारे आदमियों की शरारत है। तुम्हारी समिति के आदमी जा जाकर आसामियों को भड़काते रहते हैं। इन्हीं लोगों की शह पाकर के सब शेर हो गये हैं, नहीं तो किसी की मजाल न थी कि चूँ करता। न जाने तुम्हारी अक्ल कहाँ गयी है?

चक्रधर--हम लोग तो केवल इतना ही चाहते हैं कि आसामियों पर सख्ती न की जाय और आप लोगों ने इसका वादा भी किया था, फिर यह मार-धाड़ क्यों हो रही है?

वज्रधर--इसीलिए कि आसामियों से कह दिया गया है कि राजा साहब किसी पर जब्र नहीं करना चाहते। जिसकी खुशी हो दे, जिसकी खुशी हो न दे। तुम अपने आदमियों को बुला लो, फिर देखो कितनी आसानी से काम हो जाता है। नशे का जोश ताकत नहीं है। ताकत वह है, जो अपने बदन में हो। जब तक प्रजा खुद न सँभलेगी, कोई उसकी रक्षा नहीं कर सकता। तुम कहाँ-कहाँ उन पर हाथ रखते फिरोगे? चौकीदार से लेकर बड़े हाकिम तक सभी उनके दुश्मन हैं। मान लो, हमने छोड़ दिया; मगर थानेदार है, पटवारी है, कानूनगो है, माल के हुक्काम हैं। सभी उनकी जान

के गाहक हैं। तुम फकीर बन जाओ, सारी दुनिया तो तुम्हारे लिए सन्यास न लेगी? तुम आज ही अपने आदमियों को बुला लो। अब तक तो हम लोग उनका लिहाज करते आये हैं; लेकिन रियासत के सिपाही उनसे बेतरह बिगड़े हुए हैं। ऐसा न हो कि मार पीट हो जाय।

चक्रधर यहाँ से अपने आदमियों को बुला लेने का वादा करके तो चले; लेकिन दिल में आगा पीछा हो रहा था। कुछ समझ में न आता था कि क्या करना चाहिए। इसी सोच में पड़े हुए मनोरमा के यहाँ चले गये।

मनोरमा उन्हें उदास देखकर बोली—आप बहुत चिन्तित से मालूम होते हैं? घर में तो सब कुशल है?

चक्रधर—हाँ, कोई बात नहीं। लाओ, देखूँ तुमने क्या काम किया है?

मनोरमा—आप मुझसे छिपा रहे हैं। आप जब तक न बतायेंगे, मैं कुछ न पढ़ूँगी। आप तो यों कभी मुरझाये न रहते थे।

चक्रधर—क्या करूँ मनोरमा, अपनी दशा देखकर कभी-कभी रोना आ जाता है। सारा देश गुलामी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है, फिर भी हम अपने भाइयों की गर्दन पर छुरी फेरने से बाज नहीं आते। इतनी दुर्दशा पर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं। जिनसे लड़ना चाहिए, उनके तो तलुवे चाटते हैं और जिनसे गले मिलना चाहिए, उनकी गरदन दबाते हैं। और यह सारा जुल्म हमारे पढ़े-लिखे भाई ही कर रहे हैं। जिसे कोई अख्तियार मिल गया, वह फौरन दूसरों को पीसकर पी जाने की फिक्र करने लगता है। विद्या ही से विवेक होता है; पर जब रोगी असाध्य हो जाता है, दवा भी उस पर विष का काम करती है। हमारी शिक्षा ने हमें पशु बना दिया है। राजा साहब की जात से लोगों को कैसी कैसी आशाएँ थीं; लेकिन अभी गद्दी पर बैठे छः महीने भी नहीं हुए और इन्होंने भी वही पुराना ढङ्ग अख्तियार कर लिया। प्रजा से डण्डों के जोर से रुपये वसूल किये जा रहे हैं और कोई फरियाद नहीं सुनता। सबसे ज्यादा रोना तो इस बात का है कि दीवान साहब और मेरे पिताजी ही राजा साहब के मन्त्री और इस अत्याचार के मुख्य कारण हैं।

सरल हृदय प्राणी अन्याय की बात सुनकर उत्तेजित हो जाते हैं। मनोरमा ने उद्दण्ड होकर कहा—आप असामियों से क्यों नहीं कहते कि किसी को एक कौड़ी भी न दे। कोई देगा ही नहीं, तो ये लोग कैसे ले लेंगे?

चक्रधर को हँसी आ गयी। बोले—तुम मेरी जगह होतीं, तो असामियों को मना कर देतीं?

मनोरमा—अवश्य। खुलम खुल्ला कहती, खबरदार! राजा के आदमियों को कोई एक पैसा भी न दे। मैं तो राजा के आदमियों को इतना पिटवाती कि फिर इलाके में जाने का नाम ही न लेते।

चक्रधर ने फिर हँसकर कहा—और दीवान साहब से क्या कहतीं?

मनोरमा—उनसे भी यही कहती कि आप चुपके से घर चले जाइए, नहीं तो अच्छा न होगा। आप मेरे पूज्य पिता हैं, मैं आपकी सेवा करूँगी, लेकिन आपको दूसरों का खून न चूसने दूँगी। गरीबों को सताकर अपना घर भर लिया, तो कौन सा बड़ा तीर मार लिया। वीर तो जब बखानूँ, जब सबलों के ताल ठोंकिए। अभी एक गोरा आ जाय, तो घर में दुम दबाकर भागेंगे। उस वक्त जबान भी न खुलेगी। उससे जरा आँखें मिलाइये तो देखिए, ठोकर जमाता है या नहीं। उससे तो बोलने की हिम्मत नहीं, बेचारे दीनों को सताते फिरते हैं। यह तो मरे को मारना हुआ। इसे हुकूमत नहीं कहते। यह चोरी भी नहीं है। यह केवल मुरदे और गिद्ध का तमाशा है।

चक्रधर ये बातें सुनकर पुलकित हो उठे। मुस्कराकर बोले—अगर दीवान साहब खफा हो जाते?

मनोरमा—तो खफा हो जाते! किसी के खफा होने के डर से सच्ची बात पर परदा थोड़ा ही डाला जाता है। अगर आज वह आ गये, तो मैं आज ही जिक्र करूँगी।

यह कहते कहते मनोरमा कुछ चिन्तित-सी हो गयी और चक्रधर भी विचार में पड़ गये। दोनों के मन में एक ही भाव उठ रहे थे—इसका फल क्या होगा। वह सोचती थी, कहीं लालाजी ने गुस्से में आकर बाबूजी को अलग कर दिया तो? चक्रधर सोच रहे थे, यह शंका मुझे क्यों इतना भयभीत कर रही है! इस विषय पर फिर कुछ बातचीत न हुई, लेकिन चक्रधर यहाँ से पढ़ाकर चले, तो उनके मन में प्रश्न हो रहा था—क्या अब यहाँ मेरा आना उचित है। आज उन्होंने विवेक के प्रकाश में अपने अन्तस्तल को देखा, तो उसमें कितने ही ऐसे भाव छिपे हुए थे, जिन्हें यहाँ न रहना चाहिए था। रोग जब तक कष्ट न देने लगे, हम उसकी परवा नहीं करते। बालक की गालियाँ हँसी में उड़ जाती हैं, लेकिन सयाने लड़के की गालियाँ कौन सहेगा?

१४

गद्दी के कई दिन पहले ही से मेहमानों का आना शुरू हो गया और तीन दिन बाकी ही थे कि सारा कैम्प भर गया। दीवान साहब ने कैम्प ही में बाजार लगवा दिया था, वहीं रसद पानी का भी इन्तजाम था। राजा साहब स्वयं मेहमानों की खातिरदारी करते रहते थे, किन्तु जमघट बहुत बड़ा था। आठों पहर हरबोंग-सा मचा रहता था।

बड़े-बड़े नरेश आये थे। कोई चुने हुए दरबारियों के साथ, कोई लाव लश्कर लिये हुए। कहीं ऊदी वर्दियों की बहार थी, तो कहीं केसरिये बाने की। कोई रत्नजटित आभूषण पहने, कोई अँगरेजी सूट से लैस, कोई इतना विद्वान् कि विद्वानों में शिरोमणि, कोई इतना मूर्ख कि मूर्ख-मण्डली की शोभा! कोई पाँच घण्टे स्नान करता था और कोई सात घण्टे पूजा। कोई दो बजे रात को सोकर उठता था, कोई दो बजे दिन को। रात-दिन तबले ठनकते रहते थे। कितने महाशय ऐसे भी थे, जिनका दिन अँगरेजी कैम्प का चक्कर लगाने ही में कटता था। दो-चार सज्जन प्रजावादी भी थे। चक्रधर और उनकी टुकड़ी के और लोग इन लोगों का सेवा-सत्कार [illegible]

किन्तु विद्वान या मूर्ख, राजसत्ता के स्तम्भ या लोकसत्ता के भक्त, सभी अपने को ईश्वर का अवतार समझते थे, सभी गरूर के नशे में मतवाले, सभी विलासिता में डूबे हुए, एक भी ऐसा नहीं, जिसमें चरित्रबल हो, सिद्धान्त प्रेम हो, मर्यादा-भक्ति हो।

नरेशों की सम्मान लालसा पग-पग पर अपना जलवा दिखाती थी! वह मेरे आगे क्यों चले, उन्हें मेरे पीछे रहना चाहिए था। उनका पूर्वज हमारे पुरखाओं का कर-दाता था। बातें करने में, अभिवादन में, भोजन करने के लिए बैठने में, महफिल में, पान और इलायची लेने में, यही अनैक्य और द्वेष का भाव प्रकट होता रहता था। राजा विशालसिंह और कर्मचारियों का बहुत सा समय चिरौरी विनती करने में कट जाता था। कभी-कभी तो इन महान् पुरुषों को शान्त करने के लिए राजा साहब को हाथ जोड़ना और उनके पैरों पर सिर रखना पड़ता था। दिल में पछताते थे कि व्यर्थ ही यह आडम्बर रचा। भगवान किसी भाँति कुशल से यह उत्सव समाप्त कर दें, अब कान पकड़े कि ऐसी भूल कभी न होगी! किसी अनिष्ट की शंका उन्हें हरदम उद्विग्न रखती थी। मेहमानों से तो काँपते रहते थे; पर अपने आदमियों से जरा-जरा सी बात पर बिगड़ जाते थे, जो मुँह में आता बक डालते थे।

अगर शान्ति थी तो अँगरेजी कैम्प में। न नौकरों की तकरार थी, न बाजारवालों से जूती-पैजार थी। सब की चाय का एक समय, डिनर का एक समय, विश्राम का एक समय, मनोरञ्जन का एक समय। सब एक साथ थिएटर देखते, एक साथ हवा खाने जाते। न बाहर गन्दगी थी, न मन में मलिनता। नरेशों के कैम्प में पराधीनता का राज्य था और अँगरेजी कैम्प में स्वाधीनता का। स्वाधीनता सद्गुणों को जगाती है, पराधीनता दुर्गुणों को।

उधर रनिवास में भी खूब जमघट था। महिलाओं का रंग रूप देखकर आँखों में चकाचौंध हो जाती थी। रत्न और कञ्चन ने उनकी कान्ति को और भी अलंकृत कर दिया था। कोई पारसी वेश में थी, कोई अँगरेजी वेश में और कोई अपने ठेठ स्वदेशी ठाट में। युवतियाँ इधर-उधर चहकती फिरती थीं, प्रौढ़ाएँ आँखें मटका रही थीं। वासना उम्र के साथ बढ़ती जाती है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आँखों के सामने था। अँग्रेजी फैशनवालियाँ औरों को गँवारिनें समझती थीं; और गँवारिनें उन्हें कुलटा कहती थीं। मजा यह था कि सभी महिलाएँ ये बातें अपनी महरियों और लौंडियों से कहने में भी संकोच न करती थीं। ऐसा मालूम होता था कि ईश्वर ने स्त्रियों को निन्दा और परिहास के लिए ही रचा है। मन और तन में कितना अन्तर हो सकता है, इसका कुछ अनुमान हो जाता था। मनोरमा को महिलाओं की सेवा सत्कार का भार सौंपा गया था; किन्तु उसे यह यह चरित्र देखने में विशेष आनन्द आता था। उसे उनके पास बैठने में घृणा होती थी। हाँ, जब रानी रामप्रिया को बैठे देखती, तो उनके पास जा बैठती। इतने काँच के टुकड़ों में उसे वही एक रत्न नजर आता था।

मेहमानों के आदर सत्कार की तो यह धूम थी और वे मजदूर, जो छाती फाड़-

फाड़कर काम कर रहे थे, भूखों मरते थे। कोई उनकी खबर तक न लेता था। काम लेने को सब थे, पर भोजन पूछनेवाला कोई न था। चमार पहर रात रहे घास छीलने जाते, मेहतर पहर रात से सफाई करने लगते, कहार पहर रात से पानी खींचना शुरू करते, मगर कोई उनका पुरसॉहाल न था। चपरासी बात बात पर उन्हें गालियाँ सुनाते, क्योंकि उन्हें खुद बात-बात पर डाट पड़ती थी। चपरासी सहते थे, क्योंकि उन्हें दूसरों पर अपना गुस्सा उतारने का मौका मिल जाता था। बेगारों से न सहा जाता था, इसी लिए कि उनकी आँतें जलती थीं। दिन भर धूप में जलते, रात-भर क्षुधा की आग में। रानी के समय में बेगार इससे भी ज्यादा ली जाती थी, लेकिन रानी को स्वय उन्हें खिलाने पिलाने का खयाल रहता था। बेचारे अब उन दिनों को याद कर-करके रोते थे। क्या सोचते थे, क्या हुआ? असन्तोष बढ़ता जाता था। न-जाने कब सब-के-सब जान पर खेल जायँ, हड़ताल कर दें, न-जाने कब बारूद में चिनगारी पड़ जाय। दशा ऐसी भयकर हो गयी थी। राजा साहब को नरेशों ही की खातिरदारी से फुरसत न मिलती थी, यह सत्य है, किन्तु राजा के लिए ऐसे बहाने शोभा नहीं देते। उसकी निगाह चारों तरफ दौड़नी चाहिए। अगर उसमें इतनी योग्यता नहीं, तो उसे राज्य करने का कोई अधिकार नहीं।

सन्ध्या का समय था। चारों तरफ चहल-पहल मची हुई थी। तिलक का मुहूर्त निकट आ गया था। हवन की तैयारियाँ हो रही थी। सिपाहियों को वर्दी पहनकर खड़े हो जाने की आज्ञा दे दी गयी थी कि सहसा मजदूरों के बाड़े से रोने चिल्लाने की आवाजें आने लगीं। किसी कैम्प में घास न थी और ठाकुर हरिसेवक हटर लिये हुए चमारों को पीट रहे थे। मुशी वज्रधर की आँखें मारे क्रोध के लाल हो रही थीं। कितना अनर्थ है! सारा दिन गुजर गया और अभी तक किसी कैम्प में घास नहीं पहुँची! चमारों का यह हौसला! ऐसे बदमाशों को गोली मार देनी चाहिए।

एक चमार बोला—मालिक, आपको अख्तियार है। मार डालिए मुदा पेट बाँध कर काम नहीं होता।

चौधरी ने हाथ बाँधकर कहा—हुजूर, घास तो रात ही को पहुँचा दी गई थी, मैं आप जाकर रखवा आया था। हाँ, इस बेला अभी नहीं पहुँची। आधे आदमी तो माँदे पड़े हुए हैं। क्या करूँ?

मुशी—बदमाश! झूठ बोलता है, सुअर, डैमफूल, ब्लाडी, रैस्केल, शैतान का बच्चा, अभी पोलो खेल होगा, घोड़े बिना खाये कैसे दौड़ेंगे?

एक युवक ने कहा—हम लोग तो बिना खाये आठ दिन से घास दे रहे हैं, घोड़े क्या बिना खाये एक दिन भी न दौड़ेंगे? क्या हम घोड़े से भी गये गुजरे हैं?

चौधरी डण्डा लेकर युवक को मारने दौड़ा, पर उसके पहले ही ठाकुर साहब ने झपटकर उसे चार पाँच हटर सड़ाप सड़ाप लगा दिये। नगी देह, चमड़ा फट गया, खून निकल आया।

जौहर दिखायें। राजा साहब अपने खेमे में तिलक के भड़कीले-सजीले वस्त्र धारण कर रहे थे। एक आदमी उनकी पाग सँवार रहा था। इन वस्त्रों में उनकी प्रतिभा भी चमक उठी थी। वस्त्रों में इतनी तेज बढ़ानेवाली शक्ति है, इसकी उन्हें कभी कल्पना भी न थी। यह खबर सुनी, तो तिलमिला गये। वह अपनी समझ में प्रजा के सच्चे भक्त थे, उन पर कोई अत्याचार न होने देते थे, उनको लूटना नहीं, उनका पालन करना चाहते थे। जब वह प्रजा पर इतना प्राण देते थे, तो क्या प्रजा का धर्म न था कि वह भी उन पर प्राण देती, और फिर शुभ अवसर पर! जो लोग इतने कृतघ्न हैं, उन पर किसी तरह की रिआयत करना व्यर्थ है। दयालुता दो प्रकार की होती है—एक में नम्रता होती है, दूसरी में आत्म-प्रशंसा। राजा साहब की दयालुता इसी प्रकार की थी। उन्हें यश की बड़ी इच्छा थी, पर यहाँ इस शुभ-अवसर पर इतने राजाओं रईसों के सामने ये दुष्ट लोग उनका अपमान करने पर तुले हुए थे। यह उन पाजियों की घोर नीचता थी और इसका जवाब इसके सिवा और कुछ नहीं था कि उन्हें खूब कुचल दिया जाता। सच है, सीधे का मुँह कुत्ता चाटता है। मैं जितना ही इन लोगों को संतुष्ट रखना चाहता हूँ, उतने ही ये लोग शेर हो जाते हैं। चलकर अभी उन्हें इसका मजा चखाता हूँ। क्रोध से बावले होकर वह अपनी बन्दूक लिये खेमे से निकल आये और कई आदमियों के साथ बाड़े के द्वार पर जा पहुँचे।

चौधरी इतनी देर में झाड़-पोंछकर उठ बैठा था। राजा को देखते ही रोकर बोला—दुहाई है महाराज की! सरकार, बड़ा अन्धेर हो रहा है। गरीब लोग मारे जाते हैं।

राजा—तुम सब पहले बाड़े के द्वार से हट जाओ, फिर जो कुछ कहना है, मुझसे कहो। अगर किसी ने बाड़े के बाहर पाँव रखा, तो जान से मारा जायगा। दगा किया, तो तुम्हारी जान की खैरियत नहीं।

चौधरी—सरकार ने हमको काम करने के लिए बुलाया है कि जान लेने के लिए?

राजा—काम न करोगे, तो जान ली जायगी।

चौधरी—काम तो आपका करें, खाने किसके घर जायँ?

राजा—क्या बेहूदा बातें करता है, चुप रहो। तुम सब-के-सब मुझे बदनाम करना चाहते हो। हमेशा से लात खाते चले आये हो और वही तुम्हें अच्छा लगता है। मैंने तुम्हारे साथ भलमनसी का बर्ताव करना चाहा था, लेकिन मालूम हो गया कि लातों के देवता बातों से नहीं मानते। तुम नीच हो और नीच लातों के बगैर सीधा नहीं होता। तुम्हारी यही मरजी है, तो यही सही।

चौधरी—जब लात खाते थे, तब खाते थे। अब न खायेंगे।

राजा—क्यों? अब कौन सुरखाब के पर लग गये हैं?

चौधरी—वह समय ही लद गया है। क्या अब हमारी पीठ पर कोई नहीं कि मार खाते रहें और मुँह न खोलें? अब तो सेवा-सम्मती हमारी पीठ पर है। क्या वह कुछ भी

न्याय न करेगी ? हमारी राय से मेम्बर चुने जाते हैं; क्या कोई हमारी फरियाद न सुनेगा ?

राजा--अच्छा ! तो तुझे सेवा-समितिवालों का घमण्ड है ?

चौधरी--हई है, वह हमारी रक्षा करती है, तो क्यों न उसका घमण्ड करें ?

राजा साहब ओठ चबाने लगे--तो यह समितिवालों की कारस्तानी है। चक्रधर मेरे साथ कपट-चाल चल रहे हैं, लाला चक्रधर ! जिसका बाप मेरी खुशामद की रोटियाँ खाता है। जिसे मित्र समझता था, वही आस्तीन का साँप निकला। देखता हूँ, वह मेरा क्या कर लेता है। एक रुक्का बड़े साहब के नाम लिख दूँ, तो बचा के होश ठीक हो जायँ। इन मूर्खों के सिर से यह घमण्ड निकाल ही देना चाहिए। यह जहरीले कीड़े फैल गये, तो आफत मचा देंगे।

चौधरी तो ये बातें कर रहा था, उधर बाड़े में घोर कोलाहल मचा हुआ था। सरकारी आदमियों की सूरत देखकर जिनके प्राण-पखेरू उड़ जाते थे, वे इस समय निःशंक और निर्भय बन्दूकों के सामने मरने को तैयार खड़े थे। द्वार से निकलने का रास्ता न पाकर कुछ आदमियों ने बाड़े की लकड़ियाँ और रस्सियाँ काट डालीं और हजारों आदमी उधर से भड़भड़ाकर निकल पड़े, मानों कोई उमड़ी हुई नदी बाँध तोड़कर निकल पड़े। उसी वक्त एक ओर सशस्त्र पुलिस के जवान और दूसरी ओर से चक्रधर, समिति के कई युवकों के साथ आते हुए दिखायी दिये। चक्रधर ने निश्चय कर लिया था कि राजा साहब के आदमियों को उनके हाल पर छोड़ देंगे, लेकिन यहाँ की खबरें सुन सुनकर उनके कलेजे पर साँप-सा लोटता रहता था। ऐसे नाजुक मौके पर दूर खड़े होकर तमाशा देखना उन्हें लज्जाजनक मालूम होता था। अब तक तो वह दूर ही से आदमियों को दिलासा देते रहे, लेकिन आज की खबरों ने उन्हें यहाँ आने के लिए मजबूर कर दिया।

उन्हें देखते ही हड़तालियों में जान-सी पड़ गयी, जैसे अबोध बालक अपनी माता को देखकर शेर हो जाय। हजारों आदमियों ने घेर लिया--

'भैया आ गये ! भैया आ गये !' की ध्वनि से आकाश गूँज उठा।

चक्रधर को यहाँ की स्थिति उससे कहीं भयावह जान पड़ी, जितना उन्होंने समझा था। राजा साहब को यह जिद कि कोई आदमी यहाँ से जाने न पाये। आदमियों को यह जिद कि अब हम यहाँ एक क्षण भी न रहेंगे। सशस्त्र पुलिस सामने तैयार। सबसे बड़ी बात यह कि मुंशी वज्रधर खुद एक बन्दूक लिये पैंतरे बदल रहे थे, मानों सारे आदमियों को कच्चा ही खा जायँगे।

चक्रधर ने ऊँची आवाज से कहा--क्यों भाइयों, तुम मुझे अपना मित्र समझते हो या शत्रु ?

चौधरी--भैया, यह भी कोई पूछने की बात है। तुम हमारे मालिक हो, स्वामी हो सहाय हो ! क्या आज तुम्हें पहली ही बार देखा है ?

चक्रधर—तो तुम्हें विश्वास है कि मैं जो कुछ कहूँगा और करूँगा, वह तुम्हारे ही भले के लिए होगा?

चौधरी—मालिक, तुम्हारे ऊपर विश्वास न करेंगे, तो और किस पर करेंगे? लेकिन इतना समझ लीजिए कि हम और सब कर सकते हैं, यहाँ नहीं रह सकते। यह देखिए (पीठ दिखाकर), कोड़े खाकर यहाँ किसी तरह न रहूँगा।

चक्रधर इस भीड़ से निकल कर सीधे राजा साहब के पास आये और बोले—महाराज, मैं आपसे कुछ विनय करना चाहता हूँ।

राजा साहब ने त्योरियाँ बदलकर कहा—मैं इस वक्त कुछ नहीं सुनना चाहता।

चक्रधर—आप कुछ न सुनेंगे, तो पछतायेंगे।

राजा—मैं इन सबों को गोली मार दूँगा।

चक्रधर—दीन प्रजा के रक्त से राजतिलक लगाना किसी राजा के लिए मंगलकारी नहीं हो सकता। प्रजा का आशीर्वाद ही राज्य की सबसे बड़ी शक्ति है। मैं आपका सेवक हूँ, आपका शुभचिन्तक हूँ, इसी लिए आपकी सेवा में आया हूँ। मुझे मालूम है कि आपके हृदय में कितनी दया है और प्रजा से आपको कितना स्नेह है। यह सारा तूफान अयोग्य कर्मचारियों का खड़ा किया हुआ है। उन्हीं के कारण आज आप उन लोगों के रक्त के प्यासे बन गये हैं, जो आपकी दया और कृपा के प्यासे हैं। ये सभी आदमी इस वक्त झल्लाये हुए हैं। गोली चलाकर आप उनके प्राण ले सकते हैं, लेकिन उनका रक्त केवल इसी बाड़े में न सूखेगा, यह सारा विस्तृत कैंप उस रक्त से सिंच जायगा, उसकी लहरों के झोंके से यह विशाल मण्डप उखड़ जायगा और यह आकाश में फहराती हुई ध्वजा भूमि पर गिर पड़ेगी। अभिषेक का दिन दान और दया का है, रक्तपात का नहीं। इस शुभ अवसर पर एक हत्या भी हुई, तो वह सहस्रों रूप धारण करके ऐसा भयंकर अभिनय दिखायेगी कि सारी रियासत में हाहाकार मच जायगा।

राजा साहब अपनी टेक पर अड़ना जानते थे, किन्तु इस समय उनका दिल काँप उठा। वही प्राणी, जो दिन-भर गालियाँ बकता है, प्रातःकाल कोई मिथ्या शब्द मुँह से नहीं निकलने देता। वही दूकानदार, जो दिन भर टेनी मारता है, प्रातःकाल ग्राहक से मोल जोल तक नहीं करता। शुभ मुहूर्त पर हमारी मनोवृत्तियाँ धार्मिक हो जाती हैं। राजा साहब कुछ नरम होकर बोले—मैं खुद नहीं चाहता कि मेरी तरफ से किसी पर अत्याचार किया जाय, लेकिन इसके साथ ही यह भी नहीं चाहता कि प्रजा मेरे सिर पर चढ जाय। इन लोगों को अगर कोई शिकायत थी, तो इन्हें आकर मुझसे कहना चाहिए था। अगर मैं न सुनता, तो इन्हें अख्तियार था, जो चाहते करते, पर मुझसे न कहकर इन लोगों ने हेकड़ी करनी शुरू की, रात घोड़ों को घास नहीं दी और इस वक्त भागे जाते हैं। मैं यह घोर अपमान नहीं सह सकता।

चक्रधर—आपने इन लोगों को अपने पास आने का अवसर कब दिया? आपके द्वारपाल इन्हें दूर ही से भगा देते थे। आपको मालूम है कि इन गरीबों को एक सप्ताह

से कुछ भोजन नहीं मिला ?

राजा—एक सप्ताह से भोजन नहीं मिला! यह आप क्या कहते हैं? मैंने सख्त ताकीद कर दी थी कि हर एक मजदूर को इच्छा-पूर्ण भोजन दिया जाय। क्यों दीवान साहब, क्या बात है?

हरिसेवक—धर्मावतार, आप इन महाशय की बातों में न आइए। यह सारी आग इन्हीं को लगायी हुई है। प्रजा को बहकाना और भड़काना इन लोगों ने अपना धर्म बना रखा है। यहाँ से हर एक आदमी को दोनों वक्त भोजन दिया जाता था।

मुंशी—दीनबन्धु, यह लड़का बिलकुल नासमझ है। दूसरे ने जो कुछ कह दिया, उसे सच समझ लेता है। तुमसे किसने कहा बेटा, कि आदमियों को भोजन नहीं मिलता था? भण्डारी तो मैं हूँ, मेरे सामने जिन्स तौली जाती थी। मैं पूछ पूछकर देता था। बारातियों की भी कोई इतनी खातिर न करता होगा। इतनी बात भी न जानता, तो तहसीलदारी क्या खाक करता।

राजा—मै इसकी पूछ-ताछ करूँगा।

हरिसेवक—हुजूर, इन्हीं लोगों ने आदमियों को उभारकर सरकश बना दिया है। ये लोग सबसे कहते फिरते हैं कि ईश्वर ने सभी मनुष्यों को बराबर-बराबर बनाया है, किसी को तुम्हारे ऊपर राज्य करने का अधिकार नहीं है, किसी को तुमसे बेगार लेने का अधिकार नहीं। प्रजा ऐसी बातें सुन-सुनकर शेर हो गयी है।

राजा—इन बातों मे तो मुझे कोई बुराई नहीं नजर आती। मैं खुद प्रजा से यही बातें कहना चाहता हूँ।

हरिसेवक—हुजूर, ये लोग कहते हैं, जमीन के मालिक तुम हो। जो जमीन से बीज उगाये, वही उसका मालिक है। राजा तो तुम्हारा गुलाम है।

राजा—बहुत ठीक कहते हैं। इसमें मुझे तो बिगड़ने की कोई बात नहीं मालूम होती। वास्तव में मैं प्रजा का गुलाम हूँ; बल्कि उसके गुलाम का गुलाम हूँ।

हरिसेवक—हुजूर, इन लोगों की बातें कहाँ तक कहूँ। कहते हैं, राजा को इतने बड़े महल में रहने का कोई हक नहीं। उसका संसार मे कोई काम ही नहीं।

राजा—बहुत ही ठीक कहते हैं। आखिर मैं पड़े-पड़े खाने के सिवा और क्या करता हूँ।

चक्रधर ने झुँझलाकर कहा—ठाकुर साहब, आप मेरे स्वामी हैं लेकिन क्षमा कीजिए, आप मेरे साथ बड़ा अन्याय कर रहे हैं। मैंने प्रजा को उनके अधिकार अवश्य समझाये हैं; लेकिन यह कभी नहीं कहा कि राजा को संसार मे रहने का कोई हक नहीं; क्योंकि मैं जानता हूँ, जिस दिन राजाओं की जरूरत न रहेगी, उस दिन उनका अन्त हो जायगा। देश मे उसी की राज्यव्यवस्था होती है, जिसका अधिकार होता है।

राजा—मैं तो बुरा नहीं मानता, जरा भी नहीं। आपने कोई ऐसी बात नहीं कही, जो और लोग न कहते हो। वास्तव में जो राजा के प्रति अपने कर्तव्य का पालन

न करे, उसका जीना व्यर्थ है।

चक्रधर को मालूम हुआ कि राजा साहब मुझे बना रहे हैं। यह अवसर मजाक का न था। हजारों आदमी साँस बन्द किये सुन रहे थे कि ये लोग क्या फैसला करते हैं और यहाँ इन लोगों को मजाक सूझ रहा है। गरम होकर बोले—अगर आपके ये भाव सच्चे होते, तो प्रजा पर यह विपत्ति ही न आती। राजाओं की यह पुरानी नीति है कि प्रजा का मन मीठी मीठी बातों से भरें और अपने कर्मचारियों को मनमाने अत्याचार करने दें। वह राजा, जिसके कानों तक प्रजा की पुकार न पहुँचने पाये, आदर्श नहीं कहा जा सकता।

राजा—किसी तरह नहीं। उसे गोली मार देनी चाहिए। जीता चुनवा देना चाहिए। प्रजा का गुलाम है कि दिल्लगी है।

चक्रधर यह व्यंग्य न सह सके। उनकी स्वाभाविक शक्ति ने उनका साथ छोड़ दिया। चेहरा तमतमा उठा। बोले—जिस आदर्श के सामने आपको सिर झुकाना चाहिए, उसका मजाक उड़ाना आपको शोभा नहीं देता। समाज की यह व्यवस्था अब थोड़े दिनों की मेहमान है और वह समय आ रहा है, जब या तो राजा प्रजा का सेवक होगा, या होगा ही नहीं। मैंने कभी यह अनुमान न किया था कि आपके वचन और कर्म में इतनी जल्द इतना बड़ा भेद हो जायगा।

क्रोध ने अब अपना यथार्थ रूप धारण किया। राजा साहब अभी तक तो व्यंग्यों से चक्रधर को परास्त करना चाहते थे, लेकिन जब चक्रधर के वार मर्मस्थल पर पड़ने लगे, तो उन्हें भी अपने शस्त्र निकालने पड़े। डपटकर बोले—अच्छा, बाबूजी, अब अपनी जबान बन्द करो। मैं जितनी ही तरह देता जाता हूँ, उतने ही आप सिर चढ़े जाते हैं। मित्रता के नाते जितना सह सकता था, उतना सह चुका। अब नहीं सह सकता। मैं प्रजा का गुलाम नहीं हूँ। प्रजा मेरे पैरों की धूल है। मुझे अधिकार है कि उसके साथ जैसा उचित समझूँ, वैसा सलूक करूँ। किसी को हमारे और हमारी प्रजा के बीच में बोलने का हक नहीं है। आप अब कृपा करके यहाँ से चले जाइए और फिर कभी मेरी रियासत में कदम न रखिएगा, वरना शायद आपको पछताना पड़े। जाइए।

मुंशी वज्रधर की छाती धक धक करने लगी। चक्रधर को हाथों से पीछे हटाकर बोले —हुजूर की कृपा-दृष्टि ने इसे शोख कर दिया है। अभी तक बड़े आदमियों की सोहबत में बैठने का मौका तो मिला नहीं, बात करने की तमीज कहाँ से आये।

लेकिन चक्रधर भी जवान आदमी थे, उस पर सिद्धान्तों के पक्के, आदर्श पर मिटने-वाले, अधिकार और प्रभुत्व के जानी दुश्मन, वह राजा साहब के उद्दण्ड शब्दों से जरा भी भयभीत न हुए। यह उस सिंह की गरज थी, जिसके दाँत और पंजे टूट गये हों। यह उस रस्सी की ऐंठन थी, जो जल गयी हो। तने हुए सामने आये और बोले—आपको अपने मुख से ये शब्द निकालते हुए शर्म आनी चाहिए थी। अगर सम्पत्ति से इतना पतन हो सकता है, तो मैं कहूँगा कि इससे बुरी चीज संसार में कोई नहीं। आपके

भाव कितने पवित्र थे! कितने ऊँचे! आप प्रजा पर अपने को अर्पण कर देना चाहते थे। आप कहते थे, मै प्रजा को अपने पास बेरोक-टोक आने दूँगा, उनके लिए मेरे द्वार हरदम खुले रहेंगे। आप कहते थे, मेरे कर्मचारी उनकी ओर टेढ़ी निगाह से भी देखेंगे, तो उनकी शामत आ जायगी। वे सारी बातें क्या आपको भूल गयीं? और इतनी जल्द? अभी तो बहुत दिन नहीं गुजरे। अब आप कहते हैं, प्रजा मेरे पैरों की धूल है। ईश्वर आपको सुबुद्धि दे।

राजा साहब कहाँ तो क्रोध से उन्मत्त हो रहे थे, कहाँ यह लगती हुई बात सुनकर रो पड़े। क्रोध निरुत्तर होकर पानी हो जाता है। या यों कहिए कि आँसू अव्यक्त भावों ही का रूप है। ग्लानि थी या पश्चात्ताप, अपनी दुर्बलता का दुःख था या विवशता का; या इस बात का रंज था कि यह दुष्ट मेरा इतना अपमान कर रहा है और मै कुछ नहीं कर सकता—इसका निर्णय करना कठिन है।

मगर एक ही क्षण मे राजा साहब सचेत हो गये। प्रभुता ने आँसुओं को दबा दिया। अकड़कर बोले—मैं कहता हूँ, यहाँ से चले जाओ!

हरिसेवक—आपको शर्म नहीं आती कि किससे ऐसी बातें कर रहे हैं।

वज्रधर—बेटा, क्यों मेरे मुँह मे कालिख लगा रहे हो?

चक्रधर—जब तक आप इन आदमियों को जाने न देंगे, मै नहीं जा सकता।

राजा—मेरे आदमियों से तुम्हें कोई सरोकार नहीं है। उनमें से अगर एक भी हिला, तो उसकी लाश जमीन पर होगी।

चक्रधर—तो मेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि उन्हें यहाँ से हटा ले जाऊँ।

यह कहकर चक्रधर मजदूरों की ओर चले। राजा साहब जानते थे कि इनका इशारा पाते ही सारे मजदूर हवा हो जायँगे, फिर सशस्त्र सेना भी उन्हें न रोक सकेगी। तिलमिलाकर बन्दूक लिये हुए चक्रधर के पीछे दौड़े और ऐसे जोर से उन पर कुन्दा चलाया कि सिर पर लगता तो शायद वहीं ठण्डे हो जाते। मगर कुशल हुई। कुन्दा पीठ में लगा और उसके झोंके से चक्रधर कई हाथ पर जा गिरे। उनका जमीन पर गिरना था कि पाँच हजार आदमी बाड़े को तोड़ कर, सशस्त्र सिपाहियों को चीरते, बाहर निकल आये और नरेशों के कैम्प की ओर चले। रास्ते में जो कर्मचारी मिला, उसे पीटा। मालूम होता था, कैम्प मे लूट मच गयी है। दूकानदार अपनी दूकानें समेटने लगे। दर्शकगण अपनी धोतियाँ सँभालकर भागने लगे। चारों तरफ भगदड़ पड़ गयी। जितने बेफ़िक्रे, शोहदे, लुच्चे तमाशा देखने आये थे, वे सब उपद्रवकारियों मे मिल गये। यहाँ तक कि नरेशों के कैम्प तक पहुँचते पहुँचते उनकी संख्या दूनी हो गयी।

राजा-रईस अपनी वासनाओं के सिवा और किसी के गुलाम नहीं होते। वक्त की गुलामी भी उन्हें पसन्द नहीं। वे किसी नियम को अपनी स्वेच्छा में बाधा नहीं डालने देते। फिर उनको इसकी क्या परवा कि सुबह है या शाम। कोई मीठी नींद के मजे

लेता था, कोई गाना सुनता था, कोई स्नान-ध्यान मे मग्न था और लोग तिलक मडप जाने की तैयारियाँ कर रहे थे। कहीं भग घुटती थी, कहीं कवित्त चर्चा हो रही थी और कहीं नाच हो रहा था। कोई नाश्ता कर रहा था और कोई लेटा नौकरो मे चम्पी करा रहा था। उत्तरदायित्वहीन स्वतन्त्रता अपनी विविध लीलाएँ दिखा रही थी। अगर उपद्रवी इस कैम्प में पहुँच जाते, तो महाअनर्थ हो जाता। न जाने कितने राजवशो का अन्त हो जाता, किन्तु राजाओ की रक्षा उनका इकबाल करता है। अँगरेजी कैम्प में १०-१२ आदमी अभी शिकार खेलकर लौटे थे। उन्होंने जो यह हगामा सुना, तो बाहर निकल आये और जनता पर अन्धाधुन्ध बन्दूकें छोड़ने लगे। पहले तो उत्तेजित जनता ने बन्दूकों की परवा न की, उसे अपनी सख्या का बल था। लोग सोचते थे, मरते मरते हममे से इतने आदमी कैम्प में पहुँच जायँगे कि नरेशों को कहीं भागने की भी जगह न मिलेगी। हम सारे प्रान्त को इन अत्याचारियो से मुक्त कर देंगे। ये सब भी तो अपनी प्रजा पर ऐसा ही अत्याचार करते होंगे।

जनता उत्तेजित होकर आदर्शवादी हो जाती है।

गोलियों की पहली बाढ़ आयी। कई आदमी गिर गये।

चौधरी—देखो भाई, घबराना नहीं। जो गिरता है, उसे गिरने दो, आज ही तो दिल के हौसले निकले हैं। जय हनुमानजी की।

एक मजदूर—बढे आओ, बढे आओ, अब मार लिया है। आज ही तो

उसके मुँह से पूरी बात भी न निकलने पायी थी कि गोलियों की दूसरी बाढ आयी और कई आदमियों के साथ दोना नेताओं का काम तमाम कर गयी। एक क्षण के लिए सबके पैर रुक गये। जो जहाँ था, वहीं खड़ा रह गया। समस्या थी कि आगे जायँ या पीछे? सहसा एक युवक ने कहा—मारो, रुक क्यो गये? सामने पहुँचकर हिम्मत छोड़ देते हो! बढे चलो। जय दुर्गामाई की!

दूसरा बोला—आज जो मरेगा, वह बैकुण्ठ में जायगा। बोलो हनुमानजी की जय।

उसे भी गोली लगी और चक्कर खाकर गिर पड़ा।

इतने में दीवान साहब बन्दूक लिये पीछे से दौड़ते हुए आ पहुँचे। गुरुसेवक भी उनके साथ थे। दोनों एक दूसरे रास्ते से कैम्प के द्वार पर पहुँच गये थे।

हरिसेवक—तुम मेरे पीछे खड़े हो जाओ और यहीं से निशाना लगाओ।

गुरुसेवक—अभी फैर न कीजिए। मैं जरा इन्हें समझा लूँ। समझाने से काम निकल जाय, तो रक्त क्यों बहाया जाय?

हरिसेवक—अब समझाने का मौका नहीं है। अभी दम के दम मे सब के सब अन्दर घुस आयेंगे, तो प्रलय हो जायगी।

किन्तु गुरुसेवक के हृदय में दया थी। पिता की बात न मानकर वह सामने आ गये और ललकारकर बोले—तुम लोग यहाँ क्यो आ रहे हो? यह न समझो कि तुम

कैम्प के द्वार पर पहुँच गये हो। यहाँ आते-आते तुम आधे हो जाओगे।

एक मजदूर—कोई चिन्ता नहीं। मर-मरकर जीने से एक बार मर जाना अच्छा है। मारो, आगे बढ़ो, क्या हिम्मत छोड़ देते हो?

गुरुसेवक—आगे एक कदम भी रखा और गिरे! यह समझ लो कि तुम्हारे आगे मौत खड़ी है।

मजदूर—हम आज मरने के लिए कमर बाँधकर ...

अँग्रेजी कैम्प से फिर गोलियों की बाढ आयी और कई आदमियों के साथ यह आदमी भी गिर गया, और उसके गिरते ही सारे समूह में खलबली पड गयी। अभी तक इन लोगो को न मालूम था कि गोलियाँ किधर से आ रही हैं। समझ रहे थे कि इसी कैम्प से आती होंगी। अब शिकारी लोग बढ़ आये थे और साफ नजर आ रहे थे।

एक चमार बोला—साहब लोग गोली चला रहे हैं।

दूसरा—गोरों की फौज है, फौज।

तीसरा—चलो, उन्हीं सबों को पथें? मुर्गी के अडे खा-खाकर खूब मोटाये हुए हैं।

चौथा—यही सब तो राजाओ को बिगाडे हुए हैं। दो शिकार भी मिल गये, तो मेहनत सफल हो जायगी।

लेकिन कायरों की हिम्मत टूटने लगी थी। लोग चुपके-चुपके दायें-बायें से सरकने लगे थे। यहाँ प्राण देने से बाजार में लूट मचाना कहीं आसान था। देखते देखते पीछे के सभी आदमी खिसक गये। केवल आगे के लोग खड़े रह गये थे। उन्हें क्या खबर थी कि पीछे क्या हो रहा है। वे अँगरेजी कैम्प की तरफ मुड़े और एक ही हल्ले में अँगरेजी कैम्प के फाटक तक आ पहुँचे। अब तो यहाँ भी भगदड़ पड़ी। एक ओर नरेशों के कैम्प से मोटरें निकल-निकलकर पीछे की ओर से दौडती चली आ रही थीं। इधर अँगरेजी कैम्प से मोटरों का निलकना शुरू हुआ। एक क्षण में सारी लेडियाँ गायब हो गयीं। मर्दों मे भी आधे से ज्यादा निकल भागे। केवल वही लोग रह गये, जो मोरचे पर खड़े थे और जिनके लिए भागना मौत के मुँह मे जाना था; मगर इन सबो के हाथों मे मार्टिन और मॉजर के यन्त्र थे। इधर ईश्वर की दी हुई लाठियाँ थीं, या जमीन से चुने हुए पत्थर। यद्यपि हड़तालियों का दल एक ही हल्ले मे इस फाटक तक पहुँच गया; पर यहाँ तक पहुँचते पहुँचते कोई बीस आदमी गिर पडे। अगर इस वक्त ५० गज के अन्तर पर भी इतने आदमी गिरे होते, तो शायद सबके पैर उखड़ जाते, लेकिन यह विश्वास, कि अब मार लिया है, उनके हौसले बढाये हुए था। विजय के सम्मुख पहुँचकर कायर भी वीर हो जाते हैं। घर के समीप पहुँचकर थके हुए पथिक के पैरों में भी पर लग जाते हैं।

इन मनुष्यों के मुख पर इस समय हिंसा झलक रही थी। चेहरे विकृत हो गये थे। जिसने इन्हें इस दशा मे न देखा हो वह कल्पना भी नहीं कर सकता कि ये वही दीनता के पुतले हैं, जिन्हें एक काठ की पुतली भी चाहे जो नाच नचा सकती थी। अँगरेज

योद्धा अभी तक तो मोरचे पर खड़े बन्दूकें छोड़ रहे थे, लेकिन इस भयंकर दल को सामने देखकर उनके औसान जाते रहे। दो-चार तो भागे, दो-तीन मूर्छा खाकर गिर पड़े। केवल पाँच फौजी अफसर अपनी जगह पर डटे रहे। उन्हें बचने की कोई आशा न थी और इसी निराशा ने उन्हें अदम्य साहस प्रदान कर दिया था। वे जान पर खेले हुए थे। क्षण-क्षण पर बन्दूकें चलाते थे, मानो बन्दूक की कलें हों। जो आगे बढ़ता था, उनके अचूक निशाने का शिकार हो जाता था। इधर ढेले और पत्थरों की वर्षा हो रही थी, जो फाटक तक मुश्किल से पहुँचती थी। अब सामने पहुँच कर लोगों ने आगे बढ़कर पत्थर चलाने शुरू किये। यहाँ तक कि अँगरेज चोट खाकर गिर पड़े। एक का सिर फट गया था, दूसरे की बाँह टूट गयी थी। केवल तीन आदमी रह गये, और वही इन आदमियों को रोक रखने के लिए काफी थे। लेकिन उनके पास भी कारतूस न रह गये थे। कठिन समस्या थी। प्राण बचने की कोई आशा नहीं। भागने की कल्पना ही से उन्हें घृणा होती है। जिन मनुष्यों को हमेशा पैरों से ठुकराया किये, जिन्हें कुली कहते और कुत्तों से भी नीच समझते रहे, उनके सामने पीठ दिखाना ऐसा अपमान था, जिसे वे किसी तरह न सह सकते थे। इधर हड़तालियों के हौसले बढ़ते जाते थे। शिकार अब बेदम होकर गिरना चाहता था। हिंसा के मुँह से लार टपक रही थी।

एक आदमी ने कहा—हाँ बहादुरो, बस, एक हल्ले की और कसर है, घुस पड़ो। अब कहाँ जाते हैं।

दूसरा बोला—फाँसी तो पड़ेंगे ही, अब इन्हें क्यों छोड़ें।

सहसा एक आदमी पीछे से भीड़ को चीरता, बेतहाशा दौड़ता हुआ आकर बोला—बस, बस, क्या करते हो! ईश्वर के लिए हाथ रोको! क्या गजब करते हो! लोगों ने चकित होकर देखा, तो चक्रधर थे। सैकड़ों आदमी उन्मत्त होकर उनकी ओर दौड़े और उन्हें घेर लिया। जय-जयकार की ध्वनि से आकाश गूँजने लगा।

एक मजदूर ने कहा—हमें अपने एक सौ भाइयों के खून का बदला लेना है।

चक्रधर ने दोनों हाथ ऊपर उठाकर कहा—कोई एक कदम आगे न बढ़े। खबरदार!

मजदूर—यारो, बस, एक हल्ला और!

चक्रधर—हम फिर कहते हैं, अब एक कदम भी आगे न उठे।

जिले के मैजिस्ट्रेट मिस्टर जिम ने कहा—बाबू साहब, खुदा के लिए हमें बचाइए।

फौज के कप्तान मिस्टर सिम बोले—हम हमेशा आपको दुआ देगा। हम सरकार से आपका सिफारिश करेगा।

एक मजदूर—हमारे एक सौ जवान भून डाले, तब आप कहाँ थे? यारो, क्या खड़े हो, बाबूजी का क्या बिगड़ा है। मारे तो हम गये हैं न? मारो बढ़के।

चक्रधर ने उपद्रवियों के सामने खड़े होकर कहा—अगर तुम्हें खून की प्यास है, तो मैं हाजिर हूँ। मेरी लाश को पैरों से कुचलकर तभी तुम आगे बढ़ सकते हो।

मजदूर—भैया, हट जाओ, हमने बहुत मार खायी है, बहुत सताये गये हैं, इस वक्त दिल की आग बुझा लेने दो!

चक्रधर—मेरा लहू इस ज्वाला को शान्त करने के लिए काफी नहीं है?

मजदूर—भैया, तुम सान्त-सान्त बका करते हो; लेकिन उसका फल क्या होता है। हमें जो चाहता है, मारता है; जो चाहता है, पीसता है, तो क्या हमीं सान्त बैठे रहें? सान्त रहने से तो और भी हमारी दुरगत होती है। हमें सान्त रहना मत सिखाओ। हमें मरना सिखाओ, तभी हमारा उद्धार कर सकोगे।

चक्रधर—अगर अपनी आत्मा की हत्या करके हमारा उद्धार भी होता हो, तो हम आत्मा की हत्या न करेंगे। संसार को मनुष्य ने नहीं बनाया है, ईश्वर ने बनाया है। भगवान् ने उद्धार के जो उपाय बताये हैं, उनसे काम लो और ईश्वर पर भरोसा रखो।

मजदूर—हमारी फाँसी तो हो ही जायगी। तुम माफी तो न दिला सकोगे।

मिस्टर जिम—हम किसी को सजा न देंगे।

मिस्टर सिम—हम सबको इनाम दिलायेगा।

चक्रधर—इनाम मिले या फाँसी, इसकी क्या परवा। अभी तक तुम्हारा दामन खून के छीटों से पाक है; उसे पाक रखो। ईश्वर की निगाह मे तुम निर्दोष हो। अब अपने को कलंकित मत करो, जाओ।

मजदूर—अपने भाइयों का खून कभी हमारे सिर से न उतरेगा; लेकिन तुम्हारी यही मरजी है, तो लौट जाते हैं। आखिर फाँसी पर तो चढना ही है।

चक्रधर कुन्दे की चोट से कुछ देर तक तो अचेत पड़े रहे थे। जब होश आया, तो देखा कि दाहिनी ओर हड़तालियो का एक दल अँगरेजी कैम्प के द्वार पर खड़ा है, बायीं ओर बाजार लुट रहा है और मशस्त्र पुलिस के सिपाही हड़तालियों के साथ मिले हुए दूकानें लूट रहे हैं और विशाल तिलक-मण्डप से अग्नि की ज्वाला उठ रही है। वह उठे और अँगरेजी कैम्प की ओर भागे। वहीं उनके पहुँचने की सबसे ज्यादा जरूरत थी। बाजार में रक्तपात का भय न था। रक्षक स्वयं लुटेरे बने हुए थे। उन्हें लूट से कहाँ फुरसत थी कि हड़तालियों का शिकार करते। अँगरेजी कैम्प मे ही स्थिति सबसे भयावह थी। इस नाजुक मौके पर वह न पहुँच जाते, तो किसी अँगरेज की जान न बचती, सारा कैम्प लुट जाता और खेमे राख के ढेर हो जाते। हड़तालियों की रक्षा करनी तो उन्हें बदी न थी; लेकिन विदेशियों को उन्होंने मौत के मुँह से निकाल लिया। एक क्षण में सारा कैम्प साफ हो गया। एक भी मजदूर न रह गया।

इन आदमियों के जाते ही वे लोग भी इनके साथ हो लिये, जो पहले लूट के लालच से चले आये थे। जिस तरह पानी आ जाने से कोई मेला उठ जाता है, ग्राहक, दूकानदार और दूकानें सब न जाने कहाँ लुप्त हो जाती हैं, उसी भाँति एक क्षण में सारे कैम्प में सन्नाटा छा गया। केवल तिलक मण्डप से अभी तक आग की ज्वाला निकल रही थी। राजा साहब और उनके साथ के कुछ गिने गिनाये आदमी उसके

सामने चुपचाप खड़े मानो किसी मृतक की दाह क्रिया कर रहे हों। बाजार लुटा, गोलियाँ चलीं, आदमी मक्खियों की तरह मारे गये, पर राजा साहब मण्डप के सामने ही खड़े रहे। उन्हें अपनी सारी मनोकामनाएँ अग्नि राशि में भस्म होती हुई मालूम होती थीं।

अँधेरा छा गया था। घायलों के कराहने की आवाजें आ रही थीं। चक्रधर और उनके साथ के युवक उन्हें सावधानी से उठा उठाकर एक वृक्ष के नीचे जमा कर रहे थे। कई आदमी तो उठाते-ही-उठाते सुरलोक सिधारे। कुछ सेवक उन्हें ले जाने की फिक्र करने लगे। कुछ लोग शेष घायलों की देख-भाल में लगे। रियासत का डाक्टर सज्जन मनुष्य था। यहाँ से सन्देशा जाते ही आ पहुँचा। उसकी सहायता ने बड़ा काम किया। आकाश पर काली घटा छायी हुई थी। चारों तरफ अँधेरा था। तिलक मण्डप की आग भी बुझ चुकी थी। उस अँधकार में ये लोग लालटेनें लिये घायलों को अस्पताल ले जा रहे थे।

एकाएक कई सिपाहियों ने आकर चक्रधर को पकड़ लिया और अँगरेजी कैम्प की तरफ ले चले। पूछा, तो मालूम हुआ कि जिम साहब का यह हुक्म है। चक्रधर ने सोचा--मैंने ऐसा कोई अपराध तो नहीं किया है, जिसका यह दण्ड हो। फिर यह पकड़ धकड़ क्यों? सम्भव है, मुझसे कुछ पूछने के लिए बुलाया हो और ये मूर्ख सिपाही उसका आशय न समझकर मुझे यों पकड़े लिये जाते हों। यह सोचते हुए वह मिस्टर जिम के खेमे में दाखिल हुए।

देखा, तो वहाँ कचहरी लगी हुई है। सशस्त्र पुलिस के सिपाही, जिन्हें अब लूट से फुरसत मिल चुकी थी, द्वार पर सगीनें चढ़ाये खड़े थे। अन्दर मिस्टर जिम और मिस्टर सिम रौद्र रूप धारण किये सिगार पी रहे थे, मानों क्रोधाग्नि मुँह से निकल रही हो। राजा साहब मिस्टर जिम के बगल में बैठे थे। दीवान साहब क्रोध से आँखें लाल किये मेज पर हाथ रखे कुछ कह रहे थे और मुंशी वज्रधर हाथ बाँधे एक कोने में खड़े थे।

चक्रधर को देखते ही मिस्टर जिम ने कहा--राजा साहब कहता है कि यह सब तुम्हारी शरारत है। तुम और तुम्हारा साथी लोग बहुत दिनों से रियासत के आदमियों को भड़का रहा है, और आज भी तुम न आता, तो यह दगा न मचता।

चक्रधर आवेश में आकर बोले--अगर राजा साहब, आपका ऐसा विचार है, तो इसका मुझे दुःख है। हम लोग जनता में जागृति अवश्य फैलाते हैं, उनमें शिक्षा का प्रचार करते हैं, उन्हें स्वार्थान्ध अमलों के फन्दों से बचाने का उपाय करते हैं, और उन्हें अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करने का उपदेश देते हैं। हम चाहते हैं कि वे मनुष्य बनें और मनुष्यों की भाँति संसार में रहें। वे स्वार्थ के दास बनकर कर्मचारियों की खुशामद न करें, भयवश अपमान और अत्याचार न सहें। अगर इसे कोई भड़काना समझता है, तो समझे। हम तो इसे अपना कर्तव्य समझते हैं।

जिम--तुम्हारे उपदेश का यह नतीजा देखकर कौन कह सकता है कि तुम उन्हें नहीं भड़काता?

चक्रधर—यहाँ उन आदमियों पर अत्याचार हो रहा था और उन्हें यहाँ से चले जाने
या काम न करने का अधिकार था। अगर उन्हें शान्ति के साथ चले जाने दिया
ता, तो यह नौबत कभी न आती।

राजा—हमें परम्परा से बेगार लेने का अधिकार है और उसे हम नहीं छोड़ सकते।
आप असामियों को बेगार देने से मना करते हैं, और आज के हत्याकाण्ड का सारा
भार आपके ऊपर है।

चक्रधर—कोई अन्याय केवल इसलिए मान्य नहीं हो सकता कि लोग उसे परम्परा
से सहते आये हैं।

जिम—हम तुम्हारे ऊपर बगावत का मुकदमा चलायेगा। तुम dangerous
(खतरनाक) आदमी है।

राजा—हुजूर, मैं इनके साथ कोई सख्ती नहीं करना चाहता, केवल यह प्रतिज्ञा
लिखाना चाहता हूँ कि यह अथवा इनके सहकारी लोग मेरी रियासत में न जायँ।

चक्रधर—मैं ऐसी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता। दीनों पर अत्याचार होते देखकर दूर
खड़े रहना वह दशा है, जो हम किसी तरह नहीं सह सकते। अभी बहुत दिन नहीं गुजरे
कि राजा साहब के विचार मेरे विचारों से पूरे-पूरे मिलते थे। उन्हें अपने विचारों को
बदलने के नये कारण हो गये हों, मेरे लिए कोई कारण नहीं।

राजा—मेरे प्रजा-हित के विचारों में कोई अन्तर नहीं हुआ है। मैं अब भी प्रजा
का सेवक हूँ, लेकिन आप उन्हें राजनीतिक यन्त्र बनाना चाहते हैं, और इसी उद्देश्य
से आप उनके हितचिन्तक बनते हैं। मैं उन्हें राजनीति में नहीं डालना चाहता। आप
उनके आत्म-सम्मान की रक्षा करते हैं और मैं उनके प्राणों की। बस, आपके और मे
विचारों में केवल यही अन्तर है।

मिस्टर जिम ने सब-इन्स्पेक्टर से कहा—इनको हवालात में रखो, कल इजलास
पेश करो।

वज्रधर ने आगे बढ़कर जिम के पैरों पर पगड़ी रख दी और बोले—हुजूर, यह गु
का लड़का है। हुजूर, इसकी जाँबख्शी करें। हुजूर का पुराना गुलाम हूँ। जब
में तहसीलदार था, तब हुजूर ने सनद अता फरमायी थी, हुजूर!

मिस्टर जिम—ओ! तहसीलदार साहब, यह तुम्हारा लड़का है? तुमने उ
से निकाल क्यों नहीं दिया? सरकार तुमको इसलिए पेंशन नहीं देता कि तुम
को पाले। हम तुम्हारा पेंशन बन्द कर देगा। पेंशन इसीलिए दिया जाता है
सरकार का वफादार नौकर बना रहे।

वज्रधर—हुजूर मेरे मालिक हैं। आज इसका कुसूर माफ कर दिया ज
से मैं इसे घर से निकलने ही न दूँगा।

चक्रधर ने पिता को तिरस्कार-भाव से देखकर कहा—आप क्यों ऐसी
लज्जित करते हैं! मिस्टर जिम और राजा साहब मुझे जेल के बाहर भ

चाहते हैं। मेरे लिए जेल की कैद इस कैद से कहीं आसान है।

वज्रधर—बेटा, मैं अब थोड़े ही दिनों का मेहमान हूँ। मुझे मर जाने दो, फिर तुम्हारे जो जी में आये, करना। मैं मना करने न आऊँगा।

हरिसेवक—तहसीलदार साहब, आप व्यर्थ हैरान होते हैं। आपका काम समझा देना है। वह समझदार हैं। अपना भला-बुरा समझ सकते हैं। जब वह खुद आग में कूद रहे हैं, तो आप कब तक उन्हें रोकिएगा?

वज्रधर—मेरी यह अर्ज है हुजूर, कि मेरी पेंशन पर रेप न आये।

जिम—तुमको इस मुकदमे में शहादत देना होगा। तुमने अच्छा शहादत दिया, तो तुम्हारा पेंशन बहाल रखा जायगा।

चक्रधर—लीजिए, आपकी पेंशन बहाल हो गयी, केवल मेरे विरुद्ध गवाही भर दे दीजिएगा।

राजा—बाबू चक्रधर, अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। आप प्रतिज्ञा लिखकर शौक से घर जा सकते हैं। मैं आपको तंग नहीं करना चाहता। हाँ, इतना ही चाहता हूँ कि फिर ऐसे हंगामे न खड़े हों।

चक्रधर—राजा साहब, क्षमा कीजिएगा, जब तक असन्तोष के कारण दूर न होंगे, ऐसी दुर्घटनाएँ होंगी और फिर होंगी। मुझे आप पकड़ सकते हैं, कैद कर सकते हैं। इससे चाहे आपको शान्ति हो, पर वह असन्तोष अणुमात्र भी कम न होगा, जिससे प्रजा का जीवन असह्य हो गया है। असन्तोष को भड़काकर आप प्रजा को शान्त नहीं कर सकते। हाँ, कायर बना सकते हैं। अगर आप उन्हें कर्महीन, बुद्धिहीन, पुरुषार्थहीन मनुष्य का तन धारण करनेवाले सियार और सुअर बनाना चाहते हैं, तो बनाइए, पर इससे न आपकी कीर्ति होगी, न ईश्वर प्रसन्न होंगे और न स्वयं आपकी आत्मा ही तुष्ट होगी।

१५

राजाओं-महाराजाओं को क्रोध आता है, तो उनके सामने जाने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ती। न जाने क्या गजब हो जाय, क्या आफत आ जाय। विशालसिंह किसी को फाँसी न दे सकते थे, यहाँ तक कि कानून की रू से वह किसी को गालियाँ भी न दे सकते थे। कानून उनके लिए भी था, वह भी सरकार की प्रजा थे, किन्तु नौकरी तो छीन सकते थे, जुरमाना तो कर सकते थे। इतना अख्तियार क्या थोड़ा है। सारी रात गुजर गयी, पर राजा साहब अपने कमरे से बाहर नहीं निकले। उनकी पलकें तक न झपकी थीं। आधी रात तक तो उनकी तलवार हरिसेवक पर खिंची रही, इसी बुड्ढे खूसट के कुप्रबन्ध ने यह सारा तूफान खड़ा किया। उसके बाद तलवार के वार अपने ऊपर होने लगे। मुझे इस उत्सव की जरूरत ही क्या थी? रियासत मुझे मिल ही चुकी थी। टीके तिलक की हिमाकत में क्यों पड़ा? पिछले पहर क्रोध ने फिर पहलू बदला और तलवार की चोटें चक्रधर पर पड़ने लगीं। यह सारी शरारत इसी लौंडे की है। न्याय, धर्म और परोपकार सब बहुत अच्छी बातें हैं, लेकिन हर एक काम के लिए एक अव-

सर होता है। इसने प्रजा में असन्तोष की आग भड़कायी। दो-चार दिन आधे ही पेट खाकर रह जाते, तो क्या मजदूरों की जान निकल जाती? अपने घर ही पर उन्हें कौन दोनों वक्त पकवान मिलता है। जब बारहों मास एक वक्त आधे पेट खाकर रहते हैं, तो यहाँ रसद के लिए दगा कर बैठना साफ बतला रहा है कि यह दूसरों का मन्त्र था। बाप तो तलुवे सहलाता फिरता है और आप परोपकारी बने फिरते हैं। पाँच साल तक चक्की न पिसवायी, तो नाम नहीं!

राज-भवन में सन्नाटा छाया हुआ था। रोहिणी ने तो जन्माष्टमी के दिन से ही राजा साहब से बोलना-चालना छोड़ दिया था। यों पड़ी रहती थी, जैसे कोई चिड़िया पिंजरे में। वसुमती को अपने पूजा-पाठ से फ़ुरसत न थी। अब उसे राम और कृष्ण दोनों ही की पूजा-अर्चना करनी पड़ती थी। केवल रामप्रिया घबराती हुई इधर-उधर दौड़ रही थी। कभी चुपके-चुपके कोप-भवन के द्वार तक जाती, कभी खिड़की से झाँकती; पर राजा साहब की त्योरियाँ देखकर उलटे पाँव लौट आती। डरती थी कि कहीं वह कुछ खा न लें, कहीं भाग न जायँ। निर्बल क्रोध ही तो वैराग्य है।

वह इसी चिन्ता में विकल थी कि मनोरमा आकर सामने खड़ी हो गयी। उसकी दोनों आँखें बीरबहूटी हो रही थीं, भँवे चढ़ी हुईं। मानो किसी गुण्डे ने सती को छेड़ दिया हो।

रामप्रिया ने पूछा—कहाँ थी, मनोरमा?

मनोरमा—ऊपर ही तो थी। राजा साहब कहाँ हैं?

रामप्रिया ने मनोरमा के मुख की ओर तीव्र दृष्टि से देखा। हृदय आँखों में रो रहा था। बोली—क्या करोगी पूछकर?

मनोरमा—उनसे कुछ कहना चाहती हूँ।

रामप्रिया—कहीं उनके सामने जाना मत। कोप-भवन में हैं। मैं तो खुद उनके सामने जाते डरती हूँ।

मनोरमा—आप बतला तो दें।

रामप्रिया—नहीं, मैं न बतलाऊँगी। कौन जानता है, इस वक्त उनके हृदय पर क्या बीत रही है! खून का घूँट पी रहे होंगे। सुनती हूँ, तुम्हारे गुरुजी ही की यह सारी करामात है। देखने में तो बड़े ही सज्जन मालूम होते हैं; पर हैं एक छटे हुए।

मनोरमा तीर की भाँति कमरे से निकलकर वसुमती के पास जा पहुँची। वसुमती अभी स्नान करके आयी ही थी और पूजा करने जा रही थी कि मनोरमा को सामने देखकर चौंक पड़ी। मनोरमा ने पूछा—आप जानती हैं, राजा साहब कहाँ हैं?

वसुमती ने रुखाई से कहा—होंगे जहाँ उनकी इच्छा होगी। मैं तो पूछने भी न गयी। जैसे राम राधा से, वैसे ही राधा राम से!

मनोरमा—आपको मालूम नहीं?

वसुमती—मैं होती कौन हूँ? न सलाह में, न बात में। बेगानों की तरह घर में

पड़ी दिन काट रही हूँ। वह बैठी हुई हैं। उनसे पूछो, जानती होंगी।

मनोरमा रोहिणी के कमरे में आयी। वह गाव तकिये लगाये, ठस्से से मसनद पर बैठी हुई थी। सामने आइना था। नाइन केश गूँथ रही थी। मनोरमा को देखकर मुस्कुरायीं। पूछा--कैसे चलीं?

मनोरमा--आपको मालूम है, राजा साहब इस वक्त कहाँ मिलेंगे? मुझे उनसे कुछ कहना है।

रोहिणी--कहीं बैठे अपने नसीबों को रो रहे होंगे। यह मेरी हाय का फल है! कैसा तमाचा पड़ा है कि याद ही करते होंगे। ईश्वर बड़ा न्यायी है। मैंने तो चिन्ता करनी ही छोड़ दी। जिन्दगी रोने के लिए थोड़े ही है। सच पूछो, तो इतना सुख मुझे कभी न था। घर मे आग लगे या वज्र गिरे, मेरी बला से!

मनोरमा--मुझे सिर्फ इतना बता दीजिए कि वह कहाँ हैं?

रोहिणी--मेरे हृदय मे! उसे बाणों से छेद रहे हैं।

मनोरमा निराश होकर यहाँ से भी निकली। वह इस राज-भवन में पहले-ही-पहल आयी थी। अन्दाज से दीवानखाने की तरफ चली। जब रानियों के यहाँ नहीं, तो अवश्य दीवानखाने में होंगे। द्वार पर पहुँचकर वह जरा ठिठक गयी। झाँककर अन्दर देखा, राजा साहब कमरे में टहलते थे और मूँछे ऐंठ रहे थे। मनोरमा अन्दर चली गयी। पछतायी कि व्यर्थ रानियों से पूछती फिरी।

राजा साहब उसे देखकर चौंक पड़े। कोई दूसरा आदमी होता, तो शायद वह उस पर झल्ला पड़ते, निकल जाने को कहते, किन्तु मनोरमा के मान प्रदीप्त सौन्दर्य ने उन्हें परास्त कर दिया। खौलते हुए पानी ने दहकती हुई आग को शान्त कर दिया। उन्होंने द तीन दिन पहले उसे एक बार देखा था। तब वह बालिका थी। आज वही बालिका नवयुवती हो गयी थी। यह एक रात की भीषण चिन्ता, दारुण वेदना और दुस्सह ताप-सृष्टि थी। राजा साहब के सम्मुख आने पर भी उसे जरा भी भय या सकोच न हुआ। सरोष नेत्रों से ताकती हुई बोली--उसका कण्ठ आवेश से काँप रहा था--महाराज, मै आपसे यह पूछने आयी हूँ कि क्या प्रभुत्व और पशुता एक ही वस्तु है, या उनमे कुछ अन्तर है?

राजा साहब ने विस्मित होकर कहा--मैंने तुम्हारा आशय नहीं समझा, मनोरमा! बात क्या है? तुम्हारी त्योरियाँ चढी हुई हैं। क्या किसी ने कुछ कहा है, या मुझसे नाराज हो? यह भँवें क्यों तनी हुई हैं?

मनोरमा--मैं आपके सामने फरियाद करने आयी हूँ।

राजा--क्या तुम्हें किसी ने कटु-वचन कहे हैं?

मनोरमा--मुझे किसी ने कटुवचन कहे होते, तो फरियाद करने न आती। अपने लिए आपको कष्ट न देती, लेकिन आपने अपने तिलकोत्सव के दिन एक ऐसे प्राणी पर अत्याचार किया जिस पर मेरी असीम भक्ति है, जिसे मै देवता समझती हूँ, जिसका

हृदय-कमल के जल-सिंचित दल की भाँति पवित्र और कोमल है, जिसमें सन्यासियों का-सा त्याग और ऋषियों का-सा सत्य है, जिसमें बालकों की-सी सरलता और योद्धाओं की-सी वीरता है। आपके न्याय और धर्म की चर्चा उसी पुरुष के मुँह से सुना करती थी। अगर यही उसका यथार्थ रूप है, तो मुझे भय है कि इस आतंक के आधार पर बने हुए राज-भवन का शीघ्र ही पतन हो जायगा, और आपकी सारी कीर्ति स्वप्न की भाँति मिट जायगी। जिस समय आपके ये निर्दय हाथ बाबू चक्रधर पर उठे, अगर उस समय मैं वहाँ होती, तो कदाचित् कुन्दे का वह वार मेरी ही गर्दन पर पड़ता। मुझे आश्चर्य होता है कि उन पर आपके हाथ उठे क्योंकर। उसी समय से मेरे मन में विचार हो रहा है कि क्या प्रभुत्व और पशुता एक ही वस्तु तो नहीं है?

मनोरमा के मुख से ये जलते हुए शब्द सुनकर राजा दंग रह गये। उनका क्रोध प्रचण्ड वायु के इस झोंके से आकाश पर छाये हुए मेघ के समान उड़ गया। आवेश में भरी हुई सरल-हृदया बालिका से वाद-विवाद करने के बदले उन्हें उसपर अनुराग उत्पन्न हो गया। सौन्दर्य के सामने प्रभुत्व भीगी बिल्ली बन जाता है। आसुरी शक्ति भी सौन्दर्य के सामने सिर झुका देती है। राजा साहब नम्रता से बोले—चक्रधर को तुम कैसे जानती हो?

मनोरमा—वह मुझे अंगरेजी पढ़ाने आया करते हैं।

राजा—कितने दिनों से?

मनोरमा—बहुत दिन हुए।

राजा—मनोरमा, मेरे दिल में बाबू चक्रधर की जितनी इज्जत थी और है, उसकी चर्चा करते हुए शर्म आती है। जब उन पर इन्हीं कठोर हाथों से मैंने आघात किया, तो अब ऐसी बातें सुनकर तुम्हें विश्वास न आयेगा। तुमने बहुत ठीक कहा है कि प्रभुत्व और पशुता एक ही वस्तु हैं। एक वस्तु चाहे न हों; पर उनमें फूल और चिनगारी का सम्बन्ध अवश्य है। मुझे याद नहीं आता कि कभी मुझे इतना क्रोध आया हो। अब मुझे याद आ रहा है कि यदि मैंने धैर्य से काम लिया होता, तो चक्रधर चमारों को जरूर शान्त कर देते। जनता पर उसी आदमी का असर पड़ता है, जिसमें सेवा का गुण हो। यह उनकी सेवा ही है, जिसने उन्हें इतना सर्वप्रिय बना दिया है। अंगरेजों की प्राण-रक्षा करने में उन्होंने जितनी वीरता से काम लिया, उसे अलौकिक कहना चाहिए। वह द्रोहियों के सामने जाकर न खड़े हो जाते, तो शायद इस वक्त जगदीशपुर पर गोलों की वर्षा होती और मेरी जो दशा होती, उसकी कल्पना ही से रोएँ खड़े होते हैं। वह वीरात्मा हैं और उनके साथ मैंने जो अन्याय किया है, उसका मुझे जीवन-पर्यन्त दुःख रहेगा।

विनय क्रोध को निगल जाता है। मनोरमा शान्त होकर बोली—केवल दुःख प्रकट करने से तो अन्याय का घाव नहीं भरता?

राजा—क्या करूँ मनोरमा, अगर मेरे वश की बात होती तो मैं इसी क्षण जाता

और चक्रधर को अपने कन्धे पर बैठाकर लाता, पर अब मेरा कुछ अख्तियार नहीं है। अगर उनकी जगह मेरा ही पुत्र होता, तो भी मैं कुछ न कर सकता।

मनोरमा—आप मिस्टर जिम से तो कह सकते हैं ?

राजा—हाँ, कह सकता हूँ, पर आशा नहीं कि वह मानें। राजनीतिक अपराधियों के साथ ये लोग जरा भी रिआयत नहीं करते, उनके विषय में कुछ सुनना नहीं चाहते। हाँ, एक बात हो सकती है, अगर चक्रधर जी यह प्रतिज्ञा कर लें कि अब वह कभी सार्वजनिक कामों में भाग न लेंगे, तो शायद मिस्टर जिम उन्हें छोड़ दें। तुम्हें आशा है कि चक्रधर यह प्रतिज्ञा करेंगे ?

मनोरमा ने सन्दिग्ध भाव से सिर हिलाकर कहा—न, मुझे इसकी आशा नहीं। वह अपनी खुशी से कभी ऐसी प्रतिज्ञा न करेंगे।

राजा—तुम्हारे कहने से न मान जायँगे ?

मनोरमा—मेरे कहने से क्या, वह ईश्वर के कहने से भी न मानेंगे और अगर मानेंगे भी, तो उसी क्षण मेरे आदर्श से गिर जायँगे। मैं यह कभी न चाहूँगी कि वह उन अधिकारों को छोड़ दें, जो उन्हें ईश्वर ने दिये हैं। आज के पहले मुझे उनसे वही स्नेह था, जो किसी को एक सज्जन आदमी से हो सकता है। मेरी भक्ति उन पर न थी। उनकी प्रण-वीरता ही ने मुझे उनका भक्त बना दिया है, उनकी निर्भीकता ही ने मेरी श्रद्धा पर विजय पायी है।

राजा ने बड़ी दीनता से पूछा—जब यह जानती हो, तो मुझे क्यों जिम के पास भेजती हो ?

मनोरमा—इसलिए कि सच्चे आदमी के साथ सच्चा बर्ताव होना चाहिए। किसी को उसकी सचाई या सज्जनता का दण्ड न मिलना चाहिए। इसी मे आपका भी कल्याण है। जब तक चक्रधर के साथ न्याय न होगा, आपके राज्य में शान्ति न होगी। आपके माथे पर कलक का टीका लगा रहेगा।

राजा—क्या करूँ, मनोरमा। अच्छे सलाहकार न मिलने से मेरी यह दशा हुई। ईश्वर जानता है, मेरे मन में प्रजा-हित के कैसे-कैसे हौसले थे। मैं अपनी रियासत में राम-राज्य का युग लाना चाहता था, पर दुर्भाग्य से परिस्थिति कुछ ऐसी होती जाती है कि मुझे वे सभी काम करने पड़ रहे हैं, जिनसे मुझे घृणा थी। न जाने वह कौन-सी शक्ति है, जो मुझे अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण करने पर मजबूर कर देती है। मेरे पास कोई ऐसा मन्त्री नहीं है, जो मुझे सच्ची सलाहें दिया करे। मैं हिंसक जन्तुओं से घिरा हुआ हूँ। सभी स्वार्थी हैं, कोई मेरा मित्र नहीं। इतने आदमियों के बीच में मै अकेला, निस्सहाय, मित्र-हीन प्राणी हूँ। एक भी ऐसा हाथ नहीं, जो मुझे गिरते देखकर सँभाल ले। मैं अभी मिस्टर जिम के पास जाऊँगा और साफ-साफ कह दूँगा कि मुझे बाबू चक्रधर से कोई शिकायत नहीं है।

मनोरमा के सौन्दर्य ने राजा साहब पर जो जादू का सा असर डाला था, वही असर

उनकी विनय और शालीनता ने मनोरमा पर किया। सारी परिस्थिति उसकी समझ में आ गयी। नरम होकर बोली—जब उनके पास जाने से आपको कोई आशा ही नहीं है, तो व्यर्थ क्यों कष्ट उठाइएगा ? मैं आपसे यह आग्रह न करूँगी। मैंने आपका इतना समय नष्ट किया, इसके लिए मुझे क्षमा कीजिएगा। मेरी कुछ बातें अगर कटु और अप्रिय लगी हों .

राजा ने बात काटकर कहा—मनोरमा, सुधा-वृष्टि भी किसी को कड़वी और अप्रिय लगती है ? मैंने ऐसी मधुर वाणी कभी न सुनी थी। तुमने मुझ पर जो अनुग्रह किया है, उसे कभी न भूलूँगा।

मनोरमा कमरे से चली गयी। विशालसिंह द्वार पर खड़े उसकी ओर ऐसे तृषित नेत्रों से देखते रहे, मानो उसे पी जायँगे। जब वह आँखों से ओझल हो गयी, तो वह कुरसी पर लेट गये। उनके हृदय में एक विचित्र आकांक्षा अंकुरित हो रही थी।

किन्तु वह आकांक्षा क्या थी ? मृग-तृष्णा ! मृग-तृष्णा !

१६

सन्ध्या हो गयी है। ऐसी उमस है कि साँस लेना कठिन है, और जेल की कोठरियों में यह उमस और भी असह्य हो गयी है। एक भी खिड़की नहीं, एक भी जंगला नहीं। उस पर मच्छरों का निरन्तर गान कानों के परदे फाड़े डालता है। सब-के सब दावत खाने के पहले गा-गाकर मस्त हो रहे हैं। एक आध मरभुक्खे पत्तलों की राह न देखकर कभी-कभी रक्त का स्वाद ले लेते हैं; लेकिन अधिकाश मण्डली उस समय का इन्तजार कर रही है, जब निद्रादेवी उनके सामने पत्तल रखकर कहेगी—प्यारे, खाओ जितना खा सको; पियो, जितना पी सको। रात तुम्हारी है और भण्डार भरपूर।

यहीं एक कोठरी में चक्रधर को भी स्थान दिया गया है। स्वाधीनता की देवी अपने सच्चे सेवकों को यही पद प्रदान करती है।

वह सोच रहे हैं—यह भीषण उत्पात क्यों हुआ ? हमने तो कभी भूलकर भी किसी से यह प्रेरणा नहीं की। फिर लोगों के मन में यह बात कैसे समायी ? इस प्रश्न का उन्हें यही उत्तर मिल रहा है कि यह हमारी नीयत का नतीजा है। हमारी शान्त-शिक्षा की तह में द्वेष छिपा हुआ था। हम भूल गये थे कि संगठित शक्ति आग्रहमय होती है; अत्याचार से उत्तेजित हो जाती है। अगर हमारी नीयत साफ होती, तो जनता के मन में कभी राजाओं पर चढ़ दौड़ने का आवेश न होता; लेकिन क्या जनता राजाओं के कैम्प की तरफ न जाती। तो पुलिस उन्हें बिना रोक टोक अपने घर जाने देती ? कभी नहीं। सवार के लिए घोड़े का अड़ जाना या बिगड़ जाना एक बात है। जो छेड़-छेड़ कर लड़ना चाहे, उससे कोई क्योंकर बचे ? फिर, अगर प्रजा अत्याचार का विरोध न करे, तो उसके संगठन से फायदा ही क्या ? इसीलिए तो उसे सारे उपदेश दिये जाते हैं। कठिन समस्या है। या तो प्रजा को उनके हाल पर छोड़ दूँ, उन पर कितने ही जुल्म हों, उनके निकट न जाऊँ; या ऐसे उपद्रवों के लिए तैयार रहूँ। राज्य पशु-बल का

प्रत्यक्ष रूप है। वह साधु नहीं है, जिसका बल धर्म है, वह विद्वान् नहीं है, जिसका बल तर्क है। वह सिपाही है, जो डण्डे के जोर से अपना स्वार्थ सिद्ध करता है। इसके सिवा उसके पास कोई दूसरा साधन ही नहीं।

यह सोचते-सोचते उन्हें अपना खयाल आया। मैं तो कोई आन्दोलन नहीं कर रहा था। किसी को भड़का नहीं रहा था। जिन लोगों की प्राण रक्षा के लिए अपनी जान जोखिम में डाली, वही मेरे साथ यह सलूक कर रहे हैं। इतना भी नहीं देख सकते कि जनता पर किसी का असर हो। उनकी इच्छा इसके सिवा और क्या है कि सभी आदमी अपनी अपनी आँखें बन्द कर रखें, उन्हें अपने आगे-पीछे, दायें-बायें देखने का हक नहीं। अगर सेवा करना पाप है, तो यह पाप तो मैं उस वक्त तक करता रहूँगा, जब तक प्राण रहेंगे। जेल की क्या चिन्ता ? सेवा करने के लिए सभी जगह मौके हैं। जेल में तो और भी ज्यादा। लालाजी को दु ख होगा, अम्माँजी रोयेंगी, लेकिन मजबूरी है। जब बाहर भी जबान और हाथ-पाँव बाँधे जायँगे, तो जैसे जेल वैसे बाहर। वह भी जेल ही है। हाँ, जरा उसका विस्तार अधिक है। मैं किसी तरह प्रतिज्ञा नहीं कर सकता।

वह इसी सोच विचार में पड़े हुए थे कि एकाएक मुशी वज्रधर कमरे में दाखिल हुए। उनकी देह पर एक पुरानी अचकन थी, जिसका मैल उसके असली रग को छिपाये हुए था, नीचे एक पतलून था, जो कमरबन्द न होने के कारण खिसककर इतना नीचा हो गया था कि घुटनों के नीचे एक झोला-सा पड़ गया था। ससार में कपड़े से ज्यादा बेवफा और कोई वस्तु नहीं होती। हमारा घर बचपन से बुढ़ापे तक हर अवस्था में हमारा है। वस्त्र हमारा होते हुए भी हमारा नहीं रहता। आज जो वस्त्र हमारा है, वह कल हमारा न रहेगा। उसे हमारे सुख दुख की जरा भी चिन्ता नहीं होती, फौरन् बेवफाई कर जाता है। हम जरा बीमार हो जायँ, किसी स्थान का जल-वायु जरा हमारे अनुकूल हो जाय कि बस, हमारे प्यारे वस्त्र, जिनके लिए हमने दर्जी की दूकान की खाक छान डाली थी, हमारा साथ छोड़ देते हैं। उन्हें अपना बनाओ, अपने नहीं होते। अगर जबरदस्ती गले लगाओ, तो चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं, हम तुम्हारे नहीं। वे केवल हमारी पूर्वावस्था के चिह्न होते हैं। मुशी वज्रधर की अचकन भी, जो उनकी अल्पकालीन लेकिन ऐतिहासिक तहसीलदारी की यादगार थी, पुकार पुकारकर कहती थी—मैं अब इनकी नहीं। किन्तु तहसीलदार साहब हुकूमत के जोर से उसे गले से चिपटाये हुए थे। तुम कितनी ही बेवफाई करो, मेरी कितनी ही बदनामी करो, छोड़ने का नहीं। अच्छे दिनों में तो तुमने हमारे साथ चैन किये, इन बुरे दिनों में तुम्हें क्यों छोड़ूँ ? यों भूत और वर्तमान के सग्राम की मूर्ति बने हुए तहसीलदार साहब चक्रधर के पास जाकर बोले—क्या करते हो, बेटा ? यहाँ तो बड़ा अँधेरा है। चलो, बाहर इक्का खड़ा है, बैठ लो। इधर ही से साहब के बँगले पर होते चलेंगे। जो कुछ वह कहें, लिख देना। बात ही कौन सी है। हमें कौन किसी से लड़ाई करनी है। कल ही से दौड़ लगा रहा हूँ। बारे आज दोपहर को जाके सीधा हुआ। पहले बहुत यों-त्यों करता रहा, लेकिन मैंने पिंड न छोड़ा।

मेम साहब के पास पहुँचकर रोने लगा। इस फन में तुम जानो उस्ताद हूँ। सरकारी मुलाजिमत और वह भी तहसीलदारी सब कुछ सिखा देती है। अँगरेजों को तो तुम जानते ही हो, मेमों के गुलाम होते हैं। मेम ने जाकर हजरत को डाँटा—क्यों तहसील-दार साहब को दिक कर रहे हो? अभी इनके लड़के को छोड़ दो, नहीं तो घर से निकल जाओ। यह डाँट पड़ी, तो हजरत के होश ठिकाने हुए। बोले—वेल, तहसीलदार साहब हम आपका बहुत इज्जत करता है। आपको हम नाउम्मेद नहीं करना चाहता, लेकिन जब तक आपका लड़का इस बात का कौल न करे कि वह फिर कभी गोलमाल न करेगा तब तक हम उसे नहीं छोड़ सकता। हम अभी जेलर को लिखता है कि उससे पूछो, राजी है? मैंने कहा—हुजूर, मैं खुद जाता हूँ और उसे हुजूर की खिदमत में लाकर हाजिर करता हूँ। या वहाँ न चलना चाहो, तो यहीं एक हलफनामा लिख दो। देर करने से क्या फायदा। तुम्हारी अम्माँ रो-रोकर जान दे रही हैं।

चक्रधर ने सिर नीचा करके कहा—अभी तो मैंने कुछ निश्चय नहीं किया। सोच-कर जवाब दूँगा। आप नाहक इतने हैरान हुए।

वज्रधर—कैसी बातें करते हो, बेटा? यहाँ नाक कटी जा रही है, घर से निकलना मुश्किल हो गया है और तुम कहते हो—सोचकर जवाब दूँगा। इसमें सोचने की बात ही क्या है? इस तहसीलदारी की लाज तो रखनी है। की तो थोड़े ही दिन, लेकिन आज तक लोग याद करते हैं और हमेशा याद करेंगे। कोई हाकिम इलाके में आया नहीं कि उससे मिलने दौड़ा। रसद के ढेर लगा देता था। हाकिमों के नौकर-चाकर तक खाते-खाते ऊब जाते थे। जमींदारों की तो मेरे नाम से जान निकल जाती थी। जिम साहब ने मेरी तारीफी चिट्ठियाँ पढ़ीं, तो दंग रह गये। इस इज्जत को तो निभाना ही पड़ेगा। चलो; हलफनामा लिख दो। घर में कल से आग नहीं जली।

चक्रधर—मेरी आत्मा किसी तरह अपने पाँव में बेड़ियाँ डालने पर राजी नहीं होती।

वज्रधर—मौका देखकर सब कुछ किया जाता है, बेटा! दुनिया में कोई किसी का नहीं होता। यही राजा साहब पहले तुमसे कितनी मुहब्बत से पेश आते थे। अब अपने सिर पर पड़ी, तो कैसे सारी बला तुम्हारे सिर ठेलकर निकल गये। दीवान साहब का लड़का गुरुसेवक पहले जाति के पीछे कैसा लट्ठ लिये फिरता था। कल डिप्टी कलक्टरी में नामजद हो गया। कहाँ तो हमसे हमदर्दी करता था, कहाँ अब विद्रोहियों के खिलाफ मसाला करने के लिए दौड़-धूप कर रहा है। जब सारी दुनिया अपना मतलब निकालने की धुन में है, तो तुम्हीं दुनिया की फिक्र में क्यों अपने को बरबाद करो? दुनिया जाय जहन्नुम में। हमें अपने काम से काम है, या दुनिया के झगड़ों से?

चक्रधर—अगर और लोग अपने मतलब के बन्दे हो जायँ और स्वार्थ के लिए अपने सिद्धान्तों से मुँह मोड़ बैठें, तो कोई वजह नहीं कि मैं भी उन्हीं की नकल करूँ। मैं ऐसे लोगों को अपना आदर्श नहीं बना सकता। मेरे आदर्श इनसे बहुत ऊँचे हैं।

वज्रधर—बस, तुम्हारी इसी जिद पर मुझे गुस्सा आता है। मैंने भी अपनी जवानी

में इस तरह के खिलवाड़ किये हैं, और उन लोगों को कुछ कुछ जानता हूँ, जो अपने को जाति के सेवक कहते हैं। बस, मुँह न खुलवाओ। सब अपने-अपने मतलब के बन्दे हैं, दुनियाँ के लूटने के लिए यह सारा स्वाँग फैला रखा है। हाँ, तुम्हारे जैसे दो-चार उल्लू भले ही फँस जाते हैं, जो अपने को तबाह कर डालते हैं। मैं तो सीधी-सी बात जानता हूँ—जो अपने घरवालों की सेवा न कर सका, वह जाति की सेवा कभी कर ही नहीं सकता, घर सेवा की सीढ़ी का पहला डण्डा है। इसे छोड़कर तुम ऊपर नहीं जा सकते।

चक्रधर जब अब भी प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर करने पर राजी न हुए, तो मुंशीजी निराश होकर बोले—अच्छा बेटा लो, अब कुछ न कहेंगे। जो तुम्हारी खुशी हो, वह करो मैं जानता था कि तुम जन्म के जिद्दी हो, मेरी एक न सुनोगे, इसीलिए आता ही न था, लेकिन तुम्हारी माता ने मुझे कुरेद कुरेदकर भेजा। कह दूँगा नहीं आता। सब कुछ करके हार गया, सब करके बैठो, उसे अपनी बात और अपनी शान मा-बाप से प्यारी है। जितना रोना हो, रो लो।

कठोर से-कठोर हृदय में भी मातृ स्नेह की कोमल स्मृतियाँ सञ्चित होती हैं। चक्रधर कातर होकर बोले—आप माताजी को समझाते रहिएगा। कह दीजिएगा, मुझे जरा भी तकलीफ नहीं है, मेरे लिए रंज न करें।

वज्रधर ने इतने दिनों तक योंही तहसीलदारी न की थी। ताड़ गये कि अबकी निशाना ठीक पड़ा। बेपरवाई से बोले—मुझे क्या गरज पड़ी है कि किसी के लिए झूठ बोलूँ। बिना किसी मतलब के झूठ बोलना मेरी नीति नहीं। जो आँखों से देख रहा हूँ, वही कहूँगा। रोयेंगी, रोयें इसमें मेरा क्या अख्तियार है। रोना तो उसकी तकदीर ही में लिखा है। जब से तुम आये हो, एक घूँट पानी तक मुँह में नहीं डाला। इसी तरह दो-चार दिन और रहीं तो प्राण निकल जायँगे। तुम्हारे सिर का बोझ टल जायगा। यह लो, वार्डर मुझे बुलाने आ रहे हैं। वक्त पूरा हो गया।

चक्रधर ने दीन भाव से कहा—अम्माँजी को एक बार यहाँ न लाइयेगा?

वज्रधर—तुम्हें इस दशा में देखकर तो उन्हें जो दो-चार दिन जीना है, वह भी न जिएँगी। क्या कहते हो? इकरारनामा लिखना हो, तो मेरे साथ दफ्तर में चलो।

चक्रधर करुणा से विह्वल हो गये। बिना कुछ कहे हुए मुंशीजी के साथ दफ्तर की ओर चले। मुंशीजी के चेहरे की झुर्रियाँ एक क्षण के लिए मिट गयीं। चक्रधर को गले लगाकर बोले—जीते रहो बेटा, तुमने मेरी बात मान ली। इससे बढ़कर और क्या खुशी की बात होगी।

दोनों आदमी दफ्तर में आये, तो जेलर ने कहा—कहिए, तहसीलदार साहब, आपकी हार हुई न? मैं कहता न था, वह न सुनेंगे। आजकल के नौजवान अपनी बात के आगे किसी की नहीं सुनते।

वज्रधर—जरा कलम दावात तो निकालिए। और बातें फिर होंगी।

दारोगा—(चक्रधर से) क्या आप इकरारनामा लिख रहे हैं! निकल गयी सारी

शेखी! इसी पर इतनी दून की लेते थे।

चक्रधर पर घड़ों पानी पड़ गया। मन की अस्थिरता पर लज्जित हो गये। जाति-सेवकों से सभी दृढ़ता की आशा रखते हैं, सभी उसे आदर्श पर बलिदान होते देखना चाहते हैं। जातीयता के क्षेत्र में आते ही उसके गुणों की परीक्षा अत्यन्त कठोर नियमों से होने लगती है और दोषों की सूक्ष्म नियमों से। परले सिरे का कुचरित्र मनुष्य भी साधुवेश रखनेवालों से ऊँचे आदर्श पर चलने की आशा रखता है, और उन्हें आदर्श से गिरते देखकर उनका तिरस्कार करने में संकोच नहीं करता। जेलर के कटाक्ष ने चक्रधर की झपकी हुई आँखें खोल दीं। तुरन्त उत्तर दिया—मैं जरा वह प्रतिज्ञा-पत्र देखना चाहता हूँ।

तहसीलदार साहब ने जेलर की मेज से वह कागज उठा लिया और चक्रधर को दिखाते हुए बोले—बेटा, इसमें कुछ नहीं है। जो कुछ मैं कह चुका हूँ, वही बातें जरा कानूनी ढंग से लिखी गयी हैं।

चक्रधर ने कागज को सरसरी तौर से देखकर कहा—इसमें तो मेरे लिए कोई जगह ही नहीं रही। घर पर कैदी बना रहूँगा। मेरा ऐसा खयाल न था। अपने हाथों अपने पाँव में बेड़ियाँ न डालूँगा। जब कैद ही होना है, तो कैदखाना क्या बुरा है? अब या तो अदालत से बरी होकर आऊँगा, या सजा के दिन काटकर।

यह कहकर चक्रधर अपनी कोठरी में चले आये और एकान्त में खूब रोये। आँसू उमड़ रहे थे; पर जेलर के सामने कैसे रोते?

एक सप्ताह के बाद मिस्टर जिम के इजलास में मुकदमा चलने लगा। तहसील-दार साहब ने न कोई वकील खड़ा किया, न अदालत में आये। यहाँ तो गवाहों के बयान होते थे, और वह सारे दिन जिम के बँगले पर बैठे रहते थे। साहब बिगड़ते थे, धमकाते थे; पर वह उठने का नाम न लेते। जिम जब बँगले से निकलते, तो द्वार पर मुंशीजी खड़े नजर आते थे। कचहरी से आते, तो भी उन्हें वहीं खड़ा पाते। मारे क्रोध के लाल हो जाते। दो-एक बार घूँसा भी ताना, लेकिन मुंशीजी को सिर नीचा किये देख दया आ गयी। अक्सर यह साहब के दोनों बच्चों को खिलाया करते, कन्धे पर लेकर दौड़ते, मिठाइयाँ ला लाकर खिलाते और मेम साहब को हँसानेवाले लतीफे सुनाते।

आखिर एक दिन साहब ने पूछा—तुम मुझसे क्या चाहता है?

वज्रधर ने अपनी पगड़ी उतारकर साहब के पैरों पर रख दी और हाथ जोड़कर बोले—हुजूर सब जानते हैं, मैं क्या अर्ज करूँ। सरकार की खिदमत में सारी उम्र कट गयी। मेरे देवता तो, ईश्वर तो, जो कुछ हैं, आप ही हैं। आपके सिवा मैं और किसके द्वार पर जाऊँ? किसके सामने रोऊँ? इन पके बालों पर तरस खाइए। मर जाऊँगा हुजूर, इतना बड़ा सदमा उठाने की ताकत अब नहीं रही!

जिम—हम छोड़ नहीं सकता, किसी तरह नहीं।

वज्रधर—हुजूर जो चाहें करें। मेरा तो आपसे कहने ही भर का अख्तियार है। हुजूर को दुआ देता हुआ मर जाऊँगा, पर दामन न छोड़ूँगा।

जिम—तुम अपने लड़के को क्यों नहीं समझाता?

वज्रधर—हुजूर नाखलफ है, और क्या कहूँ। खुदा सताये दुश्मन को भी ऐसी औलाद न दे। जी तो यही चाहता है कि हुजूर कम्बख्त का मुँह न देखूँ, लेकिन कलेजा नहीं मानता। हुजूर, मा-बाप का दिल कैसा होता है, इसे तो हुजूर भी जानते हैं।

अदालत में रोज खासी भीड़ हो जाती। वे सब मजदूर, जिन्होंने हड़ताल की थी, एक बार चक्रधर के दर्शनों को आ जाते, यदि चक्रधर का छोड़ने के लिए एक सौ आदमियों की जमानत माँगी जाती, तो उसके मिलने में बाधा न होती। सब जानते थे कि इन्हें हमारे पापों का प्रायश्चित्त करना पड़ रहा है। शहर से भी हजारों आदमी आ पहुँचते थे। कभी कभी राजा विशालसिंह भी आकर दर्शकों की गैलरी में बैठ जाते। लेकिन और कोई आये या न आये, सवेरे आये या देर से आये, किन्तु मनोरमा रोज ठीक दस बजे कचहरी में आ जाती और अदालत के उठने तक अपनी जगह पर मूर्ति की भाँति बैठी रहती। उसके मुख पर अब पहले की-सी अरुण आभा, वह चञ्चलता, वह प्रफुल्लता नहीं है। उसकी जगह दृढ संकल्प, विशाल करुणा, अलौकिक धैर्य और गहरी चिन्ता का फीका रंग छाया हुआ है, मानो कोई विरागिनी है, जिसके मुख पर हास्य की मृदु रेखा कभी खिंची ही नहीं। वह न किसी से बोलती है, न मिलती है, उसे देखकर सहसा कोई यह नहीं कह सकता कि यह वही आमोद-प्रिय बालिका है, जिसकी हँसी दूसरों को हँसाती थी।

वहाँ बैठी हुई मनोरमा कल्पनाओं का संसार रचा करती है। उस संसार में प्रेम-ही प्रेम है, आनन्द-ही-आनन्द है। उसे अनायास कहीं से अतुल धन मिल जाता है, कदाचित् कोई देवी प्रसन्न हो जाती है। इस विपुल धन को वह चक्रधर के चरणों पर अर्पण कर देती है, फिर भी चक्रधर उसके राजा नहीं होते, वह अब भी उसके आश्रयी ही रहते हैं। उन्हें आश्रय ही देने के लिए वह रानी बनती है, अपने लिए वह कोई मसूबे नहीं बाँधती। जो कुछ सोचती है, चक्रधर के लिए। चक्रधर से प्रेम नहीं है, केवल भक्ति है। चक्रधर को वह मनुष्य नहीं देवता समझती है।

सन्ध्या का समय था। आज पूरे १५ दिनों की कार्रवाई के बाद मिस्टर जिम ने दो साल की कैद का फैसला सुनाया था। यह कम-से-कम सजा थी, जो उस धारा के अनुसार दी जा सकती थी।

चक्रधर हँस-हँसकर मित्रों से विदा हो रहे थे। सबकी आँखों में जल भरा हुआ था। मजदूरों का दल इजलास के द्वार पर खड़ा 'जय जय' का शोर मचा रहा था। कुछ स्त्रियाँ खड़ी रो रही थीं। सहसा मनोरमा आकर चक्रधर के सम्मुख खड़ी हो गयी। उसके हाथ में एक फूलों का हार था। वह उसने उनके गले में डाल दिया और बोली—अदालत ने तो आपको सजा दे दी, पर इतने आदमियों में एक भी ऐसा न होगा, जिसके

दिल में आपसे सौगुना प्रेम न हो गया हो। आपने हमें सच्चे साहस, सच्चे आत्म बल और सच्चे कर्तव्य का रास्ता दिखा दिया। जाइए, जिस काम का बीड़ा उठाया है, उसे पूरा कीजिए, हमारी शुभ कामनाएँ आपके साथ हैं।

उसने इसी अवसर के लिए कई दिन से ये वाक्य रच रखे थे। इस भाँति उद्‌गारों को न बाँध रखने से वह आवेश में जाने क्या कह जाती।

चक्रधर ने केवल दबी आँखों से मनोरमा को देखा, कुछ बोल न सके। उन्हें शर्म आ रही थी कि लोग दिल में क्या खयाल कर रहे होंगे। सामने राजा विशालसिंह, दीवान साहब, ठाकुर गुरुसेवक और मुंशी वज्रधर खड़े थे। बरामदे में हजारों आदमियों की भीड़ थी। धन्यवाद के शब्द उनकी जबान पर आकर रुक गये। वह दिखाना चाहते थे कि मनोरमा की यह वीर-भक्ति उसकी बाल-क्रीड़ा मात्र है।

एक क्षण में सिपाहियों ने चक्रधर को बन्द गाड़ी में बिठा दिया और जेल की ओर ले चले। धीरे-धीरे कमरा खाली हो गया। मिस्टर जिम ने भी चलने की तैयारी की। तहसीलदार साहब के सिवा अब कमरे में और कोई न था। जब जिम कठघरे से नीचे उतरे, तो मुशीजी आँखों में आँसू भरे उनके पास आये और बोले—मिस्टर जिम, मैं तुम्हें आदमी समझता था; पर तुम पत्थर निकले। मैंने तुम्हारी जितनी खुशामद की, उतनी अगर ईश्वर की करता, तो मोक्ष पा जाता। मगर तुम न पसीजे। रिआया का दिल यों मुट्ठी में नहीं आता। यह धाँधली उसी वक्त तक चलेगी, जब तक यहाँ के लोगों की आँखें बन्द हैं। यह मजा बहुत दिनों तक न उठा सकोगे।

यह कहते हुए मुशीजी कमरे से बाहर चले आये। जिम ने कुपित नेत्रों से देखा; पर कुछ बोला नहीं।

चक्रधर जेल पहुँचे, तो शाम हो गयी थी। जाते-ही-जाते उनके कपड़े उतार लिये गये और जेल के वस्त्र मिले। लोटा और तसला भी दिया गया। गरदन में लोहे का नम्बर डाल दिया गया। चक्रधर जब ये कपडे पहनकर खडे हुए, तो उनके मुख पर विचित्र शान्ति की झलक दिखायी दी, मानो किसी ने जीवन का तत्व पा लिया हो। उन्होंने वही किया, जो उनका कर्तव्य था और कर्तव्य का पालन ही चित्त की शान्ति का मूल-मन्त्र है।

रात को जब वह लेटे, तो मनोरमा की सूरत आँखों के सामने फिरने लगी। उसकी एक-एक बात याद आने लगी और हर बात में कोई-न-कोई गुप्त आशय भी छिपा हुआ मालूम होने लगा। लेकिन इसका अन्त क्या? मनोरमा, तुम क्यो मेरे झोपड़े में आग लगाती हो? तुम्हें मालूम है, तुम मुझे किधर खींचे लिये जाती हो? ये बातें कल तुम्हें भूल जायँगी। किसी राजा रईस से तुम्हारा विवाह हो जायगा, फिर मुझे भूलकर भी न याद करोगी। देखने पर शायद पहचान भी न सको। मेरे हृदय में क्यों अपने खेल के घरौंदे बना रही हो? तुम्हारे लिए जो खेल है, वह मेरे लिए मौत है। मैं जानता हूँ, यह तुम्हारी बालक्रीडा है; लेकिन मेरे लिए वह आग की चिनगारी है। तुम्हारी

आत्मा कितनी पवित्र है, हृदय कितना सरल! धन्य होंगे उसके भाग्य, जिसकी तुम हृदयेश्वरी बनोगी, मगर इस अभागे को कभी अपनी सहानुभूति और सहृदयता से वंचित मत करना। मेरे लिए इतना ही बहुत है।

१७

राजा विशालसिंह की जवानी कब की गुजर चुकी थी, किन्तु प्रेम से उनका हृदय अभी तक वञ्चित था। अपनी तीनों रानियों में केवल वसुमती के प्रेम की कुछ भूली हुई-सी याद उन्हें आती थी। प्रेम वह प्याला नहीं है, जिससे आदमी छक जाय, उसकी तृष्णा सदैव बनी रहती है। राजा साहब को अब अपनी रानियाँ गँवारिनें-सी जँचती थीं, जिन्हें इसका जरा भी ज्ञान न था कि अपने को इस नयी परिस्थिति के अनुकूल कैसे बनायें, कैसे जीवन का आनन्द उठायें। वे केवल आभूषणों ही पर टूट रही थीं। रानी देवप्रिया के बहुमूल्य आभूषणों के लिए तो वह संग्राम छिड़ा कि कई दिन तक आपस में गोलियाँ-सी चलती रहीं। राजा साहब पर क्या बीत रही है, राज्य की क्या दशा है, इसकी किसी को सुध न थी। उनके लिए जीवन में यदि कोई वस्तु थी, तो वह रत्न और आभूषण थे। यहाँ तक कि रामप्रिया भी अपने हिस्से के लिए लड़ने-झगड़ने में सङ्कोच न करती थी। इस आभूषण-प्रेम के सिवा उनकी रुचि या विचार में कोई विकास न हुआ था। कभी-कभी तो उनके मुँह से ऐसी बातें निकल जाती थीं कि रानी देवप्रिया के समय की लौंडियाँ-बाँदियाँ मुँह मोड़कर हँसने लगतीं। उनका यह व्यवहार देखकर राजा साहब का दिल उनसे खट्टा होता जाता था।

यों अपने अपने ढंग पर तीनों ही उनसे प्रेम करती थीं, वसुमती के प्रेम में ईर्ष्या थी, रोहिणी के प्रेम में शासन। और रामप्रिया का प्रेम तो सहानुभूति की सीमा के अन्दर ही रह जाता था। कोई राजा के जीवन को सुखमय न बना सकती थी, उनकी प्रेम तृष्णा को तृप्त न कर सकती थी। उन सरोवरों के बीच में वह प्यास से तड़प रहे थे—उस पथिक की भाँति जो गन्दे तालाबों के सामने प्यास से व्याकुल हो। पानी बहुत था, पर पीने लायक नहीं। उसमें दुर्गन्ध थी, विष के कीड़े। इसी व्याकुलता की दशा में मनोरमा मीठे, ताजे जल की गागर लिये हुए सामने से आ निकली—नहीं, उसने उन्हें जल पीने को निमन्त्रित किया—और वह उसकी ओर लपके, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं।

राजा साहब के हृदय में नयी नयी प्रेम-कल्पनाएँ अंकुरित होने लगीं। उसकी एक-एक बात उन्हें अपनी ओर खींचती थी। वेष कितना सुन्दर था! वस्त्रों से सुरुचि झलकती थी, आभूषणों से सुबुद्धि। वाणी कितनी मधुर थी, प्रतिभा में डूबी हुई, एक एक शब्द हृदय की पवित्रता में रंगा हुआ। कितनी अद्भुत रूप-छटा है, मानों ऊषा के हृदय से ज्योतिर्मय मधुर संगीत की कोमल, सरस, शीतल ध्वनि निकल रही हो। वह अकेली आयी थी, पर यह विशाल दीवानखाना भरा-सा मालूम होता था। हृदय कितना उदार है, कितना कोमल! ऐसी रमणी के साथ जीवन कितना आनन्दमय, कितना

कल्याणमय हो सकता है। जो बालिका एक साधारण व्यक्ति के प्रति इतनी श्रद्धा रख सकती है, वह अपने पति के साथ कितना प्रेम करेगी, इसकी कल्पना से उनका चित्त फूल उठता था। जीवन स्वर्ग-तुल्य हो जायगा। और अगर परमात्मा की कृपा से किसी पुत्र का जन्म हुआ, तो कहना ही क्या! उसके शौर्य और तेज के सामने बड़े बड़े नरेश काँपेंगे। बड़ा प्रतापी, मनस्वी, कर्मशील राजा होगा, जो कुल को उज्ज्वल कर देगा। राजा साहब को इसकी लेशमात्र भी शंका न थी कि मनोरमा उन्हें बरने की इच्छा भी करेगी या नहीं। उनके विचार में अतुल सम्पत्ति अन्य सभी त्रुटियों को पूरा कर सकती थी।

दीवान साहब से पहले वह खिंचे रहते थे। अब उनका विशेष आदर-सत्कार करने लगे। उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई काम न करते। दो-तीन बार उनके मकान पर भी गये और अपनी सज्जनता की छाप लगा आये। ठाकुर साहब की भी कई बार दावत की। आपस मे घनिष्ठता बढ़ने लगी। हर्ष की बात यह थी कि मनोरमा के विवाह की बातचीत और कहीं नहीं हो रही थी। मैदान खाली था। इन अवसरों पर मनोरमा उनके साथ कुछ इस तरह दिल खोलकर मिली कि राजा साहब की आशाएँ और भी चमक उठीं। क्या उसका उनसे हँस-हँसकर बातें करना, बार बार उनके पास आकर बैठ जाना और उनकी बातों को ध्यान से सुनना, रहस्यपूर्ण नेत्रों से उनकी ओर ताकना और नित्य नयी छवि दिखाना, उसके मनोभावों को प्रकट न करता था? रहे दीवान साहब, वह सांसारिक जीव थे और स्वार्थ-सिद्धि के ऐसे अच्छे अवसर को कभी न छोड़ सकते थे, चाहे समाज इसका तिरस्कार ही क्यों न करे। हाँ, अगर शंका थी, तो लौंगी की ओर से थी। वह राजा साहब का आना-जाना पसन्द न करती थी। वह उनके इरादों को भाँप गयी थी और उन्हे दूर ही रखना चाहती थी। मनोरमा को बार-बार आँखों से इशारा करती थी कि अन्दर जा। किसी-न-किसी बहाने से उसे हटाने की चेष्टा करती रहती थी। उसका मुँह बन्द करने के लिए राजा साहब उससे लल्लो-चप्पो की बातें करते और एक बार एक कीमती साड़ी भी उसको भेंट की; पर उसने उसकी ओर देखे बिना ही उसे लौटा दिया। राजा साहब के मार्ग मे यही एक कंटक था और उसे हटाये बिना वह अपने लक्ष्य पर न पहुँच सकते थे। बेचारे इसी उधेड़-बुन मे पड़े रहते थे। आखिर उन्होंने मुन्शीजी को अपना भेदिया बनाना निश्चय किया। वही एक ऐसे प्राणी थे, जो इस कठिन समस्या को हल कर सकते थे। एक दिन उन्हें एकान्त मे बुलाया और राजसम्बन्धी बातें करने लगे।

राजा—इलाके का क्या हाल है? फसल तो अबकी बहुत अच्छी है।

मुशी—हुजूर, मैंने अपनी उम्र मे ऐसी अच्छी फसल नहीं देखी। अगर पूरब के इलाके मे २०० कुएँ बन जाते, तो फसल दुगुनी हो जाती। पानी का वहाँ बड़ा कष्ट है।

राजा—मैं खुद इसी फिक्र मे हूँ। कुएँ क्या, मैं तो एक नहर बनवाना चाहता हूँ। अरमान तो दिल में बड़े बड़े हैं; मगर सामने अँधेरा देखकर कुछ हौसला नहीं होता।

सोचता हूँ, किसके लिए यह जञ्जाल बढाऊँ ।

इस भूमिका के बाद विवाह की चर्चा अनिवार्य थी ।

राजा – मै अब क्या विवाह करूँगा ? जब ईश्वर ने अब तक सतान न दी, तो अब कौन-सी आशा है ?

मुशी—गरीबपरवर, अभी आपकी उम्र ही क्या है । मैने ८० बरस की उम्र मे आदमियों के भाग्य जागते देखे हैं ।

राजा—फिर मुझसे अपनी कन्या का विवाह कौन करेगा ?

मुन्शी—अगर आपका जरा-सा इशारा पा गया होता, तो अब तक कभी बहूजी घर में आ गयी होतीं । राजा से अपनी कन्या का विवाह करना किसे बुरा लगता है !

राजा—लेकिन मुझे तो अब ऐसी स्त्री चाहिए, जो सुशिक्षित हो, विचारशील हो । राज्य के मामलों को समझती हो, अँगरेजी रहन-सहन से परिचित हो । बड़े-बड़े अफसर आते हैं । उनकी मेमो का आदर-सत्कार कर सके । घर को अँगरेजो ढग से सजा सके । बातचीत करने मे चतुर हो । बाहर निकलने में न झिझके । ऐसी स्त्री आसानी से नही मिल सकती । मिली भी, तो उसमें चरित्र-दोष अवश्य होंगे । जहाँ ऐसी स्त्रियों को देखता हूँ, भ्रष्ट ही पाता हूँ । मैं तो ऐसी स्त्री चाहता हूँ, जो इन गुणों के साथ निष्कलक हो । ऐसी एक कन्या मेरी निगाह में है, लेकिन वहाँ मेरी रसाई नहीं हो सकती ।

मुन्शी—क्या इसी शहर में है ?

राजा—शहर में ही नहीं, घर ही में समझिए ।

मुन्शी—अच्छा, समझ गया । मैं तो चकरा गया कि इस शहर में ऐसा कौन राजा-रईस है, जहाँ हुजूर की रसाई नहीं हो सकती । वह तो सुनकर निहाल हो जायँगे, दौड़ते हुए करेंगे । कन्या सचमुच देवी है । ईश्वर ने उसे रानी बनने ही के लिए बनाया है । ऐसी विचारशील लड़की मेरी नजर से नहीं गुजरी ।

राजा—आप जरा घरवालों को आजमाइए तो । आप जानते हैं न, दीवान साहब के घर की स्वामिनी लौंगी ?

मुन्शी—वह क्या करेगी ?

राजा—वही सब कुछ करेगी । दीवान साहब को तो उसने भेड़ा बना रखा है । और है भी अभिमानिनी । न उस पर लालच का कुछ दाँव चलता है, न खुशामद का ।

मुन्शी—हुजूर, उसकी कुञ्जी मेरे पास है । खुशामद से तो उसका मिजाज और भी बढता है । कितने ही बड़े दरजे पर पहुँच जाय, पर है तो वह नीच जात । उसे धमका-कर, मारने का भय दिखाकर, आप उससे जो काम चाहें करा सकते हैं । नीच जात बातों से नहीं, लातों ही से मानती हैं ।

दूसरे दिन प्रातःकाल मुन्शीजी दीवान साहब के मकान पर पहुँचे । दीवान साहब मनोरमा के साथ गगा-स्नान को गये हुए थे । लौंगी अकेली बैठी हुई थी । मुन्शीजी फूले न समाये । ऐसा ही मौका चाहते थे । जाते-ही-जाते विवाह की बात छेड़ दी ।

लौंगी ने कहा—तहसीलदार साहब, कैसी बातें करते हो ? हमें अपनी रानी को धन के साथ बेचना थोड़े ही है। ब्याह जोड़ का होता है कि ऐसा बेजोड़। लड़की कंगाल को दे दे, पर बूढे को न दे। गरीब रहेगी तो क्या, जन्म-भर का रोना-झींकना तो न रहेगा।

मुंशी—तो राजा बूढे हैं ?

लौंगी—और नहीं क्या छैला-जवान हैं ?

मुंशी—अगर यह विवाह न हुआ, तो समझ लो कि ठाकुर साहब कहीं के न रहेंगे। तुम नीच जात राजाओं का स्वभाव क्या जानो ? राजा लोगों को जहाँ किसी बात की धुन सवार हो गयी, फिर उसे पूरा किये बिना न मानेंगे, चाहे उनका राज्य ही क्यों न मिट जाय। राजाओं की बात को दुलखना हँसी नहीं है, क्रोध में आकर न-जाने क्या हुक्म दे बैठें। बात तो समझती ही नहीं हो, सब धान बाईस पसेरी ही तौलना चाहती हो।

लौंगी—यह तो अनोखी बात है कि या तो अपनी बेटी दे, या मेरा गाँव छोड़। ऐसी धमकी देकर थोड़े ही ब्याह होता है।

मुंशी—राजाओं-महाराजाओं का काम इसी तरह होता है। अभी तुम इन राजा साहब को जानती नहीं हो। सैकड़ों आदमियों को भुनवा के रख दिया, किसी ने पूछा तक नहीं। अभी चाहे जिसे लुटवा लें, चाहे जिसके घर में आग लगवा दें। अफसरों से दोस्ती है ही, कोई उनका कर ही क्या सकता है ? जहाँ एक अच्छी-सी डाली भेज दी, काम निकल गया।

लौंगी—तो यों कहो कि पूरे डाकू हैं।

मुंशी—डाकू कहो, लुटेरे कहो, सभी कुछ हैं। बात जो थी मैंने साफ-साफ कह दी। यह चारपाई पर बैठकर पान चबाना भूल जायगा।

लौंगी—तहसीलदार साहब, तुम तो धमकाते हो, जैसे हम राजा के हाथों बिक गये हों। रानी रूठेंगी, अपना सोहाग लेंगी। अपनी नौकरी ही लेंगे, ले जायँ। भगवान् का दिया खाने-भर को बहुत है।

मुंशी—अच्छी बात है; मगर याद रखना, खाली नौकरी से हाथ धोकर गला न छूटेगा। राजा लोग जिसे निकालते हैं कोई-न-कोई दाग भी जरूर लगा देते हैं। एक झूठा इलजाम भी लगा देंगे, तो कुछ करते-धरते न बनेगा। यही कह दिया कि इन्होंने सरकारी रकम उड़ा ली है, तो बताओ क्या होगा ? समझ से काम लो। बड़ों से रार मोल लेने में अपना निबाह नहीं है। तुम अपना मुँह बन्द रखो, हम दीवान साहब को राजी कर लेंगे। अगर तुमने भाँजी मारी, तो बला तुम्हारे ही सिर आयेगी। ठाकुर साहब चाहे इस वक्त तुम्हारा कहना मान जायँ, पर जब चरखे में फँसेंगे तो सारा गुस्सा तुम्हीं पर उतारेंगे। कहेंगे, तुम्हीं ने मुझे चौपट किया। सोचो जरा।

लौंगी गहरे सोच में पड़ गयी। वह और सब कुछ सह सकती थी, दीवान साहब

का क्रोध न सह सकती थी। यह भी जानती थी कि दीवान साहब के दिल में ऐसा खयाल आना असम्भव नहीं है। मनोरमा के रंग ढंग से भी उसे मालूम हो गया था कि वह राजा साहब को दुत्कारना नहीं चाहती। जब वे लोग राजी हैं, तो मैं क्यों बोलूँ। कहीं पीछे से कोई आफत आयी, तो मेरे ही सिर के बाल नोचे जायँगे। मुंशीजी ने भले चेता दिया, नहीं तो मुझसे बिना बोले कब रहा जाता।

अभी उसने कुछ जवाब न दिया था कि दीवान साहब स्नान करके लौट आये। उन्हें देखते ही लौंगी ने इशारे से बुलाया और अपने कमरे में ले जाकर उनके कान में बोली—राजा साहब ने मनोरमा के ब्याह के लिए सँदेशा भेजा है।

ठाकुर—तुम्हारी क्या सलाह है?

लौंगी—जो तुम्हारी इच्छा हो करो, मेरी सलाह क्या पूछते हो?

ठाकुर—यही मेरी बात का जवाब है? मुझे अपनी इच्छा से करना होता, तो पूछता ही क्यों?

लौंगी—मेरी बात मानोगे तो हई नहीं, पूछने से फायदा?

ठाकुर—कोई बात बता दो, जो मैंने तुम्हारी इच्छा से न की हो।

लौंगी—कोई बात भी मेरी इच्छा से नहीं होती। एक बात हो, तो बताऊँ। तुम्हीं कोई बात बता दो, जो मेरी इच्छा से हुई हो। तुम करते हो अपने ही मन की। हाँ, मैं अपना धर्म समझ के भूँक लेती हूँ।

ठाकुर—तुम्हारी इन्हीं बातों पर मेरा मारने को जी चाहता है। तू क्या चाहती है कि मैं अपनी जबान कटवा लूँ?

लौंगी—उसकी परीच्छा तो अभी हुई जाती है। तब पूछती हूँ कि मेरी इच्छा से हो रहा है कि बिना इच्छा के। मैं कहती हूँ, मुझे यह विवाह एक आँख नहीं भाता। मानते हो?

ठाकुर—हाँ, मानता हूँ। जाकर मुंशीजी से कहे देता हूँ।

लौंगी—मगर राजा साहब बुरा मान जायँ, तो?

ठाकुर—कुछ परवा नहीं।

लौंगी—नौकरी जाती रहे, तो?

ठाकुर—कुछ परवा नहीं। ईश्वर का दिया बहुत है, और न भी हो तो क्या? एक बात निश्चय कर ली, तो उसे करके छोड़ेंगे, चाहे उसके पीछे प्राण ही क्यों न चले जायँ।

लौंगी—मेरे सिर के बाल तो न नोचने लगोगे कि तूने ही मुझे चौपट किया? अगर ऐसा करना हो, तो मैं साफ कहती हूँ, मंजूर कर लो। मुझे बाल नुचवाने का बूता नहीं है।

ठाकुर—क्या मुझे बिलकुल गया गुजरा समझती है? मैं जरा झगड़े से बचता हूँ, तो तूने समझ लिया कि इनमें कुछ दम ही नहीं है। लत्ते-लत्ते उड़ जाऊँ, पर विशाल-

सिंह से लड़की का विवाह न करूँ। तूने मुझे समझा क्या है? लाख गया-बीता हूँ, तो भी क्षत्रिय हूँ।

दीवान साहब उसी जोश में उठे, आकर मुशीजी से बोले—आप राजा साहब से जाकर कह दीजिए कि हमें विवाह करना मजूर नहीं।

लौंगी भी ठाकुर साहब के पीछे-पीछे आयी थी। मुशीजी ने उसकी तरफ तिरस्कार से देखकर कहा—आप इस वक्त गुस्से में मालूम होते हैं। राजा साहब ने बड़ी मिन्नत करके और बहुत डरते-डरते आपके पास यह सन्देशा भेजा है। आपने मजूर न किया, तो मुझे भय है कि वह जहर न खा लें।

लौंगी—भला, जब जहर खाने लगेंगे, तब देखी जायगी। इस वक्त आप जाकर यही कह दीजिए।

मुशी—दीवान साहब, इस मामले में जरा सोच-समझकर फैसला कीजिए।

लौंगी—राजा साहब के दौलत के सिवा और क्या है? दौलत ही तो संसार में सब कुछ नहीं।

मुशी—सब कुछ न हो; लेकिन इतनी तुच्छ भी नहीं।

लौंगी—शादी-ब्याह के मामले में मैं उसे तुच्छ समझती हूँ।

मुशी—यह मैं कब कहता हूँ कि दौलत संसार की सब चीजों से बढ़कर है। इतना आप लोगों की दुआ से जानता हूँ कि सुख का मूल सन्तोष है। एक आदमी जल और स्थल के सारे रत्न पाकर गरीब रह सकता है, दूसरा फटे वस्त्रों और रूखी रोटियों में भी धनी हो सकता है

सहसा मनोरमा आकर खड़ी हो गयी। यह वाक्य उसके कान में भी पड़ गया। समझी, धन की निन्दा हो रही है। बात काटकर बोली—इसे सन्तोष नहीं, मूर्खता कहना चाहिए।

ठाकुर—अगर सन्तोष मूर्खता है, तो संसार-भर के नीति-ग्रन्थ, उपनिषदों से लेकर कुरान तक मूर्खता के ढेर हो जायँगे। सन्तोष से अधिक और किसी तप की महिमा नहीं गायी गयी है। धन ही पाप, द्वेष और अन्याय का मूल है।

मनोरमा—ससार के धर्मग्रन्थ, उपनिषदों से लेकर कुरान तक, उन लोगों के रचे हुए हैं जो रोटियों को मुहताज थे। उन्होंने अगूर खट्टे समझकर धन की निन्दा की, तो कोई आश्चर्य नहीं। अगर कुछ ऐसे आदमी हैं, जो धनी होकर भी धन की निन्दा करते हैं, तो मैं उन्हें धूर्त समझती हूँ, जिन्हें अपने सिद्धान्त पर व्यवहार करने का साहस नहीं।

ठाकुर साहब ने समझा, मनोरमा ने यह व्यंग उन्हीं पर किया है। चिढ़कर बोले—ऐसे लोग भी तो हो गये हैं, जिन्होंने धन ही नहीं, राज-पाट पर भी लात मार दी है।

मनोरमा—ऐसे आदमियों के नाम उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। मेरी समझ में तो धन ही सुख और कल्याण का मूल है। संसार में जितना परोपकार होता है, धनियों ही के हाथों होता है।

ठाकुर—ससार मे जितना अत्याचार होता है, वह भी तो बनियो ही के हाथों होता है।

मनोरमा—हाँ मानती हूँ, धन से भी अत्याचार होता है, लेकिन काँटे से फूल का आदर कम नहीं होता। ससार में धन सर्वप्रधान वस्तु है। जिन्दगी का कौन-सा काम है, जो धन के बिना चल सके। धर्म भी बिना धन के नहीं हो सकता। यही कारण है कि ससार ने धन को जीवन का लक्ष्य मान लिया है। धन का निरादर करके हमने प्रभुत्व खो दिया और यदि हमें संसार में रहना है, तो हमें धन की उपासना करनी पड़ेगी। इसी से लोक-परलोक मे हमारा उद्धार होगा।

मुशीजी ने विजय-गर्व से हँसकर कहा—कहिए, दीवान साहब, मेरी डिग्री हुई कि अब भी नहीं?

ठाकुर—मुझे मालूम होता है, धन के माहात्म्य पर इसने कोई लेख लिखा था और वही पढ सुनाया। क्यों मनोरमा, है न यही बात?

मनोरमा—अभी तो मैंने यह लेख नहीं लिखा, लेकिन लिखूँगी तो उसमें यही विचार प्रकट करूँगी। मेरे शब्दों में कदाचित् आपको दुराग्रह का भाव झलकता हुआ मालूम होता हो। इसका कारण यह कि मैं अभी एक अँग्रेजी किताब पढे चली आती हूँ, जिसमें सन्तोष ही का गुणानुवाद किया गया है।

मुशीजी ने देखा मनोरमा के मन की थाह लेने का अच्छा अवसर है। ठाकुर साहब की ओर आँखें मारकर बोले—मनोरमा, मेरे विचार तुम्हारे विचारों से बिलकुल मिलते हैं। धन से जितना अधर्म होता है, अगर ज्यादा नहीं, तो उतना ही धर्म भी होता है; लेकिन कभी-कभी ऐसे भी मौके आ जाते हैं, जब धन के मुकाबले में और कितनी ही बातों का लिहाज करना पड़ता है। कन्या का विवाह ऐसा ही मौका है। मेरी कन्या का विवाह होनेवाला है। मेरे सामने इस वक्त दो वर हैं। एक तो अधेड़ आदमी है, पर दौलत उसके घर में गुलामी करती है। दूसरा एक सुन्दर युवक है, बहुत ही होनहार, लेकिन गरीब। बताओ, किससे कन्या का विवाह करूँ?

ठाकुर—अगर कन्या की बात है, तो मै यही सलाह दूँगा कि आप दौलत पर न जाइए। उसी युवक से विवाह कीजिए।

लौंगी—ऐसा तो होना ही चाहिए। ब्याह जोड़े का अच्छा होता। ऐसा ब्याह किस काम का कि वह बहू का बाप मालूम हो, बेचारी कन्या के दिन रोते ही बीतें।

मुशी—और तुम्हारी क्या राय है, मनोरमा?

मनोरमा ने कुछ लजाते हुए कहा—आप जैसा उचित समझें, करें।

मुशी—नहीं, इस विषय में तुम्हारी राय बुड्ढों की राय से बढकर है।

मनोरमा—मैं तो समझती हूँ कि जो दिन खाने पहनने, सैर-तमाशे के होते हैं, अगर वे किसी गरीब आदमी के साथ चक्की चलाने और चौका बरतन करने में कट गये, तो जीवन का सुख ही क्या? हाँ, इतना मैं अवश्य कहूँगी कि उम्र का एक साल एक लाख से कम मूल्य नहीं रखता।

यह कहकर मनोरमा चली गयी। उसके जाने के बाद दीवान साहब कई मिनट तक जमीन की ओर ताकते रहे। अन्त में लौंगी से बोले—तुमने इसकी बातें सुनीं ?

लौंगी—सुनी क्यों नहीं, क्या बहरी हूँ ?

ठाकुर—फिर ?

लौंगी—फिर क्या, लड़के हैं, जो मुँह में आया बकते हैं, उनके बकने से क्या होता है। मा-बाप का धर्म है कि लड़कों के हित ही की करें। लड़का माहुर माँगे, तो क्या मा-बाप उसे माहुर दे देंगे ? कहिए, मुशीजी !

मुशी—हाँ, यह तो ठीक ही है; लेकिन जब लड़के अपना भला-बुरा समझने लगें, तो उनका रुख देखकर ही काम करना चाहिए।

लौंगी—जब तक मा-बाप जीते हैं, तब तक लड़कों को बोलने का अख्तियार ही क्या है। आप जाकर राजा साहब से यही कह दीजिए।

मुशी—दीवान साहब, आपका भी यही फैसला है ?

ठाकुर—साहब, मै इस विषय में सोचकर जवाब दूँगा। हाँ, आप मेरे दोस्त हैं; इस नाते आपसे इतना कहता हूँ कि आप कुछ इस तरह गोल-मोल बातें कीजिए कि मुझ पर कोई इलजाम न आने पाये। आपने तो बहुत दिनों अफसरी की है, और अफसर लोग ऐसी बातें करने में निपुण भी होते हैं।

मुशीजी मन मे लौंगी को गालियाँ देते हुए यहाँ से चले। जब फाटक के पास पहुँचे, तो देखा कि मनोरमा एक वृक्ष के नीचे घास पर लेटी हुई है। उन्हें देखते ही वह उठकर खड़ी हो गयी। मुशीजी जरा ठिठक गये और बोले—क्यों मनोरमा रानी, तुमने जो मुझे सलाह दी, उस पर खुद अमल कर सकती हो ?

मनोरमा ने शर्म से सुर्ख होकर कहा—यह तो मेरे माता पिता के निश्चय करने की बात है।

मुशीजी ने सोचा, अगर जाकर राजा साहब से कहे देता हूँ कि दीवान साहब ने साफ इन्कार कर दिया, तो मेरी किरकिरी होती है। राजा साहब कहेंगे, फिर गये ही किस बिरते पर थे। शायद यह भी समझें कि इसे मामला तय करने की तमीज ही नहीं। तहसीलदारी नहीं की, भाड़ झोंकना रहा, इसलिए आपने जाकर दून की हाँकनी शुरू की—हुजूर, बुढ़िया बला की चुड़ैल है; हत्थे पर तो आती ही नहीं, इधर भी झुकती है, उधर भी; और दीवान साहब तो निरे मिट्टी के ढेले हैं।

राजा साहब ने अधीर होकर पूछा—आखिर आप तय क्या कर आये ?

मुशी—हुजूर के एकबाल से फतह हुई, मगर दीवान साहब खुद आपसे शादी की बातचीत करते झेंपते हैं। आपकी तरफ से बातचीत शुरू हो, तो शायद उन्हें इन्कार न होगा। मनोरमा रानी तो सुनकर बहुत खुश हुई।

राजा—अच्छा ! मनोरमा खुश हुई ! खूब हँसी होगी। आपने कैसे जाना कि खुश है ?

मुशी—हुजूर, सब कुछ साफ साफ कह डाला, उम्र का फर्क कोई चीज नहीं, आपस में मुहब्बत होनी चाहिए। मुहब्बत के साथ दौलत भी हो, तो क्या पूछना। हाँ, दौलत इतनी होनी चाहिए, जो किसी तरह कम न हो। और कितनी ही बातें इसी किस्म की हुई। बराबर मुसकराती रहीं।

राजा—तो मनोरमा को पसन्द है?

मुशी—उन्हीं की बातें सुनकर तो लौंगी भी चकरायी।

राजा—तो मैं आज ही बातचीत शुरू कर दूँ? कायदा तो यही है कि उधर से 'श्री गणेश' होता, लेकिन राजाओं में अक्सर पुरुष की ओर से भी छेड़छाड़ होती है। पश्चिम में तो सनातन से यही प्रथा चली आयी है। मैं आज ठाकुर साहब की दावत करूँगा और मनोरमा को भी बुलाऊँगा। आप भी जरा तकलीफ कीजिएगा।

राजा साहब ने बाकी दिन दावत का सामान करने में काटा। हजामत बनवायी। एक भी पका बाल न रहने दिया। उबटन मलवाया। अपनी अच्छी से अच्छी अचकन निकाली, केसरिये रग का रेशमी साफा बाँधा, गले में मोतियों की माला डाली, आँखों से सुरमा लगाया, माथे में केशर का तिलक लगाया, कमर में रेशमी कमरबन्द लपेटी, कन्धे पर शाह रुमाल रखा, मखमली गिलाफ में रखी हुई तलवार कमर से लटकायी और यों सज-सजाकर जब वह खड़े हुए, तो खासे छैला मालूम होते थे। ऐसा बाँका जवान शहर में किसी ने कम देखा होगा। उनके सौम्य स्वरूप और सुगठित शरीर पर यह वस्त्र और आभूषण खूब खिल रहे थे।

निमन्त्रण तो जा ही चुका था। रात के ९ बजते बजते दीवान साहब और मनोरमा आ गये। राजा साहब उनका स्वागत करने दौड़े। मनोरमा ने उनकी ओर देखा तो मुसकरायी, मानो कह रही थी—ओ हो! आज तो कुछ और ही ठाठ हैं। उसने आज और ही वेष रचा था। उसकी देह पर एक भी आभूषण न था। केवल एक सुफेद साड़ी पहने हुए थी। उसका रूप माधुर्य कभी इतना प्रस्फुटित न हुआ था। अलकार भावों के अभाव का आवरण है। सुन्दरता को अलकारों की जरूरत नहीं। कोमलता अलकारों का भार नहीं सह सकती।

दीवान साहब इस समय बहुत चिन्तित मालूम होते थे। उनकी रक्षा करने के लिए यहाँ लौंगी न थी और बहुत जल्द उनके सामने एक भीषण समस्या आनेवाली थी। दावत की मशा वह खूब समझ रहे थे। कुछ समझ ही में न आता था, क्या कहूँगा? लौंगी ने चलते-चलते उनसे समझा के कह दिया था—'हाँ' न करना। साफ-साफ कह देना, यह बात नहीं हो सकती, मगर ठाकुर साहब उन वीरों में थे, जिनकी पीठ पर पाली में भी हाथ फेरने की जरूरत रहती है। बेचारे बिल-सा ढूँढ रहे थे कि कहाँ भाग जाऊँ। सहसा मुन्शी वज्रधर आ गये। दीवान साहब को आँखें-सी मिल गयीं। दौड़े और उन्हें लेकर एक अलग कमरे में सलाह करने लगे। मनोरमा पहले ही झूले घर में आकर इधर-उधर टहल रही थी। अब न वह हरियाली थी, न वह रोनक, न वह सफाई। सन्नाटा

छाया हुआ था। राजा साहब ने उसे इधर आते देख लिया। वह उससे एकान्त में बातें करना चाहते थे। मौका पाया, तो उसके सामने आकर खड़े हो गये।

मनोरमा ने कहा—रानीजी के सामने इस भूले घर में कितनी रौनक थी। अब जिधर देखती हूँ, सूना ही-सूना दिखायी देता है।

राजा—अब तुम्हीं से इसकी फिर रौनक होगी, मनोरमा! यह भी मेरे हृदय की तरह तुम्हारी ओर आँखें लगाये बैठा है!

प्रणय के ये शब्द पहली बार मनोरमा के कानों में पड़े। उसका मुखमण्डल लज्जा से आरक्त हो गया। वह सहमी-सी खड़ी रही। कुछ बोल न सकी।

राजा साहब फिर बोले—मनोरमा, यद्यपि मेरे तीन रानियाँ हैं; पर मेरा हृदय अबतक अनुराग है, उस पर आज तक किसी का अधिकार नहीं हुआ। कदाचित् वह अज्ञात रूप से तुम्हारी राह देख रहा था। तुमने मेरी रानियों को देखा है, उनकी बातें भी सुनी हैं। उनमें ऐसी कौन है, जिसकी प्रेमोपासना की जाय। मुझे तो यही आश्चर्य होता है कि इतने दिन इनके साथ कैसे काटे!

मनोरमा ने गम्भीर होकर कहा—मेरे लिए यह सौभाग्य की बात होगी कि आपकी प्रेम-पात्री बनूँ; पर मुझे भय है कि मैं आदर्श पत्नी न बन सकूँगी। कारण तो नहीं बतला सकती, मैं स्वय नहीं जानती; पर मुझे यह भय अवश्य है। मेरी हार्दिक इच्छा सदैव यही रही है कि किसी बन्धन में न पड़ूँ। पक्षियों की भाँति स्वाधीन रहना चाहती हूँ।

राजा ने मुस्कराते हुए कहा—मनोरमा, प्रेम तो कोई बन्धन नहीं है।

मनोरमा—प्रेम बन्धन न हो; पर धर्म तो बन्धन है। मैं प्रेम के बन्धन से नहीं घबराती, धर्म के बन्धन से घबराती हूँ। आपको मुझ पर बड़ी कठोरता से शासन करना होगा। मैं आपको अपनी कुञ्जी पहले ही से बताये देती हूँ। मैं आपको धोखा नहीं देना चाहती। मुझे आपसे प्रेम नहीं है। शायद हो भी न सकेगा। (मुस्कराकर) मैं रानी तो बनना चाहती हूँ; पर किसी राजा की रानी नहीं। हाँ, आपको प्रसन्न रखने की चेष्टा करूँगी। जब आप मुझे भटकते देखें, टोक दें। मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं प्रेम करने के लिए नहीं, केवल विलास करने के लिए ही बनायी गयी हूँ।

राजा—तुम अपने ऊपर जुल्म कर रही हो, मनोरमा! तुम्हारा वेष तुम्हारी बातों का विरोध कर रहा है। तुम्हारे हृदय में वह प्रकाश है, जिसकी एक ज्योति मेरे समस्त जीवन के अंधकार का नाश कर देगी।

मनोरमा—मैं दोनों हाथों से धन उड़ाऊँगी। आपको बुरा तो न लगेगा? मैं धन की लौंडी बनकर नहीं, उनकी रानी बनकर रहूँगी।

राजा—मनोरमा, राज्य तुम्हारा है, धन तुम्हारा है, मैं तुम्हारा हूँ। सब तुम्हारी इच्छा के दास होंगे।

मनोरमा—मुझे बातें करने की तमीज नहीं है। यह तो आप देख ही रहे हैं।

लोंगी अम्माँ कहती हैं कि तू बातें करती है, तो लाठी-सी मारती है।

राजा—मनोरमा, उषा में अगर संगीत होता, तो वह भी इतना कोमल न होता।

मनोरमा—पिताजी से तो अभी आपकी बातें नहीं हुईं ?

राजा—अभी तो नहीं, मनोरमा! अवसर पाते ही करूँगा; पर कहीं उन्होंने इकार कर दिया तो ?

मनोरमा—मेरे भाग्य का निर्णय वही कर सकते हैं। मैं उनका अधिकार नहीं छीनूँगी।

दोनों आदमी बरामदे में पहुँचे, तो मुन्शीजी और दीवान साहब खड़े थे। मुन्शी जी ने राजा साहब से कहा—हुजूर को मुबारकबाद देता हूँ।

दीवान—मुन्शीजी...

मुन्शी—हुजूर, आज जलसा होना चाहिए। (मनोरमा से) महारानी, आपका सोहाग सदा सलामत रहे।

दीवान—जरा मुझे सोच -

मुन्शी—जनाब, शुभ काम में सोच-विचार कैसा। भगवान् जोड़ी सलामत रखें!

सहसा बाग में बैंड बजने लगा और राजा के कर्मचारियों का समूह इधर उधर से आ आकर राजा साहब को मुबारकबाद देने लगा। दीवान साहब सिर झुकाये खड़े थे। न कुछ कहते बनता था, न सुनते। दिल में मुन्शीजी को हजारों गालियाँ दे रहे थे कि इसने मेरे साथ कैसी चाल चली! आखिर यह सोचकर दिल को समझाया कि लोगों से सब हाल कह दूँगा। भाग्य में यही बदा था, तो मैं करता क्या ? मनोरमा भी तो खुश है।

बारह बजते-बजते मेहमान लोग सिधारे। राजा साहब के पाँव जमीन पर न पड़ते थे। सारे आदमी सो रहे थे, पर वह बगीचे में हरी हरी घास पर टहल रहे थे। चैत्र की शीतल, सुखद, मन्द समीर, चन्द्रमा की शीतल सुखद, मन्द छटा और बाग की शीतल, सुखद, मन्द, सुगन्ध में उन्हें भी ऐसा उल्लास, ऐसा आनन्द न प्राप्त हुआ था। मन्द समीर में मनोरमा थी, चन्द्र की छटा में मनोरमा थी, शीतल सुगन्ध मे मनोरमा थी, और उनके रोम-रोम में मनोरमा थी। सारा विश्व मनोरमा-मय हो रहा था।

१८

चक्रधर को जेल में पहुँचकर ऐसा मालूम हुआ कि वह एक नयी दुनिया में आ गये, जहाँ मनुष्य-ही-मनुष्य हैं, ईश्वर नहीं। उन्हें ईश्वर के दिये हुए वायु और प्रकाश के मुश्किल से दर्शन होते थे। मनुष्य के रचे हुए संसार में मनुष्यत्व की कितनी हत्या हो सकती है, इसका उज्ज्वल प्रमाण सामने था। भोजन ऐसा मिलता था, जिसे शायद कुत्ते भी सूँघकर छोड़ देते। वस्त्र ऐसे, जिन्हें कोई भिखारी भी पैरों से ठुकरा देता, और परिश्रम इतना करना पड़ता था जितना बैल भी न कर सके। जेल शासन का विभाग नहीं, पाशविक व्यवसाय है, आदमियों से जबरदस्ती काम लेने का बहाना, अत्याचार

करते और बात हँसी में उड़ा देते। एक कहता—लो धन्नासिंह, अब हम लोग वैकुण्ठ चलेंगे, कोई डर नहीं है, भगवान् क्षमा कर ही देंगे, वहाँ खूब जलसा रहेगा। दूसरा कहता—धन्नासिंह, मैं तुझे न जाने दूँगा, ऊपर से ऐसा ढकेलूँगा कि हड्डियाँ टूट जायँगी। भगवान् से कह दूँगा कि ऐसे पापी को वैकुण्ठ में रखोगे, तो तुम्हारे नरक में स्यार लोटेंगे। तीसरा कहता—यार, वहाँ गाँजा मिलेगा कि नहीं? अगर गाँजे को तरसना पड़ा, तो वैकुण्ठ ही किस काम का। वैकुण्ठ तो जब जानें कि वहाँ ताड़ी और शराब की नदियाँ बहती हों। चौथा कहता—अजी यहाँ से बोरियों गाँजा और चरस लेते चलेंगे, वहाँ के रखवाले क्या घूस न खाते होंगे? उन्हें भी कुछ दे दिलाकर काम निकाल लेंगे। जब यहाँ जुटा लिया, तो वहाँ भी जुटा ही लेंगे। पर ऐसी अभक्तिपूर्ण आलोचनाएँ सुनकर भी चक्रधर हताश न होते। शनैः शनैः उनकी भक्ति-चेतना स्वयं दृढ़ होती जाती थी। भक्ति की ऐसी शिक्षा उन्हें कदाचित् और कहीं न मिल सकती।

बलवान् आत्माएँ प्रतिकूल दशाओं ही में उत्पन्न होती हैं। कठिन परिस्थिति में उनका धैर्य और साहस, उनकी सहृदयता और सहिष्णुता, उनकी बुद्धि और प्रतिभा अपना मौलिक रूप दिखाती हैं। आत्मोन्नति के लिए कठिनाइयों से बढ़कर कोई विद्यालय नहीं, कठिनाइयों ही मे ईश्वर के दर्शन होते हैं और हमारी उच्चतम शक्तियाँ विकास पाती हैं। जिसने कठिनाइयों का अनुभव नहीं किया, उसका चरित्र बालू की भीत है, जो वर्षा के पहले ही झोंके में गिर पड़ती है। उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। महान् आत्माएँ कठिनाइयों का स्वागत करती हैं, उनसे घबराती नहीं; क्योंकि यहाँ आत्मोत्कर्ष के जितने मौके मिलते हैं, उतने और किसी दशा मे नहीं मिल सकते। चक्रधर इस परिस्थिति को एक शिक्षार्थी की दृष्टि से देखते थे और विचलित न होते थे। उन्हें विश्वास था कि प्रकृति उन्हीं प्राणियों को परीक्षा में डालती है, जिनके द्वारा उसे संसार में कोई महान् उद्देश्य पूरा कराना होता है।

इस भाँति कई महीने गुजर गये। एक दिन सन्ध्या-समय चक्रधर दिन-भर के कठिन श्रम के बाद बैठे सन्ध्या कर रहे थे कि कई कैदी आपस मे बातें करते हुए निकले—आज इस दारोगा की खबर लेनी चाहिए। जब देखो, गालियाँ दिया करता है, सीधे मुँह तो बात ही नहीं करता। बात बात पर मारने दौड़ता है। हम भी तो आदमी हैं। कहाँ तक सहें! अब आता ही होगा। ऐसा मारो कि जन्म-भर को दाग हो जाय! यही न होगा कि साल-दो साल की मीयाद और बढ़ जायगी, बचा की आदत तो छूट जायगी। चक्रधर इस तरह की बातें अक्सर सुनते रहते थे, इसलिए उन्होंने इस पर कुछ विशेष ध्यान न दिया; मगर भोजन करने के समय ज्योंही दारोगा साहब आकर खड़े हुए और एक कैदी को देर मे आने के लिए मारने दौड़े कि कई कैदी चारों तरफ से दौड़ पड़े और 'मारो मारो' का शोर मच गया। दारोगाजी की सिट्टी पिट्टी भूल गयी। कहीं भागने का रास्ता नहीं, कोई मददगार नहीं। चारों तरफ दीन नेत्रों से देखा, जैसे कोई बकरा भेड़ियों के बीच में फँस गया हो। सहसा धन्नासिंह ने आगे बढ़कर दारोगाजी को

गरदन पकड़ी और इतनी जोर से दबायी कि उनकी आँखें बाहर निकल आयीं। चक्रधर ने देखा, अब अनर्थ हुआ चाहता है, तो तीर की तरह झपटे, कैदियों के बीच में घुसकर धन्नासिंह का हाथ पकड़ लिया और बोले—हट जाओ, क्या करते हो?

धन्नासिंह का हाथ ढीला पड़ गया, लेकिन अभी तक उसने गरदन न छोड़ी।

चक्रधर—छोड़ो ईश्वर के लिए।

धन्नासिंह—जाओ भी, बड़े ईश्वर की पूँछ बने हो। जब यह रोज गालियाँ देता है, बात बात पर हंटर जमाता है, तब ईश्वर कहाँ सोया रहता है, जो इस घड़ी जाग उठा। हट जाओ सामने से, नहीं तो सारा बाबूपन निकाल दूँगा। पहले इससे पूछो, अब तो किसी को गालियाँ न देगा, मारने तो न दौड़ेगा?

दारोगा—कसम क़ुरान की, जो कभी मेरे मुँह से गाली का एक हरफ भी निकले।

धन्नासिंह—कान पकड़ो।

दारोगा—कान पकड़ता हूँ।

धन्नासिंह—जाओ बचा, भले का मुँह देखकर उठे थे, नहीं तो आज जान न बचती, यहाँ कौन कोई रोनेवाला बैठा हुआ है।

चक्रधर—दारोगाजी, कहीं ऐसा न कीजिएगा कि जाकर वहाँ से सिपाहियों को चढ़ा लाइए और इन गरीबों को भुनवा डालिए।

दारोगा—लाहौल विला कूवत! इतना कमीना नहीं हूँ।

दारोगा चलने लगे, तो धन्नासिंह ने कहा—मियाँ, गारद-सारद बुलायी, तो तुम्हारे हक में बुरा होगा, समझाये देते हैं। हमको क्या, न जीने की खुशी है, न मरने का रंज, लेकिन तुम्हारे नाम को कोई रोनेवाला न रहेगा।

दारोगाजी तो यहाँ से जान बचाकर भागे, लेकिन दफ्तर में जाते ही गारद के सिपाहियों को ललकारा, हाकिम-जिला को टेलीफोन किया और खुद बन्दूक लेकर समर के लिए तैयार हुए। दम के दम में सिपाहियों का दल संगीनें चढ़ाये आ पहुँचा और लपककर भीतर घुस पड़ा। पीछे-पीछे दारोगाजी भी दौड़े। कैदी चारों ओर से घिर गये।

चक्रधर पर चारों ओर से बौछार पड़ने लगी।

धन्नासिंह—अब कहो, भगतजी, छुड़वा तो दिया, जाकर समझाते क्यों नहीं? गोली चली तो?

एक कैदी—गोली चली, तो पहले इन्हीं की चटनी की जायगी।

चक्रधर—तुम लोग अब भी शान्त रहोगे, तो गोली न चलेगी। मैं इसका जिम्मा लेता हूँ।

धन्नासिंह—तुम उन सबों से मिले हुए हो। हमें फँसाने के लिए यह ढाग रचा है।

दूसरा कैदी—दगाबाज है, मार के गिरा दो।

चक्रधर—मुझे मारने से अगर तुम्हारी भलाई होती हो, तो यही सही।

तीसरा कैदी—तुम जैसे सीधे आप हो, वैसे ही सबको समझते हो, लेकिन तुम्हारे

कारन हम लोग सेंत-मेंत में पिटे कि नहीं ?

धन्नासिंह—सीधा नहीं, उनसे मिला हुआ है। भगत सभी दिल के मैले होते हैं। कितनों को देख चुका।

तीसरा कैदी—तुम्हारी ऐसी-तैसी, तुम्हें फाँसी दिला कर इन्हें राज ही तो मिल जायगा। छोटा मुँह, बड़ी बात !

चक्रधर ने आगे बढ़कर कहा—दारोगाजी, आखिर आप क्या चाहते हैं? इन गरीबों को क्यों घेर रखा है ?

दारोगा ने सिपाहियों की आड़ से कहा—यही उन सब बदमाशों का सरगना है। खुदा जाने किस हिकमत से उन सबों को मिलाये हुए है। इसे गिरफ्तार कर लो। बाकी जितने हैं, उन्हें खूब मारो, मारते-मारते हलवा निकाल लो सुअर के बच्चो का ! इनकी इतनी हिम्मत कि मेरे साथ गुस्ताखी करें।

चक्रधर—आपको कैदियों को मारने का कोई मजाज नहीं है.

धन्नासिंह—जबान सँभाल के दारोगाजी !

दारोगा—मारो इन सूअरों को।

सिपाही कैदियो पर टूट पड़े और उन्हें बन्दूकों के कुन्दों से मारना शुरू किया। चक्रधर ने देखा कि मामला सगीन हुआ चाहता है, तो बोले—दारोगाजी, खुदा के वास्ते यह गजब न कीजिए !

कैदियों में खलबली पड गयी। कुछ इधर-उधर से फावडे, कुदालें और पत्थर ला-लाकर लड़ने पर तैयार हो गये। मौका नाजुक था। चक्रधर ने बड़ी दीनता से कहा—मैं आपको फिर समझाता हूँ।

दारोगा—चुप रह सूअर का बच्चा !

इतना सुनना था कि चक्रधर बाज की तरह लपककर दारोगाजी पर झपटे। कैदियों पर कुन्दों की मार पड़नी शुरू हो गयी थी। चक्रधर को बढ़ते देखकर उन सबों ने पत्थरों की वर्षा करनी शुरू की। भीषण संग्राम होने लगा।

एकाएक चक्रधर ठिठक गये। ध्यान आ गया, स्थिति और भयंकर हो जायगी, अभी सिपाही बन्दूक चलाना शुरू कर देंगे, लाशों के ढेर लग जायँगे। अगर हिंसक भावों को दबाने का कोई मौका हो सकता है, तो वह यही मौका है। ललकार कर बोले—पत्थर न फेंको, पत्थर न फेंको ! सिपाहियों के हाथों से बन्दूक छीन लो।

सिपाहियों ने संगीनें चढ़ानी चाहीं; लेकिन उन्हें इसका मौका न मिल सका। एक-एक सिपाही पर दस दस कैदी टूट पड़े और दम-के दम मे उनकी बन्दूकें छीन लीं। सिपाहियों ने रोब के बल पर आक्रमण किया था। उन्हें विश्वास था कि कुन्दों की मार पड़ते ही कैदी भाग जायँगे। अब उन्हें मालूम हुआ कि हम धोखे मे थे। फिर वे एक साथ में नहीं, उधर-उधर बिखरे खड़े थे। इससे उनकी शक्ति और भी कम हो गयी थी। उन पर आगे पीछे, दायें-बायें चारो तरफ से चोट पड़ सकती थी। संगीनें चढ़ाकर भी

वे किसी तरह न बच सकते थे। कैदियों में पिल पड़ना उनकी सबसे बड़ी भूल थी। उनके ऐसे हाथ-पाँव फूले, होश ऐसे गायब हुए कि कुछ निश्चय न कर सके कि इस समय क्या करना चाहिए। कैदियों ने तुरन्त उनकी मुश्कें चढा दीं और बन्दूकें ले-लेकर उनके सिर पर खड़े हो गये। यह सब कुछ पाँच मिनट में हो गया। ऐसा दाँव पड़ा कि वही लोग जो जरा देर पहले हेकड़ी जताते थे, कैदियों को पाँव की धूल समझते थे, अब उन्हीं कैदियों के सामने खड़े दया-प्रार्थना कर रहे थे, घिघियाते थे, मत्थे टेकते थे और रोते थे। दारोगाजी की सूरत तो तसवीर खींचने योग्य थी। चेहरा फक, हवाइयाँ उड़ी हुई, थर-थर काँप रहे थे कि देखें, जान बचती है या नहीं।

कैदियों ने देखा, इस वक्त हमारा राज्य है, तो पुराने बदले चुकाने पर तैयार हो गये। धन्नासिंह लपका हुआ दारोगा के पास आया और जोर से एक धक्का देकर बोला—क्यों खाँ साहब, उखाड़ लूँ डाढ़ी के एक-एक बाल?

चक्रधर—धन्नासिंह हट जाओ।

धन्नासिंह—मरना तो है ही, अब इन्हें क्यों छोड़ें?

चक्रधर—हम कहते हैं, हट जाओ, नहीं तो अच्छा न होगा।

धन्नासिंह—अच्छा हो चाहे बुरा, हमारे साथ इन लोगों ने जो सलूक किये हैं, उसका मजा चखाये बिना न छोड़ेंगे।

एक कैदी—हमारी जान तो जाती ही है, पर इन लोगों को तो न छोड़ेंगे।

दूसरा कैदी—एक-एक की हड्डियाँ तोड़ दो। दो-दो, चार-चार साल और सही। अभी कौन सुख भोग रहे हैं, जो सजा को डरें। आखिर घूम-घाम के यहीं तो फिर आना है।

चक्रधर—मेरे देखते तो यह अनर्थ न होने पायेगा। हाँ, मर जाऊँ तो जो चाहे करना।

धन्नासिंह—अगर ऐसे बड़े धर्मात्मा हो, तो इनको क्यों नहीं समझाया? देखते नहीं हो, कितनी साँसत होती है। तुम्हीं कौन बचे हुए हो। कुत्तों को भी मारते दया आती है। क्या हम कुत्तों से भी गये बीते हैं।

इतने में सदर फाटक पर शोर मचा। जिला-मैजिस्ट्रेट मिस्टर जिम सशस्त्र पुलिस के सिपाहियों और अफसरों के साथ आ पहुँचे थे। दारोगाजी ने अन्दर आते वक्त किवाड़ बन्द कर लिये थे, जिसमें कोई कैदी भागने न पाये। यह शोर सुनते ही चक्रधर समझ गया कि पुलिस आ गयी। बोले—अरे भाई, क्यों अपनी जान के दुश्मन हुए हो? बन्दूकें रख दो और फौरन् जाकर किवाड़ खोल दो। पुलिस आ गयी।

धन्नासिंह—कोई चिन्ता नहीं। हम भी इन लोगों का वारा-न्यारा किये डालते हैं। मरते ही हैं, तो दो-चार को मार के मरें।

कैदियों ने फौरन् सगीनें चढायीं और सबसे पहले धन्नासिंह दारोगाजी पर झपटा। करीब था कि सगीन की नोंक उनके सीने में चुभे कि चक्रधर यह कहते हुए 'धन्नासिंह, ईश्वर के लिए.' दारोगाजी के सामने आकर खड़े हो गये। धन्नासिंह वार कर चुका

था। चक्रधर के कन्धे पर संगीन का भरपूर हाथ पड़ा। आधी संगीन धँस गयी। दाहिने हाथ से कन्धे को पकड़कर बैठ गये। कैदियों ने उन्हें गिरते देखा, तो होश उड़ गये। आ-आकर उनके चारों तरफ खड़े हो गये। घोर अनर्थ की आशंका ने उन्हें स्तंभित कर दिया। भगत को चोट आ गयी—ये शब्द उनकी पशु-वृत्तियों को दबा बैठे। धन्नासिंह ने बन्दूक फेंक दी और फूट-फूटकर रोने लगा। मैंने भगत के प्राण लिये! जिस भगत ने गरीबों की रक्षा करने के लिए सजा पायी, जो हमेशा उनके लिए अफसरों से लड़ने को तैयार रहता था, जो नित्य उन्हें अच्छे रास्ते पर ले जाने की चेष्टा करता था, जो उनके बुरे व्यवहारों को हँस-हँसकर सह लेता था, वही भगत आज धन्नासिंह के हाथ जख्मी पड़ा है। धन्नासिंह को कई कैदी पकड़े हुए हैं। ग्लानि के आवेश में वह बार-बार चाहता है कि अपने को उनके हाथों से छुड़ाकर वही संगीन अपनी छाती में चुभा ले; लेकिन कैदियों ने इतने जोर से उसे जकड़ रखा है कि उसका कुछ बस नहीं चलता।

दारोगा ने मौका पाया तो सदर फाटक की तरफ दौड़े कि उसे खोल दूँ। धन्नासिंह ने देखा कि यह हजरत, जो सारे फिसाद की जड़ हैं, बेदाग बचे जाते हैं, तो उसकी हिंसक वृत्तियों ने इतना जोर मारा कि एक ही झटके में वह कैदियों के हाथों से मुक्त हो गया और बन्दूक उठाकर उनके पीछे दौड़ा। चक्रधर के खून का बदला लेना जरूरी था। करीब था कि दारोगाजी पर फिर वार पड़े कि चक्रधर फिर सँभलकर उठे और एक हाथ से अपना कन्धा पकड़े, लड़खड़ाते हुए चले। धन्नासिंह ने उन्हें आते देखा, तो उसके पाँव रुक गये। भगत अभी जीते हैं, इसकी उसे इतनी खुशी हुई कि वह बन्दूक फेंककर पीछे की ओर चला और उनके चरणों पर सिर रखकर रोने लगा। ऐसी सच्ची खुशी उसे अपने जीवन में कभी न हुई थी!

चक्रधर ने कहा—सिपाहियों को छोड़ दो।

धन्नासिंह—बहुत अच्छा, भैया? तुम्हारा जी कैसा है?

चक्रधर—देखना चाहिए, बचता हूँ या नहीं।

धन्नासिंह—दरोगा के बच जाने का कलक रह गया।

सहसा मिस्टर जिम सशस्त्र पुलिस के साथ जेल में दाखिल हुए। उन्हें देखते ही सारे कैदी भर से भागे। केवल दो आदमी चक्रधर के पास खड़े रहे। धन्नासिंह उनमें एक था। सिपाहियों ने भी छूटते ही अपनी अपनी बन्दूकें सँभालीं और एक कतार में खड़े हो गये।

जिम—वेल दारोगा, क्या हाल है?

दारोगा—हुजूर के अकबाल से फतह हो गयी। कैदी भाग गये।

जिम—यह कौन आदमी पड़ा है?

दारोगा—इसी ने हम लोगों की मदद की है, हुजूर। चक्रधर नाम है।

जिम—अच्छा! यह चक्रधर है, जो बगावत के मामले में हमारे इजलास से सजा पाया था।

दारोगा—जी हाँ, हुजूर ! अभी उसी की बदौलत हमारी जान बची। जो जख्म उसके कन्धे मे है, वह शायद इस वक्त मेरे सीने में होता।

जिम—इसने कैदियों को भड़काया होगा ?

दारोगा—नहीं हुजूर, इसने तो कैदियों को समझा-बुझाकर ठण्डा किया।

जिम—तुम कुछ नहीं समझता। यह लोग पहले कैदियों को भड़काता है, फिर उनकी तरफ से हाकिम लोगों से लड़ता है, जिसमें कैदी समझें कि यह हमारी तरफ से लड़ रहा है। यह कैदियों को मिलाने का हिकमत है। वह कैदियों को मिलाकर जेल का काम बन्द कर देना चाहता है।

दारोगा—देखने में तो हुजूर, बहुत सीधा मालूम होता है, दिल का हाल खुदा जाने।

जिम—खुदा के जानने से कुछ नहीं होगा, तुमको जानना चाहिए। तुमको हर एक कैदी पर निगाह रखनी चाहिए। यही तुम्हारा काम है। यह आदमी कैदियों से मजहब की बात चीत तो नहीं करता ?

दारोगा—मजहबी बातें तो बहुत करता है, हुजूर। इसी से कैदियों ने उसे 'भगत' का लकब दे दिया है।

जिम—ओह ! तब तो यह बहुत ही खतरनाक आदमी है। मजहबवाले आदमी पर बहुत कड़ी निगाह रखनी चाहिए। कोई पढा लिखा आदमी दिल से मजहब को नहीं मानता। मजहब पढे लिखे आदमियों के लिये नहीं है। उनके लिए तो Ethics काफी है। जब कोई पढा-लिखा आदमी मजहब की बात चीत करे, तो फौरन् समझ लो कि वह कोई साजिश करना चाहता है। Religion (धर्म) के साथ Politics (राजनीति) बहुत खतरनाक हो जाता है। यह आदमी कैदियों से बड़ी हमदर्दी करता होगा ?

दारोगा—जी हाँ, हमेशा !

जिम—सरकारी हुक्म को खूब मानता होगा ?

दारोगा—जी हाँ, हमेशा !

जिम—कभी कोई शिकायत न करता होगा ? कड़े-से-कड़े काम खुशी से करता होगा ?

दारोगा—जी हाँ, शिकायत नहीं करता। ऐसा बेजबान आदमी तो मैंने कभी देखा ही नहीं।

जिम—ऐसा आदमी निहायत खौफनाक होता है। उस पर कभी एतबार नहीं करना चाहिए। हम इस पर मुकदमा चलायेगा। इसको बहुत कड़ी सजा देगा। सिपाहियों को दफ्तर में बुलाओ। हम सबका बयान लिखेगा।

दारोगा—हुजूर, पहले उसे डाक्टर साहब को तो दिखा लूँ। ऐसा न हो कि मर जाय, गुलाम को दाग लगे।

जिम—वह मरेगा नहीं। ऐसा खौफनाक आदमी कभी नहीं मरता, और मर भी जायगा, तो हमारा कोई नुकसान नहीं।

दूसरे दिन प्रात'काल लौंगी ने पंडित की रट लगायी और दीवान साहब को विवश होकर मुंशी वज्रधर के पास जाना पड़ा।

वज्रधर सारी कथा सुनकर बोले--आपने यह बुरा रोग पाल रखा है। एक बार डाँटकर कह दीजिए--चुपचाप बैठी रह, तुझे इन बातों से क्या मतलब? फिर देखूँ वह कैसे बोलती है!

दीवान--भई, इतनी हिम्मत मुझमें नहीं है। वह कभी जरा रूठ जाती है, तो मेरे हाथ-पाँव फूल जाते हैं। मैं तो कल्पना भी नहीं कर सकता कि बिना उसके मैं जिन्दा कैसे रहूँगा। मै तो उससे बिना पूछे भोजन भी नहीं कर सकता। वह मेरे घर की लक्ष्मी है। आपकी किसी ज्योतिषी से जान पहचान है?

मुंशी—जान-पहचान तो बहुतों से है, लेकिन देखना तो यह है कि काम किससे निकल सकता है। कोई सच्चा आदमी तो यह स्वाँग भरने न जायगा। कोई पण्डित बनाना पड़ेगा।

दीवान—यह तो बड़ी मुश्किल हुई।

मुंशी—मुश्किल क्या हुई। मैं अभी बनाये देता हूँ। ऐसा पण्डित बना दूँ कि कोई भाँप न सके। इन बातों में क्या रखा है?

यह कहकर मुन्शीजीने झिनकू को बुलाया। वह एक ही छँटा हुआ था। फौरन तैयार हो गया। घर जाकर माथे पर तिलक लगाया, गले में रामनामी चादर डाली, सिर पर एक टोपी रखी और एक बस्ता बगल में दबाये आ पहुँचा। मुन्शीजी उसे देखकर बोले—यार, जरा-सी कसर रह गयी। तोंद के बगैर पण्डित कुछ जँचता नहीं। लोग यही समझते हैं कि इनको तर माल नहीं मिलते, जभी तो ताँत हो रहे हैं। तोंदल आदमी की शान ही और होती है, चाहे पण्डित बने, चाहे सेठ, चाहे तहसीलदार ही क्यों न बन जाय। उसे सब कुछ भला मालूम होता है। मैं तोंदल होता तो अब तक न जाने किस ओहदे पर होता। सच पूछो, तो तोंद न रहने ही के कारण अफसरों पर मेरा रोब न जमा। बहुत घी-दूध खाया, पर तकदीर में बड़ा आदमी होना न बदा था, तोंद न निकली, न निकली। तोंद बना लो, नहीं तो उल्लू बनाकर निकाल दिये जाओगे, या किसी तोंदूमल को पकड़ो।

झिनकू—सरकार, तोंद होती, तो आज मारा-मारा क्यों फिरता? मुझे भी न लोग झिनकू उस्ताद कहते! कभी तबला न होता तो तोंद ही बजा देता, मगर तोंद न रहने में कोई हरज नहीं है, यहाँ कई पण्डित बिना तोंद के भी हैं।

मुन्शी—कोई बड़ा पण्डित भी है बिना तोंद का?

मुन्शी—नहीं सरकार, कोई बड़ा पण्डित तो नहीं है। तोंद के बिना कोई बड़ा हो कैसे जायगा? कहिये तो कुछ कपड़े लपेटूँ?

मुन्शी—तुम तो कपड़े लपेटकर पिंडरोगी से मालूम होगे। तकदीर पेट पर सबसे ज्यादा चमकती है, इसमें शक नहीं, लेकिन और अगों पर भी तो कुछ-न-कुछ असर

होता ही है। यह राग न चलेगा, भाई किसी और को फाँसो।

झिनकू—सरकार, अगर मालकिन को खुश न कर दूँ, तो नाक काट लीजिएगा। कोई अनाड़ी थोड़े ही हूँ!

खैर, तीनों आदमी मोटर पर बैठे और एक क्षण में घर जा पहुँचे। दीवान साहब ने जाकर कहा—पण्डितजी आ गये; बड़ी मुश्किल से आये हैं।

इतने में मुंशीजी भी आ पहुँचे और बोले—कोई नया आसन बिछाइएगा। कुरसी पर नहीं बैठते। आज न-जाने क्या समझकर इस वक्त आ गये, नहीं तो दोपहर के पहले कोई लाख रुपए भी दे तो नहीं जाते।

पण्डितजी बड़े गर्व के साथ मोटर से उतरे और जाकर आसन पर बैठे। लौंगी ने उनकी ओर ध्यान से देखा और तीव्र स्वर में बोली—आप जोतसी हैं? ऐसी ही सूरत होती है जोतसियों की? मुझे तो कोई भाँड से मालूम होते हो!

मुशीजी ने दाँतों-तले जबान दबा ली, दीवान साहब ने छाती पर हाथ रखा और छिनकू के चेहरे पर तो मुर्दनी छा गयी। कुछ जवाब ही देते न बन पड़ा। आखिर मुशीजी बोले—यह क्या गजब करती हो, लौंगी रानी! अपने घर बुलाकर महात्माओं की यही इज्जत की जाती है?

लौंगी—लाला, तुमने बहुत दिनो तहसीलदारी की है, तो मैंने भी धूप में बाल नहीं पकाये हैं। एक बहुरूपिये को लाकर खड़ा कर दिया, ऊपर से कहते हैं, जोतसी हैं! ऐसी ही सूरत होती है जोतसी की? मालू होता है, महीनो से दाने की सूरत नहीं देखी। मुझे क्रोध तो इन पर (दीवान) आता है, तुम्हें क्या कहूँ?

झिनकू—माता, तुने मेरा बड़ा अपमान किया है। अब मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहरूँगा। तुमको इसका फल मिलेगा, अवश्य मिलेगा।

लौंगी—लो, बस, चले ही जाओ मेरे घर से! धूर्त, पाखण्डी कहीं का। बड़ा जोतसी है, तो बता मेरी उम्र कितनी है? लाला, अगर तुम्हें धन का लोभ हो, तो जितना चाहो, मुझसे ले जाओ। मेरी बिटिया को कुएँ मे न ढकेलो। क्यों उसके दुश्मन बने हुए हो? जो कुछ कर रहे हो उसका सारा दोप तुम्हारे ही सिर जायगा। तुम इतना भी नहीं समझते कि बूढे आदमी के साथ कोई लड़की कैसे सुख से रह सकती है! धन से बूढे जवान तो नहीं हो जाते।

झिनकू—माताजी, राजा साहब की आयु, ज्योतिष विद्या के अनुसार ..

लौंगी—तू फिर बोला, चुपका खड़ा क्यों नहीं रहता?

झिनकू—दीवान साहब, अब मैं नहीं ठहर सकता।

लौंगी—क्यों, ठहरोगे क्यों नहीं? दच्छिना तो लेते जाओ!

यह कहते हुए लौंगी ने कोठरी मे जाकर कजलौटे से काजल निकाला और तुरन्त बाहर आ, एक हाथ से झिनकू को पकड़, दूसरे से उसके मुँह पर काजल पोत दिया। बहुत उछले-कूदे, बहुत फड़फड़ाये; पर लौंगी ने जौ भर भी न हिलने दिया, मानो बाज

ने कबूतर को दबोच लिया हो। दीवान साहब अब अपनी हँसी न रोक सके। मारे हँसी के मुँह से बात न निकलती थी। मुशीजी अभी तक झिनकू की विद्या का राग अलाप रहे थे और लौंगी झिनकू को दबोचे हुए चिल्ला रही थी—थोड़ा चूना लाओ, तो इसे पूरी दच्छिना दे दूँ! मेरे धन्य भाग्य कि आज जोतसीजी के दर्शन हुए।

आखिर मुशीजी को गुस्सा आ गया। उन्होंने लौंगी का हाथ पकड़कर चाहा कि झिनकू का गला छुड़ा दें। लौंगी ने झिनकू को तो न छोड़ा, एक हाथ से तो उसकी गरदन पकड़े हुए थी, दूसरे हाथ से मुशीजी की गरदन पकड़ ली और बोली—मुझसे जोर दिखाते हो, लाला? बड़े मर्द हो, तो छुड़ा लो गरदन! बहुत दूध घी बेगार में लिया होगा। देखें, वह जोर कहाँ है।

दीवान—मुशीजी, आप खड़े क्या हैं, छुड़ा लीजिए गरदन।

मुशी—मेरी यह साँसत हो रही है और आप खड़े हँस रहे हैं!

दीवान—तो क्या कर सकता हूँ। आप भी तो देवनी से जोर आजमाने चले थे। आज आपको मालूम हो जायगा कि मैं इससे क्यों इतना दबता हूँ।

लौंगी—जोतसीजी, अपनी विद्या का जोर क्यों नहीं लगाते? क्यों रे, अब तो कभी जोतसी न बनेगा?

झिनकू—नहीं माताजी, बड़ा अपराध हुआ, क्षमा कीजिए।

लौंगी ने दीवान साहब की ओर सरोष नेत्रों से देखकर कहा—मुझसे यह चाल चली जाती है, क्यों! लड़की को राजा से ब्याहकर तुम्हारा मरतबा बढ जायगा, क्यों? धन और मरतबा सन्तान से भी ज्यादा प्यारा है, क्यों? लगा दो आग घर मे। घोंट दो लड़की का गला। अभी मर जायगी, मगर जन्म-भर के दुःख से तो छूट जायगी। धन और मरतबा अपने पौरुख से मिलता है। लड़की बेचकर धन नहीं कमाया जाता। यह नीचों का काम है, भलेमानसों का नहीं। मैं तुम्हें इतना स्वार्थी न समझती थी, लाला साहब। तुम्हारे मरने के दिन आ गये हैं, क्यों पाप की गठरी लादते हो? मगर तुम्हें समझाने से क्या होगा। इसी पाखण्ड मे तुम्हारी उम्र कट गयी, अब क्या सँभलोगे! मरती बार भी पाप करना बदा था। क्या करते। और तुम भी सुन लो, जोतसीजी! अब कभी भूल कर भी यह स्वाँग न भरना। धोखा देकर पेट पालने से मर जाना अच्छा है। जाओ।

यह कहकर लौंगी ने दोनों आदमियो को छोड़ दिया। झिनकू तो बगटुट भागा; लेकिन मुशीजी वहीं सिर झुकाये खड़े रहे। जरा देर के बाद बोले—दीवान साहब, अगर आप की मरजी हो, तो मैं जाकर राजा साहब से कह दूँ कि दीवान साहब को मजूर नहीं है।

दीवान—अब भी आप मुझसे पूछ रहे हैं? क्या अभी कुछ और साँसत कराना चाहते हैं?

मुशी—साँसत तो मेरी यह क्या करती, मैंने औरत समझकर छोड़ दिया।

दीवान--आप आज जाके साफ-साफ कह दीजिएगा।

लौंगी--क्या साफ साफ कह दीजिएगा? अब क्या साफ-साफ कहलाते हो? किसी को खाने का नेवता न दो, तो वह बुरा न मानेगा, लेकिन नेवता देकर अपने द्वार से भगा दो, तो तुम्हारी जान का दुश्मन हो जायगा। अब साफ-साफ कहने का अवसर नहीं रहा। जब नेवता दे चुके, तब तो खिलाना ही पड़ेगा, चाहे लोटा-थाली बेचकर ही क्यो न खिलाओ। कहके मुकरने से वैर हो जायगा।

दीवान--वैर की चिन्ता नहीं। नौकरी की मैं परवा नहीं करता।

लौंगी--हाँ, तुमने तो कारूँ का खजाना घर में गाड़ रखा है। इन बातों से अब काम न चलेगा। अब तो जो होनी थी, हो चुकी। राम का नाम लेकर ब्याह करो। पुरोहित को बुलाकर साइत-सगुन पूछताछ लो और लगन भेज दो। एक ही लड़की है, दिल खोलकर काम करो।

मुशीजी को अपनी सॉंखत का पुरस्कार मिल गया। मारे खुशी के बगलें बजाने लगे। विरोध की अन्तिम क्रिया हो गयी।

आज ही से विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। दीवान साहब स्वभाव के कृपण थे, कम-से-कम खर्च में काम निकालना चाहते थे; लेकिन लौंगी के आगे उनकी एक न चलती थी। उसके पास रुपए न-जाने कहाँ से निकलते आते थे, मानो किसी रसिक के प्रेमोद्गार हों। तीन महीने तैयारियों में गुजर गये। विवाह का मुहूर्त निकट आ गया।

सहसा एक दिन शाम को खबर मिली कि जेल में दंगा हो गया और चक्रधर के कन्धे मे गहरा घाव लगा है। बचना मुश्किल है।

मनोरमा के विवाह की तैयारियाँ तो हो ही रही थीं और यों भी देखने में वह बहुत खुश-नजर आती थी; पर उसका हृदय सदैव रोता रहता था। कोई अज्ञात भय, कोई अलक्षित वेदना, कोई अतृप्त कामना, कोई गुप्त चिन्ता, हृदय को मथा करती थी। अन्धों की भाँति इधर-उधर टटोलती थी; पर न चलने का मार्ग मिलता था, न विश्राम का आधार। उसने मन मे एक बात निश्चय की थी और उसी में सन्तुष्ट रहना चाहती थी; लेकिन कभी-कभी वह जीवन इतना शून्य, इतना अँधेरा, इतना नीरस मालूम होता कि घटों वह मूर्छित-सी बैठी रहती, मानों कहीं कुछ नहीं है, अनन्त आकाश में केवल वही अकेली है।

यह भयानक समाचार सुनते ही मनोरमा को हौलदिल-सा हो गया। आकर लौंगी से बोली--लौंगी अम्माँ, मैं क्या करूँ? बाबूजी को देखे बिना अब नहीं रहा जाता। क्यों अम्माँ, घाव अच्छा हो जायगा न?

लौंगी ने करुण-नेत्रों से देखकर कहा--अच्छा क्यों न होगा, बेटी! भगवान् चाहेंगे, तो जल्द अच्छा हो जायगा।

लौंगी मनोरमा के मनोभावों को जानती थी। उसने सोचा, इस अबला को कितना दुःख है! मन ही मन तिलमिलाकर रह गयी। हाय! चारे पर गिरनेवाली चिड़िया को

मोती चुगाने की चेष्टा की जा रही है। तड़प-तड़पकर पिंजड़े में प्राण देने के सिवा वह और क्या करेगी! मोती में चमक है, वह अनमोल है, लेकिन उसे कोई खा तो नहीं सकता। उसे गले में बाँध लेने से क्षुधा तो न मिटेगी।

मनोरमा ने फिर पूछा—भगवान् सज्जन लोगों को क्यों इतना कष्ट देते हैं, अम्माँ? बाबूजी का सा सज्जन दूसरा कौन होगा। उनको भगवान् इतना कष्ट दे रहे हैं! मुझे कभी कुछ नहीं होता, कभी सिर भी नहीं दुखता। मुझे क्यों कभी कुछ नहीं होता, अम्माँ?

लौंगी—तुम्हारे दुश्मन को कुछ हो बेटी, तुम तो कभी घड़ी-भर चैन न पाती थीं। तुम्हें गोद में लिये रात-भर भगवान् का नाम लिया करती थी।

सहसा मनोरमा के मन में एक बात आयी। उसने बाहर आकर मोटर तैयार करायी और दम-के-दम में राजभवन की ओर चली। राजा साहब इसी तरफ आ रहे थे। मनोरमा को देखा, तो चौंके। मनोरमा घबरायी हुई थी।

राजा—तुमने क्यों कष्ट किया? मैं तो आ रहा था।

मनोरमा – आपको जेल के दगे की खबर मिली?

राजा—हाँ, मुन्शी वज्रधर अभी कहते थे।

मनोरमा—मेरे बाबूजी को गहरा घाव लगा है।

राजा—हाँ, यह भी सुना।

मनोरमा—तब भी आपने उन्हें जेल से बाहर अस्पताल में लाने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की? आपका हृदय बड़ा कठोर है।

राजा ने कुछ चिढ़कर कहा—तुम्हारे-जैसा उदार हृदय कहाँ से लाऊँ!

मनोरमा—मुझसे माँग क्यों नहीं लेते? बाबूजी को बहुत गहरा घाव लगा है, और अगर यत्न न किया गया, तो उनका बचना कठिन है। जेल में जैसा इलाज होगा, आप जानते ही हैं। न कोई आगे, न कोई पीछे, न मित्र, न बन्धु। आप साहब को एक खत लिखिए कि बाबूजी को अस्पताल में लाया जाय।

राजा—साहब मानेंगे?

मनोरमा—इतनी जरा-सी बात न मानेंगे?

राजा—न-जाने दिल में क्या सोचें।

मनोरमा—आपको अगर बहुत मानसिक कष्ट हो रहा हो, तो रहने दीजिए। मैं खुद साहब से मिल लूँगी।

राजा साहब यह तिरस्कार सुनकर काँप उठे। कातर होकर बोले—मुझे किस बात का कष्ट होगा। अभी जाता हूँ।

मनोरमा—लौटिएगा कब तक?

राजा—कह नहीं सकता।

यह कहकर राजा साहब मोटर पर जा बैठे और शोफर से मिस्टर जिम के बँगले पर चलने को कहा। मनोरमा की निष्ठुरता से उनका चित्त बहुत खिन्न था। मेरे आराम

और तकलीफ का इसे जरा भी खयाल नहीं। चक्रधर से न-जाने क्यों इतना स्नेह है। कहीं उससे प्रेम तो नहीं करती ? नहीं, यह बात नहीं। सरल-हृदय बालिका है। ये कौशल क्या जाने। चक्रधर आदमी ही ऐसा है कि दूसरों को उससे मुहब्बत हो जाती है। जवानी में सहृदयता कुछ अधिक होती ही है। कोई मायाविनी स्त्री होती, तो मुझसे अपने मनोभावों को गुप्त रखती। जो कुछ करना होता, चुपके-चुपके करती; पर इसके निश्छल हृदय में कपट कहाँ। जो कुछ कहती है, मुझी से कहती है; जो कष्ट होता है, मुझी को सुनाती है। मुझ पर पूरा विश्वास करती है। ईश्वर करे साहब से मुलाकात हो जाय और वह मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लें ! जिस वक्त मैं आकर यह शुभ समाचार कहूँगा, कितनी खुश होगी।

यह सोचते हुए राजा साहब मिस्टर जिम के बँगले पर पहुँचे। शाम हो गयी थी। साहब बहादुर सैर करने जा रहे थे। उनके बँगले में वह ताजगी और सफाई थी कि राजा साहब का चित्त प्रसन्न हो गया। उनके यहाँ दर्जनों माली थे, पर बाग इतना हरा-भरा न रहता था। यहाँ की हवा में आनन्द था। इकबाल हाथ बाँधे हुए खड़ा मालूम होता था। नौकर-चाकर कितने सलीकेदार थे, घोड़े कितने समझदार, पौधे कितने सुन्दर, यहाँ तक कि कुत्तों के चेहरे पर भी इकबाल की आभा झलक रही थी।

राजा साहब को देखते ही जिम साहब ने हाथ मिलाया और पूछा—आपने जेल में दंगे का हाल सुना ?

राजा—जी हाँ ! सुनकर बड़ा अफसोस हुआ।

जिम—सब उसी का शरारत है, उसी बागी नौजवान का।

राजा—हुजूर का मतलब चक्रधर से है ?

जिम—हाँ, उसी से ! बहुत ही खौफनाक आदमी है। उसी ने कैदियों को भड़काया है।

राजा—लेकिन अब तो उसको अपने किये की सजा मिल गयी। अगर बच भी गया तो महीनों चारपाई से न उठेगा।

जिम—ऐसे आदमी के लिए इतनी ही सजा काफी नहीं। हम उस पर मुकदमा चलायेगा।

राजा—मैंने सुना है कि उसके कन्धे में गहरा जख्म है और आपसे यह अर्ज करता हूँ कि उसे शहर के बड़े अस्पताल मे रखा जाय, जहाँ उसका अच्छा इलाज हो सके। आपकी इतनी कृपा हो जाय, तो उस गरीब की जान बच जाय और सारे जिले में आपका नाम हो जाय। मैं इसका जिम्मा ले सकता हूँ कि अस्पताल में उसकी पूरी निगरानी रखी जायगी।

जिम—हम एक बागी के साथ कोई रिआयत नहीं कर सकता। आप जानता है, मुगलों या मरहटों का राज होता, तो ऐसे आदमी को क्या सजा मिलता ? उसका खाल खींच लिया जाता, या उसके दोनों हाथ काट लिये जाते। हम अपने दुश्मन को कोई

रिआयत नहीं कर सकता।

राजा—हुजूर, दुश्मनों के साथ रिआयत करना उनको सबसे बड़ी सजा देना है। आप जिस पर दया करें, वह कभी आपसे दुश्मनी नहीं कर सकता। वह अपने किये पर लज्जित होगा और सदैव के लिये आपका भक्त हो जायगा।

जिम—राजा साहब, आप समझता नहीं। ऐसा सलूक उस आदमी के साथ किया जाता है, जिसमें कुछ आदमियत बाकी रह गया हो। बागी का दिल बालू का मैदान है। उसमें पानी की एक बूँद भी नहीं होती, और न उसे पानी से सींचा जा सकता है। आदमी में जितना धर्म और शराफत है, उसके मिट जाने पर वह बागी हो जाता है। उसे भलमनसी से आप नहीं जीत सकता।

राजा साहब को आशा थी कि साहब मेरी बात आसानी से मान लेंगे। साहब के पास वह रोज ही कोई-न-कोई तोहफा भेजते रहते थे। उनकी जिद पर चिढ़कर बोले—जब मैं आपको विश्वास दिला रहा हूँ कि उस पर अस्पताल में काफी निगरानी रखी जायगी, तो आपको मेरी अर्ज मानने में क्या आपत्ति है?

जिम ने मुस्कराकर कहा—यह जरूरी नहीं कि मैं आपसे अपनी पालिसी बयान करूँ।

राजा—मैं उसकी जमानत करने को तैयार हूँ।

जिम—(हँसकर) आप उसकी जबान की जमानत तो नहीं कर सकते? हजारों आदमी उसे देखने को रोज आयेगा। आप उन्हें रोक तो नहीं सकते? गँवार लोग यही समझेगा कि सरकार इस आदमी पर बड़ा जुल्म कर रही है। उसे देख-देखकर लोग भड़केगा। इसको आप कैसे रोक सकते हैं?

राजा साहब के जी में आया कि इसी वक्त यहाँ से चल दूँ और फिर इसका मुँह न देखूँ। पर खयाल किया, मनोरमा बैठी मेरी राह देख रही होगी। यह खबर सुनकर उसे कितनी निराशा होगी। ईश्वर! इस निर्दयी के हृदय में थोड़ी-सी दया डाल दो! बोले—आप यह हुक्म दे सकते हैं कि उनके निकट सम्बन्धियों के सिवा कोई उनके पास न जाने पाये?

जिम—मेरे हुक्म में इतनी ताकत नहीं है कि वह अस्पताल को जेल बना दे।

यह कहते-कहते मिस्टर जिम फिटिन पर बैठे और सैर करने चल दिये।

राजा साहब को एक क्षण के लिए मनोरमा पर क्रोध आ गया। उसी के कारण मैं यह अपमान सह रहा हूँ। नहीं तो मुझे क्या गरज पड़ी थी कि इसकी इतनी खुशामद करता। जाकर कहे देता हूँ कि साहब नहीं मानते, मैं क्या करूँ? मगर उसके आँसुओं के भय ने फिर कातर कर दिया। आह! उसका कोमल हृदय टूट जायगा। आँखों में आँसू की झड़ी लग जायगी। नहीं, मैं अभी इसका पिण्ड न छोड़ूँगा। मेरा अपमान हो, इसकी चिन्ता नहीं। लेकिन उसे दु:ख न हो।

थोड़ी देर तक तो राजा साहब बाग में टहलते रहे। फिर मोटर पर जा बैठे और

घण्टे-भर इधर-उधर घूमते रहे। ८ बजे वह लौटकर आये, तो मालूम हुआ, अभी साहब नहीं आये। फिर लौटे, इसी तरह वह घण्टे घण्टे-भर के बाद वह तीन बार आये, मगर साहब बहादुर अभी तक न लौटे थे।

सोचने लगे, इतनी रात गये अगर मुलाकात हो भी गयी, तो बात-चीत करने का मौका कहाँ। शराब के नशे में चूर होगा। आते-ही आते सोने चला जायगा। मगर कम-से-कम मुझे देखकर इतना तो समझ जायगा कि वह बेचारे अभी तक खड़े हैं। शायद दया आ जाय।

एक बजे के करीब बग्घी की आवाज आयी। राजा साहब मोटर से उतरकर खड़े हो गये। जिम भी फिटिन से उतरा। नशे से आँखें सुर्ख थीं। लड़खड़ाता हुआ चल रहा था। राजा को देखते ही बोला—ओ, ओ, तुम यहाँ क्यों खड़ा है? बाग जाओ अभी जाओ, बागो!

राजा—हुजूर मैं हूँ राजा विशालसिंह।

जिम—ओ! डैम राजा, अबी निकल जाओ। तुम भी बागी है। तुम बागी का सिफारिश करता है, बागी को पनाह देता है। सरकार का दोस्त बनता है! अबी निकल जाओ। राजा और रैयत सब एक है। हम किसी पर भरोसा नहीं करता। हमको अपने जोर का भरोसा है। राजा का काम बागियों को पकड़वाना, उनका पता लगाना है। उनका सिफारिश करना नहीं। अबी निकल जाओ।

यह कहकर वह राजा साहब की ओर झपटा। राजा साहब बहुत ही बलवान् मनुष्य थे। वह ऐसे-ऐसे दो को अकेले काफी थे; लेकिन परिणाम के भय ने उन्हें पगु बना दिया था। एक घूँसा भी लगाया और ५ करोड़ रुपये की जायदाद हाथ से निकली। वह घूँसा बहुत मँहगा पड़ेगा। परिस्थिति भी उनके प्रतिकूल थी। इतनी रात को उसके बंगले पर आना इस बात का सबूत समझा जायगा कि उनकी नीयत अच्छी नहीं थी। दीन-भाव से बोले—साहब, इतना जुल्म न कीजिए। इसका जरा भी खयाल न कीजिएगा कि मैं शाम से अब तक आपके दरवाजे पर खड़ा हूँ? कहिए तो आपके पैरों पड़ूँ। जो कहिए करने को हाजिर हूँ। मेरी अर्ज कबूल कीजिए।

जिम—कबी नई होगा, कबी नई होगा। तुम मतलब का आदमी है। हम तुम्हारी चालों को खूब समझता है।

राजा—इतना तो आप कर ही सकते हैं कि मैं उनका इलाज करने के लिए अपना डाक्टर जेल के अन्दर भेज दिया करूँ?

जिम—ओ डैमिट! बक बक मत करो, सुअर अभी निकल जाओ, नहीं तो हम ठोकर मारेगा।

अब राजा साहब से जब्त न हुआ। क्रोध ने सारी चिन्ताओं को, सारी कमजोरियों को निगल लिया। राज्य रहे या जाय, बला से! जिम ने ठोकर चलायी ही थी कि राजा साहब ने उसकी कमर पकड़कर इतने जोर से पटका कि वह चारो खाने चित्त

जमीन पर गिर पड़ा। फिर उठना चाहता था कि राजा साहब उसकी छाती पर चढ़ बैठे और उसका गला जोर से दबाया। कौड़ी-सी आँखें निकल आयीं। मुँह से फिचकुर बहने लगा। सारा नशा, सारा क्रोध, सारा रोब, सारा अभिमान, रफू-चक्कर हो गया।

राजा ने गला छोड़कर कहा—गला घोंट दूँगा, इस फेर में मत रहना। कच्चा ही चबा जाऊँगा। चपरासी या अहलकार नहीं हूँ कि तुम्हारी ठोकरें सह लूँगा।

जिम राजा साहब, आप सचमुच नाराज हो गया। मैं तो आपसे दिल्लगी करता था। आप तो पहलवान हैं। आप दिल्लगी मे बुरा मान गया!

राजा—बिलकुल नहीं। मैं दिल्लगी कर रहा हूँ। अब तो आप फिर मेरे साथ दिल्लगी न करेंगे?

जिम—कबी नईं, कबी नईं।

राजा—मैंने जो अर्ज की थी, वह आप मानेंगे या नहीं?

जिम—मानेंगे, मानेंगे, हम सुबह होते ही हुक्म देगा।

राजा—दगा तो न करोगे?

जिम—कबी नईं, कबी नईं। आप भी किसी से यह बात न कहना।

राजा—दगा की, तो इसी तरह फिर पटकूँगा, याद रखना। यह कहकर राजा साहब मिस्टर जिम को छोड़कर उठ गये। जिम भी गर्द झाड़कर उठा और राजा साहब से बड़े तपाक के साथ हाथ मिलाकर उन्हें रुखसत किया। जरा भी शोरगुल न हुआ। जिम साहब के साईस के सिवा और किसी ने यह मल्लयुद्ध नहीं देखा था, और उसकी मारे डर के बोलने की हिम्मत न पड़ी।

राजा साहब दिल में सोचते जाते थे कि देखें वादा पूरा करता है या मुकर जाता है। कहीं कल कोई शरारत न करे। उँह, देखी जायगी। इस वक्त तो ऐसी पटकनी दी है कि बचा याद करते होंगे। यह सब वादे के तो सच्चे होते हैं। सुबह को देखूँगा। अगर हुक्म न दिया, तो फिर जाऊँगा। इतना डर तो उसे भी होगा कि मैंने दगा की, तो वह भी कलई खोल देगा। सज्जनता से तो नहीं, पर इस भय से जरूर वादा पूरा करेगा। मनोरमा अपने घर चली गयी होगी। तड़के ही जाकर उसे यह खबर सुनाऊँगा। खिल उठेगी। आह! उस वक्त उसकी छवि देखने ही योग्य होगी!

राजा साहब घर पहुँचे, तो डेढ़ बज गया था, पर अभी तक सोता न पड़ा था। नौकर-चाकर उनकी राह देख रहे थे। राजा साहब मोटर से उतरकर ज्योंही बरामदे में पहुँचे, तो देखा मनोरमा खड़ी है। राजा साहब ने विस्मित होकर पूछा—क्या तुम अभी घर नहीं गयीं? तब से यहीं हो? रात तो बहुत बीत गयी।

मनोरमा—एक किताब पढ़ रही थी। क्या हुआ?

राजा—कमरे में चलो, बताता हूँ।

राजा साहब ने सारी कथा आदि से अन्त तक बड़े गर्व के साथ खूब नमक-मिर्च लगाकर बयान की। मनोरमा तन्मय होकर सुनती रही। ज्यों-ज्यों वह यह वृत्तान्त सुनती

थी, उसका मन राजा साहब की ओर खिंचा जाता था। मेरे लिए उन्होंने इतना कष्ट, इतना अपमान सहा। जब वृत्तान्त समाप्त हुआ, तो वह प्रेम और भक्ति से गद्गद् होकर राजा साहब के पैरों पर गिर पड़ी और काँपती हुई आवाज से बोली—मैं आपका यह एहसान कभी न भूलूँगी।

आज ज्ञातरूप से उसके हृदय मे प्रेम का अंकुर पहली बार जमा। वह एक उपासक की भाँति अपने उपास्य देव के लिए बाग मे फूल तोड़ने आयी थी; पर बाग की शोभा देखकर उस पर मुग्ध हो गयी। फूल लेकर चली, तो बाग की सुरम्य छटा उसकी आँखों में समायी हुई थी। उसके रोम रोम से यही ध्वनि निकलती थी—आपका एहसान कभी न भूलूँगी। स्तुति के शब्द उसके मुँह तक आकर रह गये।

वह घर चली, तो चारो ओर अंधकार और सन्नाटा था; पर उसके हृदय में प्रकाश फैला हुआ था और प्रकाश में संगीत की मधुर ध्वनि प्रवाहित हो रही थी। एक क्षण के लिए वह चक्रधर को दशा भी भूल गयी, जैसे मिठाई हाथ में लेकर बालक अपने छिदे हुए कान की पीड़ा भूल जाता है।

२०

मिस्टर जिम ने दूसरे दिन हुक्म दिया कि चक्रधर को जेल से निकालकर शहर के बड़े अस्पताल मे रखा जाय। वह उन जिद्दी आदमियों में न थे, जो मार खाकर भी बेहयाई करते हैं। सवेरे परवाना पहुँचा। राजा साहब भी तड़के ही उठकर जेल पहुँचे। मनोरमा वहाँ पहले ही से मौजूद थी; लेकिन चक्रधर ने साफ कह दिया—मैं यहीं रहना चाहता हूँ। मुझे और कहीं भेजने की जरूरत नहीं।

दारोगा—आप कुछ सिड़ी तो नहीं हो गये हैं? कितनी कोशिश से तो राजा साहब ने यह हुक्म दिलाया, और आप सुनते ही नहीं? क्यों जान देने पर तुले हो? यहाँ इलाज-विलाज खाक न होगा।

चक्रधर—कई आदमियों को मुझसे भी ज्यादा चोट आयी है। मेरा मरना-जीना उन्हीं के साथ होगा। उनके लिए ईश्वर है, तो मेरे लिए भी ईश्वर है।

दारोगा ने बहुत समझाया, राजा साहब ने भी समझाया, मनोरमा ने रो-रोकर मिन्नतें कीं; लेकिन चक्रधर किसी तरह राजी न हुए। तहसीलदार साहब को अन्दर आने की आज्ञा न मिली; लेकिन शायद उनके समझाने का भी कुछ असर न होता। दोपहर तक सिरमगजन करने के बाद लोग निराश होकर लौटे।

मुंशीजी ने कहा—दिल नहीं मानता, पर जी यही चाहता है कि इस लौंडे का मुँह न देखूँ!

राजा—इसमें बात ही क्या थी। मेरी सारी दौड़-धूप मिट्टी में मिल गयी।

मनोरमा कुछ न बोली। चक्रधर जो कुछ कहते या करते थे, उसे उचित जान पड़ता था। भक्त को आलोचना से प्रेम नहीं। चक्रधर का यह विशाल त्याग उसके हृदय में खटकता था; पर उसकी आत्मा को मुग्ध कर रहा था। उसकी आँखें गर्व से

मतवाली हो रही थीं।

मिस्टर जिम को यह खबर मिली, तो तिलमिला उठे, मानो किसी रईस ने एक भिखारी को पैसे जमीन पर फेंककर अपनी राह ली हो। कीर्ति का इच्छुक जब दान करता है, तो चाहता है कि नाम हो, यश मिले। दान का अपमान उससे नहीं सहा जाता। जिम ने समझा था कि चक्रधर की आत्मा का मैंने दमन कर दिया। अब उसे मालूम हुआ कि मैं धोखे में था। वह आत्मा अभी तक मस्तक उठाये उसकी ओर ताक रही थी। जिम ने मन में ठान लिया था कि मैं उसे कुचलकर छोड़ूँगा।

चक्रधर दो महीने अस्पताल में पड़े रहे। दवा दर्पन तो जैसी हुई, वही जानते होंगे, लेकिन जनता की दुआओं में जरूर असर था। हजारों आदमी नित्य उनके लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे और मनोरमा को तो दान, व्रत और तप के सिवा और कोई काम न था। जिन बातों को वह पहले ढकोसला समझती थी, उन्हीं बातों में अब उसकी आत्मा को शान्ति मिलती थी। पहली बार उसे प्रार्थना शक्ति का विश्वास हुआ। कमजोरी ही में हम लकड़ी का सहारा लेते हैं।

चक्रधर तो अस्पताल में पड़े थे, इधर उन पर नया अभियोग चलाने की तैयारियाँ हो रही थीं। ज्योंही वह चलने-फिरने लगे, उन पर मुकद्दमा चलने लगा। जेल के भीतर ही इजलास होने लगा। ठाकुर गुरुसेवकसिंह आजकल डिप्टी मैजिस्ट्रेट थे। उन्हीं को यह मुकद्दमा सिपुर्द किया गया।

हमारे ठाकुर साहब बड़े जोशीले आदमी थे। यह जितने जोश से किसानों का सगठन करते थे, अब उतने ही जोश से कैदियों को सजाएँ भी देते थे। पहले उन्होंने निश्चय किया था कि सेवा-कार्य में ही अपना जीवन बिता दूँगा, लेकिन चक्रधर की दशा देखकर आँखें खुल गयीं। समझ गये कि इन परिस्थितियों में सेवा कार्य टेढी खीर है। जीवन का उद्देश्य यही तो नहीं है कि हमेशा एक पैर जेल म रहे, हमेशा प्राण सूली पर रहे, खुफिया पुलिस हमेशा ताक में बैठी रहे, भगवद्गीता का पाठ करना मुश्किल हो जाय। यह तो न स्वार्थ है, न परमार्थ, केवल आग में कूदना है, तलवार पर गरदन रखना है। सेवा-कार्य को दूर से सलाम किया और सरकार के सेवक बन बैठे। खानदान अच्छा था ही, सिफारिश भी काफी थी, जगह मिलने में कोई कठिनाई न हुई। अब वह बड़े ठाट से रहते थे। रहन-सहन भी बदल डाला, खान-पान भी बदल डाला। उस समाज में घुल-मिल गये, जिसकी वाणी में, वेश में, व्यवहार में पराधीनता का चोखा रङ्ग चढा होता है। उन्हें लोग अब 'साहब' कहते हैं। 'साहब' हैं भी पूरे 'साहब', बल्कि 'साहबों' से भी दो अगुल ऊँचे। किसी को छोड़ना तो जानते ही नहीं। कानून की मशा चाहे कुछ हो, कड़ी-से-कड़ी सजा देना उनका काम है। उनका नाम सुनकर बदमाशों की नानी मर जाती है। विधाताओं को उन पर जितना विश्वास है, उतना और किसी हाकिम पर नहीं है, इसी लिए यह मुकद्दमा उनके इजलास में भेजा गया है।

ठाकुर साहब सरकारी काम में जरा भी रू-रिआयत न करते थे; लेकिन यह मुक़दमा पाकर वह धर्म-संकट में पड़ गये। धन्नासिंह और अन्य अपराधियों के विषय में तो कोई चिन्ता न थी, उनकी मीआद बढ़ा सकते थे, काल-कोठरी में डाल सकते थे, सेशन-सिपुर्द कर सकते थे; पर चक्रधर को क्या करें। अगर सजा देते हैं, तो जनता में मुँह दिखाने लायक नहीं रहते। मनोरमा तो शायद उनका मुँह भी न देखे। छोड़ते हैं, तो अपने समाज में तिरस्कार होता है, क्योंकि वहाँ सभी चक्रधर से खार खाये बैठे थे। ठाकुर साहब के कानों में किसी ने यह बात भी डाल दी थी कि इसी मुकदमे पर तुम्हारे भविष्य का बहुत कुछ दार-मदार है।

मुकदमे को पेश हुए आज तीसरा दिन था। गुरुसेवक बरामदे में बैठे सावन की रिम-झिम वर्षा का आनन्द उठा रहे थे। आकाश में मेघों की घुड़दौड़-सी हो रही थी। घुड़दौड़ नहीं, संग्राम था। एक दल आगे वेग से भागा चला जाता था और उसके पीछे विजेताओं का काला दल तोपें दागता, भाले चमकाता, गम्भीर भाव से बढ़ रहा था, मानो भगोड़ों का पीछा करना अपनी शान के खिलाफ समझता हो।

सहसा मनोरमा मोटर से उतरकर उनके समीप ही कुरसी पर बैठ गयी!

गुरुसेवक ने पूछा—कहाँ से आ रही हो?

मनोरमा—घर ही से आ रही हूँ। जेलवाले मुकदमे में क्या हो रहा है?

गुरुसेवक—अभी तो कुछ नहीं हुआ। गवाहों के बयान हो रहे हैं।

मनोरमा—बाबूजी पर जुर्म साबित हो गया?

गुरुसेवक—हो भी गया और नहीं भी हुआ।

मनोरमा—मैं नहीं समझी।

गुरुसेवक—इसका मतलब यह है कि जुर्म का साबित होना या न होना दोनों बराबर हैं, और मुझे मुलजिमों को सजा करनी पड़ेगी। अगर बरी कर दूँ, तो सरकार अपील करके उन्हें फिर सजा दिला देगी। हाँ, मैं बदनाम हो जाऊँगा। मेरे लिए यह आत्म-बलिदान का प्रश्न है। सारी देवता-मण्डली मुझ पर कुपित हो जायगी।

मनोरमा—तुम्हारी आत्मा क्या कहती है?

गुरुसेवक—मेरी आत्मा क्या कहेगी? मौन है।

मनोरमा—मैं यह न मानूँगी। आत्मा कुछ न-कुछ जरूर कहती है, अगर उससे पूछा जाय। कोई माने या न माने, यह उसका अख्तियार है। तुम्हारी आत्मा भी अवश्य तुम्हें सलाह दे रही होगी और उसकी सलाह मानना तुम्हारा धर्म है। बाबूजी के लिए सजा का दो-एक साल बढ़ जाना कोई बात नहीं, वह निरपराध हैं और यह विश्वास उन्हें तस्कीन देने को काफी है; लेकिन तुम कहीं के न रहोगे। तुम्हारे देवता तुमसे भले ही सन्तुष्ट हो जायँ, पर तुम्हारी आत्मा का सर्वनाश हो जायगा।

गुरुसेवक—चक्रधर बिलकुल बेकसूर तो नहीं हैं। पहले-पहल जेल के दारोगा पर वही गर्म पड़े थे। वह उस वक्त जब्त कर जाते, तो यह फिसाद न खड़ा होता। वह

अपराध उनके सिर से कैसे दूर होगा ?

मनोरमा—आपके कहने का यह मतलब है कि वह गालियाँ खाकर चुप रह जाते ? क्यों ?

गुरुसेवक—जब उन्हें मालूम था कि मेरे बिगड़ने से उपद्रव की सम्भावना है, तो मेरे खयाल में उन्हें चुप ही रह जाना चाहिए था।

मनोरमा—और मैं कहती हूँ कि उन्होंने जो कुछ किया, वही उनका धर्म था। आत्मसम्मान की रक्षा हमारा सबसे पहला धर्म है। आत्मा की हत्या करके अगर स्वर्ग भी मिले, तो वह नरक है। आपको अपने फैसले में साफ-साफ लिखना चाहिए कि बाबूजी बेकसूर हैं। आपको सिफारिश करनी चाहिए कि एक महान् संकट में, अपने प्राणों को हथेली पर लेकर, जेल के कर्मचारियों की जान बचाने के बदले में उनकी मीआद घटा दी जाय सरकार अपील करे, इससे आपको कोई प्रयोजन नहीं। आपका कर्तव्य वही है, जो मैं कह रही हूँ।

गुरुसेवक ने अपनी नीचता को मुसकराहट से छिपाकर कहा—आग में कूद पड़ूँ ?

मनोरमा—धर्म की रक्षा के लिए आग में कूद पड़ना कोई नयी बात नहीं है। आखिर आपको किस बात का डर है ? यही न, कि आपसे आपके अफसर नाराज हो जायँगे। आप शायद डरते हों कि कहीं आप अलग न कर दिये जायँ। इसकी जरा भी चिन्ता न कीजिए। मैं आशा करती हूँ मुझे विश्वास है कि आपका नुकसान न होने पायेगा।

गुरुसेवक अपनी स्वार्थपरता पर झेंपते हुए बोले—नौकरी की मुझे परवा नहीं है, मनोरमा! मैं इन लोगों के कमीनेपन से डरता हूँ। इनको फौरन खयाल होगा कि मैं भी उसी टुकड़ी में मिला हुआ हूँ, और आश्चर्य नहीं कि मैं भी किसी जुर्म में फाँस दिया जाऊँ। मुझे इनके साथ मिलने-जुलने से इनकी नीचता का कई बार अनुभव हो चुका है। इनमें उदारता और सज्जनता नाम को भी नहीं होती। बस, अपने मतलब के यार हैं। इनका धर्म, इनकी राजनीति, इनका न्याय, इनकी सभ्यता केवल एक शब्द में आ जाती है, और वह शब्द है—'स्वार्थ'। मैं सब कुछ सह सकता हूँ, जेल के कष्ट नहीं सह सकता। जानता हूँ, यह मेरी कमजोरी है, पर क्या करूँ ? मुझमें तो इतना साहस नहीं।

मनोरमा—भैयाजी, आपकी यह सारी शंकाएँ निर्मूल हैं। मैं आपका जरा भी नुकसान न होने दूँगी। गवाहों के बयान हो गये कि नहीं ?

गुरुसेवक—हाँ, हो गये। अब तो केवल फैसला सुनाना है।

मनोरमा—तो लिखिए, लाऊँ कलम-दावात ?

गुरुसेवक—लिख लूँगा, जल्दी क्या है ?

मनोरमा—मैं बिना लिखवाये यहाँ से जाऊँगी ही नहीं। यही इरादा करके आज आयी हूँ।

गुरुसेवक—ज़रा घर में जाकर लोगों से मिल आओ। शिकायत करती थीं कि बीबी अभी से हमें भूल गयीं।

मनोरमा—टालमटोल न कीजिए। मैं सब सामान यहीं लाये देती हूँ। आपको इसी वक्त लिखना पड़ेगा।

गुरुसेवक—तो तुम कब तक बैठी रहोगी? फैसला लिखना कोई मुँह का कौर थोड़े ही है।

मनोरमा—आधी रात तक खत्म हो जायगा? आज न होगा, कल होगा। मैं फैसला पढ़कर ही यहाँ से जाऊँगी। तुम दिल से चक्रधर को निर्दोष मानते हो, केवल स्वार्थ और भय तुम्हें दुविधा में डाले हुए हैं। मैं देखना चाहती हूँ कि तुम कहाँ तक सत्य का निर्वाह करते हो।

सहसा दूसरी मोटर आ पहुँची। इस पर राजा साहब बैठे हुए थे? गुरुसेवक बड़े तपाक से उन्हें लेने दौड़े। राजा ने उनकी ओर विशेष ध्यान न दिया। मनोरमा के पास आकर बोले—तुम्हारे घर से चला आ रहा हूँ। वहाँ पूछा तो मालूम हुआ—कहीं गयी हो; पर यह किसी को न मालूम था कि कहाँ। वहाँ से पार्क गया, पार्क से चौक पहुँचा, सारे ज़माने की खाक छानता हुआ यहाँ पहुँचा हूँ। मैं कितनी बार कह चुका हूँ कि घर से चला करो, तो ज़रा बतला दिया करो।

मनोरमा—मैंने समझा था, आपके आने के वक्त तक लौट आऊँगी।

राजा—खैर, अभी कुछ ऐसी देर नहीं हुई। कहिए, डिप्टी साहब, मिज़ाज तो अच्छे हैं? कभी कभी भूलकर हमारी तरफ भी आ जाया कीजिए। (मनोरमा से) चलो, नहीं तो शायद ज़ोर से पानी आ जाय।

मनोरम—मैं तो आज न जाऊँगी।

राजा—नहीं नहीं, ऐसा न कहो। वे लोग हमारी राह देख रहे होंगे।

मनोरमा—मेरा तो जाने को जी नहीं चाहता।

राजा—तुम्हारे बगैर सारा मज़ा किरकिरा हो जायगा, और मुझे बहुत लज्जित होना पड़ेगा। मैं तुम्हें जबरदस्ती ले जाऊँगा।

यह कहकर राजा साहब ने मनोरमा का हाथ आहिस्ता से पकड़ लिया और उसे मोटर की तरफ खींचा। मनोरमा ने एक झटके से अपना हाथ छुड़ा लिया और त्योरियाँ बदलकर बोली—एक बार कह दिया कि मैं न जाऊँगी।

राजा—आखिर क्यों?

मनोरमा—अपनी इच्छा!

गुरुसेवक—हुज़ूर, यह मुझसे जबरदस्ती जेलवाले मुकदमे का फैसला लिखाने बैठी हुई हैं। कहती हैं—बिना लिखवाये न जाऊँगी।

गुरुसेवक ने तो यह बात दिल्लगी से कही थी, पर समायोचित बात उनके मुँह से कम निकलती थी। मनोरमा का मुँह लाल हो गया। समझी कि यह मुझे राजा साहब के

सम्मुख गिराना चाहते हैं। तनकर बोली—हाँ, इसी लिए बैठी हूँ, तो फिर? आपको यह कहते हुए शर्म आनी चाहिए थी। एक निरपराध आदमी को आपके हाथों स्वार्थ-मय अन्याय से बचाने के लिए मेरी निगरानी की जरूरत है। क्या यह आपके लिए शर्म की बात नहीं है? अगर मैं समझती कि आप निष्पक्ष होकर फैसला करेंगे, तो मेरे बैठने की क्यों जरूरत होती। आप मेरे भाई हैं, इसलिए मैं आपसे सत्याग्रह कर रही हूँ। आपकी जगह कोई दूसरा आदमी बाबूजी पर जान-बूझकर ऐसा घोर अन्याय करता, तो शायद मेरा वश चलता तो उसके हाथ कटवा लेती। चक्रधर की मेरे दिल में जितनी इज्जत है, उसका आप लोग अनुमान नहीं कर सकते।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। गुरुसेवक का मुँह नन्हा सा हो गया, और राजा साहब तो मानो रो दिये। आखिर चुपचाप अपनी मोटर की ओर चले। जब वह मोटर पर बैठ गये, तो मनोरमा भी धीरे से उनके पास आयी और स्नेह सिंचित नेत्रों से देखकर बोली—मैं कल आपके साथ अवश्य चलूँगी।

राजा ने सड़क की ओर ताकते हुए कहा—जैसी तुम्हारी खुशी।

मनोरमा—अगर इस मामले में सच्चा फैसला करने के लिए भैयाजी पर हाकिमों की अकृपा हुई, तो आपको भैयाजी के लिए कुछ फिक्र करनी पड़ेगी।

राजा—देखी जायगी।

मनोरमा तनकर बोली—क्या कहा?

राजा—कुछ तो नहीं।

मनोरमा—भैयाजी को रियासत में जगह देनी होगी।

राजा—तो दे देना, मैं रोकता कब हूँ?

मनोरमा—कल चार बजे आने की कृपा कीजिएगा। मुझे आपके साथ आज न चलने का बड़ा दुःख है, पर मजबूर हूँ। मैं चली जाऊँगी, तो भैयाजी कुछ-का-कुछ कर बैठेंगे। आप नाराज तो नहीं हैं।

यह कहते-कहते मनोरमा की आँखें सजल हो गयीं। राजा ने मन्त्र-मुग्ध नेत्रों से उसकी ओर ताका और गद्गद् होकर बोले—तुम इसकी जरा भी चिन्ता न करो। तुम्हारा इशारा काफी है। लो, अब खुश होकर मुसकरा दो। देखो, वह हँसी आयी!

मनोरमा मुसकरा पड़ी। पानी में कमल खिल गया। राजा साहब ने उससे हाथ मिलाया और चले गये। तब मनोरमा आकर अपनी कुरसी पर बैठ गयी।

इस समय गुरुसेवक की दशा उस आदमी की-सी थी, जिसके सामने कोई महात्मा धूनी रमाये बैठे हों, और बगल में कोई विहसित, विकसित रमणी मधुर संगीत अलाप रही हो। उसका मन तो संगीत की ओर आकर्षित होता है, लेकिन लज्जावश उधर न देखकर वह जाता है और महात्मा के चरणों पर सिर झुका देता है।

मनोरमा कुरसी पर बैठी उनकी ओर इस तरह ताक रही थी, मानो किसी बालक ने अपनी कागज की नाव लहरों में डाल दी हो और उसको लहरों के साथ हिलते हुए

बहते देखने में मग्न हो। नाव कभी झोंके खाती है, कभी लहरों के साथ बहती है और कभी डगमगाने लगती है। बालक का हृदय भी उसी भाँति कभी उछलता है, कभी घबराता है और कभी बैठ जाता है।

कुरसी पर बैठे-बैठे मनोरमा को एक झपकी आ गयी। सावन भादों की ठण्ढी हवा निद्रामय होती है। उसका मन स्वप्न साम्राज्य में जा पहुँचा। क्या देखती है कि उसके बचपन के दिन हैं। वह अपने द्वार पर सहेलियों के साथ गुड़ियाँ खेल रही हैं। सहसा एक ज्योतिषी पगड़ी बाँधे, पोथी पत्रे बगल में दबाये आता है। सब लड़कियाँ अपनी गुड़ियों का हाथ दिखाने के लिए दौड़ी हुई ज्योतिषी के पास जाती हैं। ज्योतिषी गुड़ियो के हाथ देखने लगता है। न-जाने कैसे गुड़ियों के हाथ लड़कियो के हाथ बन जाते हैं। ज्योतिषी एक बालिका का हाथ देखकर कहता है—तेरा विवाह एक बड़े भारी अफसर से होगा। बालिका हँसती हुई अपने घर चली जाती है; तब ज्योतिषी दूसरी बालिका का हाथ देखकर कहता है—तेरा विवाह एक बड़े सेठ से होगा। तू पालकी में बैठकर चलेगी। वह बालिका भी खुश होकर घर चली जाती है। तब मनोरमा की बारी आती है। ज्योतिषी उसका हाथ देखकर चिन्ता में डूब जाते हैं और अन्त में संदिग्ध स्वर मे कहते हैं—तेरे भाग्य में जो कुछ लिखा है, तू उसके विरुद्ध करेगी और दुःख उठायेगी। यह कहकर वह चल पड़ते हैं; पर मनोरमा उनका हाथ पकड़ कर कहती है—आपने मुझे तो कुछ नहीं बताया। मुझे उसी तरह बता दीजिए, जैसे आपने मेरी सहेलियो को बताया है। ज्योतिषी झुँझलाकर कहते हैं। तू प्रेम को छोड़कर धन के पीछे दौड़ेगी; पर तेरा उद्धार प्रेम ही से होगा। यह कहकर ज्योतिषीजी अन्तर्द्धान हो गये और मनोरमा खड़ी रोती रह गयी।

यही विचित्र दृश्य देखते-देखते मनोरमा की आँखें खुल गयीं। उसकी आँखों मे अभी तक आँसू बह रहे थे। सामने उसकी भावज खड़ी कह रही थी—घर मे चलो, बीबी! मुझसे क्यों इतना भागती हो? क्या मैं कुछ छीन लूँगी? और गुरुसेवक लैम्प के सामने बैठे तजवीज लिख रहे थे। मनोरमा ने भावज से पूछा—भाभी, क्या मैं सो गयी थी? अभी तो शाम हुई है।

गुरुसेवक ने कहा—शाम नहीं हुई है, बारह बज रहे हैं।

मनोरमा—तो आपने तजवीज लिख डाली होगी?

गुरुसेवक—बस, ज़रा देर में खत्म हुई जाती है।

मनोरमा ने काँपते हुए स्वर में कहा—आप यह तजवीज फाड़ डालिए।

गुरुसेवक ने बड़ी-बड़ी आँखें करके पूछा—क्यों, फाड़ क्यों डालूँ?

मनोरमा—यों ही! आपने इस मुकदमे का जिक्र ऐसे बेमौके कर दिया कि राजा साहब नाराज हो गये होंगे। मुझे चक्रधर से कुछ रिश्वत तो लेनी नहीं है। वह तीन वर्ष की जगह तीस वर्ष क्यों न जेल में पड़े रहें। पुण्य और पाप आपके सिर। मुझसे कोई मतलब नहीं।

गुरुसेवक—नहीं मनोरमा, मैं अब यह तजवीज नहीं फाड़ सकता। बात यह है कि मैंने पहले ही से दिल में एक बात स्थिर कर ली थी, और सारी शहादतें मुझे उसी रंग में रँगी नजर आती थीं। सत्य की मैंने तलाश न की थी, तो सत्य मिलता कैसे? अब मालूम हुआ कि पक्षपात क्योंकर लोगों की आँखों पर परदा डाल देता है। अब जो सत्य की इच्छा से बयानों को देखता हूँ, तो स्पष्ट मालूम होता है कि चक्रधर बिलकुल निर्दोष हैं। जान-बूझकर अन्याय न करूँगा।

मनोरमा—आपने राजा साहब की त्योरियाँ देखीं?

गुरुसेवक—हाँ, खूब देखीं, पर उनकी अप्रसन्नता के भय से अपनी तजवीज नहीं फाड़ सकता। यह पहली तजवीज है, जो मैंने पक्षपात-रहित होकर लिखी है और जितना संतोष आज मुझे अपने फैसले पर है, उतना और कभी न हुआ था। अब तो कोई लाख रुपये भी दे, तो भी इसे न फाड़ूँ।

मनोरमा—अच्छा, तो लाइए, मैं फाड़ दूँ।

गुरुसेवक—नहीं मनोरमा, औंघते हुए आदमी को मत ठेलो, नही तो फिर वह इतने जोर से गिरेगा कि उसकी आत्मा तक चूर-चूर हो जायगी। मुझे तो विश्वास है कि इस तजवीज से चक्रधर की पहली सजा भी घट जायगी। शायद सत्य कलम को भी तेज कर देता है। मैं इन तीन घण्टों में बिना चाय का एक प्याला पिये ४० पृष्ठ लिख गया, नहीं तो हर दस मिनट में चाय पीनी ही पड़ती थी। बिना चाय की मदद के कलम ही न चलती थी।

मनोरमा—लेकिन मेरे सिर इसका एहसान न होगा?

गुरुसेवक—सचाई आप ही अपना इनाम है, यह पुरानी कहावत है। सत्य से आत्मा भी बलवान् हो जाती है। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, अब मुझे जरा भी भय नहीं है।

मनोरमा—अच्छा, अब मैं जाऊँगी। लालाजी घबरा रहे होंगे।

भाभी—हाँ-हाँ; जरूर जाओ, वहाँ माताजी के स्तनों में दूध उतर आया होगा। यहाँ कौन अपना बैठा हुआ है?

मनोरमा—भाभी, लौंगी अम्माँ को तुम जितना नीच समझती हो, उतनी नीच नहीं हैं। तुम लोगों के लिए वह अब भी रोया करती हैं।

भाभी—अब बहुत बखान न करो, जी जलता है। वह तो मरती भी हो, तो भी देखने न जाऊँ। किसी दूसरे घर में होती, तो अभी तक बरतन माँजती होती। यहाँ आकर रानी बन गयी। लो उठा चला, आज तुम्हारा गाना सुनूँगी। बहुत दिनों के बाद पंजे में आयी हो।

मनोरमा घर न जा सकी। भोजन करके भावज के साथ लेटी। बड़ी रात तक दोनों मे बातें होती रहीं। आखिर भाभी को नींद आ गयी, पर मनोरमा की आँखों में नींद ँ। वह तो पहले ही सो चुकी थी। वही स्वप्न उसके मस्तिष्क में चक्कर लगा रहा

था। वह बार-बार सोचती थी, इस स्वप्न का आशय क्या यही है कि राजा साहब से विवाह करके वह सचमुच अपना भाग्य पलट रही है? क्या वह प्रेम को छोड़कर धन के पीछे दौड़ी जा रही है? वह प्रेम कहाँ है, जिसे उसने छोड़ दिया है। उसने तो उसे पाया ही नहीं। वह जानती है कि उसे कहाँ पा सकती है; पर पाये कैसे? वह वस्तु तो उसके हाथ से निकल गयी। वह मन में कहने लगी—बाबूजी, तुमने कभी मेरी ओर आँख उठाकर देखा है? नहीं, मुझे इसकी लालसा रह ही गयी। तुम दूसरों के लिए मरना जानते हो, अपने लिए जीना भी नहीं जानते। तुमने एक बार मुझे इशारा भी कर दिया होता, तो मैं दौड़कर तुम्हारे चरणों मे लिपट जाती। इस धन-दौलत पर लात मार देती, इस बन्धन को कच्चे धागे की भाँति तोड़ देती; लेकिन तुम इतने विद्वान् होकर भी इतने सरल-हृदय हो! इतने अनुरक्त होकर भी इतने विरक्त! तुम समझते हो, मैं तुम्हारे मन का हाल नहीं जानती? मैं सब जानती हूँ, एक एक अक्षर जानती हूँ, लेकिन क्या करूँ? मैंने अपने मन के भाव उससे अधिक प्रकट कर दिये थे, जितना मेरे लिए उचित था। मैंने बेशर्मी तक की; लेकिन तुमने मुझे न समझा, या समझने की चेष्टा ही न की। अब तो भाग्य मुझे उसी ओर लिये जा रहा है, जिधर मेरी चिता बनी हुई है। उसी चिता पर बैठने जाती हूँ। यही हृदय-दाह मेरी चिता होगी और यही स्वप्न सन्देश मेरे जीवन का आधार होगा। प्रेम से मैं वंचित हो गयी और अब मुझे सेवा ही से अपना जीवन सफल करना होगा। यह स्वप्न नहीं, आकाश-वाणी है। अभागिनी इससे अधिक और क्या अभिलाषा रख सकती है?

यही सोचते-सोचते वह लेटे-लेटे यह गीत गाने लगी—

करूँ क्या, प्रेम-समुद्र अपार!
स्नेह सिन्धु में मग्न हुई मैं, लहरें रहीं हिलोर,
हाथ न आये तुम जीवन-धन, पाया कहीं न छोर!
करूँ क्या, प्रेम-समुद्र अपार!
झूम-झूमकर जब इठलायी सुरभित स्निग्ध समीर,
नभ-मण्डल में लगा विचरने मेरा हृदय अधीर।
करूँ क्या, प्रेम-समुद्र अपार!

२१

हुक्काम के इशारों पर नाचनेवाले गुरुसेवकसिंह ने जब चक्रधर को जेल के दंगे के इलजाम से बरी कर दिया, तो अधिकारी मण्डल में सनसनी-सी फैल गयी। गुरुसेवक से ऐसे फैसले की किसी को आशा न थी। फैसला क्या था, मान-पत्र था, जिसका एक-एक शब्द वात्सल्य के रस में शराबोर था। जनता में धूम मच गयी। ऐसे न्यायवीर और सत्यवादी प्राणी विरले ही होते हैं, सबके मुँह से यही बात निकलती थी। शहर के कितने ही आदमी तो गुरुसेवक के दर्शनों को आये और यह कहते हुए लौटे कि यह हाकिम नहीं, साक्षात् देवता हैं। अधिकारियों ने सोचा था, चक्रधर को ४-५ साल जेल

में सड़ायेंगे, लेकिन अब तो खूँटा ही उखड़ गया, उछलें किस बिरते पर? चक्रधर इस इलजाम से बरी ही न हुए, बल्कि उनकी पहली सजा भी एक साल घटा दी गयी। मिस्टर जिम तो ऐसा जामे से बाहर हुए कि बस चलता, तो गुरुसेवक को गोली मार देते। और कुछ न कर सके, तो चक्रधर को तीसरे ही दिन आगरे भेज दिया। लेकिन ईश्वर न करे कि किसी पर हाकिमों की टेढ़ी निगाह हो। चक्रधर की मीआद घटा दी गयी, लेकिन कर्मचारियों को सख्त ताकीद कर दी गयी थी कि कोई कैदी उनसे बोलने तक न पाये, कोई उनके कमरे के द्वार तक भी न जाने पाये, यहाँ तक कि कोई कर्मचारी भी उनसे न बोले। साल-भर में दस साल की कैद का मजा चखाने की हिकमत सोच निकाली गयी। मजा यह कि इस धुन में चक्रधर को कोई काम भी न दिया गया। बस, आठों पहर उसी चार हाथ लम्बी और तीन हाथ चौड़ी कोठरी में पड़े रहो। जेल के विधाताओं में चाहे जितने अवगुण हों, पर वे मनोविज्ञान के पण्डित होते हैं। किस दण्ड से आत्मा को अधिक से-अधिक कष्ट हो सकता है, इसका उन्हें सम्पूर्ण ज्ञान होता है। मनुष्य के लिए बेकारी से बड़ा और कोई कष्ट नहीं है, इसे वे खूब जानते हैं। चक्रधर के कमरे का द्वार दिन में केवल दो बार खुलता था। वार्डर खाना रखकर किवाड़ बन्द कर देता था। आह! कालकोठरी! तू मानवी पशुता की सबसे क्रूर लीला, सबसे उज्ज्वल कीर्ति है। तू वह जादू है, जो मनुष्य को आँखें रहते अन्धा, कान रहते बहरा, जीभ रहते गूँगा बना देती है। कहाँ हैं सूर्य की वे किरणें, जिन्हें देखकर आँखों को अपने होने का विश्वास हो, कहाँ है वह वाणी, जो कानों को जगाये? गन्ध है, किन्तु ज्ञान तो भिन्नता में है। जहाँ दुर्गन्ध के सिवा और कुछ नहीं, वहाँ गन्ध-ज्ञान कैसे हो, बस, शून्य है, अन्धकार है! वहाँ पंच-भूतों का अस्तित्व ही नहीं। कदाचित् ब्रह्मा ने इस अवस्था की कल्पना ही न की होगी, कदाचित् उनमें यह सामर्थ्य ही न थी। मनुष्य की आविष्कार-शक्ति कितनी विलक्षण है! धन्य हो देवता, धन्य हो!

चक्रधर के विचार और भाव इतनी जल्द बदलते रहते थे कि कभी-कभी उन्हें भ्रम होने लगता था कि मैं पागल तो नहीं हुआ जा रहा हूँ? कभी सोचते—ईश्वर ने ऐसी सृष्टि की रचना ही क्यों की, जहाँ इतना स्वार्थ, द्वेष और अन्याय है? क्या ऐसी पृथ्वी न बन सकती थी, जहाँ सभी मनुष्य, सभी जातियाँ प्रेम और आनन्द के साथ संसार में रहतीं? यह कौन-सा इन्साफ है कि कोई तो दुनिया के मजे उड़ाये, कोई धक्के खाये, एक जाति दूसरी का रक्त चूसे और मूँछों पर ताव दे। दूसरी कुचली जाय और दाने को तरसे? ऐसा अन्याय-मय संसार ईश्वर की सृष्टि नहीं हो सकता। पूर्व-संसार का सिद्धान्त ढोंग मालूम होता है, जो लोगों ने दुखियों और दुर्बलों के आँसू पोंछने के लिए गढ़ लिए हैं। दो-चार दिन यही संशय उनके मन को मथा करता। फिर एकाएक विचार-धारा पलट जाती। अन्धकार में प्रकाश की ज्योति फैल जाती, काँटों की जगह फूल नजर आने लगते। पराधीनता एक ईश्वर-विधान का रूप धारण कर लेती, जिसमें विकास और जागृति का मंत्र छिपा हुआ है। नहीं, पराधीनता दण्ड नहीं है, यह शिक्षा-

लय है, जो हमें स्वराज्य के सिद्धान्त सिखाता है, हमारे पुराने कुसंस्कारों को मिटाता है, हमारी मुँदी हुई आँखें खोलता है। इसके लिए ईश्वर का गिला करने की जरूरत नहीं। हमें उनको धन्यवाद देना चाहिए। अन्त को इस अन्तर्द्वन्द्व में उनकी आत्मा ने विजय पायी। सारी मन की अशान्ति, क्रोध और हिंसात्मक वृत्तियाँ उसी विजय में मग्न हो गयीं। मन पर आत्मा का राज्य हो गया। इसकी परवा न रही कि ताजी हवा मिलती है या नहीं, भोजन कैसा मिलता है, कपड़े कितने मैले हैं, उनमें कितने चिलवे पड़े हुए हैं कि खुजाते-खुजाते देह में दिदोरे पड़ जाते हैं। इन कष्टों की ओर उनका ध्यान ही न जाता। मन अन्तर्जगत् की सैर करने लगा। यह नयी दुनिया, जिसका अभी तक चक्रधर को बहुत कम ज्ञान था, इस लोक से कहीं ज्यादा पवित्र, उज्ज्वल और शान्तिमय थी। यहाँ रवि की मधुर प्रभात-किरणों में, इन्दु की मनोहर छटा में, वायु के कोमल संगीत में, आकाश की निर्मल नीलिमा में, एक विचित्र ही आनन्द था। वह किसी समाधिस्थ योगी की भाँति घण्टों इस अन्तर्लोक में विचरते रहते। शारीरिक कष्टों से अब उन्हें विराग-सा होने लगा। उनकी ओर ध्यान देना वह तुच्छ समझते थे। कभी-कभी वह गाते। मनोरंजन के लिए कई खेल निकाले। अँधेरे में अपनी लुटिया लुढ़का देते और उसे एक ही खोज में उठा लाने की चेष्टा करते। अगर उन्हें किसी चीज की जरूरत मालूम होती, तो वह प्रकाश था। इसलिए नहीं कि वह अन्धकार से ऊब गये थे; बल्कि इसीलिए कि वह अपने मन में उमड़नेवाले भावों को लिखना चाहते थे। लिखने की सामग्रियों के लिए उनका मन तड़पकर रह जाता। धीरे-धीरे उन्हें प्रकाश की भी जरूरत न रही। उन्हें ऐसा विश्वास होने लगा कि मैं अँधेरे में भी लिख सकता हूँ। यही न होगा कि पंक्तियाँ सीधी न होंगी; पर पंक्तियों को दूर-दूर रखकर और शब्दों को अलग-अलग लिखकर वह इस मुश्किल को आसान कर सकते थे। सोचते, कभी यहाँ से बाहर निकलने पर उस लिखावट का पढ़ने में कितना आनन्द आयेगा, कितना मनोरंजन होगा! लेकिन लिखने का सामान कहाँ। बस, यही एक ऐसी चीज थी, जिसके लिए वह कभी-कभी विकल हो जाते थे। विचार को ऐसे अथाह सागर में डूबने का मौका फिर न मिलेगा और ये मोती फिर हाथ न आयेंगे; लेकिन कैसे मिले।

चक्रधर के पास कभी-कभी एक बूढ़ा वार्डर भोजन लाया करता था। वह बहुत ही हँसमुख आदमी था। चक्रधर को प्रसन्नमुख देखकर दो-चार बातें कर लेता था। आह! उससे बातें करने के लिए चक्रधर लालायित रहते थे। उससे उन्हें बन्धुत्व-सा हो गया था। वह कई बार पूछ चुका था कि बाबूजी चरस-तम्बाखू की इच्छा हो, तो हमसे कहना। चक्रधर को खयाल आया, क्यों न उससे एक पेंसिल और थोड़े से कागज के लिए कहूँ। इस उपकार का बदला कभी मौका मिला तो चुका दूँगा। कई दिनों तक तो वह इसी संकोच में पड़े रहे कि उससे कहूँ या नहीं। आखिर एक दिन उनसे न रह गया, पूछ ही बैठे—क्यों जमादार, यहाँ कहीं कागज पेंसिल तो मिलेगी?

बूढ़ा वार्डर उनकी पूर्व कथा सुन चुका था, कुछ लिहाज करता था। मालूम नहीं

किस देवता के आशीर्वाद से उसमें इतनी इन्सानियत बच रही थी। और जितने वार्डर भोजन लाते, वे या तो चक्रधर को अनायास दो-चार ऐंड़ी बैंड़ी सुना देते, या चुपके से खाना रखकर चले जाते। चक्रधर को चरित्र ज्ञान प्राप्त करने का यह बहुत ही अच्छा अवसर मिलता था। बूढ़े वार्डर ने सतर्क भाव से कहा—मिलने को तो मिल जायगा, पर किसी ने देख लिया, तो क्या होगा?

इस वाक्य ने चक्रधर को सँभाल लिया। उनकी विवेक-बुद्धि, जो क्षण भर के लिए मोह में फँस गयी थी, जाग उठी। बोले—नहीं, मैं योंही पूछता था। यह कहते-कहते लज्जा से उनकी जबान बन्द हो गयी। जरा-सी बात के लिए इतना पतन!

इसके बाद उस वार्डर ने फिर कई बार पूछा—कहो तो पिंसिन-कागद ला दूँ, मगर चक्रधर ने हर दफा यही कहा—मुझे जरूरत नहीं।

बाबू यशोदानन्दन को ज्योंही मालूम हुआ कि चक्रधर आगरा जेल में आ गये हैं, वह उनसे मिलने की कई बार चेष्टा कर चुके थे, पर आज्ञा न मिलती थी। साधारणतः कैदियों को छठे महीने अपने घर के किसी प्राणी से मिलने की आज्ञा मिल जाती थी। चक्रधर के साथ इतनी रिआयत भी न की गयी थी, पर यशोदानन्दन अवसर पड़ने पर खुशामद भी कर सकते थे। अपना सारा जोर लगाकर अन्त में उन्होंने आज्ञा प्राप्त कर ही ली—अपने लिए नहीं, अहल्या के लिए। उस विरहिणी की दशा दिनों दिन खराब हो जाती थी। जब से चक्रधर ने जेल में कदम रखा, उसी दिन से वह भी कैदियों की सी जिन्दगी बसर करने लगी। चक्रधर जेल में भी स्वतन्त्र थे, वह भाग्य को अपने पैरों पर झुका सकते थे। अहल्या घर में भी कैद थी, वह भाग्य पर विजय न पा सकती थी। वह केवल एक बार बहुत थोड़ा-सा खाती और वह भी रूखा-सूखा। वह चक्रधर को अपना पति समझती थी। पति की ऐसी कठिन तपस्या देखकर उसे आप ही आप बनाव-शृङ्गार से, खाने पीने से, हँसने-बोलने से अरुचि होती थी। कहाँ पुस्तकों पर जान देती थी, कहाँ अब उनकी ओर आँख उठाकर न देखती। चारपाई पर सोना भी छोड़ दिया था। केवल जमीन पर एक कम्बल बिछाकर पड़ रहती। बैसाख जेठ की गरमी का क्या पूछना, घर की दीवारें तवे की तरह तपती हैं। घर भाड़ सा मालूम होता है। रात को खुले मैदान में भी मुश्किल से नींद आती है, लेकिन अहल्या ने सारी गरमी एक छोटी-सी बन्द कोठरी में सोकर काट दी। माघ पूस की सरदी का क्या पूछना। प्राण तक काँपते हैं। लिहाफ के बाहर मुँह निकालना मुश्किल होता है। पानी पीने से जूड़ी-सी चढ आती है। लोग आग पर पतगों की भाँति गिरते हैं, लेकिन अहल्या के लिए वही कोठरी की जमीन थी और एक फटा हुआ कम्बल। सारा घर समझाता था—क्यों इस तरह प्राण देती हो? तुम्हारे प्राण देने से चक्रधर का कुछ उपकार होता, तो एक बात भी थी। व्यर्थ काया को क्यों कष्ट देती हो? इसका उसके पास यही जवाब था—मुझे जरा भी कष्ट नहीं। आप लोगों को न जाने कैसे मैदान में गरमी लगती है, मुझे तो कोठरी में खूब नींद आती है। आप लोगों को न जाने कैसे सरदी लगती है, मुझे तो कम्बल में ऐसी

गहरी नींद आती है कि एक बार भी आँख नहीं खुलती। ईश्वर में पहले भी उसकी भक्ति कम न थी, अब तो उसकी धर्मनिष्ठा और भी बढ़ गयी। प्रार्थना में इतनी शान्ति है, इसका उसे पहले अनुमान न था। जब वह हाथ जोड़कर आँखें बन्द करके ईश्वर से प्रार्थना करती, तो उसे ऐसा मालूम होता कि चक्रधर स्वय मेरे सामने खड़े हैं। एकाग्रता और निरन्तर ध्यान से उसकी आत्मा दिव्य होती जाती थी। इच्छाएँ आपही-आप गायब हो गयीं। चित्त की वृत्ति ही बदल गयी। उसे अनुभव होता था कि मेरी प्रार्थनाएँ उस मातृ-स्नेह पूर्ण अञ्चल की भाँति, जो बालक को ढक लेता है, चक्रधर की रक्षा करती रहती हैं।

जिस दिन अहल्या को मालूम हुआ कि चक्रधर से मिलने की आज्ञा मिल गयी है, उसे आनन्द के बदले भय होने लगा—वह न-जाने कितने दुर्बल हो गये होंगे, न-जाने उनकी सूरत कैसी बदल गयी होगी। कौन जाने, हृदय बदल गया हो। यह भी शंका होती थी कि कहीं मुझे उनके सामने जाते ही मूर्च्छा न आ जाय, कहीं मैं चिल्ला-कर रोने न लगूँ। अपने दिल को बार-बार मजबूत करती थी।

प्रातःकाल उसने उठकर स्नान किया और बड़ी देर तक बैठी वन्दना करती रही। माघ का महीना था, आकाश में बादल छाये हुए थे, इतना कुहरा पड़ रहा था कि सामने की चीज न सूझती थी। सरदी के मारे लोगों का बुरा हाल था। घरों की महरियाँ अँगीठियाँ लिये ताप रही थीं, धन्धा करने कोन जाय। मजदूरों का फाका करना मजूर था; पर काम पर जाना मुश्किल मालूम होता था। दूकानदारों को दूकान की परवा न थी, बैठे आग तापते थे; यमुना मे नित्य स्नान करनेवाले भक्त-जन भी आज तट पर नजर न आते थे। सड़कों पर, बाजार में, गलियों में, सन्नाटा छाया हुआ था। ऐसा ही कोई विपत्ति का मारा दूकानदार था, जिसने दूकान खोली हो। बस, अगर चलते-फिरते नजर आते थे, तो वे दफ्तरों के बाबू थे, जो सरदी से सिकुड़े, जेब में हाथ डाले, कमर टेढ़ी किये, लपके चले जाते थे। अहल्या इसी वक्त यशोदानन्दनजी के साथ गाड़ी में बैठकर जेल चली। उसे उल्लास न था, आनन्द न था, शंका और भय से दिल काँप रहा था, मानो कोई अपने रोगी मित्र को देखने जा रहे हो।

जेल में पहुँचते ही एक औरत ने उसकी तलाशी ली और उसे पास के एक कमरे मे ले गयी, जहाँ एक टाट का टुकड़ा पड़ा था। उसने अहल्या को उस टाट पर बैठने का इशारा किया। तब एक कुरसी मँगवाकर आप उस पर बैठ गयी और चौकीदार से कहा--अब यहाँ सब ठीक है, कैदी को लाओ।

अहल्या का कलेजा धड़क रहा था। उस स्त्री को अपने समीप बैठे देखकर उसे कुछ ढाढस हो रहा था, नहीं तो शायद वह चक्रधर को देखते ही उनके पैरों से लिपट जाती। सिर झुकाये बैठी थी कि चक्रधर दो चौकीदारों के साथ कमरे में आये। उनके सिर पर कनटोप था और देह पर एक आधी आस्तीन का कुरता; पर मुख पर आत्म-बल की ज्योति झलक रही थी। उनका रंग पीला पड़ गया था, दाढ़ी के बाल बढ़े

हुए थे और आँखें भीतर को घुसी हुई थीं, पर मुख पर एक हल्की सी मुसकराहट खेल रही थी। अहल्या उन्हें देखकर चौंक पड़ी, उसकी आँखों से बे अख्तियार आँसू निकल आये। शायद कहीं और देखती तो पहचान भी न सकती। घबरायी सी उठकर खड़ी हो गयी। अब दो-के दोनों खड़े हैं, दोनों के मन मे हजारों बातें हैं, उद्‌गार-पर उद्‌गार उठते हैं, दोनों एक दूसरे को कनखियों में देखते हैं, जिनमें प्रेम, आकाक्षा और उत्सुकता की लहरें-सी उठ रही हैं, पर किसी के मुँह से शब्द नहीं निकलता। अहल्या सोचती है, क्या पूछूँ, इनका एक-एक अग अपनी दशा आप सुना रहा है। उसकी आँखों में बार-बार आँसू उमड़ आते हैं, पर पी जाती है। चक्रधर भी यही सोचते हैं, क्या पूछूँ, इसका एक-एक अग इसकी तपस्या और वेदना की कथा सुना रहा है। बार-बार ठढी साँसें खीचते हैं, पर मुँह नहीं खुलता। वह माधुर्य कहाँ है, जिस पर ऊषा की लालिमा बलि जाती थी? वह चपलता कहाँ है, वह सहास छवि कहाँ है, जो मुखमण्डल की बलाएँ लेती थी। मालूम होता है, बरसों की रोगिणी है। आह! मेरे ही कारण इसकी यह दशा हुई है। अगर कुछ दिन और इसी तरह घुली, तो शायद प्राण ही न बचें। किन शब्दों में दिलासा दूँ, क्या कहकर समझाऊँ।

इसी असमजस और कण्ठावरोध की दशा में खड़े खडे दोनों को १० मिनट हो गये। शायद उन्हें खयाल ही न रहा कि मुलाकात का समय केवल २० मिनट है। यहाँ तक कि उस लेडी को उनकी दशा पर दया आयी, घड़ी देखकर बोली—तुम लोग यों ही कब तक खड़े रहोगे? दस मिनट गुजर गये, केवल दस मिनट और बाकी हैं।

चक्रधर मानो समाधि से जाग उठे। बोले—अहल्या, तुम इतनी दुबली क्यों हो? बीमार हो क्या?

अहल्या ने सिसकियों को दबाकर कहा—नहीं तो, मैं बिलकुल अच्छी हूँ। आप अलबत्ता इतने दुबले हो गये हैं कि पहचाने नहीं जाते।

चक्रधर—खैर, मेरे दुबले होने के तो कारण हैं, लेकिन तुम क्यों ऐसी घुली जा रही हो? कम-से-कम अपने को इतना तो बनाये रखो कि जब मैं छूटकर आऊँ, तो मेरी कुछ मदद कर सको। अपने लिये नहीं, तो मेरे लिए तो तुम्हें अपनी रक्षा करनी ही चाहिए। अगर तुमने इसी भाँति घुल घुलकर प्राण दे दिये, तो शायद जेल से मेरी भी लाश ही निकले। तुम्हें वचन देना पड़ेगा कि तुम अबसे अपनी ज्यादा फिक्र रखोगी। मेरी ओर से तुम निश्चिन्त रहो। मुझे यहाँ कोई तकलीफ नहीं है। बड़ी शान्ति से दिन कट रहे हैं। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मेरे आत्म-सुधार के लिए इस तपस्या की बड़ी जरूरत थी। मैंने अँधेरी कोठरी में जो कुछ पाया, वह पहले प्रकाश में रहकर न पाया था। मुझे अगर उसी कोठरी में सारा जीवन बिताना पड़े, तो भी मैं न घबराऊँगा। हमारे साधु सन्त अपनी इच्छा से जीवन-पर्यन्त कठिन-से कठिन तपस्या करते हैं। मेरी तपस्या उनसे कहीं सरस और सुसाध्य है। अगर दूसरों ने मुझे इस सयम का अवसर दिया, तो मैं उनसे बुरा क्यों मानूँ? मुझे तो उनका उपकार मानना चाहिए।

मुझे वास्तव में इस संयम की बड़ी जरूरत थी, नहीं तो मेरे मन की चंचलता मुझे न-जाने कहाँ ले जाती। प्रकृति सदैव हमारी कमी को पूरी करती रहती है, यह बात अब तक मेरी समझ में न आयी थी। अब तक मैं दूसरों का उपकार करने का स्वप्न देखा करता था। अब ज्ञात हुआ कि अपना उपकार ही दूसरों का उपकार है। जो अपना उपकार नहीं कर सकता, वह दूसरों का उपकार क्या करेगा। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, यहाँ बड़े आराम से हूँ और इस परीक्षा में पड़ने से प्रसन्न हूँ। बाबूजी तो कुशल से हैं?

अहल्या—हाँ, आपको बराबर याद किया करते हैं। मेरे साथ वह भी आये हैं; पर यहाँ न आने पाये। अम्माँ और बाबूजी में कई महीनों से खटपट है। वह कहती हैं, बहुत दिन तो समाज की चिन्ता में दुबले हुए, अब आराम से घर बैठो, क्या तुम्हीं ने समाज का ठीका ले लिया है? बाबूजी कहते हैं, यह काम तो उसी दिन छोड़ूँगा, जिस दिन प्राण शरीर को छोड़ देगा। बेचारे बराबर दौड़ते रहते हैं। एक दिन भी आराम से बैठना नसीब नहीं होता। तार से बुलावे आते रहते हैं। फुरसत मिलती है, तो लिखते हैं। न-जाने ऐसी क्या हवा बदल गयी है कि नित्य कहीं-न-कहीं से उपद्रव की खबर आती रहती है। आजकल स्वास्थ्य भी बिगड़ गया है; पर आराम करने की तो उन्होंने कसम खा ली है। बूढे ख्वाजा महमूद से न-जाने किस बात पर अनबन हो गयी है। आपके चले जाने के बाद कई महीने तक खूब मेल रहा; लेकिन अब फिर वही हाल है।

अहल्या ने ये बातें महत्व की समझकर न कहीं; बल्कि इसलिए कि वह चक्रधर का ध्यान अपनी तरफ से हटा देना चाहती थी। चक्रधर विरक्त से होकर बोले—दोनों आदमी फिर धर्मान्धता के चक्कर में पड़ गये होंगे। जब तक हम सच्चे धर्म का अर्थ न समझेंगे, हमारी यही दशा रहेगी। मुश्किल यह है कि जिन महान् पुरुषों से अच्छी धर्मनिष्ठा की आशा की जाती है, वे अपने अशिक्षित भाइयों से भी बढकर उद्दण्ड हो जाते हैं। मैं तो नीति ही का धर्म समझता हूँ और सभी सम्प्रदायों की नीति एक-सी है। अगर अंतर है तो बहुत थोड़ा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते हैं। हमें कृष्ण, राम, ईसा मुहम्मद, बुद्ध सभी महात्माओं का समान आदर करना चाहिए। ये मानव-जाति के निर्माता हैं। जो इसमें से किसी का अनादर करता है, या उनकी तुलना करने बैठता है, वह अपनी मूर्खता का परिचय देता है। बुरे हिन्दू से अच्छा मुसलमान उतना ही अच्छा है, जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू। देखना यह चाहिए कि वह कैसा आदमी है, न कि यह कि वह किस धर्म का आदमी है। संसार का भावी धर्म सत्य, न्याय और प्रेम के आधार पर बनेगा। हमें अगर संसार में जीवित रहना है, तो अपने हृदय में इन्हीं भावों का संचार करना पड़ेगा। मेरे घर का तो कोई समाचार न मिला होगा?

अहल्या—मिला क्यों नहीं, बाबूजी हाल ही में काशी गये। जगदीशपुर के साहब ने आपके पिताजी को ५०) मासिक बाँध दिया है, इससे अब उनका मन का

नहीं है। आपकी माताजी अलबत्ता रोया करती हैं! छोटी रानी साहबा की आपके घर-वालों पर विशेष कृपादृष्टि है।

चक्रधर ने विस्मित होकर पूछा—छोटी रानी साहबा कौन?

अहल्या—रानी मनोरमा, जिनसे अभी थोड़े ही दिन हुए, राजा साहब का विवाह हुआ है।

चक्रधर—तो मनोरमा का विवाह राजा साहब से हो गया?

अहल्या—यही तो बाबूजी कहते थे।

चक्रधर—तुम्हें खूब याद है, भूल तो नहीं रही हो?

अहल्या—खूब याद है, इतनी जल्द भूल जाऊँगी!

चक्रधर—यह तो बड़ी दिल्लगी हुई, मनोरमा का विवाह विशालसिंह के साथ?' मुझे तो अब भी विश्वास नहीं आता। बाबूजी ने नाम बताने में गलती की होगी।

अहल्या—बाबूजी को स्वयं आश्चर्य हो रहा था। काशी में भी लोगों को बड़ा आश्चर्य है। मनोरमा ने अपनी खुशी से विवाह किया है, कोई दबाव न था। मनोरमा किसी से दबनेवाली है ही नहीं। सुनती हूँ, राजा साहब बिलकुल उनकी मुट्ठी में हैं। जो कुछ वह करती हैं, वही होता है। राजा साहब तो काठ के पुतले बने हुए हैं। बाबूजी चन्दा माँगने गये थे, तो रानीजी ही ने पाँच हजार दिये। बहुत प्रसन्न मालूम होती थीं।

सहसा लेडी ने कहा—वक्त पूरा हो गया। वार्डर, इन्हें अन्दर ले जाओ।

चक्रधर क्षण-भर भी और न ठहरे। अहल्या को तृष्णापूर्ण नेत्रों से देखते हुए चले गये। अहल्या ने सजल नेत्रों से उन्हें प्रणाम किया और उनके जाते ही फूट-फूटकर रोने लगी।

२२

फागुन का महीना आया, ढोल-मजीरे की आवाजें कानों में आने लगीं। कहीं रामायण की मंडलियाँ बनीं, कहीं फाग और चौताल का बाजार गर्म हुआ। पेड़ों पर कोयल कूकी, घरों में महिलाएँ कूकने लगीं। सारा संसार मस्त है, कोई राग में, कोई साग में। मुन्शी वज्रधर की संगीत-सभा भी सजग हुई। यों तो कभी-कभी बारहों मास बैठक होती थी, पर फागुन आते ही बिला नागा मृदङ्ग पर थाप पड़ने लगी। उदार आदमी थे, फिक्र को कभी पास न आने देते। इस विषय में वह बड़े बड़े दार्शनिकों से भी दो कदम आगे बढ़े हुए थे। अपने शरीर को वह कभी कष्ट न देते थे। कवि के आदेशानुसार बिगड़ी को बिसार देते थे, हाँ आगे की सुधि न लेते थे। लड़का जेल में है, घर में स्त्री रोती रोती अन्धी हुई जाती है, सयानी लड़की घर में बैठी हुई है, लेकिन मुन्शीजी को कोई गम नहीं। पहले २५) में गुजर करते थे, अब ७५) भी पूरे नहीं पड़ते। जिससे मिलते हैं हँसकर, सबकी मदद करने को तैयार, मानो उनके मारे अब कोई प्राणी रोगी, दुखी, दरिद्र न रहने पायेगा, मानो वह ईश्वर के दरबार से लोगों के कष्ट दूर करने का ठीका लेकर आये हैं। वादे सबसे करते हैं, किसी ने झुककर सलाम किया और प्रसन्न हो

गये। दोनों हाथों से वरदान बाँटते फिरते हैं, चाहे पूरा एक भी न कर सकें। अपने मुहल्ले के कई बेफिक्रों को, जिन्हें कोई टके को भी न पूछता था, रियासत में नौकर करा दिया—किसी को चौकीदार, किसी को मुहर्रिर किसी को कारिन्दा। मगर नेकी करके दरिया में डालने की उनकी आदत नहीं। जिससे मिलते हैं, अपना ही यश गाना शुरू करते हैं और उसमें मनमानी अतिशयोक्ति भी करते हैं। मशहूर हो गया है कि राजा और रानी दोनों इनकी मुट्ठी में हैं। सारा अख्तियार-मदार इन्हीं के हाथ में है। अब मुंशी जी के द्वार पर सायलों की भीड़ लगी रहती है, जैसे क्वार के महीने में वैद्यों के द्वार पर रोगियों की। मुंशीजी किसी को निराश नहीं करते, और न कुछ कर सकें, तो बातों से ही पेट भर देते हैं। वह लाख बुरे हों; फिर भी उनसे कहीं अच्छे हैं, जो पद पाकर अपने को भूल जाते हैं, जमीन पर पाँव ही नहीं रखते। यों तो कामधेनु भी सबकी इच्छा पूरी नहीं कर सकती; पर मुंशीजी की शरण आकर दुःखी हृदय को शान्ति अवश्य मिलती है, उसे आशा की झलक दिखायी देने लगती है। मुंशीजी कुछ दिनों तक तहसीलदारी कर चुके हैं, अपनी धाक जमाना जानते हैं। जो काम पहुँच से बाहर होता है, उसके लिए भी 'हाँ-हाँ' कर देना, आँखें मारना, उड़नघाइयाँ बताना, इन चालों में वह सिद्ध हैं। स्वार्थ की दुनिया है, वकील, ठीकेदार, बनिये-महाजन, गरज हर तरह के आदमी उनसे कोई-न-कोई काम निकालने की आशा रखते हैं, और किसी-न-किसी हीले से कुछ-न कुछ दे ही मरते हैं। मनोरमा का राजा साहब से विवाह होना था कि मुंशीजी का भाग्य सूर्य चमक उठा। एक ठीकेदार को रियासत के कई मकानों का ठीका दिलाकर अपना मकान पक्का करा लिया, बनिया बोरों अनाज मुफ्त मे भेज देता, धोबी कपड़ों की धुलाई नहीं लेता। सारांश यह कि तहसीलदार साहब के 'पौ बारह' हैं। तहसीलदारी में जो मजे न उड़ाये थे, वह अब उड़ा रहे हैं।

रात के ८ बज गये थे। झिनकू अपने समाजियों के साथ आ बैठा। मुंशीजी मसनद पर बैठे पेचवान पी रहे थे। गाना होने लगा।

मुंशी—वाह, झिनकू वाह! क्या कहना है। अब तुम्हें एक दिन दरबार में ले चलूँगा।

झिनकू—जब मर जाऊँगा, तब ले जाइएगा क्या? सौ बार कह चुके, भैया हमारी भी परवरिस कर दो; मगर जब अपनी तकदीर ही खोटी है, तो तुम क्या करोगे। नहीं तो क्या गैर-गैर तो तुम्हारी बदौलत मूँछों पर ताव देते और मैं कोरा ही रह जाता। यों तुम्हारी दुआ से साँझ तक रोटियाँ तो मिल जाती हैं; लेकिन राज-दरबार का सहारा हो जाय तो जिन्दगी का कुछ मजा मिले।

मुन्शी—क्या बताऊँ जी, बार-बार इरादा करता हूँ, लेकिन ज्योंही वहाँ पहुँचा तो कभी राजा साहब और कभी रानी साहब कोई ऐसी बात छेड़ देते हैं कि मुझे कुछ कहने की याद ही नहीं रहती। मौका ही नहीं मिलता।

झिनकू—कहो, चाहे न कहो, मैं तो अब तुम्हारे दरवाजे से टलने का नहीं।

मुन्शी—कहूँगा जी और बढ़कर। यह समझ लो कि तुम वहाँ हो गये। बस, मौका मिलने-भर की देर है। रानी साहब इतना मानती हैं कि जिसे चाहूँ, निकलवा दूँ, जिसे चाहूँ रखवा दूँ। दीवान साहब भी अब दूर ही से सलाम करते हैं। फिर मुझे अपने काम से काम है, किसी की शिकायत क्यों करूँ? मेरे लिए कोई रोक टोक नहीं है, मगर दीवान साहब बाप हैं तो क्या, बिला इत्तला कराये सामने नहीं जा सकते।

झिनकू—रानीजी का क्या पूछना, सचमुच रानी हैं। आज शहर भर में वाह-वाह हो रही है। बुढ़िया के राज में हकीम-डाक्टर लूटते थे, अब गुनियों की कदर है।

मुन्शी—पहुँचा नहीं कि सो काम छोड़कर दौड़ी हुई आकर खड़ी हो जाती हैं। क्या है लालाजी, क्या है लालाजी? जब तक रहता हूँ, दिमाग चाट जाती हैं, दूसरों से बात नहीं करतीं। लल्लू को बहुत याद करती हैं। खोद खोदकर उन्हीं की बातें पूछती हैं। सब्र करो, होली के दिन तुम्हारी नजर दिला दूंगा, मगर भाई, इतना याद रखो कि यहाँ पक्का गाना गाया और निकाले गये। 'तूम तनाना' की धुन मत देना।

इतने में महादेव नाम का एक बजाज सामने आया और दूर ही से सलाम करके बोला—मुन्शीजी, हजूर के मिजाज अच्छे तो हैं?

मुन्शीजी ने त्योरियाँ बदलकर कहा—हुजूर के मिजाज की फिक्र न करो, अपना मतलब कहो।

महादेव—हुजूर को सलाम करने आया था।

मुन्शी—अच्छा, सलाम।

महादेव—आप हमसे कुछ नाराज मालूम होते हैं। हमसे तो कोई ऐसी बात

मुन्शी—बड़े आदमियों से मिलने जाया करो, तो तमीज से बात किया करो। मैं तुम्हें 'सेठजी' कहने के बदले 'अरे, ओ बनिये' कहूँ, तो तुम्हें बुरा लगेगा या नहीं?

महादेव—हाँ, हजूर, इतनी खता तो हो गयी, अब माफी दी जाय। नया माल आया है, हुकुम हो तो कुछ कपड़े भेजूँ।

मुन्शी—फिर वही बनियेपन की बातें! कभी आज तक और भी आये थे पूछने कि कपड़े चाहिए हजूर को? मैं वही हूँ, या कोई और? अपना मतलब कहो साफ साफ।

महादेव—हजूर तो समझते ही हैं, मैं क्या कहूँ?

मुन्शी—अच्छा, तो सुनो लालाजी, घूस नहीं लेता, रिश्वत नहीं लेता, जब तहसीलदारी के जमाने ही में न लिया, तो अब क्या लूँगा। लड़की की शादी होनेवाली है, उसमें जितना कपड़ा लगेगा, वह तुम्हारे सिर। बोलो, मजूर हो तो आज ही नजर दिलवा दूँ। साल-भर में एक लाख का माल बेचोगे, जो बेचने का शऊर होगा। हाँ, बुढ़िया रानी का जमाना नहीं है कि एक के चार लो। बस, रुपए में एक आना बहुत है। इससे ज्यादा लिया और गरदन नापी गयी।

महादेव—हजूर, खरचा छोड़कर दो पैसे रुपए ही दिला दें। आपके वसीले से जाकर भला ऐसी दगा करूँ।

मुन्शी—अच्छा, तो कल आना, और दो-चार थान ऊँचे दामों के कपड़े भी लेते आना। याद रखना, विदेशी चीज न हो, नहीं तो फटकार पड़ेगी। सच्चा देशी माल हो। विदेशी चीजों के नाम से चिढ़ती हैं।

बजाज चला गया, तो मुन्शीजी झिनकू से बोले—देखा, बात करने की तमीज नहीं और चले हैं सौदा बेचने।

झिनकू—भैया, भिड़ा देना बेचारे को। जो उसकी तकदीर में होगा, वह मिल ही जायगा। सेंतमेंत में जस मिले, तो लेने मे क्या हरज है।

मुन्शी—अच्छा, जरा ठेका सँभालो, कुछ भगवान् का भजन हो जाय। यह बनिया न-जाने कहाँ से कूद पड़ा।

यह कहकर मुन्शीजी ने मीरा का यह पद गाना शुरू किया—

राम की दिवानी, मेरा दरद न जानै कोइ।
घायल की गति घायल जानै, जो कोई घायल होइ;
शेषनाग पै सेज पिया की, केहि विधि मिलनो होइ।
राम की दिवानी..........
दरद की मारी बन-बन डोलूँ, वैद मिला नहीं कोइ;
'मीरा' की पीर प्रभु कैसे मिटेगी, बैद सँवलिया होइ।
राम की दिवानी . . ..

झिनकू—वाह भैया, वाह! चोला मस्त कर दिया। तुम्हारा गला तो दिन दिन निखरता जाता है।

मुन्शी—गाना ऐसा होना चाहिए कि दिल पर असर पड़े। यही नहीं कि तुम तो 'तूम-ताना' का तार बाँध दो और सुननेवाले तुम्हारा मुँह ताकते रहें। जिस गाने से मन में भक्ति, वैराग्य, प्रेम और आनन्द की तरंगें न उठें, वह गाना नहीं है।

झिनकू—अच्छा, अब की मैं भी कोई ऐसी ही चीज सुनाता हूँ; मगर मजा जब है कि हारमोनियम तुम्हारे हाथ में हो।

मुन्शीजी सितार, सारंगी, सरोद, इसराज सब कुछ बजा लेते थे; पर हारमोनियम पर तो कमाल ही करते थे। हारमोनियम मे सितार की गतों को बजाना उन्हीं का काम था। बाजा लेकर बैठ गये और झिनकू ने मधुर-स्वरों से यह असावरी गाना शुरू की—

बसी जिय मे तिरछी मुसकान।
कल न परत घड़ि, पल, छिन, निसि दिन रहत उन्हीं का ध्यान;
भृकुटी धनु सी देख सखी री, नयना बान समान।

झिनकू संगीत का आचार्य था, जाति का कथक, अच्छे-अच्छे उस्तादों की आँखें देखे हुए, आवाज इस बुढ़ापे में भी ऐसी रसीली कि दिल पर चोट करे, इस पर उनका भाव बताना, जो कथकों की खास सिफत है, और भी गजब ढाता था; लेकिन मुन्शी वज्रधर की अब राज दरबार में रसाई हो गयी थी, उन्हें अब झिनकू को शिक्षा देने का

अधिकार हो गया था। हारमोनियम बजाते-बजाते नाक सिकोड़कर बोले—उँह, क्या बिगाड़ देते हो, बेताल हुए जाते हो। हाँ, अब ठीक है।

यह कहकर आपने झिल्कू के साथ स्वर मिलाकर गाया—

बसी जिय में तिरछी मुसकान।

कल न परत घड़ि, पल, छिन, निसि दिन रहत उन्हीं का ध्यान,
भृकुटी धनु-सी देख सखी री, नयना बान समान।

इतने में एक युवक कोट-पतलून पहने, ऐनक लगाये, मूँछ मुड़ाये, बाल सँवारे आकर बैठ गया। मुन्शीजी ने पूछा—तुम कौन हो, भाई? मुझसे कुछ काम है?

युवक—मैंने सुना है कि जगदीशपुर में किसी एकाउटेंट की जगह खाली है, आप सिफारिश कर दें, तो शायद वह जगह मुझे मिल जाय। मैं भी कायस्थ हूँ, और बिरादरी के नाते आपके ऊपर मेरा बहुत बड़ा हक है। मेरे पिताजी कुछ दिनों आपकी मातहती में काम कर चुके हैं। आपको मुन्शी सुखवासीलाल का नाम तो याद होगा।

मुन्शी—तो आप बिरादरी और दोस्ती के नाते नौकरी चाहते हैं, अपनी लियाकत के नाते नहीं। यह मेरे अख्तियार के बाहर है। मैं न दीवान हूँ, न मुहाफिज, न मुन्सरिम। उन लोगों के पास जाइए।

युवक—जनाब, आप सब कुछ हैं। मैं तो आपको अपना मुरब्बी समझता हूँ।

मुन्शी—कहाँ तक पढ़ा है आपने?

युवक—पढ़ा तो बी० ए० तक है; पर पास न कर सका।

मुन्शी—कोई हरज नहीं। आपको बाजार के सौदे पटाने का कुछ तजरबा है? अगर आपसे कहा जाय कि जाकर दस हजार की इमारती लकड़ी लाइए, तो आप किफायत से लायेंगे?

युवक—जी, मैंने तो कभी लकड़ी खरीदी नहीं।

मुन्शी—न सही, आप कुश्ती लड़ना जानते हैं? कुछ बिनवट-पटे के हाथ सीखे हैं? कौन जाने, कभी आपको राजा साहब के साथ सफर करना पड़े और कोई ऐसा मौका आ जाय कि आपको उनकी रक्षा करनी पड़े।

युवक—कुश्ती लड़ना तो नहीं जानता, हाँ, फुटबॉल, हॉकी वगैरह खूब खेल सकता हूँ।

मुन्शी—कुछ गाना-बजाना जानते हो? शायद राजा साहब को सफर में कुछ गाना सुनने का जी चाहे, तो उन्हें खुश कर सकोगे?

युवक—जी नहीं, मैं मुसाहब नहीं होना चाहता, मैं तो एकाउटेंट की जगह चाहता हूँ।

मुन्शी—यह तो आप पहले ही कह चुके। मैं यह जानता हूँ कि कि आप हिसाब-किताब के सिवा और क्या कर सकते हैं? आप तैरना जानते हैं?

युनक—तैर सकता हूँ; पर बहुत कम।

मुन्शी—आप रईसों के दिलबहलाव के लिए किस्से-कहानियाँ, चुटकुले लतीफे कह सकते हैं ?

युवक—(हँसकर) आप तो मेरे साथ मजाक कर रहे हैं।

मुन्शी—जी नहीं, मजाक नहीं कर रहा हूँ, आपकी लियाकत का इम्तहान ले रहा हूँ। तो आप सिर्फ हिसाब करना जानते हैं और शायद अँगरेजी बोल और लिख लेते होंगे। मैं ऐसे आदमी की सिफारिश नहीं करता। आपकी उम्र होगी कोई २४ साल की। इतने दिनों में आपने सिर्फ हिसाब लगाना सीखा। हमारे यहाँ तो कितने ही आदमी छः महीने में ऐसे अच्छे मुनीब हो गये हैं कि बड़ी-बड़ी दूकानें सँभाल सकते हैं। आपके लिये यहाँ जगह नहीं है।

युवक चला गया, तो झिनकू ने कहा—भैया, तुमने बेचारे को बहुत बनाया। मारे सरम के कट गया होगा। कुछ उसके साहबी ठाट की परवा न की।

मुन्शी—उसका साहबी ठाट देखकर ही तो मेरे बदन में आग लग गयी। आता तो आपको कुछ नहीं; पर ठाट ऐसा बनाया है, मानो खास विलायत से चले आ रहे हैं। मुझ पर बचा रोब जमाने चले थे। चार हरफ अँगरेजी पढ़ ली, तो समझ गये कि अब हम फाजिल हो गये। पूछो, जब आप बाजार से धेले का सौदा नहीं ला सकते, तो आप हिसाब-किताब क्या करेंगे।

यही बातें हो रही थीं कि रानी मनोरमा की मोटर आकर द्वार पर खड़ी हो गयी। मुंशीजी नगे सिर, नगे-पाँव दौड़े। जरा भी ठोकर खा जाते, तो फिर उठने का नाम न लेते। मनोरमा ने हाथ उठाकर कहा—दौड़िए नहीं, दौड़िए नहीं। मैं आप ही के पास आयी हूँ; कहीं भागी नहीं जा रही हूँ। इस वक्त क्या हो रहा है ?

मुंशी—कुछ नहीं हुजूर, कुछ ईश्वर का भजन कर रहा हूँ।

मनोरमा—बहुत अच्छी बात है, ईश्वर को जरूर मिलाये रहिए, वक्त पर बहुत काम आते हैं; कम-से-कम दुख दर्द में उनके नाम से कुछ सहारा तो हो ही जाता है। मैं आपको इस वक्त एक बड़ी खुशखबरी सुनाने आयी हूँ। बाबूजी कल यहाँ आ जायँगे।

मुंशी—क्या लल्लू ?

मनोरमा—जी हाँ, सरकार ने उनकी मीयाद घटा दी है।

इतना सुनना था कि मुन्शीजी बेतहाशा दौड़े और घर मे जाकर हाँफते हुए निर्मला से बोले—सुनती हो, लल्लू कल आयेंगे। मनोरमा रानी दरवाजे पर खड़ी हैं।

यह कहकर उलटे पाँव फिर द्वार पर आ पहुँचे।

मनोरमा—अम्माँजी क्या कर रही हैं, उनसे मिलने चलूँ ?

निर्मला बैठी आटा गूँध रही थी। रसोई मे केवल एक मिट्टी के तेल की कुप्पी जल रही थी, बाकी सारा घर अँधेरा पड़ा था। मुन्शीजी सदा लुटाऊ थे, जो कुछ पाते थे, बाहर ही-बाहर उड़ा देते थे। घर की दशा ज्यों की त्यों थी। निर्मला को रोने धोने से फुरसत ही न मिलती थी कि घर की कुछ फिक्र करती। अब मुन्शीजी बड़े असमञ्जस मे पड़े।

अगर पहले से मालूम होता कि रानीजी का शुभागमन होगा, तो कुछ तैयारी कर रखते, कम-से-कम घर की सफाई तो करवा देते, दो चार लालटेनें माँग-जाँचकर जला रखते, पर अब क्या हो सकता था।

मनोरमा ने उनके जवाब का इन्तजार न किया। तुरन्त मोटर से उतर पड़ी और दीवानखाने में आकर खड़ी हो गयी। मुंशीजी बदहवास अन्दर गये और निर्मला से बोले—बाहर निकल आओ, हाथ-बाथ धो डालो। रानीजी आ रही हैं। यह दुर्दशा देखेंगी, तो क्या कहेंगी। तब तक आटा लेकर क्या बैठ गयीं। कोई काम वक्त से नहीं करतीं। बुढिया हो गयीं; मगर अभी तमीज न आयी।

निर्मला चटपट बाहर निकली। मुंशीजी उसके हाथ धुलाने लगे। मगला चारपाई बिछाने लगी। मनोरमा बरोठे में आकर रुक गयी। इतना अँधेरा था कि वह आगे कदम न रख सकी। मरदाने कमरे में एक दीवारगीर जल रही थी। झिनकू उतावली में उसे उतारने लगे, तो वह जमीन पर गिर पड़ी। यहाँ भी अँधेरा हो गया। मुंशीजी हाथ मे कुप्पी लेकर द्वार की ओर चले, तो चारपाई की ठोकर लगी। कुप्पी हाथ से छूट पड़ी; आशा का दीपक भी बुझ गया। खड़े खड़े तकदीर को कोसने लगे—रोज लालटेन आती है और रोज तोड़कर फेंक दी जाती है। कुछ नहीं तो दस लालटेनें ला चुका हूँगा, पर एक का भी पता नहीं मालूम होता है। किसी कुली का घर है, उसके भाग्य की भाँति अँधेरा। 'राक्षस के घर ब्याही जोय, भून-भान कलेवा होय।' किसी चीज की हिफाजत करनी तो आती ही नहीं।

मुंशीजी तो अपनी मुसीबत का रोना रो रहे थे, झिनकू दौड़कर अपने घर से लालटेन लाया, और मनोरमा घर में दाखिल हुई। निर्मला आँखों में प्रेम की नदी भरे, सिर झुकाये खड़ी थी। जी चाहता था, इसके पैरों के नीचे आँखें बिछा दूँ। मेरे धन्य भाग!

एकाएक मनोरमा ने झुककर निर्मला के पैरों पर शीश झुका दिया और पुलकित कण्ठ से बोली—माताजी धन्य भाग्य कि आपके दर्शन हुए। जीवन सफल हो गया।

निर्मला सारा शिष्टाचार भूल गयी, बस, खड़ी रोती रही। मनोरमा के शील और विनय ने शिष्टाचार को तृण की भाँति मातृ-स्नेह की तरग में बहा दिया।

इतने में मगला आकर खड़ी हो गयी। मनोरमा ने उसे गले से लगा लिया और स्नेह-कोमल स्वर में बोली—आज तुम्हें अपने साथ ले चलूँगी, दो-चार दिन तुम्हें मेरे साथ रहना पड़ेगा। हम दोनों साथ-साथ खेलेंगी। अकेले पड़े-पड़े मेरा जी घबराता है। तुमसे मिलने की मेरी बड़ी इच्छा थी।

निर्मला—मनोरमा, तुमने हमें धरती से उठाकर आकाश पर पहुँचा दिया। तुम्हारे शील स्वभाव का कहाँ तक बखान करूँ।

मनोरमा—माता के मुख से ये शब्द सुनकर मेरा हृदय गर्व से फूला नहीं समाता। मैं बचपन ही से मातृ-स्नेह से वंचित हो गयी, पर आज मुझे ऐसा ज्ञात हो रहा है कि

अपनी जननी ही के चरणों को स्पर्श कर रही हूँ। मुझे आज्ञा दीजिए कि जब कभी जी घबराये, तो आकर आपके स्नेह-कोमल चरणों में आश्रय लिया करूँ। कल बाबूजी आ जायँगे। अवकाश मिला, तो मै भी आऊँगी; पर मैं किसी कारण से न आ सकूँ, तो आप कह दीजिएगा कि किसी बात की चिंता न करें, मेरे हृदय मे उनके प्रति अब भी वही श्रद्धा और अनुराग है। ईश्वर ने चाहा, तो मैं शीघ्र ही उनके लिए रियासत मे कोई स्थान निकालूँगी। बड़ी दिल्लगी हुई। कई दिन हुए, लखनऊ के एक ताल्लुकेदार ने गवर्नर की दावत की थी। मै भी राजा साहब के साथ दावत में गयी थी। गवर्नर साहब शतरज खेल रहे थे। मुझसे भी खेलने के लिए आग्रह किया। मुझे शतरज खेलना तो आता नहीं; पर उनके आग्रह से बैठ गयी। ऐसा सयोग हुआ कि मैंने ताबड़तोड़ उनको दो मातें दीं। तब आप झल्लाकर बोले—अबकी कुछ बाजी लगाकर खेलेंगे। क्या बदती हो? मैंने कहा—इसका निश्चय बाजी पूरा होने के बाद होगा। तीसरी बाजी शुरू हुई। अबकी वह खूब सँभलकर खेल रहे थे और मेरे कई मुहरे पीट लिए। मैंने समझा, अबकी मात हुई; लेकिन सहसा मुझे ऐसी चाल सूझ गयी कि हाथ से जाती बाजी लौट पड़ी। मैं तो समझती हूँ कि ईश्वर ने मेरी सहायता की। फिर तो उन्होंने लाख-लाख सिर पटका, उनके सारे मित्र जोर मारते रहे; पर मात न रोक सके। सारे मुहरे धरे ही रह गये। मैंने हँसकर कहा—बाजी मेरी हुई, अब जो कुछ मै माँगूँ, वह आपको देना पड़ेगा।

उन्हें क्या खबर थी कि मैं क्या माँगूँगी, हँसकर बोले हाँ हाँ, कब फिरता हूँ।

मैंने तीन वचन लेकर कहा—आप मेरे मास्टर साहब को बेकुसूर जेल मे डाले हुए हैं। उन्हे छोड़ दीजिये।

यह सुनकर सभी सन्नाटे मे आ गये, मगर कौल हार चुके थे और स्त्रियों के सामने ये सब जरा सज्जनता का स्वाँग भरते हैं, मजबूर होकर गवर्नर साहब को वादा करना पड़ा; पर बार-बार पछताते थे और कहते थे, आपकी जिम्मेदारी पर छोड़ रहा हूँ। खैर, मुझे कल मालूम हुआ कि रिहाई का हुक्म हो गया है; और मुझे आशा है कि कल किसी वक्त वह यहाँ आ जायँगे।

निर्मला—आपने बड़ी दया की, नहीं तो मै रोते-रोते मर जाती।

मनोरमा—रोने की क्या बात थी। माताओं को चाहिए कि अपने पुत्रों को साहसी और वीर बनायें। एक तो यहाँ लोग यों ही डरपोक होते हैं, उस पर घरवालों का प्रेम उनकी रही सही हिम्मत भी हर लेता है। तो क्यों बहन, मेरे यहाँ चलती हो? मगर नहीं कल तो बाबूजी आयँगे, मै किसी दूसरे दिन तुम्हारे लिए सवारी भेजूँगी।

निर्मला—जब आपकी इच्छा होगी, तभी भेज दूँगी।

मनोरमा—तुम क्यों नहीं बोलतीं, बहन? समझती होगी कि यह रानी हैं, बड़ी बुद्धिमान और तेजस्वी होंगी। पहले रानी देवप्रिया को देखकर मैं भी यही सोचा करती थी; पर मालूम हुआ कि ऐश्वर्य से न बुद्धि बढ़ती है, न तेज। रानी और बाँदी में कोई

अन्तर नहीं होता।

यह कहकर उसने मंगला के गले में बाहें डाल दीं और प्रेम से सने हुए शब्दों में बोली—देख लेना, हम तुम कैसे मजे से गाती-बजाती हैं। बोलो, आओगी न?

मंगला ने माता की ओर देखा और इशारा पाकर बोली—जब आपकी इतनी कृपा है, तो क्यों न आऊँगी?

मनोरमा—कृपा और दया की बात करने के लिए मैं तुम्हें नहीं बुला रही हूँ। ऐसी बातें सुनते-सुनते ऊब गयी हूँ। सहेलियों की भाँति गाने बजाने, हँसने-बोलने के लिए बुलाती हूँ। वहाँ सारा घर आदमियों से भरा हुआ है; पर एक भी ऐसा नहीं, जिसके साथ बैठकर एक घड़ी हँसूँ बोलूँ।

यह कहते-कहते उसने अपने गले से मोतियों का हार निकालकर मंगला के गले में डाल दिया और मुसकराकर बोली—देखो अम्माँजी, यह हार इसे अच्छा लगता है न?

मुंशीजी बोले—ले मंगला, तूने तो पहले ही मुलाकात में मोतियों का हार मार लिया, लोग मुँह ही ताकते रह गये।

मनोरमा—माता-पिता लड़कियों को देते हैं, मुझे तो आपसे कुछ मिलना चाहिए। मंगला तो मेरी छोटी बहन है। जी चाहता है, इसी वक्त लेती चलूँ। इसकी सूरत बाबूजी से बिलकुल मिलती है, मरदों के कपड़े पहना दिये जायँ, तो पहचानना मुश्किल हो जाय। चलो मंगला, कल हम दोनों आ जायँगी।

निर्मला—कल ही लेती जाइयेगा।

मनोरमा—मैं समझ गयी। आप सोचती होंगी, ये कपड़े पहने क्या जायगी। तो क्या वहाँ किसी बेगाने घर जा रही है? क्या वहाँ साड़ियाँ न मिलेंगी?

उसने मंगला का हाथ पकड़ लिया और उसे लिए हुए द्वार की ओर चली। मंगला हिचकिचा रही थी; पर कुछ कह न सकती थी।

जब मोटर चली गयी, तो निर्मला ने कहा—साक्षात् देवी है।

मुन्शी—लल्लू पर इतना प्रेम करती है कि वह चाहता, तो इससे विवाह कर लेता। धर्म ही खोना था, तो कुछ स्वार्थ से खोता। मीठा हो, तो जूठा भी अच्छा, नहीं तो कहाँ जाकर गिरा उस कँगली लड़की पर, जिसके माँ-बाप का भी पता नहीं।

निर्मला—(व्यंग्य से) वाह वाह। क्या लाख रुपए की बात कही है! ऐसी बहू घर में आ जाय, लाला, तो एक दिन न चले। फूल सूँघने ही में अच्छा लगता है, खाने में नहीं! गरीबों का निबाह गरीबों ही में होता है।

मुन्शी—प्रेम बड़ों-बड़ों का सिर नीचा कर देता है।

निर्मला—न जी जलाओ। बे-बात-की बात करते हो। तुम्हारे लल्लू ऐसे ही तो बड़े खूबसूरत हैं। सिर में एक बाल न रहता। ऐसी औरतों को प्रसन्न रखने के लिए धन चाहिए। प्रभुता पर मरने वाली औरत है।

दस बज रहे थे। मुन्शीजी भोजन करने बैठे। मारे खुशी के फूले न समाते थे।

लल्लू को रियासत में कोई अच्छी जगह मिल जायगी, फिर पाँचों अँगुली घी में हैं। अब मुसीबत के दिन गये। मारे खुशी के खाया भी न गया। जल्दी से दो-चार कौर खाकर बाहर भागे और अपने इष्ट-मित्रों से चक्रधर के स्वागत के विषय में आधी रात तक बातें करते रहे। निश्चय किया गया कि प्रातःकाल शहर में नोटिस बाँटी जाय और सेवा समिति के सेवक स्टेशन पर बैंड बजाते हुए उनका स्वागत करें।

लेकिन निर्मला उदास थी। मनोरमा से उसे न जाने क्यों एक प्रकार का भय हो रहा था।

२३

राजा विशालसिंह की मनोवृत्तियाँ अब एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित हो गयी थीं और वह लक्ष्य था—मनोरमा। वह उपासक थे, मनोरमा उपास्य थी; वह सैनिक थे; मनोरमा सेनापति थी; वह गेंद थे, मनोरमा खिलाड़ी थी। मनोरमा का उनके मन पर, उनकी आत्मा पर सम्पूर्ण आधिपत्य था। वह अब मनोरमा ही की आँखों से देखते, मनोरमा ही के कानों से सुनते और मनोरमा ही के विचार से सोचते थे। उनका प्रेम सम्पूर्ण आत्म-समर्पण था। मनोरमा ही की इच्छा अब उनकी इच्छा है, मनोरमा ही के विचार अब उनके विचार हैं। उनके राज्य-विस्तार के मन्सूबे गायब हो गये। धन से उनको कितना प्रेम था! वह इतनी किफायत से राज्य का प्रबन्ध करना चाहते थे कि थोड़े दिनों में रियासत के पास एक विराट् कोष हो जाय। अब वह हौसला नहीं रहा। मनोरमा के हाथों जो कुछ खर्च होता है, वह श्रेय है। अनुराग चित्त की वृत्तियों की कितनी कायापलट कर सकता है।

अब तक राजा विशालसिंह का जिन स्त्रियों से साबिका पड़ा था, वे ईर्ष्याद्वेष, माया-मोह और राग-रंग में लिप्त थीं। मनोरमा उन सबों से भिन्न थी। उसमें सांसारिकता का लेश भी न था। न उसे वस्त्राभूषणों से प्रेम, न किसी से ईर्ष्या या द्वेष। ऐसा प्रतीत होता था कि वह स्वर्ग लोक की देवी है। परोपकार में उसका ऐसा सच्चा अनुराग था कि पग-पग पर राजा साहब को अपनी लघुता और क्षुद्रता का अनुभव होता था और उस पर उनकी श्रद्धा और भी दृढ़ होती जाती थी। रियासत के मामलों या निज के व्यवहारों में जब वह कोई ऐसी बात कर बैठते, जिसमें स्वार्थ, और अधिकार के दुरुपयोग या अनम्रता की गन्ध आती हो, तो उन्हें यह जानने में देर न लगती थी कि मनोरमा की भृकुटी चढी हुई है और उसने भोजन नहीं किया। फिर उन्हें उस बात के दुहराने का साहस न होता था। मनोरमा की निर्मल कीर्ति अज्ञात रूप से उन्हें परलोक की ओर खींचे लिये जाती थी। उसके समीप आते ही उनकी वासना लुप्त और धार्मिक कल्पना सजग हो जाती थी। उसकी बुद्धि प्रतिभा पर उन्हें इतना अटल विश्वास हो जाता था कि वह जो कुछ करती थी, उन्हें सर्वोचित और श्रेयस्कर जान पड़ता था। वह अगर उनके देखते हुए घर में आग लगा देती, तो भी वह उसे निर्दोष ही समझते। उसमें भी उन्हें शुभ और कल्याण ही की सुवर्ण-रेखा दिखायी देती। रियासत

में असामियों से कर के नाम पर न जाने कितनी बेगार ली जाती थी, वह सब रानी के हुक्म से बन्द कर दी गयी और रियासत को लाखों रुपये की क्षति हुई; पर राजा साहब ने जरा भी हस्तक्षेप नहीं किया। पहले जिले के हुक्काम रियासत में तशरीफ लाते, तो रियासत में खलबली मच जाती थी, कर्मचारी सारे काम छोड़कर हुक्काम को रसद पहुँचाने मे मुस्तैद हो जाते थे। हाकिम की निगाह तिरछी देकर राजा काँप जाते थे। पर अब किसी को चाहे वह सूबे का लाट ही क्यों न हो, नियमों के विरुद्ध एक कदम रखने की भी हिम्मत न पड़ती थी। जितनी धाँधलियाँ राज्य-प्रथा के नाम पर सदैव से होती आती थीं, वह एक एक करके उठती जाती थीं, पर राजा साहब को कोई शंका न थी।

राजा साहब की चिर सचित पुत्र लालसा भी इस प्रेम तरङ्ग में मग्न हो गयी। मनोरमा पर उन्होंने अपनी यह महान् अभिलाषा भी अर्पित कर दी। मनोरमा को पाकर उन्हें किसी वस्तु की इच्छा ही न रही। उसके सामने और भी सभी चीजें तुच्छ हो गयीं। एक दिन, केवल एक दिन उन्होंने मनोरमा से कहा था—मुझे अब केवल एक इच्छा और है। ईश्वर मुझे एक पुत्र प्रदान कर देता, तो मेरे सारे मनोरथ पूरे हो जाते। मनोरमा ने उस समय जिन कोमल शब्दों में उन्हें सन्त्वना दी थी, वे अब तक कानों में गूँज रहे थे—नाथ, मनुष्य का उद्धार पुत्र से नहीं, अपने कर्मों से होता है। यश और कीर्ति भी कर्मों ही से प्राप्त होती है। सन्तान वह सबसे कठिन परीक्षा है, जो ईश्वर ने मनुष्य को परखने के लिए गढी है। बड़ी बड़ी आत्माएँ, जो और सभी परीक्षाओं में सफल हो जाती हैं, यहाँ, ठोकर खाकर गिर पड़ती हैं। सुख के मार्ग मे इससे बड़ी और कोई बाधा नहीं है। जब इच्छा दुःख का मूल है, तो सबसे बड़े दु:ख का मूल क्यों न होगी? ये वचन मनोरमा के मुख से निकलकर अमर हो गये थे।

सबसे विचित्र बात यह थी कि राजा साहब की विषय-वासना सम्पूर्णतः लोप हो गयी थी। एकान्त में बैठे हुए वह मन में भाँति-भाँति की मृदु कल्पनाएँ किया करते लेकिन मनोरमा के सम्मुख आते ही उन पर श्रद्धा का अनुराग छा जाता, मानों किसी देव मन्दिर मे आ गये हों। मनोरमा उनका सम्मान करती, उन्हें देखते ही खिल जाती, उनसे मीठी मीठी बातें करती, उन्हें अपने हाथों से स्वादिष्ट पदार्थ बनाकर खिलाती, उन्हें पंखा झलती। उनकी तृप्ति के लिए वह इतना ही काफी समझती थी। कविता में और सब रस थे, केवल शृंगार-रस न था। वह बाँकी चितवन, जो मन को हर लेती है, वह हाव-भाव, जो चित्त को उद्दीप्त कर देता है, यहाँ कहाँ? सागर के स्वच्छ निर्मल जल मे तारे नाचते हैं, चाँद थिरकता है, लहरें गाती हैं। वहाँ देवता सन्ध्योपासना करते हैं, देवियाँ स्नान करती हैं, पर कोई मैले कपड़े नहीं धोता। सगमरमर की जमीन पर थूकने की कुरुचि किस में होगी? आत्मा को स्वयं ऐसे घृणास्पद व्यवहार से सकोच है।

इस भाँति छः महीने गुजर गये।

प्रभात का समय था। प्रकृति फागुन के शीतल, उल्लासमय समीर-सागर में निमग्न हो रही थी। बाग में नव-विकसित पुष्प, किरणों के सुनहरे हार पहने मुसकरा रहे थे। आम के सुगन्धित नव पल्लवों में कोयल अपनी मधुर तान अलाप रही थी। और मनोरमा आइने के सामने खड़ी अपनी केश-राशि का जाल सजा रही थी। आज बहुत दिनों के बाद उसने अपने दिव्य, रत्न-जटित आभूषण निकाले हैं, बहुत दिनों के बाद अपने वस्त्रों में इत्र बसाये हैं। आज उसका एक-एक अंग मनोल्लास से खिला हुआ है। आज चक्रधर जेल से छूटकर आयेंगे और वह उनका स्वागत करने जा रही है।

यों बन-ठनकर मनोरमा ने बगलवाले कमरे का परदा उठाया और दबे पाँव अन्दर गयी। मंगला अभी तक पलँग पर पड़ी मीठी-मीठी नींद ले रही थी। उसके लम्बे-लम्बे केश तकिये पर बिखरे पड़े थे। दोनों सखियाँ आधी रात तक बातें करती रही थीं। जब मंगला ऊँघ-ऊँघकर गिरने लगी थी, तो मनोरमा उसे सुलाकर अपने कमरे में चली गयी थी। मंगला अभी तक पड़ी सो रही थी, मनोरमा की पलकें तक न झपकीं, अपने कल्पना-कुञ्ज में विचरते हुए रात काट दी। मंगला को इतनी देर तक सोते देखकर उसने आहिस्ता से पुकारा—मंगला, कब तक सोयेगी? देख तो, कितना दिन चढ़ आया? जब पुकारने से मंगला न जागी, तो उसका कन्धा हिलाकर कहा—क्या दिन-भर सोती ही रहेगी?

मंगला ने पड़े-पड़े कहा—सोने दो, सोने दो; अभी तो सोई हूँ, फिर सिर पर सवार हो गयीं!

मनोरमा—तो फिर मैं जाती हूँ, यह न कहना, मुझे क्यों नहीं जगाया!

मंगला—(आँखें खोलकर) अरे! इतना दिन चढ़ आया! मुझे पहले ही क्यों न जगा दिया?

मनोरमा—जगा तो रही हूँ, जब तेरी नींद टूटे! स्टेशन चलेगी न?

मंगला—मैं! मैं स्टेशन कैसे जाऊँगी!

मनोरमा—जैसे मैं जाऊँगी, वैसे ही तू भी चलना। चल कपड़े पहन ले!

मंगला—ना भैया, मैं न जाऊँगी। लोग क्या कहेंगे।

मनोरमा—मुझे जो कहेंगे, वही तुझे भी कहेंगे, मेरी खातिर से सुन लेना।

मंगला—आपकी बात और है, मेरी बात और। आपको कोई नहीं हँसता, मुझे सब हँसेंगे। मगर मैं डरती हूँ, कहीं तुम्हें नजर न लग जाय।

मनोरमा—चल-चल, उठ; बहुत बातें न बना। मैं तुझे खींचकर ले जाऊँगी, मोटर में परदा कर दूँगी। बस, अब राजी हुई?

मंगला—हाँ, यह तो अच्छा उपाय है; लेकिन मैं नहीं जाऊँगी। अम्माजी सुनेंगी तो बहुत नाराज होंगी।

मनोरमा—और जो उन्हें भी ले चलूँ, तब तो तुझे कोई आपत्ति न होगी?

मंगला—वह चलें तो मैं भी चलूँ; लेकिन नहीं, वह बड़ी-बूढ़ी हैं, जहाँ चाहें वहाँ

जा-आ सकती हैं। मैं तो लोगों को अपनी ओर घूरते देखकर कट ही जाऊँगी।

मनोरमा—अच्छा, तो पड़ी-पड़ी सो, मैं जाती हूँ। अभी बहुत-सी तैयारियाँ करनी हैं।

मनोरमा अपने कमरे में आयी और मेज पर बैठकर बड़ी उतावली में कुछ लिखने लगी कि दीवान साहब के आने की इत्तला हुई और एक क्षण में आकर वह एक कुरसी पर बैठ गये। मनोरमा ने पूछा—रियासत का बैंड तैयार है न?

हरिसेवक—हाँ, उसे पहले ही हुक्म दिया जा चुका है।

मनोरमा—जुलूस का प्रबन्ध ठीक है न? मैं डरती हूँ कहीं भद्द न हो जाय।

हरिसेवक—प्रबन्ध तो मैंने सब कर दिया है, पर इस विषय में रियासत की ओर से जो उत्साह प्रकट हो रहा है, वह शायद इसके लिए हानिकर हो। रियासतों पर हुक्काम की कितनी कड़ी निगाह होती है, यह आपको खूब मालूम है। मैं पहले भी कह चुका हूँ और अब भी कहता हूँ कि आपको इस मामले में खूब सोच-विचारकर काम करना चाहिए।

मनोरमा—क्या आप समझते हैं कि मैं बिना सोचे विचारे ही कोई काम कर बैठती हूँ? मैंने खूब सोच लिया है, बाबू चक्रधर चोर नहीं, डाकू नहीं, खूनी नहीं, एक सच्चे आदमी हैं। उनका स्वागत करने के लिए हुक्काम हमसे बुरा मानते हैं, तो मानें। हमें इसकी कोई परवा नहीं। जाकर सम्पूर्ण दल को तैयार कीजिए।

हरिसेवक—श्रीमान् राजा साहब की तो राय है कि शहरवालों को जुलूस निकालने दिया जाय, हमारे सम्मिलित होने की जरूरत नहीं।

मनोरमा ने रुष्ट होकर कहा—राजा साहब से मैंने पूछ लिया है। उनकी राय वही है, जो मेरी है। अगर सन्मार्ग पर चलने में रियासत जब्त भी हो जाय, तो भी मैं उस मार्ग से विचलित न हूँगी। आपको रियासत के विषय में इतना चिन्तित होने की क्या जरूरत?

दीवान साहब ने सजल नेत्रों से मनोरमा को देखकर कहा—बेटी, मैं तुम्हारे ही भले को कहता हूँ। तुम नहीं जानतीं जमाना कितना नाजुक है।

मनोरमा उत्तेजित होकर बोली—पिताजी, इस सदुपदेश के लिए मैं आपकी बहुत अनुगृहीत हूँ, लेकिन मेरी आत्मा उसे ग्रहण नहीं करती। मैंने सर्प की भाँति धन राशि पर बैठकर उसकी रक्षा करने के लिए यह पद नहीं स्वीकार किया है, बल्कि अपनी आत्मोन्नति और दूसरों के उपकार के लिए ही। अगर रियासत इन दो में एक काम भी न आये, तो उसका रहना ही व्यर्थ है। अभी ७ बजे हैं। ८ बजते-बजते आपको स्टेशन पहुँच जाना चाहिए। मैं ठीक वक्त पर पहुँच जाऊँगी। जाइये!

दीवान साहब के जाने के बाद मनोरमा फिर मेज पर बैठकर लिखने लगी। यह वह भाषण था, जो वह चक्रधर के स्वागत के अवसर पर देना चाहती थी। वह लिखने में इतनी तल्लीन हो गयी थी कि उसे राजा साहब के आकर बैठ जाने की उस वक्त तक खबर न हुई, जब तक कि उन्हें उनके फेफड़ों ने खाँसने पर मजबूर न कर

दिया। कुछ देर तक तो बेचारे खाँसी को दबाते रहे; लेकिन नैसर्गिक क्रियाओं को कौन रोक सकता है? खाँसी दबकर उत्तरोत्तर प्रचण्ड होती जाती थी, यहाँ तक कि अन्त में वह वह निकल ही पड़ी—कुछ छींक थी, कुछ खाँसी और कुछ इन दोनों का सम्मिश्रण, मानो कोई बन्दर गुर्रा रहा हो। मनोरमा ने चौंककर आँखें उठायीं, तो देखा कि राजा साहब बैठे हुए उसकी ओर प्रेम विह्वल नेत्रों से ताक रहे हैं। बोली—क्षमा कीजियेगा, मुझे आपकी आहट ही न मिली। क्या आप देर से बैठे हैं?

राजा—नहीं तो, अभी-अभी आया हूँ। तुम लिख रही थीं। मैंने छेड़ना उचित न समझा।

मनोरमा—आपकी खाँसी बढ़ती ही जाती है, और आप इसकी कुछ दवा नहीं करते।

राजा—आप-ही-आप अच्छी हो जायगी। बाबू चक्रधर तो १० बजे की डाक से आ रहे हैं न? उनके स्वागत की तैयारियाँ पूरी हो गयीं?

मनोरमा—जी हाँ, बहुत कुछ पूरी हो गयी हैं।

राजा—मैं चाहता हूँ, जुलूस इतनी धूमधाम से निकले कि कम-से-कम इस शहर के इतिहास में अमर हो जाय।

मनोरमा—यही तो मैं भी चाहती हूँ।

राजा—मैं सैनिकों के आगे फौजी वर्दी में रहना चाहता हूँ।

मनोरमा ने चिन्तित होकर कहा—आपका जाना उचित नहीं जान पड़ता। आप यहीं उनका स्वागत कीजियेगा। अपनी मर्यादा का निर्वाह तो करना ही पड़ेगा। सरकार यों भी हम लोगों पर सन्देह करती है, तब तो वह सत्तू बाँधकर हमारे पीछे पड़ जायगी।

राजा—कोई चिन्ता नहीं। संसार में सभी प्राणी राजा ही तो नहीं हैं। शान्ति राज्य में नहीं, सन्तोष में है। अवश्य चलूँगा, अगर रियासत ऐसे महात्माओं के दर्शन में बाधक होती है, तो उससे इस्तीफा दे देना ही अच्छा।

मनोरमा ने राजा की ओर बड़ी करुण दृष्टि से देखकर कहा—यह ठीक है; लेकिन जब मैं जा रही हूँ, तो आपके जाने की जरूरत नहीं।

राजा—खैर न जाऊँगा; लेकिन यहाँ मैं अपनी जबान को न रोकूँगा। उनके गुजारे की भी तो कुछ फिक्र करनी होगी।

मनोरमा—मुझे भय है कि वह कुछ लेना स्वीकार न करेंगे। बड़े त्यागी पुरुष हैं।

राजा—यह तो मैं जानता हूँ। उनके त्याग का क्या कहना! चाहते तो अच्छी नौकरी करके आराम से रहते; पर दूसरों के उपकार के लिए प्राणों को हथेली पर लिये रहते हैं। उन्हें धन्य है! लेकिन उनका किसी तरह गुजर-बसर तो होना ही चाहिए। तुम्हें संकोच होता हो, तो मैं कह दूँ।

मनोरमा—नहीं, आप न कहिएगा, मैं ही कहूँगी। मान लें, तो है।

राजा—मेरी और उनकी तो बहुत पुरानी मुलाकात है। मैं भी उनकी समिति का मेम्बर था। अब फिर नाम लिखाऊँगा। कितने रुपए तुम्हारे विचार में काफी होंगे? रकम ऐसी होनी चाहिए, जिसमें उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न होने पाये।

मनोरमा—मैं तो समझती हूँ, ५०) बहुत होंगे। उन्हें और जरूरत ही क्या है!

राजा—नहीं जी, उनके लिए एक दस रुपए काफी हैं। ५०) की थैली लेकर भला वह क्या करेंगे। तुम्हें कहते शर्म न आयी? ५०) मे आजकल रोटियाँ भी नहीं चल सकतीं, और बातों का तो जिक्र ही क्या। एक भले आदमी के निर्वाह के लिए इस जमाने में ५००) से कम नहीं खर्च होते।

मनोरमा—पाँच सौ! कभी न लेंगे। ५०) ही ले लें, मैं इसी को गनीमत समझती हूँ। पाँच सौ का तो नाम ही सुनकर वह भाग खड़े होंगे।

राजा—हमारा जो धर्म है, वह हम कर देंगे, लेने या न लेने का उनको अख्तियार है।

मनोरमा फिर लिखने लगी, और यह राजा साहब को वहाँ से चले जाने का संकेत था, पर राजा साहब ज्यों-के त्यों बैठे रहे। उनकी दृष्टि मकरन्द के प्यासे भ्रमर की भाँति मनोरमा के मुख-कमल का माधुर्य-रस-पान कर रही थी। उसकी बाँकी अदा आज उनकी आँखों में खुबी जाती थी। मनोरमा का शृङ्गार-रूप आज तक उन्होंने न देखा था। इस समय उनके हृदय में जो गुदगुदी हो रही थी, वह उन्हें कभी न हुई थी। दिल थाम थामकर रह जाते थे। मन में बार बार एक प्रश्न उठता था; पर जल मे उछलनेवाली मछलियों की भाँति फिर मन में विलीन हो जाता था। प्रश्न था—इसका वास्तविक स्वरूप यह है या वह?

सहसा घड़ी में ६ बजे। मनोरमा कुरसी से उठ खड़ी हुई। राजा साहब भी किसी वृक्ष की छाया में विश्राम करनेवाले पथिक की भाँति उठे और धीरे धीरे द्वार की ओर चले। द्वार पर पहुँचकर वह फिर मुड़कर मनोरमा से बोले—मैं भी चलूँ, तो क्या हरज?

मनोरमा ने करुण-कोमल नेत्रों से देखकर कहा—अच्छी बात है, चलिए, लेकिन पिताजी के पास किसी अच्छे डाक्टर को बिठाते जाइएगा, नहीं तो शायद उनके प्राण न बचें।

राजा—दीवान साहब रियासत के सच्चे शुभचिन्तक हैं।

२४

रेलवे स्टेशन पर कहीं तिल रखने की जगह न थी। अन्दर का चबूतरा और बाहर का सहन सब आदमियों से खचाखच भरे थे। चबूतरे पर विद्यालयों के छात्र थे, रंग-बिरंग की वर्दियाँ पहने हुए, और सेवा-समितियों के सेवक, रंग बिरंग की झण्डियाँ लिये हुए। मनोरमा नगर की कई महिलाओं के साथ अञ्चल में फूल भरे सेवकों के बीच में खड़ी थी। उसका एक एक अंग आनंद से पुलकित हो रहा था। बरामदे में राजा विशालसिंह, उनके मुख्य कर्मचारी और शहर के रईस और नेता जमा थे। मुंशी वज्रधर इधर उधर पैंतरे बदलते और लोगों को सावधान रहने की ताकीद करते-फिरते थे। कोई घबराहट की बात नहीं, कोई तमाशा नहीं, वह भी तुम्हारे ही जैसा दो हाथ और दो पैर का आदमी है। आयेगा, तब देख लेना, धक्कमधक्का करने की जरूरत नहीं। दीवान हरिसेवकसिंह सशंक नेत्रों से सरकारी सिपाहियों को देख रहे थे और बार-बार

राजा साहब के कान में कुछ कहते थे; अनिष्ट भय से उनके प्राण सूखे हुए थे। स्टेशन के बाहर हाथी, घोड़े, बग्घियाँ, मोटर पैर जमाये खड़ी थीं। जगदीशपुर का बैंड बड़े मनोहर स्वरों मे विजय गान कर रहा था। बार-बार सहस्रों कंठों से हर्ष-ध्वनि निकलती थी, जिससे स्टेशन की दीवारें हिल जाती थीं। थोड़ी देर के लिए लोग व्यक्तिगत चिन्ताओं और कठिनाइयों को भूलकर राष्ट्रीयता के नशे में झूम रहे थे।

ठीक दस बजे गाड़ी दूर से धुआँ उड़ाती हुई दिखाई दी। अब तक लोग अपनी जगह पर कायदे के साथ खड़े थे; लेकिन गाड़ी के आते ही सारी व्यवस्था हवा हो गयी। पीछेवाले आगे आ पहुँचे, आगेवाले पीछे पड़ गये, झण्डियाँ रक्षास्त्र का काम करने लगीं और फूलों की टोकरियाँ ढालों का। मुंशी वज्रधर बहुत चीखे चिल्लाये, लेकिन कौन सुनता है। हाँ, मनोरमा के सामने मैदान साफ था। दीवान साहब ने तुरन्त सैनिकों को उसके सामने से भीड़ हटाते रहने के लिए बुला लिया था। गाड़ी आकर रुकी और चक्रधर उतर पड़े। मनोरमा भी अनुराग से उन्मत्त होकर चली; लेकिन तीन-चार पग चली थी कि एक बात ध्यान में आयी। ठिठक गयी और एक स्त्री की आड़ से चक्रधर को देखा, एक रक्त-हीन, मलीन-मुख, क्षीण-मूर्ति सिर झुकाये खड़ी थी, मानो जमीन पर पैर रखते डर रही है कि कहीं गिर न पड़े। मनोरमा का हृदय मसोस उठा, आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी, अञ्चल के फूल अञ्चल ही में रह गये। उधर चक्रधर पर फूलों की वर्षा हो रही थी, इधर मनोरमा की आँखों से मोतियों की। सेवा-समिति का मंगल गान समाप्त हुआ, तो राजा साहब ने आगे बढ़कर नगर के नेताओं की ओर से उनका स्वागत किया। सब लोग उनसे गले मिले और जुलूस सजाया जाने लगा। मुंशी वज्रधर जुलूस के प्रबन्ध में इतने व्यस्त थे कि चक्रधर की उन्हें सुधि ही न थी। चक्रधर स्टेशन के बाहर आये और यह तैयारियाँ देखीं, तो बोले—आप लोग मेरा इतना सम्मान करके मुझे लज्जित कर रहे हैं। राष्ट्रीय सम्मान किसी महान् राष्ट्रीय उद्योग का पुरस्कार होना चाहिए। मैं इसके सर्वथा अयोग्य हूँ। मुझे सम्मानित करके आप लोग सम्मान का महत्व खो रहे हैं! मुझ जैसों के लिए इस धूम-धाम की जरूरत नहीं। मुझे तमाशा न बनाइये।

संयोग से मुंशीजी वहीं खड़े थे। ये बातें सुनी, तो बिगड़कर बोले—तमाशा नहीं बनना था, तो दूसरों के लिए प्राण देने को क्यों तैयार हुए थे? लोग दस पाँच हजार खर्च करके जन्म-भर के लिए 'राय बहादुर' और 'खाँ बहादुर' हो जाते हैं। तुम दूसरों के लिए इतनी मुसीबतें झेलकर यह सम्मान पा रहे हो, तो इसमें झेंपने की क्या बात है, भला! देखता तो हूँ कि कोई एक छोटा-मोटा व्याख्यान दे देता है, तो पत्रों में देखता है कि मेरी तारीफ हो रही है या नहीं। अगर दुर्भाग्य से कहीं सम्पादक ने उसकी प्रशंसा न की, तो जामे से बाहर हो जाता है, और तुम दस पाँच हाथी-घोड़े देखकर घबरा गये। आदमी की इज्जत अपने हाथ है। तुम्हीं अपनी इज्जत न करोगे, तो दूसरे क्यों करने लगे। आदमी कोई काम करता है, तो रुपए के लिए या नाम के लिए।

अगर दो में से एक भी हाथ न आये, तो वह काम करना ही व्यर्थ है।

यह कहकर उन्होंने चक्रधर को छाती से लगा लिया। चक्रधर का रक्त-हीन मुख लज्जा से आरक्त हो गया। यह सोचकर शरमाये कि ये लोग अपने मन में पिताजी की हँसी उड़ा रहे होंगे। और कुछ आपत्ति करने का साहस न हुआ। चुपके से राजा साहब की टुकड़ी पर आ बैठे। जुलूस चला। आगे-आगे पाँच हाथी थे, जिन पर नौबत बज रही थी। उनके पीछे कोतल घोड़ों की लम्बी कतार थी, जिन पर बैंड का दल था। बैंड के पीछे जगदीशपुर के सैनिक चार-चार की कतार में कदम मिलाये चल रहे थे। फिर क्रम से आर्य महिला-मडल, खिलाफत, सेवा-समिति और स्काउटों के दल थे। उनके पीछे चक्रधर की जोड़ी थी, जिसमें राजा साहब मनोरमा के साथ बैठे हुए थे। इसके बाद तरह तरह की चौकियाँ थीं, जिनके द्वारा राजनैतिक समस्याओं का चित्रण किया गया था। फिर भाँति-भाँति की गायन मडलियाँ थी, जिनमें कोई ढोल मजीरे पर राजनैतिक गीत गाती थीं, कोई डण्डे बजा-बजाकर राष्ट्रीय 'हर गगा' सुना रही थीं, और दो-चार सज्जन 'चने जोर गरम और चूरन अमलबेत' की वाणियों का पाठ कर रहे थे। सबके पीछे बग्घियों, मोटरों और बसों की कतारें थीं। अन्त में जनता का समूह था।

जलूस नदेसर, चेतगज, दशाश्वमेध और चौक होता हुआ दोपहर होते-होते कबीर चौरे पर पहुँचा। यहाँ मुशीजी के मकान के सामने एक बहुत बड़ा शामियाना तना हुआ था। निश्चय हुआ था कि यहीं सभा हो और चक्रधर को अभिनन्दन-पत्र दिया जाय। मनोरमा स्वय पत्र पढकर सुनानेवाली थी, लेकिन जब लोग आ आकर पडाल में बैठे और मनोरमा अभिनन्दन पढने को खड़ी हुई, तो उसके मुँह से एक शब्द न निकला। आज एक सप्ताह से उसने जी तोड़कर स्वागत की तैयारियाँ की थीं, दिन को दिन और रात को रात न समझा था, रियासत के कर्मचारी दौड़ते दौड़ते तग आ गये थे। काशी-जैसे उत्साह-हीन नगर में ऐसे जुलूस का प्रबन्ध करना आसान काम न था। विशेष करके चौकियों और गायन मण्डलियों की आयोजना करने में उसे बहुत कष्ट उठाने पड़े थे और कई मण्डलियो को दूसरे शहरो से बुलाना पड़ा था! उसकी श्रम-शीलता और उत्साह देख देखकर लोगों को आश्चर्य होता था; लेकिन जब वह शुभ अवसर आया कि वह अपनी दौड़-धूप का मनमाना पुरस्कार ले, तो उसकी वाणी धोखा दे गयी। फिटन में वह चक्रधर के सम्मुख बैठी थी। राजा साहब चक्रधर से जेल के सम्बन्ध में बातें करते रहे, पर मनोरमा वहाँ भी चुप ही रही। चक्रधर ने उसकी आशा के प्रतिकूल उससे कुछ न पूछा। यह अगर उसका तिरस्कार नहीं तो क्या था? हाँ, यह मेरा तिरस्कार है। यह समझते हैं, मैंने विलास के लिए विवाह किया है। इन्हें कैसे अपने मन की व्यथा समझाऊँ कि यह विवाह नहीं, प्रेम को बलि-वेदी है।

मनोरमा को असमजस में देखकर राजा साहब ऊपर आ खड़े हुए और उसे धीरे से कुरसी पर बिठाकर बोले—सज्जनो, रानीजी के भाषण में आपको जो रस मिलता, वह मेरी बातों में कहाँ! कोयल के स्थान पर कौआ खड़ा हो गया है, शहनाई की जगह

नृसिंह ने ले ली है। आप लोगों को ज्ञात न होगा कि पूज्यवर बाबू चक्रधर रानी साहबा के गुरु रह चुके हैं, और वह उन्हें अब भी उसी भाव से देखती हैं। अपने गुरु का सम्मान करना शिष्य का धर्म है; किन्तु रानी साहबा का कोमल हृदय इस समय नाना प्रकार के आवेगों से इतना भरा हुआ है कि वाणी के लिए जगह ही नहीं रही। इसके लिए वह क्षम्य हैं। बाबू साहब ने जिस धैर्य और साहस से दीनों की रक्षा की, वह आप लोग जानते ही हैं। जेल में भी आपने निर्भीकता से अपने कर्तव्य का पालन किया। आपका मन दया और प्रेम का सागर है। जिस अवस्था में और युवक धन की उपासना करते हैं, आपने धर्म और जाति प्रेम की उपासना है। मैं भी आपका पुराना भक्त हूँ।

एक सज्जन ने टोका—आप ही ने तो उन्हें सजा दिलायी थी?

राजा—हाँ, मैं इसे स्वीकार करता हूँ। राज्य के मद में कुछ दिनों के लिए मैं अपने को भूल गया था। कौन है, जो प्रभुता पाकर फूल न उठा हो। यह मानवीय स्वभाव है और आशा है आप लोग मुझे क्षमा करेंगे।

राजा साहब बोल ही रहे थे कि मनोरमा पण्डाल से निकल आयी और मोटर पर बैठकर राज्य-भवन चली गयी। रास्ते-भर वह रोती रही। उसका मन चक्रधर से एकान्त में बातें करने के लिए विकल हो रहा था। वह उन्हें समझाना चाहती थी कि मैं तिरस्कार योग्य नहीं, दया के योग्य हूँ। तुम मुझे विलासिनी समझ रहे हो, यह तुम्हारा अन्याय है। और किस प्रकार मैं तुम्हारी सेवा करती? मुझमें बुद्धि बल न था; धन बल न था, विद्या-बल न था, केवल रूप-बल था, और वह मैंने तुम्हें अर्पण कर दिया। फिर भी तुम मेरा तिरस्कार करते हो!

मनोरमा ने दिन तो किसी तरह काटा, पर शाम को वह अधीर हो गयी। तुरंत चक्रधर के मकान पर जा पहुँची। देखा, तो वह अकेले द्वार पर टहल रहे थे। शामियाना उखाड़ लिया गया था। कुरसियाँ, मेजें, दरियाँ, गमले, सब वापस किये जा चुके थे। मिलनेवालों का ताँता टूट चुका था। मनोरमा को इस समय बड़ी लज्जा आयी। न-जाने यह अपने मन में क्या समझ रहे होंगे। अगर छिपकर लौटना सम्भव होता, तो वह अवश्य लौट पड़ती। मुझे अभी न आना चाहिए था। दो चार दिन में मुलाकात हो ही जाती। नाहक इतनी जल्दी की; पर अब पछताने से क्या होता था? चक्रधर ने उसे देख लिया और समीप आकर प्रसन्न भाव से बोले—मैं तो स्वयं आपकी सेवा में आनेवाला था। आपने व्यर्थ कष्ट किया।

मनोरमा—मैंने सोचा, चलकर देख लूँ यहाँ का सामान भेज दिया गया है या नहीं? आइये, सैर कर आयें। अकेले जाने का जी नहीं चाहता। आप बहुत दुबले हो रहे हैं। कोई शिकायत तो नहीं है न?

चक्रधर—नहीं, मैं बिलकुल अच्छा हूँ, कोई शिकायत नहीं है। जेल में कोई कष्ट न था, बल्कि सच पूछिए तो मुझे वहाँ बहुत आराम था। मुझे अपनी कोठरी से इतना प्रेम हो गया था कि उसे छोड़ते हुए दुःख होता था। आपकी तबीयत अब कैसी है?

पड़ता है, जिसके बगैर राजनीतिक सफलता हो ही नहीं सकती। मैं उस गलती में न पड़ूँगा।

मनोरमा—आप बहाने बता कर मुझे टालना चाहते हैं, नहीं तो मोटर पर तो आदमी रोजाना एक सौ मील आ-जा सकता है। कोई मुश्किल बात नहीं।

चक्रधर—उड़न-खटोले पर बैठकर संगठन नहीं किया जा सकता। जरूरत है जनता में जागृति फैलाने की, उनमें उत्साह और आत्म-बल का सचार करने की। चलती गाड़ी से यह उद्देश्य कभी पूरा नहीं हो सकता।

मनोरमा—अच्छा, तो मैं आपके साथ देहातों में घूमूँगी। इसमें तो आपको आपत्ति नहीं है?

चक्रधर—नहीं मनोरमा, तुम्हारा कोमल शरीर उन कठिनाइयों को न सह सकेगा। तुम्हारे हाथ में ईश्वर ने एक बड़ी रियासत की बागडोर दे दी है। तुम्हारे लिए इतना ही काफी है कि अपनी प्रजा को सुखी और सन्तुष्ट रखने की चेष्टा करो। यह छोटा काम नहीं है।

मनोरमा—मैं अकेली कुछ न कर सकूँगी। आपके इशारे पर सब कुछ कर सकती हूँ। आपसे अलग रहकर मेरे किये कुछ भी न होगा। कम-से-कम आप इतना तो कर ही सकते हैं कि अपने कामों में मुझसे धन की सहायता लेते रहें। ज्यादा तो नहीं, पाँच हजार रुपए मैं प्रति मास आपकी भेंट कर सकती हूँ, आप जैसे चाहें उसका उपयोग करें। मेरे सन्तोष के लिए इतना ही काफी है कि वे आपके हाथों खर्च हों। मैं कीर्ति की भूखी नहीं। केवल आपकी सेवा करना चाहती हूँ। इससे मुझे वचित न कीजिये। आप में न जाने वह कौन सी शक्ति है, जिसने मुझे वशीभूत कर लिया है। मैं न कुछ सोच सकती हूँ, न समझ सकती हूँ, केवल आपकी अनुगामिनी बन सकती हूँ।

यह कहते कहते मनोरमा की आँखें सजल हो गयीं। उसने मुँह फेरकर आँसू पोछ डाले और फिर बोली—आप मुझे दिल में जो चाहें, समझें; मैं इस समय आपसे सब कुछ कह दूँगी। मैं हृदय में आप ही की उपासना करती हूँ। मेरा मन क्या चाहता है, यह मैं स्वयं नहीं जानती; अगर कुछ-कुछ जानती भी हूँ तो कह नहीं सकती। हाँ, इतना कह सकती हूँ कि जब मैंने देखा कि आपकी परोपकार-कामनाएँ धन के बिना निष्फल हुई जाती हैं, जो कि आपके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है, तो मैंने उसी बाधा को हटाने के लिए यह बेड़ी अपने पैरों में डाली। मैं जो कुछ कह रही हूँ, इसका एक-एक अक्षर सत्य है। मैं यह नहीं कहती कि मुझे धन से घृणा है। नहीं, मैं दरिद्रता को ससार की विपत्तियों में सबसे दुःखदायी समझती हूँ। लेकिन मेरी सुख लालसा किसी भले घर में शान्त हो सकती थी। उसके लिए मुझे जगदीशपुर की रानी बनने की जरूरत न थी। मैंने केवल आपकी इच्छा के सामने सिर झुकाया है, और मेरे जीवन को सफल करना अब आपके हाथ है।

चक्रधर ये बातें सुनकर मर्माहत-से हो गये। उफ! यहाँ तक नौबत पहुँच गयी!

मैंने इसका सर्वनाश कर दिया ! हा विधि ! तेरी लीला कितनी विषम है ! वह इसलिए उससे दूर भागे थे कि वह उसे अपने साथ दरिद्रता के काँटों में घसीटना न चाहते थे। उन्होंने समझा था, उनके हट जाने से मनोरमा उन्हें भूल जायगी और अपने इच्छानुकूल विवाह करके सुख से जीवन व्यतीत करेगी।

उन्हें क्या मालूम था कि उनके हट जाने का यह भीषण परिणाम होगा और वह राना विशालसिंह के हाथों में जा पड़ेगी। उन्हें वह बात याद आयी, जो एक बार उन्होंने विनोद भाव से कही थी—तुम रानी होकर मुझे भूल जाओगी। उसका जो उत्तर मनोरमा ने दिया था, उसे याद करके चक्रधर एक बार काँप उठे। उन शब्दों में इतना दृढ सकल्प था ! इसकी वह उस समय कल्पना भी न कर सकते थे। चक्रधर मन में बहुत ही क्षुब्ध हुए। उनके हृदय में एक साथ ही करुणा, भक्ति, विस्मय और शोक के भाव उत्पन्न हो गये। प्रबल उत्कण्ठा हुई कि इसी क्षण इसके चरणों पर सिर रख दें और रोयें। वह अपने को धिक्कारने लगे। मनोरमा को इस दशा में लाने का, उसके जीवन की अभिलाषाओं को नष्ट करने का भार उनके सिवा और किस पर था ?

सहसा मनोरमा ने फिर कहा—आप मन मे मेरा तिरस्कार तो नहीं कर रहे हैं ?

चक्रधर लज्जित होकर बोले—नहीं मनोरमा, तुमने मेरे हित के लिए जो त्याग किया है, उसका दुनिया चाहे तिरस्कार करे, मेरी दृष्टि मे तो वह आत्म-बलिदान से कम नहीं; लेकिन क्षमा करना, तुमने पात्र का विचार नहीं किया। तुमने कुत्ते के गले में मोतियों की माला डाल दी। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, अभी तुमने मेरा असली रूप नहीं देखा। देखकर शायद घृणा करने लगो ! तुमने मेरा जीवन सफल करने के लिए अपने ऊपर जो अन्याय किया है, उसका अनुमान करके ही मेरा मस्तिष्क चक्कर खाने लगता है। इससे तो यह कहीं अच्छा था कि मेरा जीवन नष्ट हो जाता, मेरे सारे मंसूबे धूल में मिल जाते। मुझ जैसे क्षुद्र प्राणी के लिए तुम्हें अपने ऊपर यह अत्याचार न करना चाहिए था। अब तो मेरी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि मुझे अपने व्रत पर दृढ रहने की शक्ति प्रदान करें। वह अवसर कभी न आये कि तुम्हें अपने इस असीम विश्वास और असाधारण त्याग पर पछताना पड़े। अगर वह अवसर आनेवाला हो, तो मैं वह दिन देखने के लिए जीवित न रहूँ। तुमसे भी मैं एक अनुरोध करने की क्षमा चाहता हूँ। तुमने अपनी इच्छा से त्याग का जीवन स्वीकार किया है। इस ऊँचे आदर्श का सदैव पालन करना। राजा साहब के प्रति एक पल के लिए भी तुम्हारे मन में अश्रद्धा का भाव न आने पाये। अगर ऐसा हुआ, तो तुम्हारा यह त्याग निष्फल हो जायगा।

मनोरमा कुछ देर तक मौन रहने के बाद बोली—बाबूजी, तुम्हारा हृदय बड़ा कठोर है।

चक्रधर ने विस्मित होकर मनोरमा की ओर देखा, मानो इसका आशय उनकी समझ में न आया हो।

नमाज की जगह देवताओं की दुर्गति। ख्वाजा साहब ने फतवा दिया—जो मुसलमान किसी हिन्दू औरत को निकाल ले जाय, उसे एक हजार हजों का सवाब होगा। यशोदानन्दन ने काशी के पण्डितों की व्यवस्था मँगवायी कि एक मुसलमान का वध एक लाख गौ-दानों से श्रेष्ठ है।

होली के दिन थे। गलियों में गुलाल के छींटे उड़ रहे थे। इतने जोश से कभी होली न मनायी गयी थी। वे नयी रोशनी के हिन्दू भक्त, जो रंग को भूखा भेड़िया समझते थे या पागल गीदड़, आज जीते-जागते इन्द्र-धनुष बने हुए थे। सयोग से एक मियाँ साहब मुर्गी हाथ में लटकाये कहीं से चले जा रहे थे। उनके कपड़े पर दो चार छींटे पड़ गये। बस, गजब ही तो हो गया, आफत ही तो आ गयी। सीधे जामे मस जिद पहुँचे और मीनार पर चढकर बाँग दी—'ऐ उम्मते रसूल! आज एक काफिर के हाथों मेरे दीन का खून हुआ है। उसके छींटे मेरे कपड़ों पर पड़े हुए हैं। या तो काफिरों से इस खून का बदला लो, या मैं मीनार से गिरकर नबी की खिदमत में फरि-याद सुनाने जाऊँ। बोलो, क्या मजूर है? शाम तक मुझे इसका जवाब न मिला, तो तुम्हें मेरी लाश मसजिद के नीचे नजर आयेगी।'

मुसलमानों ने जब ललकार सुनी और उनकी त्योरियाँ बदल गयीं। दीन का जोश सिर पर सवार हो गया। शाम होते-होते दस हजार आदमी सिरों से कफन लपेटे, तल वारें लिये, जामे मसजिद के सामने आकर दीन के खून का बदला लेने के लिए जमा हो गये।

सारे शहर में तहलका मच गया। हिन्दुओं के होश उड़ गये। होली का नशा हिरन हो गया। पिचकारियाँ छोड़-छोड़ लोगों ने लाठियाँ सँभालीं, लेकिन यहाँ कोई जामे मसजिद न थी, न वह ललकार, न वह दीन का जोश। सबको अपनी-अपनी पड़ी हुई थी।

बाबू यशोदानन्दन कभी इस अफसर के पास जाते, कभी उस अफसर के। लख-नऊ तार भेजे, दिल्ली तार भेजे, मुसलिम नेताओं के नाम तार भेजे, लेकिन कोई फल न निकला। इतनी जल्द कोई इन्तजाम न हो सकता था। अगर वह यही समय हिन्दुओं को सगठित करने में लगाते, तो शायद बराबर का जोड़ हो जाता, लेकिन वह हुक्काम पर आशा लगाये बैठे रहे। और अन्त में जब वह निराश होकर उठे, तो मुसलिम वीर धावा बोल चुके थे। वे 'अली! अली!' का शोर मचाते चले जाते थे कि बाबू साहब सामने नजर आ गये। फिर क्या था। सैकड़ों आदमी, 'मारो!' कहते हुए लपके। बाबू साहब ने पिस्तौल निकाली और शत्रुओं के सामने खड़े हो गये। सवाल-जवाब कौन करता। उन पर चारों तरफ से वार होने लगे।

पिस्तौल चलाने की नौबत भी न आयी, यही सोचते खड़े रह गये कि समझाने से ये लोग शान्त हो जायँ, तो क्यों किसी की जान लूँ। अहिंसा के आदर्श ने हिंसा का हथियार हाथ में होने पर भी उनका दामन न छोड़ा।

यह आहुति पाकर अग्नि और भी भड़की। खून का मजा पाकर लोगों का जोश हो गया। अब फतह का दरवाजा खुला हुआ था। हिन्दू मुहल्लों में द्वार बन्द हो। बेचारे कोठरियों में बैठे जान की खैर मना रहे थे, देवताओं से विनती कर रहे कि यह संकट हरो। रास्ते में जो हिन्दू मिला वह पिटा, घर लुटने लगे। 'हाय-हाय' का शोर मच गया। दीन के नाम पर ऐसे ऐसे कर्म होने लगे, जिन पर पशुओं को भी लज्जा आती, पिशाचों के भी रोयें खड़े हो जाते।

लेकिन बाबू यशोदानन्दन के मरने की खबर पाते ही सेवादल के युवकों का खून खौल उठा। आसन पर चोट पहुँचते ही अड़ियल टट्टू और गरियाल बैल भी सँभल जाते हैं। घोड़ा कनौतियाँ खड़ी करता है, बैल उठ बैठता है। यशोदानन्दन का खून हिन्दुओं के लिए आसन की चोट थी। सेवा-दल के दो सौ युवक तलवारें लेकर निकल पड़े और मुसलमान मुहल्लों में घुसे। दो-चार पिस्तौल और बन्दूकें भी खोज निकाली गयीं। हिन्दू मुहल्लों में जो कुछ मुसलमान कर रहे थे, मुसलमान मुहल्लों में वही हिन्दू करने लगे। अहिंसा ने हिंसा के आगे सिर झुका दिया। वे ही सेवा-व्रतधारी युवक, जो दीनों पर जान देते थे, अनाथों को गले लगाते थे और रोगियों की सुश्रूषा करते थे, इस समय निर्दयता के पुतले बने हुए थे। पाशविक-वृत्तियों ने कोमल वृत्तियों का संहार कर दिया था। उन्हें न तो दीनों पर दया आती थी, न अनाथों पर। हँस हँसकर भाले और छुरे चलाते थे, मानों लड़के गुड़ियाँ पीट रहे हों। उचित तो यह था कि दोनों दलों के योद्धा आमने-सामने खड़े हो जाते और खूब दिल के अरमान निकालते; लेकिन कायरों की वीरता और वीरों की वीरता में बड़ा अन्तर है।

सहसा खबर उड़ी कि यशोदानन्दन के घर में आग लगा दी गयी है और दूसरे घरों में भी आग लगायी जा रही है। सेवा-दलवालों के कान खड़े हुए। यहाँ उनकी पैशाचिकता ने भी हार मान ली। तय हो गया कि अब या तो वे ही रहेंगे, या हमी रहेंगे। दोनों अब इस शहर में नहीं रह सकते। अब निपट ही लेना चाहिए, जिसमें हमेशा के लिए बाधा दूर हो जाय। दो-ढाई हजार आदमियों का दल डबल मार्च करता हुआ उस स्थान को चला, जहाँ यह बड़वानल दहक रहा था। मिनटों की राह पलों में कटी। रास्ते में सन्नाटा था। दूर ही से ज्वाला-शिखर आसमान से बातें करते दिखायी दिया। चाल और भी तेज की और एक क्षण में लोग अग्नि-कुण्ड के सामने जा पहुँचे। देखा, तो वहाँ किसी मुसलमान का पता नहीं, आग लगी है; लेकिन बाहर की ओर। अन्दर जाकर देखा तो घर खाली पड़ा हुआ था। वागेश्वरी एक कोठरी में द्वार बन्द किये बैठी थी। इन्हें देखते ही वह रोती हुई बाहर निकल आयी और बोली—हाय मेरी अहल्या! अरे दौड़ो, उसे ढूँढ़ो, पापियों ने न-जाने उसकी क्या दुर्गति की। हाय! मेरी बच्ची!

एक युवक ने पूछा—क्या अहल्या को उठा ले गये?

वागेश्वरी—हाँ भैया! उठा ले गये। मना कर रही थी कि एरी बाहर मत निकल;

अगर मरेंगे तो साथ ही मरेंगे, लेकिन न मानी। ज्योंही दुष्टों ने घर में कदम रखा, बाहर निकलकर उन्हें समझाने लगी। हाय! उसकी बातों को न भूलूँगी। आप तो गये ही थे, उसका भी सर्वनाश किया। नित्य समझाती रही, इन झगड़ों में न पड़ो। न मुसलमानों के लिए दुनिया में कोई दूसरा ठौर-ठिकाना है, न हिन्दुओं के लिए। दोनों इसी देश में रहेंगे और इसी देश मे मरेंगे। फिर आपस में क्यो लड़े मरते हो, क्यों एक दूसरे को निगल जाने पर तुले हुए हो? न तुम्हारे निगले वे निगले जायँगे, न उनके निगले तुम निगले जाओगे, मिल-जुलकर रहो, उन्हें बड़े होकर रहने दो, तुम छोटे ही होकर रहो, मगर मेरी कौन सुनता है। स्त्रियाँ तो पागल हो जाती हैं, यों हीं भूँका करतीं हैं। मान गये होते, तो आज क्यों यह उपद्रव होता। आप जान से गये, बच्ची भी हर ली गयी, और न-जाने क्या होना है। जलने दो घर, घर लेकर क्या करना है, तुम जाकर मेरी बच्ची को तलाश करो। जाकर ख्वाजा महमूद से कहो, उनका पता लगायें। हाय! एक दिन वह था कि दोनों आदमियों मे दाँत कटी रोटी थी। ख्वाजा साहब उनके साथ प्रयाग गये थे और अहल्या को उन्होंने पाया था। आज यह हाल है! कहना, तुम्हें लाज नहीं आती? जिस लड़की को बेटी बनाकर मेरी गोद मे सौंपा था, जिसके विवाह में पाँच हजार खर्च करनेवाले थे, उसकी उन्हीं के पिछलगुओं के हाथों यह दुर्गति। हमसे अब उनकी क्या दुश्मनी। उनका दुश्मन तो परलोक सिधारा! हाय भगवान! बहुत से आदमी मत जाओ। चार आदमी काफी हैं। उनकी लाश भी ढूँढों। कहीं आस ही पास होगी। घर से निकलते ही तो दुष्टों से उनका सामना हो गया था।

बागेश्वरी तो यह विलाप कर रही थी, बाहर अग्नि को शान्त करने का यत्न किया जा रहा था, लेकिन पानी के छींटे उस पर तेल का काम करते थे। बारे फायर-इञ्जिन समय पर आ पहुँचा और अग्नि का वेग कम हुआ। फिर भी लपटें किसी साँप की तरह जरा देर के लिए छिपकर फिर किसी दूसरी जगह जा पहुँचती थीं। सन्ध्या समय जाकर आग बुझी।

उधर लोग ख्वाजा साहब के पास पहुँचे, तो क्या देखते हैं कि मुशी यशोदानन्दन की लाश रखी हुई है और ख्वाजा साहब बैठे रो रहे हैं। इन लोगों को देखते ही बोले—तुम समझते होगे, यह मेरा दुश्मन था। खुदा जानता है, मुझे अपना भाई और बेटा भी इससे ज्यादा अजीज नहीं। अगर मुझ पर किसी कातिल का हाथ उठता तो यशोदा उस वार को अपनी गर्दन पर रोक लेता। शायद मैं भी उसे खतरे में देखकर अपनी जान की परवा न करता। फिर भी हम दोनों की जिन्दगी के आखिरी साल मैदानबाजी में गुजरे और आज उसका यह अंजाम हुआ। खुदा गवाह है, मैंने हमेशा इत्तहाद की कोशिश की। अब भी मेरा यह ईमान है कि इत्तहाद हीं से इस बदनसीब कौम की नजात होगी। यशोदा भी इत्तहाद का उतना ही हामी था, जितना मैं। शायद मुझसे भी ज्यादा, लेकिन खुदा जाने वह कौन सी ताकत थी, जो हम दोनों को बरसरेजंग रखती

थी। हम दोनों दिल से मेल करना चाहते थे; पर हमारी मरजी के खिलाफ कोई गैबी ताकत हमको लड़ाती रहती थी। आप लोग नहीं जानते हो, मेरी इससे कितनी गहरी दोस्ती थी। हम दोनों एक ही मकतब में पढे, एक ही स्कूल में तालीम पायी, एक ही मैदान में खेले। यह मेरे घर पर आता था, मेरी अम्माँजान इसको मुझसे ज्यादा चाहती थीं, इसकी अम्माँजान मुझे इससे ज्यादा। उस जमाने की तसवीर आज आँखों के सामने फिर रही है। कौन जानता था, उस दोस्ती का यह अंजाम होगा। यह मेरा प्यारा यशोदा है, जिसकी गरदन में बाहें डालकर मै बागों की सैर किया करता था। हमारी सारी दुश्मनी पसे-पुश्त होती थी। रूबरू मारे शर्म के हमारी आँखें ही न उठती थीं। आह! काश मालूम हो जाता कि किस बेरहम ने मुझ पर यह कातिल वार किया! खुदा जानता है, इन कमजोर हाथों से उसकी गर्दन मरोड़ देता।

एक युवक—हम लोग लाश को क्रिया-कर्म के लिए ले जाना चाहते हैं।

ख्वाजा—ले जाओ भई, ले जाओ; मै भी साथ चलूँगा। मेरे कन्धा देने में कोई हरज है! इतनी रियायत तो मेरे साथ करनी ही पड़ेगी। मैं पहले मरता, तो यशोदा सिर पर खाक उड़ाता हुआ मेरी मजार तक जरूर जाता।

युवक—अहल्या को भी लोग उठा ले गये। माताजी ने आपसे ..

ख्वाजा—क्या अहल्या! मेरी अहल्या को! कब?

युवक—आज ही। घर में आग लगाने से पहले।

ख्वाजा—कलामे मजीद की कसम, जब तक अहल्या का पता न लूँगा, मुझे दाना पानी हराम है। तुम लोग लाश ले जाओ, मैं अभी आता हूँ। सारे शहर की खाक छान डालूँगा, एक एक घर में जाकर देखूँगा; अगर किसी बेदीन बदमाश ने मार नहीं डाला है, तो जरूर खोज निकालूँगा। हाय मेरी बच्ची! उसे मैंने मेले में पाया था। खड़ी रो रही थी! कैसी भोली-भोली, प्यारी-प्यारी बच्ची थी! मैंने उसे छाती से लगा लिया था और लाकर भाभी की गोद मे डाल दिया था। कितनी बातमीज, बाशऊर, हसीन लड़की थी। तुम लोग लाश को ले जाओ, मैं शहर का चक्कर लगाता हुआ जमुना किनारे आऊँगा। भाभी से मेरी तरफ से अर्ज कर देना मुझसे मलाल न रखें। यशोदा नहीं हैं; लेकिन महमूद है। जब तक उसके दम में दम है, उन्हें कोई तकलीफ न होगी। कह देना, महमूद या तो अहल्या को खोज निकालेगा, या मुँह में कालिख लगाकर डूब मरेगा।

यह कहकर ख्वाजा साहब उठ खड़े हुए, लकड़ी उठायी और बाहर निकल गये।

२६

चक्रधर ने उस दिन लौटते ही पिता से आगरे जाने की अनुमति माँगी। मनोरमा ने उनके मर्मस्थल में जो आग लगा दी थी, वह आगरे ही में अहल्या के सरल, स्निग्ध स्नेह की शीतल छाया में शान्त हो सकती थी। उन्हें अपने ऊपर विश्वास न था। वह जिन्दगी-भर मनोरमा को देखा करते और मन में कोई बात न आती; लेकिन मनो-

रमा ने पुरानी स्मृतियों को जगाकर उनके अन्तस्तल में तृष्णा, उत्सुकता और लालसा को जाग्रत कर दिया था। इसलिए अब वह मन को ऐसी दृढ़ रस्सी से बाँधना चाहते थे कि वह हिल भी न सके। वह अहल्या की शरण लेना चाहते थे।

मुशीजी ने जरा त्योरी चढ़ाकर कहा—तुम्हारे सिर अब तक वह नशा सवार है? यों तुम्हारी इच्छा सैर करने की हो, रुपए-पैसे की तो कमी नहीं, लेकिन तुम्हें वादा करना पड़ेगा कि तुम मुशी यशोदानन्दन से न मिलोगे।

चक्रधर—मैं उनसे मिलने ही तो जा रहा हूँ।

वज्रधर—मैं कहे देता हूँ, अगर तुमने वहाँ शादी की बात-चीत की, तो बुरा होगा, तुम्हारे लिए भी और मेरे लिए भी।

चक्रधर और कुछ न बोल सके। आते-ही-आते माता-पिता को कैसे अप्रसन्न कर देते!

लेकिन जब होली के तीसरे दिन बाद उन्हें आगरे के उपद्रव, बाबू यशोदानन्दन की हत्या और अहल्या के अपहरण का शोक-समाचार मिला, तो उन्होंने व्यग्रता में आकर पिता को वह पत्र सुना दिया और बोले—मेरा वहाँ जाना बहुत जरूरी है।

वज्रधर ने निर्मला की ओर ताकते हुए कहा—क्या अभी जेल से जी नहीं भरा, जो फिर चलने की तैयारी करने लगे। वहाँ गये और पकड़े गये, इतना समझ लो। वहाँ इस वक्त अनीति का राज्य है, अपराध कोई न देखेगा। हथकड़ी पड़ जायगी। और फिर जाकर करोगे ही क्या। जो कुछ होना था, हो चुका, अब जाना व्यर्थ है।

चक्रधर—कम-से-कम अहल्या का पता तो लगाना ही होगा।

वज्रधर—यह भी व्यर्थ है। पहले तो उसका पता लगाना ही मुश्किल, और लग भी गया, तो तुम्हारा अब उससे क्या सम्बन्ध। जब वह वह मुसलमानों के साथ रह चुकी, तो कौन हिन्दू उसे पूछेगा?

चक्रधर—इसीलिए तो मेरा जाना और भी जरूरी है।

निर्मला—लड़की को मर्यादा की कुछ लाज होगी, तो वह अब तक जीती ही न होगी, अगर जीती है तो समझ लो कि भ्रष्ट हो गयी।

चक्रधर—अम्माँ, कभी कभी आप ऐसी बात कह देती हैं, जिस पर हँसी आती है! प्राण भय से बड़े बड़े शूर वीर भूमि पर मस्तक रगड़ते हैं, एक अबला की हस्ती ही क्या? भ्रष्ट वह होती है जो दुर्वासना से कोई कर्म करे। जो काम हम प्राण-भय से करें, वह हमें भ्रष्ट नहीं कर सकता।

वज्रधर—मैं तुम्हारा मतलब समझ रहा हूँ लेकिन तुम उसे चाहे सती समझो, हम उसे भ्रष्ट ही समझेंगे! ऐसी बहू के लिए हमारे घर में स्थान नहीं है।

चक्रधर ने निश्चयात्मक भाव से कहा—वह आपके घर में न आयेगी।

वज्रधर ने भी उतने ही निर्दय शब्द में उत्तर दिया—अगर तुम्हारा ख्याल हो कि पुत्र-स्नेह के वश होकर मै उसे अगीकार कर लूँगा, तो तुम्हारी भूल है। अहल्या मेरी कुल-देवी नहीं हो सकती, चाहे इसके लिए मुझे पुत्र वियोग ही सहना पड़े। मैं भी जिद्दी हूँ।

चक्रधर पीछे घूमे ही थे कि निर्मला ने उनका हाथ पकड़ लिया और स्नेहपूर्ण तिरस्कार करती हुई बोली—बच्चा, तुमसे ऐसी आशा न थी। अब भी हमारा कहना मानो, हमारे कुल के मुँह मे कालिख न लगाओ।

चक्रधर ने हाथ छुड़ाकर कहा—मैंने आपकी आज्ञा कभी भग नहीं की; लेकिन इस विषय मे मजबूर हूँ।

वज्रधर ने श्लेष के भाव से कहा—साफ-साफ क्यों नहीं कह देते कि हम आप लोगों से अलग रहना चाहते हैं।

चक्रधर—अगर आप लोगों की यही इच्छा है तो मैं क्या करूँ ?

वज्रधर—यह तुम्हारा अन्तिम निश्चय है ?

चक्रधर—जी हाँ, अन्तिम!

यह कहते हुए चक्रधर बाहर निकल आये और कुछ कपड़े साथ लेकर स्टेशन की ओर चल दिये।

थोड़ी देर के बाद निर्मला ने कहा—लल्लू किसी भ्रष्ट स्त्री को खुद ही न लायेगा। तुमने व्यर्थ उसे थिढ़ा दिया।

वज्रधर ने कठोर स्वर से कहा—अहल्या के भ्रष्ट होने से अभी कुछ कसर है ?

निर्मला—यह तो मैं नहीं जानती; पर इतना जानती हूँ कि लल्लू को अपने धर्म-अधर्म का ज्ञान है। वह कोई ऐसी बात न करेगा, जिसमें निन्दा हो।

वज्रधर—तुम्हारी बात समझ रहा हूँ। बेटे का प्यार खींच रहा हो, तो जाकर उसी के साथ रहो। मैं तुम्हें रोकना नहीं चाहता। मैं अकेले भी रह सकता हूँ।

निर्मला—तुम तो जैसे म्यान से तलवार निकाले बैठे हो। वह विमन होकर कहीं चला गया तो ?

वज्रधर—तो मेरा क्या बिगड़ेगा। मेरा लड़का मर जाय, तो भी गम न हो!

निर्मला—अच्छा, बस मुँह बन्द करो, बड़े धर्मात्मा बनकर आये हो। रिश्वतें ले-लेकर हड़पते हो, तो धर्म नहीं जाता; शराबें उड़ाते हो, तो मुँह में कालिख नहीं लगती; झूठ के पहाड़ खड़े करते हो, तो पाप नहीं लगता। लड़का एक अनाथिनी की रक्षा करने जाता है, तो नाक कटती है। तुमने कौन-सा कुकर्म नहीं किया ? अब देवता बनने चले हो।

निर्मला के मुख से मुंशीजी ने ऐसे कठोर शब्द कभी न सुने थे। वह तो शील, स्नेह और पतिभक्ति की मूर्ति थी, आज कोप और तिरस्कार का रूप धारण किये हुए थी। उनकी शासक-वृत्तियाँ उत्तेजित हो गयीं। डाँटकर बोले—सुनो जी, मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ। बातें तो नहीं सुनीं मैंने अपने अफसरों की, जो मेरे भाग्य के विधाता थे। तुम किस खेत की मूली हो। जबान तालू से खींच लूँगा, समझ गयीं ? समझती हो न कि बेटा जवान हुआ। अब इस बुड्ढे की क्यों परवा करने लगीं। तो जाकर उसी भ्रष्टा के साथ रहो। इस घर में तुम्हारी जरूरत नहीं।

यह कहकर मुंशीजी बाहर चले गये और सितार पर एक गत छेड़ दी।

चक्रधर आगरे पहुँचे तो सवेरा हो गया था। प्रभात के रक्तरंजित मर्मस्थल में सूर्य यों मुँह छिपाये बैठे थे, जैसे शोकमण्डित नेत्र में अश्रु-बिन्दु। चक्रधर का हृदय भाँति-भाँति की दुर्भावनाओं से पीड़ित हो रहा था। एक क्षण तक वह खड़े सोचते रहे, कहाँ जाऊँ? बाबू यशोदानन्दन के घर जाना व्यर्थ था। अन्त को उन्होंने ख्वाजा महमूद के घर चलना निश्चय किया। ख्वाजा साहब पर अब भी उनकी असीम श्रद्धा थी। ताँगे पर बैठकर चले, तो शहर में सैनिक चक्कर लगाते दिखायी दिये। दूकानें सब बन्द थीं।

ख्वाजा साहब के द्वार पर पहुँचे, तो देखा कि हजारों आदमी एक लाश को घेरे खड़े हैं और उसे कब्रिस्तान ले चलने की तैयारियाँ हो रही हैं। चक्रधर तुरत ताँगे से उतर पड़े और लाश के पास जाकर खड़े हो गये। कहीं ख्वाजा साहब तो नहीं कत्ल कर दिये गये। वह किसी से पूछने ही जाते थे कि सहसा ख्वाजा साहब ने आकर उनका हाथ पकड़ लिया और आँखों में आँसू भरकर बोले—खूब आये बेटा, तुम्हें आँखें ढूँढ रही थीं। अभी-अभी तुम्हारा ही जिक्र था, खुदा तुम्हारी उम्र दराज करे। मातम के बाद खुशी का दौरा आयेगा। जानते हो, यह किसकी लाश है? यह मेरी आँखों का नूर, मेरे दिल का सुरूर, मेरा लख्तेजिगर, मेरा इकलौता बेटा है, जिस पर जिन्दगी की सारी उम्मीदें कायम थीं। अब तुम्हें उसकी सूरत याद आ गयी होगी। कितना खुशरू जवान था, कितना दिलेर! लेकिन खुदा जानता है, उसकी मौत पर मेरी आँखों से एक बूँद आँसू भी न निकला। तुम्हें हैरत हो रही होगी, मगर मैं बिलकुल सच कह रहा हूँ। एक घण्टा पहले तक मैं उस पर निसार होता था। अब उसके नाम से नफरत हो रही है। उसने वह फेल किया, जो इन्सानियत के दरजे से गिरा हुआ था। तुम्हें अहल्या के बारे में तो खबर मिली होगी?

चक्रधर—जी हाँ, शायद बदमाश लोग पकड़ ले गये।

ख्वाजा—यह वही बदमाश है, जिसकी लाश तुम्हारे सामने पड़ी हुई है। वह इसी की हरकत थी। मैं तो सारे शहर में अहल्या को तलाश करता फिरता था, और वह मेरे ही घर में कैद थी। यह जालिम उस पर जब्र करना चाहता था। जरूर किसी ऊँचे खानदान की लड़की है। काश इस मुल्क में ऐसी और लड़कियाँ होतीं! आज उसने मौका पाकर इसे जहन्नुम का रास्ता दिखा दिया—छुरी सीने में भोंक दी। जालिम तड़प-तड़पकर मर गया। कम्बख्त जानता था कि अहल्या मेरी लड़की है। फिर भी अपनी हरकत से बाज न आया। ऐसे लड़के की मौत पर कौन बाप रोयेगा? तुम बड़े खुशनसीब हो, जो ऐसी पारसा बीबी पाओगे।

चक्रधर—मुझे यह सुनकर बहुत अफसोस हुआ। मुझे आपके साथ कामिल हम-ी है, आपका-सा इन्साफ-परवर, हकपरस्त आदमी इस वक्त दुनिया में न होगा। ⁼९५। अब कहाँ है?

ख्वाजा--इसी घर में। सुबह से कई बार कह चुका हूँ कि चल तुझे तेरे घर पहुँचा आऊँ, जाती ही नहीं। बस, बैठी रो रही है।

चक्रधर का हृदय भय से काँप उठा। अहल्या पर अवश्य ही हत्या का अभियोग चलाया जायगा और न-जाने क्या फैसला हो। चिन्तित स्वर से पूछा—अहल्या पर तो अदालत में .

ख्वाजा—हरगिज नहीं। उसने हर एक लड़की के लिए नमूना पेश कर दिया। खुदा और रसूल दोनों उसे दुआ दे रहे हैं। फरिश्ते उसके कदमों का बोसा ले रहे हैं। उसने खून नहीं किया, कत्ल नहीं किया, अपनी असमत की हिफाजत की, जो उसका फर्ज था। यह खुदाई कहर था, जो छुरी बनकर इसके सीने में चुभा। मुझे जरा भी मलाल नहीं है। खुदा की मरजी में इन्सान को क्या दखल ?

लाश उठायी गयी। शोक समाज पीछे-पीछे चला। चक्रधर भी ख्वाजा साहब के साथ कब्रिस्तान तक गये। रास्ते में किसी ने बातचीत न की। जिस वक्त लाश कब्र में उतारी गयी, ख्वाजा साहब रो पड़े। हाथों से मिट्टी दे रहे थे और आँखों से आँसू की बूँदें मरनेवाले की लाश पर गिर रही थीं। यह क्षमा के आँसू थे। पिता ने पुत्र को क्षमा कर दिया था। चक्रधर भी आँसुओं को न रोक सके। आह! इस देवता-स्वरूप मनुष्य पर इतनी घोर विपत्ति!

दोपहर होते-होते लोग घर लौटे। ख्वाजा साहब जरा दम लेकर बोले—आओ बेटा, तुम्हें अहल्या के पास ले चलूँ। उसे जरा तस्कीन दो, मैंने जिस दिन से उसे भाभी को सौंपा, यह अहद किया था कि इसकी शादी मैं करूँगा। मुझे मौका दो कि अपना अहद पूरा करूँ।

यह कहकर ख्वाजा साहब ने चक्रधर का हाथ पकड़ लिया और अन्दर चले। चक्रधर का हृदय बाँसों उछल रहा था। अहल्या के दर्शनों के लिए वह इतने उत्सुक कभी न थे। उन्हें ऐसा अनुमान हो रहा था कि अब उसके मुख पर माधुर्य की जगह तेजस्विता का आभास होगा, कोमल नेत्र कठोर हो गये होंगे, मगर जब उस पर निगाह पड़ी, तो देखा—वही सरल, मधुर छवि थी, वही करुण-कोमल नेत्र, वही शीतल-मधुर वाणी। वह एक खिड़की के सामने खड़ी बगीचे की ओर ताक रही थी। सहसा चक्रधर को देखकर वह चौंक पड़ी और घूँघट में मुँह छिपा लिया। फिर एक ही क्षण के बाद वह उनके पैरों को पकड़कर अश्रुधारों से धोने लगी। उन चरणों पर सिर रखे हुए स्वर्गीय सान्त्वना, एक दैवी शक्ति, एक धैर्य-मय तृप्ति का अनुभव हो रहा था।

चक्रधर ने कहा—अहल्या, तुमने जिस वीरता से आत्मरक्षा की, उसके लिए तुम्हें बधाई देता हूँ। तुमने वीर क्षत्राणियों की कीर्ति को उज्ज्वल कर दिया। दुःख है, तो इतना ही कि ख्वाजा साहब का सर्वनाश हो गया।

अहल्या ने उत्तर न दिया। चक्रधर के चरणों पर सिर झुकाये बैठी रही। चक्रधर फिर बोले—मुझे लज्जित न करो, अहल्या! मुझे तुम्हारे चरणों पर सिर झुकाना चाहिए,

तुम बिलकुल उल्टी बात कर रही हो। कहाँ है वह छुरी, जरा उसके दर्शन तो कर लूँ।

अहल्या ने उठकर काँपते हुए हाथों से फर्श का कोना उठाया और नीचे से छुरी निकालकर चक्रधर के सामने रख दी। उस पर रुधिर जमकर काला हो गया था।

चक्रधर ने पूछा—यह छुरी यहाँ कैसे मिल गयी, अहल्या? क्या साथ लेती आयी थीं?

अहल्या ने सिर झुकाये हुए जवाब दिया—उसी की है।

चक्रधर—तुम्हें कैसे मिल गयी?

अहल्या ने सिर झुकाये ही जवाब दिया—यह न पूछिए। अबला के पास कौशल के सिवाय आत्मरक्षा का और कौन सा साधन है?

चक्रधर—यही तो सुनना चाहता हूँ, अहल्या!

अहल्या ने सिर उठाकर चक्रधर की ओर मानपूर्ण नेत्रों से देखा और बोली—सुनकर क्या कीजियेगा?

चक्रधर—कुछ नहीं, योंही पूछ रहा था।

अहल्या—नहीं, आप योंही नहीं पूछ रहे हैं, आपका इसमें कोई प्रयोजन अवश्य है। अगर भ्रम है, तो मेरी अग्नि-परीक्षा ले लीजिए।

चक्रधर ने देखा, बात बिगड़ रही है। इस एक असामयिक प्रश्न ने इसके हृदय के टूटे हुए तार को चोट पहुँचा दी। वह समझ रही है, मैं इस पर सन्देह कर रहा हूँ। सम्भावना की कल्पना ने इसे सशक बना दिया है! बोले—तुम्हारी अग्नि-परीक्षा तो हो चुकी अहल्या, और तुम उसमें खरी निकलीं। अब भी अगर किसी के मन में सन्देह हो, तो यही कहना चाहिए कि वह अपनी बुद्धि खो बैठा है। तुम नवकुसुमित पुष्प की भाँति स्वच्छ, निर्मल और पवित्र हो, तुम पहाड़ की चोटी पर जमी हुई हिम की भाँति उज्ज्वल हो। मेरे मन में सन्देह का लेश भी होता, तो मुझे यहाँ खड़ा न देखतीं! वह प्रेम और अखण्ड विश्वास, जो अब तक मेरे मन में था, कल प्रत्यक्ष हो जायगा। अहल्या, मैं कब का तुम्हें अपने हृदय में बिठा चुका। वहाँ तुम सुरक्षित बैठी हुई हो, सन्देह और कलक का घातक हाथ वहाँ उसी वक्त पहुँचेगा, जब (छाती पर हाथ रखकर) यह अस्थि-दुर्ग विध्वंस हो जायगा। चलो, चलें। माताजी घबरा रही होंगी।

यह कहकर उन्होंने अहल्या का हाथ पकड़ लिया और चाहा कि हृदय से लगा लें, लेकिन वह हाथ छुड़ाकर हट गयी और काँपते हुए स्वर में बोली—नहीं नहीं, मेरे अग जो मत स्पर्श कीजिए। सूँघा हुआ फूल देवताओं पर नहीं चढाया जाता। मेरी आत्मा निष्कलक है, लेकिन मैं अब वहाँ न जाऊँगी, कहीं न जाऊँगी। आपकी सेवा करना मेरे भाग्य में न था, मैं जन्म से अभागिनी हूँ, आप जाकर अम्मा को समझा दीजिये। मेरे लिए अब दु ख न करें। मैं निर्दोष हूँ, लेकिन इस योग्य नहीं कि आपकी प्रेमपात्री बन सकूँ।

चक्रधर से अब न रहा गया। उन्होंने फिर अहल्या का हाथ पकड़ लिया और जबरदस्ती छाती से लगाकर बोले—अहल्या जिस देह में पवित्र और निष्कलक आत्मा

रहती है, वह देह भी पवित्र और निष्कलंक रहती है। मेरी आँखों में तुम आज उससे कहीं निर्मल और पवित्र हो, जितनी पहले थीं। तुम्हारी अग्नि परीक्षा हो चुकी है। अब विलम्ब न करो। ईश्वर ने चाहा, तो कल हम उस प्रेम सूत्र में बँध जायँगे जिसे काल भी नहीं तोड़ सकता, जो अमर और अभेद्य है।

अहल्या कई मिनट तक चक्रधर के कन्धे पर सिर रखे रोती रही। फिर बोली—एक बात पूछना चाहती हूँ, बताओगे? सच्चे दिल से कहना?

चक्रधर—क्या पूछती हो, पूछो?

अहल्या—तुम केवल दया-भाव से और मेरा उद्धार करने के लिए यह कालिमा सिर चढ़ा रहे हो, या प्रेम भाव से?

यह प्रश्न से स्वयं लज्जित होकर उसने फिर कहा—बात बेढगी-सी है; लेकिन मैं मूर्ख हूँ, क्षमा करना, यह शंका मुझे बार-बार होती है। पहले भी हुई थी और आज और भी बढ़ गयी है।

चक्रधर का दिल बैठ गया। अहल्या की सरलता पर उन्हें दया आ गयी। यह अपने को ऐसी अभागिनी और दीन समझ रही है कि इसे विश्वास ही नहीं आता, मैं इससे शुद्ध प्रेम कर रहा हूँ। बोले—तुम्हें क्या जान पड़ता है अहल्या?

अहल्या—मैं जानती, तो आपसे क्यों पूछती?

चक्रधर—अहल्या, तुम इन बातों से मुझे धोखा नहीं दे सकतीं। चील को चाहे मांस की बोटी न दिखायी दे, चिउँटी को चाहे शक्कर की सुगन्ध न मिले; लेकिन रमणी का एक-एक रोयाँ पञ्चेन्द्रियों की भाँति प्रेम के रूप, रस, शब्द, स्पर्श का अनुभव किये बिना नहीं रहता। मैं एक गरीब आदमी हूँ। दया और धर्म और उद्धार के भावों का मुझसे लेश भी नहीं। केवल इतना ही कह सकता हूँ कि तुम्हें पाकर मेरा जीवन सफल हो जायगा।

अहल्या ने मुसकराकर कहा—तो आपके कथन के अनुसार मैं आपके हृदय का हाल जानती हूँ।

चक्रधर—अवश्य, उससे ज्यादा, जितना मैं स्वयं जानता हूँ।

अहल्या—तो साफ कह दूँ?

चक्रधर ने कातर भाव से कहा—कहो, सुनूँ।

अहल्या—तुम्हारे मन में प्रेम से अधिक दया का भाव है।

चक्रधर—अहल्या, तुम मुझ पर अन्याय कर रही हो।

अहल्या—जिस वस्तु को लेने की सामर्थ्य ही मुझमें नहीं है, उस पर हाथ न बढाऊँगी। मेरे लिए वही बहुत है, जो आप दे रहे हैं। मैं इसे भी अपना धन्य भाग समझती हूँ।

चक्रधर—अगर यही प्रश्न मैं तुमसे करता, तो तुम क्या जवाब देतीं, अहल्या?

अहल्या—तो साफ साफ कह देती कि मैं प्रेम से अधिक आपका आदर करती हूँ,

आपमें श्रद्धा रखती हूँ।

चक्रधर का मुख मलिन हो गया। सारा प्रेमोत्साह, जो उनके हृदय मे लहरें मार रहा था, एकाएक लुप्त हो गया। वन वृक्षों सा लहलहाता हुआ हृदय मरु-भूमि सा दिखायी दिया। निराश भाव से बोले--मै तो और ही सोच रहा था, अहल्या!

अहल्या--तो आप भूल कर रहे थे। मैंने किसी पुस्तक में देखा था कि प्रेम हृदय के समस्त सद्भावों का शान्त, स्थिर, उद्गारहीन समावेश है। उसमें दया और क्षमा, श्रद्धा और वात्सल्य, सहानुभूति और सम्मान, अनुराग और विराग, अनुग्रह और उपकार सभी मिले होते हैं। सम्भव है, आज के दस वर्ष बाद मैं आपकी प्रेम पात्री बन जाऊँ, किन्तु इतनी जल्द सम्भव नहीं। इनमें से कोई एक भाव प्रेम को अकुरित कर सकता है, उसका विकास अन्य भावों के मिलने ही से होता है। आपके हृदय में अभी केवल दया का भाव अकुरित हुआ है, मेरे हृदय में सम्मान और भक्ति का। हाँ, सम्मान और भक्ति दया की अपेक्षा प्रेम से कहीं निकटतर है, बल्कि यों कहिए कि ये ही भाव सरस होकर प्रेम का बाल रूप धारण कर लेते हैं।

अहल्या के मुख से प्रेम की यह दार्शनिक व्याख्या सुनकर चक्रधर दग हो गये। उन्होंने कभी यह अनुमान ही न किया था कि उसके विचार इतने उन्नत और उदार हैं। उन्हें यह सोचकर आनन्द हुआ कि इसके साथ जीवन कितना सुखमय हो जायगा, किन्तु अहल्या का हाथ उनके हाथ से आप ही आप छूट गया, और उन्हें उसकी ओर ताकने का साहस न हुआ। इसके प्रेम का आदर्श कितना ऊँचा है! इसकी दृष्टि में यह व्यवहार वासनामय जान पड़ता होगा। इस विचार ने उनके प्रेमोद्गारों का शिथिल कर दिया। अवाक् से खड़े रह गये।

सहसा अहल्या ने कहा--मुझे भय है कि मुझे आश्रय देकर आप बदनाम हो जायँगे। कदाचित आपके माता-पिता आपका तिरस्कार करें। मेरे लिए इससे बड़ी सौभाग्य की बात नहीं हो सकती कि आपकी दासी बनूँ, लेकिन आपके तिरस्कार और अपमान का ख्याल करके जी में यही आता है कि क्यों न इस जीवन का अन्त कर दूँ। केवल आपके दर्शनों की अभिलाषा ने मुझे अब तक जीवित रखा है। मैं आपको अपनी कालिमा से कलुषित करने के पहले मर जाना ही अच्छा समझती हूँ।

चक्रधर की आँखें करुणार्द्र हो गयीं। बोले--अहल्या, ऐसी बातें न करो। अगर ससार में अब भी कोई ऐसा क्षुद्र प्राणी है, जो तुम्हारी उज्ज्वल कीर्ति के सामने सिर न झुकाये, तो वह स्वय नीच है। वह मेरा अपमान नहीं कर सकता। अपनी आत्मा की अनुमति के सामने मैं माता पिता के विरोध की परवा नहीं करता। तुम इन बातों को भूल जाओ। हम और तुम प्रेम का आनन्द भोग करते हुए ससार के सब कष्टों और सकटों का सामना कर सकते हैं। ऐसी कोई विपत्ति नहीं है, जिसे प्रेम न टाल सके। मै तुमसे विनती करता हूँ, अहल्या, कि ये बातें फिर जबान पर न लाना।

अहल्या ने अबकी स्नेह-सजल नेत्रों से चक्रधर को देखा। शका की वह दाह, जो

उसके मर्मस्थल को जलाये डालती थी, इन शीतल आर्द्र शब्दों से शान्त हो गयी। शंका की ज्वाला शान्त होते ही उसकी दाह-चञ्चल दृष्टि स्थिर हो गयी और चक्रधर की सौम्य मूर्ति, प्रेम की आभा से प्रकाशमान, आँखों के सामने खड़ी दिखायी दी। उसने अपना सिर उनके कन्धे पर रख दिया, उस आलिंगन में उसकी सारी दुर्भावनाएँ विलीन हो गयीं, जैसे कोई आर्त्त-ध्वनि सरिता के शान्त, मन्द प्रवाह में विलीन हो जाती है।

सन्ध्या-समय अहल्या वागीश्वरी के चरणों पर सिर झुकाये रो रही थी और चक्रधर खड़े, नेत्रों से उस घर को देख रहे थे, जिसकी आत्मा निकल गयी थी। दीपक वही थे; पर उनका प्रकाश मन्द था। घर वही था; पर उसकी दीवारें नीची मालूम होती थीं। वागीश्वरी वही थीं; पर लुटी हुई, जैसे किसी ने प्राण हर लिये हों।

२३

बाबू यशोदानन्दन का क्रिया-कर्म हो गया, पर धूम धाम से नहीं। बाबू साहब ने मरते मरते ताकीद कर दी थी कि मृतक-संस्कारों में धन का अपव्यय न किया जाय। यदि कुछ धन जमा हो, तो वह हिन्दू-सभा को दान दे दिया जाय। ऐसा ही किया गया।

इसके तीसरे ही दिन चक्रधर का अहल्या से विवाह हो गया। चक्रधर तो अभी कुछ दिन और टालना चाहते थे; लेकिन वागीश्वरी ने बड़ा आग्रह किया। पति-रक्षा से वंचित होकर वह परायी कन्या की रक्षा का भार लेते हुए डरती थी। इस उपद्रव ने उसे सशंक कर दिया था। विवाह मे कुछ धूमधाम नहीं हुई। हाँ, शहर के कई रईसों ने कन्या-दान मे बड़ी-बड़ी रकमें दीं और सबमे बड़ी रकम ख्वाजा साहब की थी। अहल्या के विवाह के लिए उन्होंने ५०००) अलग कर रखे थे। यह सब कन्या दान मे दे दिये। कई संस्थाओं ने भी इस पुण्य कार्य में अपनी उदारता का परिचय दिया। वैमनस्य का भूत नेताओं का बलिदान पाकर शान्त हो गया।

जिस दिन चक्रधर अहल्या को विदा कराके काशी चले, हजारों आदमी स्टेशन पर पहुँचाने आये। वागीश्वरी का रोते रोते बुरा हाल था। जब अहल्या आकर पालकी पर बैठी, तो वह दुखिया पछाड़ खाकर गिर पड़ी। संसार उसकी आँखों मे सूना हो गया। पति-शोक में भी उसके जीवन का एक आधार रह गया था। अहल्या के जाने से वह सर्वथा निराधार हो गयी। जी मे आता था, अहल्या को पकड़ लूँ। उसे कोई क्यों लिये जाता है? उसपर किसका अधिकार है, वह जाती ही क्यों है? उसे मुझपर जरा भी दया नहीं आती? क्या वह इतनी निष्ठुर हो गयी है? वह इस शोक के आवेश मे लपककर द्वार पर आयी; पर पालकी का पता नहीं था। तब वह द्वार पर बैठ गयी। ऐसा जान पड़ा, मानो चारों ओर शून्य, निस्तब्ध, अन्धकारमय श्मशान है। मानो कहीं कुछ रहा ही नहीं।

अहल्या भी रो रही थी; लेकिन शोक से नहीं, वियोग से। वह घर छोड़ते हुए उसका हृदय फटा जाता था। प्राण देह से निकलकर घर से चिमट जाते और फिर छोड़ने का नाम न लेते थे। एक एक वस्तु को देखकर मधुर स्मृतियों के समूह आँखों के सामने आ खड़े होते थे। वागीश्वरी की गर्दन में तो उसके करपाश इतने सुदृढ़ हो

गये कि दूसरी स्त्रियों ने बड़ी मुश्किल से छुड़ाया, मानो जीव देह से चिमटा हो। मरणासन्न रोगी भी अपनी विलास की सामग्रियों को इतने तृषित, इतने नैराश्यपूर्ण नेत्रों से न देखता होगा। घर से निकलकर उसकी वही दशा हो रही थी, जो किसी नवजात पक्षी की घोंसले से निकलकर होती है।

लेकिन चक्रधर के सामने एक दूसरी ही समस्या उपस्थित हो रही थी। वह घर तो जा रहे थे, पर उस घर के द्वार बन्द थे, उस द्वार में हृदय की गाँठ से भी सुदृढ ताले पड़े हुए थे, जिसके खुलने की तो क्या, टूटने की भी आशा न थी। नव-वधू को लिए हुए वर के हृदय में जो अभिलाषाएँ, जो मृदु-कल्पनाएँ प्रदीप्त होती हैं, उनका यहाँ नाम भी न था। उनकी जगह चिन्ताओं का अन्धकार छाया हुआ था। घर जाते थे, पर नहीं जानते थे कि कहाँ जा रहा हूँ। पिता का क्रोध, माता का तिरस्कार, सम्बन्धियों की अवहेलना, इन सभी शकाओं से चित्त उद्विग्न हो रहा था। सबसे विकट समस्या यह थी कि गाड़ी से उतरकर जाऊँगा कहाँ। मित्रों की कमी न थी, लेकिन स्त्री को लिये हुए किसी मित्र के घर जाने के खयाल ही से लज्जा आती थी। अपनी तो चिन्ता न थी। वह इन सभी बाधाओं को सह सकते थे, लेकिन अहल्या उनको कैसे सहन करेगी? उसका कोमल हृदय इन आघातों से टूट न जायगा! उन्होंने सोचा—मैं घर जाऊँ ही क्यों? क्यों न प्रयाग ही उतर पड़ूँ और कोई मकान लेकर सबसे अलग रहूँ? कुछ दिनों के बाद यदि घरवालों का क्रोध शान्त हो गया, तो चला जाऊँगा, नहीं प्रयाग ही सही। बेचारी अहल्या जिस वक्त गाड़ी से उतरेगी और मेरे साथ शहर की गलियों में मकान ढूँढती फिरेगी, उस वक्त उसे कितना दुःख होगा। इन चिन्ताओं से उनकी मुख मुद्रा इतनी मलिन हो गयी कि अहल्या ने उनसे कुछ कहने के लिए उनकी ओर देखा तो चौंक पड़ी। उसकी वियोग-व्यथा अब शान्त हो गयी थी और हृदय में उल्लास का प्रवाह होने लगा था, लेकिन पति की उदास मुद्रा देखकर वह घबड़ा गयी—बोली आप इतने उदास क्यों हैं? क्या अभी से मेरी फिक्र सवार हो गयी?

चक्रधर ने झेंपते हुए कहा—नहीं तो, उदास क्यों होने लगा? यह उदास होने का समय है, या आनन्द मनाने का?

अहल्या—यह तो आप अपने मुख से पूछें, जो उदास हो रहा है।

चक्रधर ने हँसने की विफल चेष्टा करके कहा—यह तुम्हारा भ्रम है। मैं तो इतना खुश हूँ कि डरता हूँ, लोग मुझे ओछा न समझने लगें।

मगर चक्रधर जितना ही अपनी चिन्ता को छिपाने का प्रयत्न करते, उतना ही वह और भी प्रत्यक्ष होती जाती थी, जैसे दरिद्र अपनी साख बनाये रखने की चेष्टा में और भी दरिद्र हो जाता है।

अहल्या ने गम्भीर भाव से कहा—तुम्हारी इच्छा है, न बताओ, लेकिन यही इसका आशय है कि तुम्हें मुझपर विश्वास नहीं।

यह कहते-कहते अहल्या की आँखें सजल हो गयीं। चक्रधर से अब जब्त न हो

सका। उन्होंने सन्क्षेप में सारी बातें कह सुनायीं और अन्त मे प्रयाग उतर जाने का प्रस्ताव किया।

अहल्या ने गर्व से कहा—अपना घर रहते प्रयाग क्यों उतरें? मैं घर चलूँगी। माता-पिता की अप्रसन्नता के भय से कोई अपना घर नहीं छोड़ देता। वे कितने ही नाराज हों, हैं तो हमारे माता-पिता! हम लोगों ने कितना ही अनुचित किया हो, हैं तो उन्हीं के बालक। इस नाते को कौन तोड़ सकता है? आप इन चिन्ताओं को दिल से निकाल डालिए।

चक्रधर—निकालना तो चाहता हूँ। पर नहीं निकलती। बाबूजी यों तो आदर्श पिता हैं; लेकिन उनके सामाजिक विचार इतने संकीर्ण हैं कि उनमें धर्म का स्थान भी नहीं। मुझे भय है कि वह मुझे घर में जाने ही न देंगे। इसमे हरज ही क्या है कि हम लोग प्रयाग उतर पड़ें और जब तक घर के लोग हमारा स्वागत करने को तैयार न हों, यहीं पड़े रहें।

अहल्या—आपको कोई हरज न मालूम होता हो, मुझे तो माता-पिता से अलग स्वर्ग में रहना भी अच्छा न लगेगा। आखिर उनकी सेवा करने का और कौन अवसर मिलेगा? वे कितना ही रूठें, हमारा यही धर्म है कि उनका दामन न छोड़ें। बचपन में अपने स्वार्थ के लिए तो हम कभी माता-पिता की अप्रसन्नता की परवाह नहीं करते; मचल-मचलकर उनकी गोद में बैठते हैं, मार खाते हैं, घुड़के जाते हैं, पर उनका गला नहीं छोड़ते; तो अब उनकी सेवा करने के समय उनकी अप्रसन्नता से मुँह फुला लेना हमें शोभा नहीं देता। आप उनको प्रसन्न करने का भार मुझपर छोड़ दें, मुझे विश्वास है कि उन्हें मना लूँगी।

चक्रधर ने अहल्या को गद्‌गद नेत्रों से देखा और चुप हो रहे।

रात को दस बजते बजते गाड़ी बनारस पहुँची। अहल्या के आश्वासन देने पर भी चक्रधर बहुत चिन्तित हो रहे थे कि कैसे क्या होगा। कहीं पिताजी ने जाते-ही जाते घुड़कियाँ देनी शुरू कीं, और अहल्या को घर मे न जाने दिया, तो डूब मरने की बात होगी। लेकिन उन्हें कितना आश्चर्य हुआ, जब उन्होंने मुंशीजी को दो आदमियों के साथ स्टेशन पर उनकी राह देखते हुए पाया। पिता के इस असीम, अपार, अलौकिक वात्सल्य ने उन्हें इतना पुलकित किया कि वह जाकर पिता के पैरों पर गिर पड़े। मुंशीजी ने दौड़कर छाती से लगा लिया और उनके श्रद्धाश्रुओं को रूमाल से पोंछते हुए स्नेह-कोमल शब्दों में बोले—कम-से-कम एक तार तो दे देते कि मैं किस गाड़ी से आ रहा हूँ। खत तक न लिखा। यहाँ बराबर दस दिन से दो बार स्टेशन पर दौड़ा आता हूँ और एक आदमी हरदम तुम्हारे इन्तजार में बिठाये रहता हूँ कि न-जाने कब, किस गाड़ी से आ जाओ। कहाँ है बहू? चलो, उतार लायें। बहू के साथ यहीं ठहरो। स्टेशन-मास्टर से कहकर वेटिंग-रूम खुलवाये देता हूँ। मैं दौड़कर जरा बाजे गाजे, रोशनी सवारी की फिक्र करूँ। बहू का स्वागत तो करना ही होगा। यहाँ लोग क्या जानेंगे कि

बहू आयी है। वहाँ की बात और थी, यहाँ की बात और है। भाई-बन्दों के साथ रस्मरिवाज मानना ही पड़ता है।

यह कहकर मुंशीजी चक्रधर के साथ अहल्या की गाड़ी के द्वार पर खड़े हो गये। अहल्या ने धीरे से उतरकर उनके चरणों पर सिर रख दिया। उसकी आँखों से श्रद्धा और आनन्द के आँसू बहने लगे। मुंशीजी ने उसके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया और दोनों प्राणियों को वेटिंग-रूम में बैठाकर बोले—किसी को अन्दर मत आने देना। मैंने साहब से कह दिया है। मैं कोई घण्टे-भर में आऊँगा। तुमसे बड़ी भूल हुई कि मुझे एक तार न दे दिया। अब बेचारी यहाँ परदेशियों की तरह घण्टों बैठी रहेगी। तुम्हारा कोई काम लड़कपन से खाली ही नहीं होता। रानी कई बार आ चुकी हैं। आज चलते-चलते ताकीद कर गयी थीं कि बाबूजी आ जायँ, तो मुझे खबर दीजिएगा। मैं स्टेशन पर उनका स्वागत करूँगी और बाबूजी को साथ लाऊँगी। सोचो, उन्हें कितनी तकलीफ होगी।

चक्रधर ने दबी जबान से कहा—उन्हें तो आप इस वक्त तकलीफ न दीजिए, और आपको भी धूम धाम करने के लिए तकलीफ उठाने की जरूरत नहीं। सवेरे तो सबको मालूम हो ही जायगा।

मुंशीजी ने लकड़ी सँभालते हुए कहा—सुनती हो बहूजी, इनकी बातें? सवेरे लोग जानकर क्या करेंगे? दुनिया क्या जानेगी कि बहू कब आयी?

मुंशीजी चले गये, तो अहल्या ने चक्रधर को आड़े-हाथों लिया। ऐसे देवता-पुरुष के साथ तुम अकारण ही कितना अनर्थ कर रहे थे। मेरा तो जी चाहता था कि घण्टों उनके चरणों पर पड़ी हुई रोया करूँ।

चक्रधर लज्जित हो गये। इसका प्रतिवाद तो न किया, पर उनका मन कह रहा था कि इस वक्त दुनिया को दिखाने के लिए पिताजी कितना ही धूम-धाम क्यों न कर लें, घर में कोई-न-कोई गुल खिलेगा जरूर। उन्हें यहाँ बैठते अनकुस मालूम होता था। सारी रात का बखेड़ा हो गया। शहर का चक्कर लगाना पड़ेगा, घर पहुँचकर न-जाने कितनी रस्में अदा करनी पड़ेंगी, तब जाके कहीं गला छूटेगा। सबसे ज्यादा उलझन की बात यह थी कि कहीं मनोरमा भी राजसी ठाठ-बाट से न आ पहुँचे। इस शोरगुल से फायदा ही क्या?

मुंशीजी को गये अभी आधा घण्टा भी न हुआ था कि मनोरमा कमरे के द्वार पर आकर खड़ी दिखायी दी। चक्रधर सहसा चौंक पड़े और कुरसी से उठकर खड़े हो गये। मनोरमा के सामने ताकने की उनकी हिम्मत न पड़ी, मानो कोई अपराध किया हो। मनोरमा ने उन्हें देखते ही कहा—वाह बाबूजी, आप चुपके-चुपके बहू को उड़ा लाये और मुझे खबर तक न दी! मुंशीजी न कहते, तो मुझे मालूम ही न होता। आपने तो अपना घर बसाया, मेरे लिए भी कोई सौगात लाये?

चक्रधर ने मनोरमा की ओर लज्जित होकर देखा, तो उसका मुख उड़ा हुआ था।

वह मुसकरा रही थी, पर आँखों में आँसू झलक रहे थे। इन नेत्रों में कितनी विनय थी, कितना नैराश्य, कितनी तृष्णा, कितना तिरस्कार! चक्रधर को उसका जवाब देने को शब्द न मिले? मनोरमा ने सिर झुकाकर फिर कहा—आपको मेरी सुधि ही न रही होगी, सौगात कौन लाता? बहू से बातें करने में दूसरों की सुधि क्यों आती! बहन, आप उतनी दूर क्यों खड़ी हैं? आइए, आइए, आपसे गले तो मिल लूँ। आपसे तो मुझे कोई शिकायत नहीं।

यह कहकर वह अहल्या के पास गयी और दोनों गले मिलीं। मनोरमा ने रूमाल से एक जड़ाऊ कंगन निकालकर अहल्या के हाथ में पहना दिया और छत की ओर ताकने लगी, जैसे एकाएक कोई बात याद आ गयी हो; सहसा उसकी दृष्टि आईने पर जा पड़ी। अहल्या का रूप-चन्द्र अपनी सम्पूर्ण कलाओं के साथ उसमें प्रतिबिम्बित हो रहा था। मनोरमा उसे देखकर अवाक् हो गयी। मालूम हो रहा था, किसी देवता का आशीर्वाद मूर्तिमान होकर आकाश से उतर आया है। उसकी सरल, शान्त, शीतल छवि के सामने उसका विशाल सौन्दर्य ऐसा मालूम होता था, मानो कुटी के सामने कोई भवन खड़ा हो। यह उन्नत भवन इस समय इस शान्ति कुटी के सामने झुक गया। भवन सूना था, कुटी में एक आत्मा शयन कर रही थी।

इतने में अहल्या ने उसे कुरसी पर बिठा दिया और पान-इलायची देते हुए बोली—आपको मेरे कारण बड़ी तकलीफ हुई। यह आपके आराम करने का समय था। मैं जानती कि आप आयेंगी, तो यहाँ किसी दूसरे वक्त...

चक्रधर मौका देखकर बाहर चले गये थे। उनके रहने से दोनों ही को संकोच होता; बल्कि तीनों चुप रहते।

मनोरमा ने क्षुधित नेत्रों से अहल्या को देखकर कहा—नहीं बहन, मुझे जरा भी तकलीफ नहीं हुई। मैं तो यों भी बारह-एक के पहले नहीं सोती। तुमसे मिलने की बहुत दिनों से इच्छा थी। मैंने अपने मन में तुम्हारी जो कल्पना की थी, तुम ठीक वैसी ही निकलीं। तुम ऐसी न होतीं, तो बाबूजी तुमपर रीझते ही क्यों? अहल्या, तुम बड़ी भाग्यवान् हो। तुम्हारी-जैसी भाग्यशाली स्त्रियाँ बहुत कम होंगी। तुम्हारा पति मनुष्यों में रत्न है, सर्वथा निर्दोष एवम् सर्वथा निष्कलंक।

अहल्या पति-प्रशंसा से गर्वोन्नत होकर बोली—आपके लिए कोई सौगात तो नहीं लाये!

मनोरमा—मेरे लिए तुमसे बढ़कर और क्या सौगात लाते। मैं संसार में अकेली थी। तुम्हें पाकर दुकेली हो जाऊँगी। मंगला से मैंने प्रेम नहीं बढ़ाया। कल को वह पराये घर चली जायगी। कौन उसके नाम पर बैठकर रोता। तुम कहीं न जाओगी, तुम्हें सहेली बनाने में कोई खटका नहीं। आज से तुम मेरी सहेली हो। ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि हम और तुम चिरकाल तक स्नेह के बन्धन में बँधे रहें।

अहल्या—मैं इसे अपना सौभाग्य समझूँगी। आपके शील स्वभाव की चर्चा करते उनकी जबान नहीं थकती।

मनोरमा ने उत्सुक होकर पूछा—सच ! मेरी चर्चा कभी करते हैं ?

अहल्या—बराबर बात बात पर आपका जिक्र करने लगते हैं। मैं नहीं जानती कि आपकी वह कौन-सी आज्ञा है, जिसे वह टाल सकें।

इतने में बाजों की घोंधों-पोंपों सुनायी दी। मुंशीजी बारात जमाये चले आ रहे थे। सामान तो पहले ही से जमा कर रखे थे, जाकर ले आना था। पंशाखे, बाजों की तीन चार चौकियाँ कई सवारी-गाड़ियाँ, दो हाथी, दर्जनों घोड़े, एक सुन्दर सुखपाल, ये सब स्टेशन के सामने आ पहुँचे।

अहल्या के हृदय में आनन्द की तरगें उठ रही थीं। जिसने जिन बातों की स्वप्न में भी आशा न की थी, वे सब पूरी हुई जाती थीं। कभी उसका स्वागत इस ठाठ से होगा, कभी एक बड़ी रानी उसकी सहेली बनेगी, कभी उसका इतना आदर-सम्मान होगा उसने कल्पना भी न की थी।

मनोरमा ने उसे धीरे-धीरे ले जाकर सुखपाल में बिठा दिया। बारात चली। चक्रधर एक सुरंग घोड़े पर सवार थे।

एक क्षण में सन्नाटा हो गया, लेकिन मनोरमा अभी तक अपनी मोटर के पास खड़ी थी, मानो रास्ता भूल गयी हो।

२८

ठाकुर गुरुसेवकसिंह जगदीशपुर के नाजिम हो गये थे। इस इलाके का सारा प्रबन्ध उनके हाथ में था। तीनों पहली रानियाँ वहीं राजभवन में रहती थीं। उनकी देख-भाल करते रहना, उनके लिए जरूरी चीजों का प्रबन्ध करना भी नाजिम का काम था। यह कहिए कि मुख्य काम यही था। नजामत तो केवल नाम का पद था। पहिले यह पद न था। राजा साहब ने रानियों को आराम से रखने के लिए इस नये पद की सृष्टि की थी। ठाकुर साहब जगदीशपुर में राजा साहब के प्रतिनिधि स्वरूप थे।

तीनों रानियों में अब वैर विरोध कम होता था। अब हर एक को अख्तियार था जितने नौकर चाहें रखें, जितना चाहें खर्च करें, जितने गहने चाहें बनवायें, जितने धर्मोत्सव चाहें मनायें, फिर कलह होता ही क्यों। यदि राजा साहब किसी एक नारी पर विशेष प्रेम रखते और अन्य रानियों की परवा न करते, तो ईर्ष्यावश लड़ाई होती, पर राजा साहब ने जगदीशपुर में आने की कसम-सी खा ली थी। फिर किस बात पर लड़ाई होती ?

ठाकुर साहब ने दीवानखाने में अपना दफ्तर बना लिया था। जब कोई जरूरत होती, तुरन्त रनिवास में पहुँच जाते। रानियाँ उनसे परदा तो करती थीं, पर परदे की ओट से बातचीत कर लेती थीं। रानी वसुमती इस ओट को भी अनावश्यक समझती थीं। कहतीं—जब बातें ही कीं, तो परदा कैसा ? ओट क्यों, गुड़ खाय गुलगुले से परहेज ! उन्हें अब ससार से विराग-सा हो गया था। सारा समय भगवत्-पूजन और भजन में काटती थीं। हाँ, आभूषणों से अभी उनका जी न भरा था। और अन्य स्त्रियों की

भाँति वह गहने बनवाकर जमा न करती थीं, उनका नित्य व्योहार करती थीं। रोहिणी को आभूषणों से घृणा हो गयी थी, माँग-चोटी की भी परवा न करती! यहाँ तक कि उसने माँग में सेन्दूर डालना छोड़ दिया था। कहती, मुझमें और विधवा में क्या अन्तर है, बल्कि विधवा हमसे हजार दर्जे अच्छी, उसे एक यही रोना है कि पुरुष नहीं। जलन तो नहीं! यहाँ तो जिन्दगी रोने और कुढ़ने में ही कट रही है। मेरे लिए पति का होना न-होना दोनों बराबर है, सोहाग लेकर चाटूँ। रही रानी रामप्रिया, उनका विद्या व्यसन अब बहुत कुछ शिथिल हो गया था, गाने की धुन सवार थी, भाँति-भाँति के बाजे मँगाती रहती थीं। ठाकुर साहब को भी गाने का कुछ शौक था या अब हो गया हो। किसी-न किसी तरह समय निकालकर जा बैठते और उठने का नाम न लेते। रात को अक्सर भोजन भी वहीं कर लिया करते। रामप्रिया उनके लिए स्वयं थाली परस लाती थी। ठाकुर साहब की जो इतनी खातिर होने लगी, तो मिजाज आसमान पर चढ गया। नये नये स्वप्न देखने लगे। समझे, सौभाग्य सूर्य उदय हो गया। नौकरों पर अब ज्यादा रोब जमाने लगे। सोकर देर मे उठते और इलाके का दौरा भी बहुत कम करते। ऐसा जान पड़ता था, मानों इस इलाके के राजा वही हैं। दिनोंदिन यह विश्वास होता जाता था कि रामप्रिया मेरे नयन-बाणों का शिकार हो गयी है, उसके हृदय-पट पर मेरी तसवीर खिंच गयी है। रोज कोई-न कोई ऐसा प्रमाण मिल जाता था, जिससे यह भावना और भी दृढ हो जाती थी।

एक दिन आपने रामप्रिया की प्रेम-परीक्षा लेने की ठानी। कमरे में लिहाफ ओढ़कर पड़ रहे। रामप्रिया ने किसी काम के लिए बुलाया तो कहला भेजा, मुझे रात से जोरों का बुखार है, मारे दर्द के सिर फटा पड़ता है। रामप्रिया यह सुनते ही दीवानखाने में आ पहुँची और उनके सिर पर हाथ रखकर देखा, माथा ठण्ढा था। नाड़ी भी ठीक चल रही थी। समझी, कुछ सिर भारी हो गया होगा. कुछ परवाह न की। हाँ, अन्दर जाकर कोई तेल सिर में लगाने को भेजवा दिया।

ठाकुर साहब को इस परीक्षा से सन्तोष न हुआ। उसे प्रेम है, यह तो सिद्ध था, नहीं तो वह देखने दौड़ी आती ही क्यों; लेकिन प्रेम कितना है, इसका कुछ अनुमान न हुआ। कहीं वह केवल शिष्टाचार के अंतर्गत न हो। वह केवल शिष्टाचार कर रही हो, और मैं प्रेम के भ्रम में पड़ा रहूँ। रामप्रिया के अधरों पर, नेत्रों में, बातों में तो उन्हें प्रेम की झलक नजर आती थी; पर डरते थे कि मुझे भ्रम न हो। अबकी उन्होंने कड़ी परीक्षा लेने की ठानी। क्वार का महीना था। धूप तेज होती थी। मलेरिया फैला हुआ था। आप एक दिन दिन-भर पैदल खेतों में घूमते रहे, कई बार तालाब का पानी भी पिया। ज्वर का पूरा सामान करके आप घर लौटे। नतीजा उनकी इच्छानुकूल ही हुआ। दूसरे दिन प्रातःकाल उन्हें ज्वर चढ आया और ऐसे जोर से आया कि दोपहर तक बकझक करने लगे। मारे दर्द के सिर फटने लगा। सारी देह टूट रही थी सिर में चक्कर आ रहा था। अब तो बेचारे को लेने के देने पड़े। प्रेम-पर

परीक्षा होने लगी और इसमें वह कच्चे निकले! कभी-रोते कि बाबूजी को बुला दो। कभी कहते स्त्री को बुला दो। इतना चीखे चिल्लाये कि नौकरों का नाकोदम हो गया। रामप्रिया ने आकर देखा, तो होश उड़ गये। देह तवा हो रही थी और नाड़ी घोड़े की भाँति सरपट दौड़ रही थी। बेचारी घबरा उठी। तुरन्त डाक्टर को लाने के लिए आदमी को शहर दौड़ाया और आप ठाकुर साहब के सिरहाने बैठकर पखा झलने लगी। द्वार पर चिक डाल दी और एक आदमी को द्वार पर बिठा दिया कि किसी अपरिचित मनुष्य को अन्दर न जाने दे। ठाकुर साहब को सुधि होती और रामप्रिया की विकलता देखते, तो फूले न समाते; पर वहाँ तो जान के लाले पड़े हुए थे।

एक सप्ताह तक गुरुसेवक का ज्वर न उतरा। डाक्टर रोज आते और देख-भालकर चले जाते। कोई दवा देने की हिम्मत न पड़ती। रामप्रिया को सोना और खाना हराम हो गया। दिन-के दिन और रात-की-रात रोगी के पास बैठी रहती। पानी पिलाना होता, तो खुद पिलाती, सिर मे तेल डालना होता, तो खुद डालती, पथ्य देना होता, तो खुद बनाकर देती। किसी नौकर पर उसे विश्वास न था।

अब लोगों को चिन्ता होने लगी। रोगी को यहाँ से उठाकर ले जाने में जोखिम था। सारा परिवार यहीं आ पहुँचा। हरिसेवक ने बेटे की सूरत देखी, तो रो पड़े। देह सूखकर काँटा हो गयी थी। पहचानना कठिन था। राजा साहब भी दिन में दो बार मनोरमा के साथ रोगी को देखने आते, पर इस तरह भागते, मानो किसी शत्रु के घर आये हों। रामप्रिया तो रोगी की सेवा सुश्रूषा में लगी रहती, उसे इसकी परवा न थी कि कौन आता है और कौन जाता है, लेकिन रोहिणी को राजा साहब की यह निष्ठुरता असह्य मालूम होती थी। वह उनपर दिल का गुबार निकालने के लिए अवसर ढूँढती रहती थीं, पर राजा साहब भूलकर भी अन्दर न आते थे। आखिर एक दिन वह मनोरमा ही पर पिल पड़ी। बात कोई न थी। मनोरमा ने सरल भाव से कहा—यहाँ आप लोगों का जीवन बड़ी शान्ति से कटता होगा। शहर में तो रोज एक न एक झंझट सिर पर सवार रहता है। कभी इनकी दावत करो, कभी उनकी दावत में जाओ, आज क्लब में जलसा है, आज अमुक विद्वान का व्याख्यान है। नाकोंदम रहता है।

रोहिणी तो भरी बैठी ही थी। ऐंठकर बोली—हाँ बहन, क्यों न हो! ऐसे प्राणी भी होते हैं, जिन्हें पड़ोसी के उपवास देखकर जलन होती है। तुम्हें पकवान बुरे मालूम होते हैं, हम अभागिनी के लिए सत्तू में भी बाधा! किसी को भोग, किसी को जोग, यह पुराना दस्तूर चला आता है, तुम क्या करोगी?

मनोरमा ने फिर उसी सरल भाव से कहा—अगर तुम्हें वहाँ सुख-ही सुख मालूम होता है, तो चली क्यों नहीं आती? क्या तुम्हें किसी ने मना किया है? अकेले मेरा जी भी घबराया करता है। तुम रहोगी, तो मजे से दिन कट जायगा।

रोहिणी नाक सिकोड़कर बोली—भला, मुझमें वह हाव-भाव कहाँ है कि इधर राजा साहब को मुट्ठी में किये रहूँ, उधर हाकिमों को मिलाये रखूँ। यह तो कुछ लिखो-पढ़ी,

शहरवालियों को ही आता है, हम गँवारिनें यह त्रियाचरित्र क्या जानें। यहाँ तो एक ही की होकर रहना जानती हैं।

मनोरमा खड़ी सन्न रह गयी। ऐसा मालूम हुआ कि ज्वाला पैरों से उठी और सिर से निकल गयी। ऐसी भीषण मर्म-वेदना हुई, मानो किसी ने सहस्र शूलोंवाला भाला उसके कलेजे में चुभो दिया हो। सज्ञाशून्य सी हो गयी। आँखें खुली थीं, पर कुछ दिखायी न देता था; कानों में कोई आवाज न आती थी, इसका ज्ञान ही न रहा कि कहाँ आयी हूँ, क्या कर रही हूँ; रात है या दिन? वह दस-बारह मिनट तक इसी भाँति स्तम्भित खड़ी रही। राजा साहब मोटर के पास खड़े उसकी राह देख रहे थे। जब उसे देर हुई तो बुला भेजा। लौंडी ने आकर मनोरमा से सन्देशा कहा; पर मनोरमा ने सुना ही नहीं। लौंडी ने एक मिनट के बाद फिर कहा—फिर भी मनोरमा ने कोई उत्तर न दिया। तब लौंडी चली गयी। उसे तीसरी बार कुछ कहने का साहस न हुआ। राजा साहब ने दो मिनट और इन्तजार किया। तब स्वयं अन्दर आये, तो देखा कि मनोरमा चुपचाप मूर्ति की भाँति खड़ी है। दूर ही से पुकारा—नोरा, क्या कर रही हो? चलो, देर हो रही है. सात बजे लेडी काक ने आने का वादा किया है, और छः यहीं बज गये। मनोरमा ने इसका भी कुछ जवाब न दिया। तब राजा साहब ने मनोरमा के पास आकर उसका हाथ पकड़ लिया और कुछ कहना ही चाहते थे कि उसका चेहरा देखकर चौंक पड़े। वह सर्प-दंशित मनुष्य की भाँति निर्निमेष नेत्रों से दीवार की ओर टकटकी लगाये ताक रही थी, मानों आँखो की राह प्राण निकल रहे हों।

राजा साहब ने घबराकर पूछा—नोरा, कैसी तबीयत है?

अब मनोरमा को होश आया। उसने राजा साहब के कन्धे पर सिर रख दिया और इस तरह फूट-फूटकर रोने लगी, मानो पानी का बाँध टूट गया हो। यह पहला अवसर था कि राजा साहब ने मनोरमा को रोते देखा। व्यग्र होकर बोले—बात क्या है मनोरमा, किसी ने कुछ कहा है? इस घर में किसकी ऐसी मजाल है कि तुम्हारी ओर टेढ़ी निगाह से भी देख सके! उसका खून पी जाऊँ। बताओ, किसने क्या कहा है? तुमने कुछ कहा है, रोहिणी? साफ-साफ बता दो।

रोहिणी पहले तो मनोरमा की दशा देखकर सहम उठी थी; पर राजा साहब के खून पी जाने की धमकी ने उसे उत्तेजित कर दिया। जी में तो आया, कह दूँ, हाँ, मैंने ही कहा है, और जो बात यथार्थ थी, वही कही है, जो कुछ करना हो, कर लो, खून पी के यों न खड़े रहोगे। लेकिन राजा साहब का विकराल रौद्र रूप देखकर बोली—उन्हीं से क्यों नहीं पूछते? मेरी बात का विश्वास ही क्या?

राजा—नहीं, मैं तुमसे पूछता हूँ।

रोहिणी—उनसे पूछते क्या डर लगता है?

मनोरमा ने सिसकते हुए कहा—अब मैं यहीं रहूँगी; आप जाइए। मेरी चीजें यहीं भिजवा दीजिएगा।

राजा साहब ने अधीर होकर पूछा—आखिर बात क्या है, कुछ मालूम भी तो हो?

मनोरमा—बात कुछ भी नहीं है। मैं अब यहीं रहूँगी। आप जायँ।

राजा—मैं तुम्हें छोड़कर नहीं जा सकता, अकेले मैं एक दिन भी जिन्दा नहीं रह सकता।

मनोरमा—मैंने तो निश्चय कर लिया है कि इस घर से बाहर न जाऊँगी।

राजा साहब समझ गये कि रोहिणी ने अवश्य कोई व्यंग्य-शर चलाया है। उसकी ओर लाल आँखें करके बोले—तुम्हारे कारण यहाँ से जान लेकर भागा, फिर भी तुम पीछे पड़ी हुई हो। वहाँ भी शान्त नहीं रहने देतीं। मेरी खुशी है, जिससे जी चाहता है, बोलता हूँ; जिससे जी नहीं चाहता, नहीं बोलता। तुम्हें इसकी जलन क्यों होती है?

रोहिणी—जलन होगी मेरी बला को। तुम यहाँ ही थे, तो कौन सी फूलों की सेज पर सुला दिया था। यहाँ तो 'जैसे कन्ता घर रहे, वैसे रहे विदेश।' भाग्य में रोना बदा था, रोती हूँ।

राजा—अभी तो नहीं रोयी, मगर शौक है तो रोओगी।

रोहिणी—तो इस भरोसे भी न रहिएगा। यहाँ ऐसी रोनेवाली नहीं हूँ कि सेंत-मेंत आँखें फोड़ूँ। पहले दूसरे को रुलाकर तब रोऊँगी।

राजा साहब ने दाँत पीसकर कहा—शर्म और हया छू नहीं गयी। कुँजड़िनों को भी मात कर दिया।

रोहिणी—शर्म और हयावाली तो एक वह है, जिन्हें छाती से लगाये खड़े हो, हम गँवारिनें भला शर्म और हया क्या जानें?

राजा साहब ने जमीन पर पैर पटककर कहा—उसकी चर्चा न करो। इतना बतलाये देता हूँ। तुम एक लाख जन्म लो, तब भी उसको नहीं पा सकती। भूलकर भी उसकी चर्चा मत करो।

रोहिणी—तुम तो ऐसी डाँट बता रहे हो, मानों मैं कोई लौंडी हूँ। क्यों न उसकी चर्चा करूँ? वह सीता और सावित्री होगी, तो तुम्हारे लिए होंगी, यहाँ क्यों परदा डालने लगीं। जो बात देखूँगी-सुनूँगी, वह कहूँगी भी, किसी को अच्छा लगे या बुरा।

राजा—अच्छा! तुम अपने को रानी समझे बैठी हो। रानी बनने के लिए जिन गुणों की जरूरत है, वे तुम्हें छू भी नहीं गये। तुम विशालसिंह ठाकुर से ब्याही गयी थीं और अब भी वही हो।

रोहिणी—यहाँ रानी बनने की साध ही नहीं। मैं तो ऐसी रानियों का मुँह देखना भी पाप समझती हूँ, जो दूसरों से हाथ मिलाती और आँखें मटकाती फिरें।

राजा साहब का क्रोध बढ़ता जाता था, पर मनोरमा के सामने वह अपना पैशाचिक रूप दिखाते हुए शर्माते थे। पर कोई लगती बात कहना चाहते थे, जो रोहिणी की जबान बन्द कर दे, वह अवाक् रह जाय। मनोरमा को कटु बचन सुनाने के दण्ड-रूप रोहिणी को कितनी ही कड़ी बात क्यों न कही जाय, वह क्षम्य थी। बोले—तुम्हें

तो जहर खाकर मर जाना चाहिए। कम-से-कम तुम्हारी ये जली-कटी बातें तो न सुनने में न आयेंगी।

रोहिणी ने आग्नेय नेत्रों से राजा साहब की ओर देखा, मानो वह उसकी ज्वाला से उन्हें भस्म कर देगी, मानो उसके शरों से उन्हें बेध डालेगी, और लपककर पानदान को ठुकराती, लोटे का पानी फिराती, वहाँ से चली गयी।

मनोरमा ने सहृदय-भाव से कहा—आप व्यर्थ ही इनके मुँह लगे। मैं आपके साथ न जाऊँगी।

राजा—नोरा, कभी-कभी मुझे तुम्हारे ऊपर भी क्रोध आता है। भला, इन गँवारिनों के साथ रहने में क्या आनन्द आयेगा? यह सब मिलकर तुम्हारा जीना दूभर कर देंगी।

राजा साहब बहुत देर तक समझाया किये, पर मनोरमा ने एक न मानी। रोहिणी की बातें अभी तक उसके हृदय के एक-एक परमाणु में व्याप्त थीं। उसे शंका हुई कि ये भाव केवल रोहिणी के नहीं हैं, यहाँ सभी लोगों के मन में यही भाव होंगे। रोहिणी केवल उन भावों को प्रकट कर देने की अपराधिनी है। इस सन्देह और लाञ्छन का निवारण यहाँ सबके सम्मुख रहने से ही हो सकता था और यही उसके संकल्प का कारण था। अन्त में राजा साहब ने हताश होकर कहा—तो फिर मैं भी काशी छोड़ देता हूँ। तुम जानती हो कि मुझसे अकेले वहाँ एक दिन भी न रहा जायगा।

मनोरमा ने निश्चयात्मक भाव से कहा—जैसी आपकी इच्छा।

एकाएक मुंशी वज्रधर लाठी टेकते आते दिखायी दिये। चेहरा उतरा हुआ था, पाजामे का इजारबन्द नीचे लटकता हुआ। आँगन में खड़े होकर बोले—रानीजी, आप कहाँ हैं? जरा कृपा करके आइएगा, या हुक्म हो, तो मैं ही आऊँ।

राजा साहब ने कुछ चिढ़कर कहा—क्या है, यहीं चले आइए। आपको इस वक्त आने की क्या जरूरत थी? सब लोग यहीं चले आये, कोई वहाँ भी तो चाहिए।

मुंशीजी कमरे में आकर बड़े दीन भाव से बोले—क्या करूँ; हुजूर, घर तबाह हुआ जा रहा है। हुजूर से न रोऊँ, तो किससे रोऊँ! घर तबाह हुआ जाता है। लल्लू न-जाने क्या करने पर तुला है।

मनोरमा ने सशंक होकर पूछा—क्या बात है, मुंशीजी? अभी तो आज बाबूजी यहाँ मेरे पास आये थे, कोई भी नयी बात नहीं कही।

मुंशी—वह अपनी बात किसी से कहता है कि आपसे कहेगा। मुझसे भी कभी कुछ नहीं कहा; लेकिन आज प्रयाग जाने को तैयार बैठा हुआ है। बहू को भी साथ लिये जाता है। कहता है, अब यहाँ न रहूँगा।

मनोरमा—आपने पूछा नहीं कि क्यों जा रहे हो? जरूर उन्हें किसी बात से रंज पहुँचा होगा, नहीं तो वह बहू को लेकर न जाते। बहू ने तो कहीं उनके कान नहीं भर दिये?

मुंशी—नहीं हुजूर, वह तो साक्षात् लक्ष्मी है। मैंने तो अपनी जिन्दगी-भर में ऐसी

औरत देखी ही नहीं। एक महीना से ज्यादा हो गये, पर ऐसा कभी नहीं हुआ कि अपनी सास की देह दबाये बगैर सोयी हो। सबसे पहले उठती है, और सबके पीछे सोती है। उसको तो मैं कुछ कह ही नहीं सकता। वह सब लल्लू की शरारत है। जो उसके मन में आता है, वही करता है। मुझे तो कुछ समझता ही नहीं, आगरे में जाकर शादी की। कितना समझाया, पर न माना। मैंने दरगुजर किया। बहू को धूम-धाम से घर लाया। सोचा, जब लड़के से इसका सम्बन्ध हो गया, तो अब बिगड़ने और रूठने से नहीं टूट सकता। लड़की का दिल क्यों दुखाऊँ, लेकिन लल्लू का मुँह फिर भी सीधा नहीं होता। अब न-जाने मुझसे क्या करवाना चाहता है।

मनोरमा—जरूर कोई-न-कोई बात होगी। घर में किसी ने ताना तो नहीं मारा?

मुंशी—इल्म की कसम खाकर कहता हूँ, हुजूर, जो किसी ने चूँ तक की हो। ताना उसे दिया जाता है, जो टर्राये। वह तो सेवा और शील की देवी है, उसे कौन ताना दे सकता है? हाँ, इतना जरूर है कि हम दोनों आदमी उसका छुआ नहीं खाते।

मनोरमा ने सिर हिलाकर कहा—अच्छा, यह बात है! भला, बाबूजी यह कब बर्दाश्त करने लगे। मैं अहल्या की जगह होती, तो उस घर में एक क्षण भी न रहती। वह न जाने कैसे इतने दिन रह गयी।

मुंशी—उससे तो कभी इस बात की चर्चा तक नहीं की हुजूर। (आप बार-बार मना करती हैं कि मुझे हुजूर न कहा करो, पर जबान से निकल ही आता है) इसी लिए तो मैंने उसके आते ही आते एक महराजिन रख ली, जिसमें खाने-पीने का सवाल ही न पैदा हो। संयोग की बात है, कल महराजिन ने बहू से तरकारी बघारने के लिए घी माँगा। बहू घी लिये हुए चौके में चली गयी। चौका छूत हो गया। लल्लू ने तो खाना खाया और सबके लिए बाजार से पूरियाँ आयीं। बहू तभी से पड़ रही है और लल्लू घर छोड़कर उसे लिये चला जा रहा है।

मनोरमा ने विरक्त भाव से कहा—तो मैं क्या कर सकती हूँ?

मुन्शी—आप सब कुछ कर सकती हैं। आप जो कर सकती हैं, वह दूसरा नहीं कर सकता। आप जरा चलकर उसे समझा दें। मुझपर इतनी दया करें। सनातन से जिन बातों को मानते आये हैं, वे अब छोड़ी नहीं जातीं।

मनोरमा—तो न छोड़िए, आपको कोई मजबूर नहीं करता। आपको अपना धर्म प्यारा है और होना भी चाहिए। उन्हें भी अपना सम्मान प्यारा है और होना भी चाहिए। मैं जैसे आपको बहू के हाथ का भोजन ग्रहण करने को मजबूर नहीं कर सकती, उसी भाँति उन्हें भी यह अपमान सहने के लिए नहीं दबा सकती। आप जानें और वह जानें, मुझे बीच में न डालिए।

मुन्शी—हजूर, इतना निराश न करें। यदि बच्चा चले गये तो हम दोनों प्राणी तो रोते-रोते मर जायँगे।

मनोरमा—तो इसकी क्या चिन्ता? एक दिन तो सभी को मरना है, यहाँ अमर

कौन है ? इतने दिन तो जी लिये, दो-चार साल और जिये तो क्या ?

मुन्शी—रानीजी, आप जले पर नमक छिड़क रही हैं। इतना तो नहीं होता कि चलकर समझा दें, ऊपर से और ताने देती हैं। बहू का आदर-सत्कार करने में कोई बात उठा नहीं रखते, एक उसका छुआ न खाया, तो इसमें रूठने की क्या बात है ? हम कितनी ही बातों से दब गये, तो क्या उन्हें एक बात में भी नहीं दबना चाहिए ?

'मनोरमा—तो जाकर दबाइए न, मेरे पास क्यों दौड़े आये हैं ? मेरी राय अगर पूछते हैं, तो जाकर चुपके से बहू के हाथ से खाना पकवाकर खाइए। दिल से यह भाव बिलकुल निकाल डालिए कि वह नीची है और आप ऊँचे हैं। इस भाव का लेश भी दिल मे न रहने दीजिए। जब वह आपकी बहू हो गयी, तो बहू ही समझिए। अगर यह छूतछात का बखेड़ा करना था, तो बहू को लाना ही न चाहिए था। आपकी बहू रूप-रंग में व शील-गुण में किसी से कम नहीं। मैं तो कहती हूँ कि आपकी बिरादरी-भर मे ऐसी एक भी स्त्री न होगी। अपने भाग्य को सराहिए कि ऐसी बहू पायी। अगर खान-पान का ढोंग करना है तो जाकर कीजिए। मैं इस विषय में बाबूजी से कुछ नहीं कह सकती। कुछ कहना ही नहीं चाहती। वह वही कर रहे हैं, जो इस दशा में उन्हें करना चाहिए।

मुन्शीजी बड़ी आशा बाँधकर यहाँ दौड़े आये थे। यह फैसला सुना तो कमर टूट-सी गयी। फर्श पर बैठ गये और अनाथ-भाव से माथे पर हाथ रखकर सोचने लगे—अब क्या करूँ ? राजा साहब अभी तक इन दोनों आदमियों की बातें सुन रहे थे। अब उन्हें अपनी विपत्ति-कथा कहने का अवसर मिला। बोले—आपकी बात तो तय हो गयी। अब जरा मेरी भी सुनिए। मैं तो गुरुसेवक के पास बैठा हुआ था, यहाँ नोरा और रोहिणी मे किसी बात पर झड़प हो गयी। रोहिणी का स्वभाव तो आप जानते ही हैं। क्रोध उसकी नाक पर रहता है। न-जाने इन्हें क्या कहा कि अब यह कह रही हैं कि मैं काशी जाऊँगी ही नहीं। कितना समझा रहा हूँ, पर मानती ही नहीं।

मुंशीजी ने मनोरमा की ओर देखकर कहा—इन्हें भी तो लल्लू ने शिक्षा दी है। न वह किसी की मानता है, न यह किसी की मानती हैं।

मनोरमा ने मुस्कराकर कहा—आपको एक देवी के अपमान करने का दण्ड मिल रहा है।

राजा साहब ने कहा—और मुझे ?

मनोरमा ने मुँह फेरकर कहा—आपको बहुत-से विवाह करने का।

मनोरमा यह कहती हुई वहाँ से चली गयी। उसे अभी अपने लिए कोई स्थान ठीक करना था, शहर से अपनी आवश्यक वस्तुएँ मँगवानी थीं। राजा साहब मुंशीजी को लिये हुए बाहर आये और सामनेवाले बाग में बेंच पर जा बैठे। मुँशीजी घर जाना चाहते थे, जी घबरा रहा था; पर राजा साहब से आज्ञा माँगते हुए डरते थे। राजा साहब बहुत ही चिन्तित दिखलायी देते थे। कुछ देर तक तो वह सिर झुकाये बैठे रहे, तब गम्भीर भाव से बोले—मुंशीजी, आपने नोरा की बातें सुनी ? कितनी मीठी चुटकियाँ लेती हैं। सचमुच बहुत से विवाह करना अपनी जान आफत में डालना है। मैंने समझा था,

अब दिन आनन्द से कटेंगे और इन चुड़ैलों से पिंड छूट जायगा, पर नोरा ने मुझे फिर उसी विपत्ति में डाल दिया। यहाँ रहकर मैं बहुत दिन जी नहीं सकता। रोहिणी मुझे जीता न छोड़ेगी। आज उसने जिस दृष्टि से मेरी ओर देखा, वह साफ कह देती थी कि वह ईर्ष्या के आवेश में जो कुछ न कर बैठे वह थोड़ा है। उसकी आँखों से ज्वाला-सी निकल रही थी। शायद उसका वश होता, तो मुझे खा जाती। कोई ऐसी तरकीब नहीं सूझती, जिससे नोरा का विचार पलट सकूँ।

मुन्शी—हुजूर, वह खुद यहाँ बहुत दिनों तक न रहेंगी। आप देख लीजिएगा। उनका जी यहाँ से बहुत जल्द ऊब जायगा।

राजा—ईश्वर करे आपकी बात सच निकले! आपको देर हो रही हो, तो जाइए। मेरी डाक वहाँ से बराबर भेजवाते रहिएगा, मैं शायद वहाँ रोज न आ सकूँगा। यहाँ तो अब नये सिरे से सारा प्रबन्ध करना है।

आधीरात से ज्यादा बीत चुकी थी, पर मनोरमा की आँखों में नींद न आयी थी। उस विशाल भवन में, जहाँ सुख और विलास की सामग्रियाँ भरी हुई थीं, उसे अपना जीवन शून्य जान पड़ता था। एक निर्जन, निर्मम वन में वह अकेली खड़ी थी। एक दीपक सामने बहुत दूर पर अवश्य जल रहा था, पर वह जितना ही चलती थी, उतना ही वह दीपक भी उससे दूर होता जाता था। उसने मुन्शीजी के सामने तो चक्रधर को समझाने से इन्कार कर दिया था, पर अब ज्यों ज्यों रात बीतती थी, उनसे मिलने के लिए तथा उन्हें रोकने के लिए उसका मन अधीर हो रहा था। उसने सोचा—क्या अहल्या के साथ विवाह होने से वह उसके हो जायँगे? क्या मेरा उनपर कोई अधिकार नहीं? वह जायँगे कैसे! मैं उनका हाथ पकड़ लूँगी। खींच लाऊँगी। अगर अपने घर में नहीं रह सकते, तो मेरे यहाँ रहने में उन्हें क्या आपत्ति हो सकती है? मैं उनके लिए अपने यहाँ प्रबन्ध कर दूँगी, मगर बड़े निष्ठुर प्रकृति के मनुष्य हैं। आज मेरे पास इतनी देर बैठे अपनी समिति का रोना रोते रहे, फटे मुँह से भी न कहा कि मैं प्रयाग जा रहा हूँ, मानो मेरा उनसे कोई नाता ही नहीं। मुझसे मिलने के लिए उत्सुक तो वह होंगे। पर कुछ न कर सकते होंगे। वह भी बहुत मजबूर होकर जा रहे होंगे। वह अहल्या सचमुच भाग्यवती है। उनके लिए वह कितना कष्ट झेलने को तैयार है। प्रयाग में न कोई अपना, न पराया, सारी गृहस्थी जुटानी पड़ेगी।

यह सोचते ही उसे खयाल आया कि चक्रधर बिलकुल खाली हाथ हैं। पत्नी साथ, खाली हाथ, नयी जगह, न किसीसे राह, न रस्म; सकोची प्रकृति, उदार-हृदय, उन्हें प्रयाग में कितना कष्ट होगा! मैंने बड़ी भूल की। मुशी जी के साथ मुझे चला जाना चाहिए था। बाबूजी मेरा इन्तजार कर रहे होंगे।

उसने घड़ी की ओर देखा। एक बज गया था। चैत की चाँदनी खिली हुई थी। चारपाई से उठकर आँगन में आयी। उसके मन में प्रश्न उठा—क्यों न इसी वक्त ...? घण्टे भर में पहुँच जाऊँगी। चाँदनी छिटकी हुई है, डर किस बात का? राजा

साहब नींद में हैं। उन्हें जगाना व्यर्थ है। सवेरे तक तो मैं लौट ही आऊँगी।

लेकिन फिर खयाल आया, इस वक्त जाऊँगी, तो लोग क्या कहेंगे। जाकर इतनी रात गये सबको जगाना कितना अनुचित होगा। वह फिर आकर लेट रही और सो जाने की चेष्टा करने लगी। पाँच घण्टे इसी प्रतीक्षा में जागते रहना कठिन परीक्षा थी। उसने चक्रधर को रोक लेने का निश्चय कर लिया था।

बारे अब की उसे नींद आ गयी। पिछले पहर चिन्ता भी थककर सो जाती है। सारी रात करवटें बदलनेवाला प्राणी भी इस समय निद्रा में मग्न हो जाता है; लेकिन देर से सोकर भी मनोरमा को उठने में देर नहीं लगी। अभी सब लोग सोते ही थे कि वह उठ बैठी और तुरत मोटर तैयार करने का हुक्म दिया। फिर अपने हैंडबेग में कुछ चीजें रखकर वह रवाना हो गयी।

चक्रधर भी प्रातःकाल उठे और चलने की तैयारियाँ करने लगे। उन्हें माता-पिता को छोड़कर जाने का दुःख हो रहा था, पर उस घर में अहल्या की जो दशा थी, वह उनके लिए असह्य थी। अहल्या ने कभी शिकायत न की थी। वह चक्रधर के साथ सब कुछ झेलने को तैयार थी; लेकिन चक्रधर को यह किसी तरह गवारा न था कि अहल्या मेरे घर में परायी बनकर रहे। माता-पिता से भी कुछ कहना-सुनना उन्हें व्यर्थ मालूम होता था, मगर केवल यही कारण उनके यहाँ से प्रस्थान करने का न था। एक कारण और भी था, जिसे वह गुप्त रखना चाहते थे, जिसकी अहल्या को भी खबर न थी। वह कारण मनोरमा थी। जैसे कोई रोगी रुचि रखते हुए भी स्वादिष्ट वस्तुओं से बचता है कि कहीं उनसे रोग और न बढ़ जाय, उसी भाँति चक्रधर मनोरमा से भागते थे। आज-कल मनोरमा दिन में एक बार उनके घर जरूर आ जाती। अगर खुद न आ सकती थी, तो उन्हीं को बुला भेजती। उसके सम्मुख आकर चक्रधर को अपना संयम, विचार और मानसिक स्थिति ये सब बालू की मेंड़ की भाँति पैर पड़ते ही खिसकते मालूम होते। उसके सौन्दर्य से कहीं अधिक उसका आत्म समर्पण घातक था। उन्हें प्राण लेकर भाग जाने ही में कुशल दिखायी देती थी। गाड़ी ७ बजे छूटती थी। वह अपना बिस्तर और पुस्तकें बाहर निकाल रहे थे। भीतर अहल्या अपनी सास और ननद के गले मिलकर रो रही थी, कि इतने में मनोरमा की मोटर आती हुई दिखायी दी। चक्रधर मारे शर्म के गड़ गये। उन्हें मालूम हुआ कि पिताजी ने मनोरमा को मेरे जाने की खबर दे दी है, और वह जरूर आयेगी; पर वह उसके आने के पहले ही रवाना हो जाना चाहते थे। उन्हें भय था कि उसके आग्रह को न टाल सकूँगा, घर छोड़ने का कोई कारण न बता सकूँगा और विवश होकर मुझे फिर यहीं रहना पड़ेगा। मनोरमा को देखकर वह सहम उठे; पर मन में निश्चय कर लिया कि इस समय निष्ठुरता का स्वाँग भरूँगा, चाहे वह अप्रसन्न ही क्यों न हो जाय।

मनोरमा ने मोटर से उतरते हुए कहा—बाबूजी, अभी जरा ठहर जाइए। यह उतावली क्यों? आप तो ऐसे भागे जा रहे हैं, मानो घर से रूठे जाते हों। बात क्या

है, कुछ मालूम भी तो हो।

चक्रधर ने पुस्तकों का गट्ठर सँभालते हुए कहा—बात कुछ नहीं है। भला कोई बात होती तो आपसे कहता न। यों ही जरा इलाहाबाद रहने का विचार है। जन्म-भर पिता की कमाई खाना तो उचित नहीं।

मनोरमा—तो प्रयाग में कोई अच्छी नौकरी मिल गयी है?

चक्रधर—नहीं, अभी मिली तो नहीं है; पर तलाश कर लूँगा।

मनोरमा—आप ज्यादा से ज्यादा कितने की नौकरी पाने की आशा रखते हैं?

चक्रधर को मालूम हुआ कि मुझसे बहाना न करते बना। इस काम में बहुत सावधान रहने की जरूरत है। बोले—कुछ नौकरी ही का खयाल नहीं है, और भी बहुत-से कारण हैं। गाड़ी सात ही बजे जाती है और मैंने वहाँ मित्रों को सूचना दे दी है। नहीं तो मैं आपसे सारी रामकथा कह सुनाता।

मनोरमा—आप इस गाड़ी से नहीं जा सकते। जब तक मुझे मालूम न हो जायगा कि आप किस कारण से और वहाँ क्या करने के इरादे से जाते हैं, मैं आपको न जाने दूँगी।

चक्रधर—मैं दस पाँच दिन में एक दिन के लिए आकर आपसे सब कुछ बता दूँगा, पर इस वक्त गाड़ी छूट जायगी। मेरे मित्र स्टेशन पर मुझे लेने आयेंगे। सोचिए, उन्हें कितना कष्ट होगा।

मनोरमा—मैंने कह दिया, आप इस गाड़ी से नहीं जा सकते।

चक्रधर—आपको सारी स्थिति मालूम होती, तो आप कभी मुझे रोकने की चेष्टा न करतीं। आदमी विवश होकर ही अपना घर छोड़ता है। मेरे लिए अब यहाँ रहना असम्भव हो गया है।

मनोरमा—तो क्या यहाँ कोई दूसरा मकान नहीं मिल सकता।

चक्रधर—मगर एक ही जगह अलग घर में रहना कितना भद्दा मालूम होता है। लोग यही समझेंगे कि बाप बेटे या सास-बहू में नहीं बनती।

मनोरमा—आप तो दूसरों के कहने की बहुत परवा न करते थे।

चक्रधर—केवल सिद्धान्त के विषय में। माता पिता से अलग रहना तो मेरा सिद्धान्त नहीं।

मनोरमा—तो क्या अकारण घर से भाग जाना आपका सिद्धान्त है? सुनिए, मुझे आपके घर की दशा थोड़ी बहुत मालूम है। ये लोग अपने सस्कारों से मजबूर हैं। न तो आप ही उन्हें दबाना पसन्द करेंगे। क्यों न अहल्या को कुछ दिनों के लिए मेरे साथ रहने देते? मैंने जगदीशपुर ही में रहने का निश्चय किया है। आप वहाँ रह सकते हैं। मेरी बहुत दिनों से इच्छा है कि कुछ दिन आप मेरे मेहमान हों। वह तो आप ही का घर है। मैं इसे अपना सौभाग्य समझूँगी। मैंने आपसे कभी कुछ [न] माँगा। आज मेरी इतनी बात मान लीजिए, वह कोई आदमी आता है। मैं जरा

घर में जाती हूँ। यह बिस्तर वगैरह खोल कर रख दीजिए। यह सब सामान देखकर मेरा हृदय जाने कैसा हुआ जाता है।

चक्रधर—नहीं मनोरमा मुझे जाने दो।

मनोरमा—आप न मानेंगे?

चक्रधर—यह बात न मानूँगा।

मनोरमा—मुझे रोते देखकर भी नहीं?

मनोरमा की आँखों से आँसू गिरने लगे। चक्रधर की आँखें भी डबडबा गयीं। बोले—मनोरमा, मुझे जाने दो। मैं वादा करता हूँ कि बहुत जल्द लौट आऊँगा।

मनोरमा—अच्छी बात है, जाइए; लेकिन एक बात आपको माननी पड़ेगी। मेरी यह भेंट स्वीकार कीजिए।

यह कहकर उसने अपना हैंडबेग चक्रधर की तरफ बढ़ाया।

चक्रधर ने पूछा—इसमें क्या है?

मनोरमा—कुछ भी हो।

चक्रधर—अगर न लूँ तो?

मनोरमा—तो मैं अपने हाथों से आपका बोरिया-बधना उठाकर घर में रख आऊँगी।

चक्रधर—आपको इतना कष्ट न उठाना पड़ेगा। मैं इसे लिए लेता हूँ। शायद वहाँ भी मुझे कोई काम करने की जरूरत न पड़ेगी। इस बेग का वजन ही बतला रहा है।

मनोरमा घर में गयी, तो निर्मला बोली—माना कि नहीं, बेटी?

मनोरमा—नहीं मानते। मनाकर हार गयी।

मुंशी—जब आपके कहने से न माना, तो फिर किसके कहने से मानेगा!

ताँगा आ गया। चक्रधर और अहल्या उस पर जा बैठे, तो मनोरमा भी अपनी मोटर पर बैठकर चली गयी। घर के बाकी तीनों प्राणी द्वार पर खड़े रह गये।

२९

सार्वजनिक काम करने के लिए कहीं भी क्षेत्र की कमी नहीं, केवल मन में निःस्वार्थ-सेवा का भाव होना चाहिए। चक्रधर प्रयाग में अभी अच्छी तरह जमने भी न पाये थे कि चारों ओर से उनके लिए खींच तान होने लगी। थोड़े ही दिन में वह नेताओं की श्रेणी में आ गये। उनमें देश का अनुराग था, काम करने का उत्साह था और सगठन करने की योग्यता थी। सारे शहर में एक भी ऐसा प्राणी न था, जो उनकी भाँति निःस्पृह हो। और लोग अपना फालतू समय ही सेवा-कार्य के लिए दे सकते थे, द्रव्योपार्जन उनका मुख्य उद्देश्य था। चक्रधर के लिए इस काम के सिवा और कोई फिक्र न थी। यह कोई न पूछता कि आपको कोई तकलीफ तो नहीं है? काम लेनेवाले बहुतेरे थे। सवारी करनेवाले सब थे, पर घास चारा देनेवाला कोई भी न था। उन्होंने शहर के निवास पर एक छोटा-सा मकान किराये पर ले लिया था और बड़ी किफायत से गुजर करते थे। आगरे में उन्हें जितने रुपये मिले थे, वे सब मुंशी वज्रधर की भेंट कर दिये

गये थे। वहाँ रुपये का नित्य अभाव रहता था। कम मिलने पर कम तंगी रहती थी; क्योंकि जरूरतें घटा ली जाती थीं। अधिक मिलने पर तंगी भी अधिक हो जाती थी, क्योंकि जरूरतें बढ़ा ली जाती थीं। चक्रधर को अब ज्ञात होने लगा था कि गृहस्थी में पड़कर कुछ न-कुछ स्थायी आमदनी होनी ही चाहिए। अपने लिए उन्हें कोई चिन्ता न थी, लेकिन अहल्या को वह दरिद्रता की परीक्षा में डालना न चाहते थे। वह अब बहुधा चिन्तित दिखायी देती, यों वह कभी शिकायत न करती थी; पर यह देखना कठिन न था कि वह अपनी दशा में सन्तुष्ट नहीं है। वह गहने व कपड़े की भूखी न थी, न सैर तमाशे का उसे चस्का ही था, पर खाने पीने की तकलीफ उससे न सही जाती थी। वह खुद सब कुछ सह सकती थी। उसकी सहन-शक्ति का वारपार न था। चक्रधर को इस दशा में देखकर उसे दुःख होता था। जब और लोग पहले अपने घर में चिराग जलाकर मस-जिद में जलाते हैं, तो वही क्यों अपने घर को अन्धेरा छोड़कर मसजिद में चिराग जलाने जायँ? औरों को अगर मोटर-फिटन चाहिए, तो क्या यहाँ पैरगाड़ी भी न हो? दूसरों को पक्की हवेलियाँ चाहिए, तो क्या यहाँ साफ सुथरा मकान भी न हो? दूसरे जायदाद पैदा करते हैं, तो क्या यहाँ भोजन भी नहीं? आखिर प्राण देकर तो सेवा नहीं की जाती। अगर इस उत्सर्ग के बदले चक्रधर को यश का बड़ा भाग मिलता, तो शायद अहल्या का सन्तोष हो जाता, आँसू पुँछ जाते, लेकिन जब वह औरों को बिना कष्ट उठाये चक्र धर के बराबर या उनसे अधिक यश पाते देखती थी, तो उसे धैर्य न रहता था। जब खाली ढोल पीटकर भी, अपना घर भरकर भी यश कमाया जा सकता है, तो इस त्याग और विराग की जरूरत ही क्या? जनता धनियों का जितना मान-सम्मान करती है, उतना सेवकों का नहीं। सेवा-भाव के साथ धन भी आवश्यक है। दरिद्र सेवक, चाहे वह कितने ही सच्चे भाव से क्यों न काम करे, चाहे वह जनता के लिए प्राण ही क्यों न दे दे, उतना यश नहीं पा सकता, जितना एक धनी आदमी अल्प सेवा करके पा जाता है। अहल्या को चक्रधर का आत्म दमन इसीलिए बुरा लगता था और वह मुँह से कुछ न कहकर भी दुखी रहती थी। सेवा स्वयं अपना बदला है, यह आदर्श उसकी समझ में न आता था।

अगर चक्रधर को अपना ही खर्च सँभालना होता तो शायद उन्हें बहुत कष्ट न होता, क्योंकि उनके लेख बहुत अच्छे होते थे और दो-तीन समाचार पत्रों में लिखकर वह अपनी जरूरत-भर को पैदा कर लेते थे। पर मुंशी वज्रधर के तकाजों के मारे उनकी नाक में दम था। मनोरमा जगदीशपुर जाकर संसार से विरक्त-सी हो गयी थी। न कहीं आती, न कहीं जाती और न रियासत के किसी मामले में बोलती। धन से उसे घृणा ही हो गयी थी। सब कुछ छोड़कर वह अपनी कुटी में जा बैठी थी, मानो कोई सन्यासिनी हो, इसलिए अब मुंशीजी को केवल वेतन मिलता था और उसमें उनका [illegible] होता था। चक्रधर को बार-बार तंग करते, और उन्हें विवश होकर पिता की [illegible] करनी पड़ती।

अगहन का महीना था। खासी सरदी पड़ रही थी; मगर अभी तक चक्रधर जाड़े के कपड़े न बनवा पाये थे। अहल्या के पास तो पुराने कपड़े थे, पर चक्रधर के पुराने कपड़े मुन्शीजी के मारे बचने ही न पाते। या तो खुद पहन डालते, या किसी को दे देते। वह इसी फिक्र में थे कि कहीं से रुपए आ जायँ, तो एक कम्बल ले लूँ। आज बड़े इन्तजार के बाद लखनऊ के एक मासिक पत्र के कार्यालय से २५) का मनीआर्डर आया था और वह अहल्या के पास बैठे हुए कपड़ों का प्रोग्राम बना रहे थे।

अहल्या ने कहा—मुझे अभी कपड़ों की जरूरत नहीं है। तुम अपने लिए एक अच्छा-सा कम्बल कोई १५) में ले लो। बाकी रुपयों में अपने लिए एक ऊनी कुरता और एक जूता ले लो। जूता बिलकुल फट गया है।

चक्रधर—१५) का कम्बल क्या होगा? मेरे लायक ३-४) में अच्छा कम्बल मिल जायगा। बाकी रुपयों से तुम्हारे लिए एक अलवान ला देता हूँ। सवेरे सवेरे उठकर तुम्हें काम-काज करना पड़ता है; कहीं सरदी खा जाओ, तो मुश्किल पड़े। ऊनी कुरते की जरूरत नहीं। हाँ, तुम एक सलूका बनवा लो। मैं तगड़ा आदमी हूँ, ठण्ढ सह सकता हूँ।

अहल्या—खूब तगड़े हो, क्या कहना है। जरा आइने में जाकर सूरत तो देखो। जब से यहाँ आये हो, आधी देह भी नहीं रही। मैं जानती कि यहाँ आकर तुम्हारी यह दशा हो जायगी, तो कभी घर से कदम न निकालती। मुझसे लोग छूत माना करते, क्या परवा थी? तुम तो आराम से रहते। मैं अलवान-सलवान न लूँगी, तुम आज एक कम्बल लाओ, नहीं तो मैं सच कहती हूँ, यदि मुझे बहुत दिक करोगे तो मैं आगरे चली जाऊँगी।

चक्रधर—तुम्हारी यही जिद तो मुझे अच्छी नहीं लगती। मैं कई साल से अपने को इसी ढंग के जीवन के लिए साध रहा हूँ। मैं दुबला हूँ तो क्या; गरमी-सरदी खूब सह सकता हूँ। तुम्हें यहाँ ९-१० महीने हुए, बताओ मेरे सिर में एक दिन भी दर्द हुआ। हाँ, तुम्हें कपड़े की जरूरत है। तुम अभी ले लो, अब की रुपए आयेंगे, तो मैं भी बनवा लूँगा।

इतने में डाकिये ने पुकारा। चक्रधर ने जाकर खत ले लिया और उसे पढ़ते हुए अन्दर आये। अहल्या ने पूछा—लालाजी का खत है न? लोग अच्छी तरह हैं न?

चक्रधर—मेरे आते ही न-जाने उन लोगों पर क्या साढ़ेसाती सवार हो गयी है कि जब देखो, एक न एक विपत्ति सवार ही रहती है। अभी मंगला बीमार थी। अब अम्माँ बीमार हैं। बाबूजी को खाँसी आ रही है। रानी साहब के यहाँ से अब वजीफा नहीं मिलता है। लिखा है कि इस वक्त ५०) अवश्य भेजो।

अहल्या—क्या अम्माँजी बहुत बीमार हैं?

चक्रधर—हाँ, लिखा तो है।

अहल्या—तो जाकर देख ही क्यों न आओ?

चक्रधर—तुम्हें अकेली छोड़कर ?

अहल्या—डर क्या है ?

चक्रधर—चलो। रात को कोई आकर लूट ले, तो चिल्ला भी न सको। कितनी बार सोचा कि चलकर अम्माँ को देख आऊँ; पर कभी इतने रुपए ही नहीं मिलते। अब बताओ, इन्हें रुपए कहाँ से भेजूँ ?

अहल्या—तुम्हीं सोचो, जो वैरागी बनकर बैठे हो। तुम्हें वैरागी बनना था, तो नाहक गृहस्थी के जंजाल में फँसे। मुझसे विवाह करके तुम सचमुच बला में फँस गये। मैं न होती, तो क्यों तुम यहाँ आते और क्यों यह दशा होती ? सबसे अच्छा है, तुम मुझे अम्माँ के पास पहुँचा दो। अब वह बेचारी अकेली रो-रोकर दिन काट रही होंगी। जाने से निहाल हो जायँगी।

चक्रधर—हम और तुम दोनों क्यों न चले चलें ?

अहल्या—जी नहीं, दया कीजिए। आप वहाँ भी मेरे प्राण खायँगे और बेचारी अम्माँजी को रुलायेंगे। मैं झूठों भी लिख दूँ कि अम्माँजी, मैं तकलीफ में हूँ, तो तुरत किसी को भेजकर मुझे बुला लें।

चक्रधर—मुझे बाबूजी पर बड़ा क्रोध आता है। व्यर्थ मुझे तंग करते हैं। अम्माँ की बीमारी तो बहाना है, सरासर बहाना।

अहल्या—यह बहाना हो या सच हो, ये पचीसों रुपए भेज दो। बाकी के लिए लिख दो कोई फिक्र करके जल्द ही भेज दूँगा। तुम्हारी तकदीर में इस साल जड़ावल नहीं लिखा है।

चक्रधर—लिखे देता हूँ, मैं खुद तंग हूँ, आपके पास कहाँ से भेजूँ ?

अहल्या—ऐ हटो भी, इतने रुपयों के लिए मुँह चुराते हो। भला, वह अपने दिल में क्या कहेंगे। ये रुपए चुपके से भेज दो।

चक्रधर कुछ देर तक तो मौन धारण किये बैठे रहे, मानो किसी गहरी चिन्ता में हों। एक क्षण के बाद बोले—किसी से कर्ज लेना पड़ेगा, और क्या।

अहल्या—नहीं, तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ, कर्ज मत लेना। इससे तो इन्कार कर देना ही अच्छा है।

चक्रधर—किसी ऐसे महाजन से लूँगा, जो तकादे न करेगा। अदा करना बिलकुल मेरी इच्छा पर होगा।

अहल्या—ऐसा कौन महाजन है, भई ? यहीं रहता है ? कोई दोस्त होगा ? दोस्त से तो कर्ज लेना ही न चाहिए। इससे तो महाजन कहीं अच्छा। कौन है, जरा उनका नाम तो सुनूँ ?

चक्रधर—अजी, एक पुराना दोस्त है, जिसने मुझसे कह रखा है कि तुम्हें जब रुपए की कोई ऐसी जरूरत आ पड़े, जो टाले न टल सके, तो तुम हमसे माँग लिया करना, फिर जब चाहे दे देना।

अहल्या—कौन है, बताओ, तुम्हें मेरी कसम।

चक्रधर—तुमने कसम रखा दी, यह बड़ी मुश्किल आ पड़ी। वह मित्र रानी मनोरमा हैं। उन्होंने मुझे घर से चलते समय एक छोटा-सा बेग दिया था। मैंने उस वक्त तो खोला नहीं; गाड़ी में बैठकर खोला, तो उसमें पाँच हजार रुपयों के नोट निकले। सब रुपए ज्यों के-त्यों रखे हुए हैं।

अहल्या—और तो कभी नहीं निकाला ?

चक्रधर—कभी नहीं, यह पहला मौका है।

अहल्या—तो भूलकर भी न निकालना।

चक्रधर—लालाजी जिन्दा न छोड़ेंगे, समझ लो।

अहल्या—साफ कह दो, मैं खाली हाथ हूँ, बस। रानीजी की अमानत किसी मौके से लौटानी होगी। अमीरों का एहसान कभी न लेना चाहिए, कभी-कभी उसके बदले में अपनी आत्मा तक बेचनी पड़ती है। रानीजी तो हमें बिलकुल भूल ही गयीं। एक खत भी न लिखा।

चक्रधर—आजकल उनको अपने घर के झगड़ों ही से फुरसत न मिलती होगी। राजा साहब से विवाह करके अपना जीवन ही नष्ट कर दिया।

अहल्या—हृदय बड़ा उदार है।

चक्रधर—उदार ! यह क्यों नहीं कहती कि अगर उनकी मदद न हो, तो प्रान्त की कितनी ही सेवा संस्थाओं का अन्त हो जाय। प्रान्त में यदि ऐसे लगभग दस प्राणी हो जायँ, तो बड़ा काम हो जाय।

अहल्या—ये रुपए लालाजी के पास भेज दो, तब तक और सरदी का मजा उठा लो।

अहल्या उस दिन बड़ी रात तक चिन्ता में पड़ी रही कि जड़ावल का क्या प्रबन्ध हो। चक्रधर ने सेवा कार्य का इतना भारी बोझ अपने सिर ले लिया था कि उनसे अधिक धन कमाने की आशा न की जा सकती थी। बड़ी मुश्किलों से रात को थोड़ा-सा समय निकालकर बेचारे कुछ लिख-पढ़ लेते थे। धन की उन्हें चेष्टा ही न थी। इसे वह केवल जीवन का उपाय समझते थे। अधिक धन कमाने के लिए उन्हें मजबूर करना उन पर अत्याचार करना था। उसने सोचना शुरू किया, मैं कुछ काम कर सकती हूँ या नहीं। सिलाई, और बूटे-कसीदे का काम वह खूब कर सकती थी, पर चक्रधर को यह कब मंजूर हो सकता था कि वह पैसे के लिए यह काम करे ? एक दिन उसने एक मासिक पत्रिका में अपनी एक सहेली का लेख देखा। दोनों आगरे में साथ-साथ पढ़ती थीं। अहल्या हमेशा उससे अच्छा नम्बर पाती थी। यह लेख पढ़ते ही अहल्या की वही दशा हुई, जो किसी असील घोड़े को चाबुक पड़ने पर होती है। वह कलम लेकर बैठ गयी और उसी विषय की आलोचना करने लगी, जिस पर उसकी सहेली का लेख था। वह इतनी तेजी से लिख रही थी, मानो भागते हुए विचारों को समेट रही हो। शब्द और वाक्य आप-ही-आप निकलते चले आते थे। आध घण्टे में उसने चार-

पाँच पृष्ठ लिख डाले। जब उसने उसे दुहराया, तो उसे ऐसा जान पड़ा कि मेरा लेख सहेली के लेख से अच्छा है। फिर भी उसे सम्पादक के पास भेजते हुए उसका जी डरता था कि कहीं अस्वीकृत न हो जाय। उसने दोनों लेखों को दो-तीन बार मिलाया और अन्त को तीसरे दिन भेज ही दिया। तीसरे दिन जवाब आया। लेख स्वीकृत हो गया था, फिर भेजने की प्रार्थना की गयी थी और शीघ्र ही पुरस्कार भेजने का वादा था। तीसरे दिन डाकिये ने एक रजिस्ट्री चिट्ठी लाकर दी। अहल्या ने खोला, तो १०) का नोट था। अहल्या फूली न समायी। उसे इस बात का सन्तोष-मय गर्व हुआ कि गृहस्थी में मैं भी मदद कर सकती हूँ। उसी दिन उसने एक दूसरा लेख लिखना शुरू किया, पर अबकी जरा देर लगी। तीसरे दिन लेख भेज दिया गया।

पूस का महीना लग गया। जोरों की सरदी पड़ने लगी। स्नान करते समय ऐसा मालूम होता था कि पानी काट खायगा, पर अभी तक चक्रधर जड़ावल न बनवा सके। एक दिन बादल हो आये और ठण्ढी हवा चलने लगी। चक्रधर १० बजे रात को अछूतों की किसी सभा से लौट रहे थे, तो मारे सरदी के कलेजा काँप उठा। चाल तेज की, पर सरदी कम न हुई। तब दौड़ने लगे। घर के समीप पहुँचकर थक गये। सोचने लगे—अभी से यह हाल है भगवान्, तो रात कैसे कटेगी? और मैं तो किसी तरह काट भी लूँगा, अहल्या का क्या हाल होगा? इस बेचारी को मेरे कारण बड़ा कष्ट हो रहा है। सच पूछो, तो मेरे साथ विवाह करना इसके लिए कठिन तपस्या हो गयी। कल सबसे पहले कपड़ों की फिक्र करूँगा। यह सोचते हुए वह घर आये, तो देखा कि अहल्या अँगीठी में कोयले भरे ताप रही है। आज वह बहुत प्रसन्न दिखायी देती थी। रात को रोज रोटी और कोई साग खाया करते थे। आज अहल्या ने पूरियाँ पकायी थीं, और सालन भी कई प्रकार का था। खाने में बड़ा मजा आया। भोजन करके लेटे तो दिखायी दिया, चारपाई पर एक बहुत अच्छा कम्बल पड़ा हुआ है। विस्मित होकर पूछा—यह कम्बल कहाँ था?

अहल्या ने मुसकिराकर कहा—मेरे पास ही रखा था। अच्छा है कि नहीं?

चक्रधर—तुम्हारे पास कम्बल कहाँ था? सच बताओ, कहाँ मिला? २०) से कम का न होगा।

अहल्या—तुम मानते ही नहीं, तो क्या करूँ। अच्छा, तुम्हीं बताओ कहाँ था?

चक्रधर—मोल लिया होगा। सच बताओ, रुपए कहाँ थे?

अहल्या—तुम्हें आम खाने से मतलब है या पेड़ गिनने से?

चक्रधर—जब तक यह न मालूम हो जाय कि आम कहाँ से आये, तब तक मैं उनमें हाथ भी न लगाऊँ।

अहल्या—मैंने कुछ रुपए बचा रखे थे। आज कम्बल मँगवा लिया।

चक्रधर—मैंने तुम्हें इतने रुपए कब दिये कि खर्च करके बच जाते। कितने का है?

अहल्या—२५) का। मैं थोड़ा-थोड़ा बचाती गयी थी।

चक्रधर—मैं यह मानने का नहीं। बताओ, रुपये कहाँ मिले?

अहल्या—बता ही दूँ। अब की मैंने 'आर्य-जगत्' को दो लेख भेजे थे। उसी के पुरस्कार के ३०) मिले थे। आजकल एक और लेख लिख रही हूँ।

अहल्या ने समझा था, चक्रधर यह सुनते ही खुशी से उछल पड़ेंगे और प्रेम से मुझे गले लगा लेंगे; लेकिन यह आशा पूरी न हुई। चक्रधर ने उदासीन भाव से पूछा—कहाँ हैं लेख, जरा 'आर्य-जगत्' देखूँ?

अहल्या ने दोनों 'अंक' लाकर उनको दे दिये और लजाते हुए बोली—कुछ है नहीं, ऊट-पटाँग जो जी में आया, लिख डाला।

चक्रधर ने सरसरी निगाह से लेखों को देखा। ऐसी सुन्दर भाषा वह खुद न लिख सकते थे। विचार भी बहुत गम्भीर और गहरे थे। अगर अहल्या ने खुद न कहा होता, तो वह लेखों पर उसका नाम देखकर भी यही समझते कि इस नाम की कोई दूसरी महिला होगी। उन्हें कभी खयाल ही न हो सकता था कि अहल्या इतनी विचारशील है; मगर यह जानकर भी वह खुश नहीं हुए। उनके अहंकार को धक्का-सा लगा। उनके मन में गृहस्वामी होने का जो गर्व अलक्षित रूप से बैठा हुआ था, वह चूर-चूर हो गया। वह अज्ञात भाव से बुद्धि में, विद्या में एवं व्यावहारिक ज्ञान में अपने को अहल्या से ऊँचा समझते थे। रुपए कमाना उनका काम था। यह अधिकार उनके हाथ से छिन गया। विमन होकर बोले—तुम्हारे लेख बहुत अच्छे हैं, और पहली ही कोशिश में तुम्हें पुरस्कार भी मिल गया, यह और खुशी की बात है; लेकिन मुझे तो कम्बल की जरूरत न थी। कम से-कम मैं इतना कीमती कम्बल न चाहता था; इसे तुम्हीं ओढ़ो। आखिर तुम्हारे पास तो वही एक पुरानी चादर है। मैं अपने लिए दूसरा कम्बल ले लूँगा।

अहल्या समझ गयी कि यह बात इन्हें बुरी लगी। बोली—मैंने पुरस्कार के इरादे से तो लेख न लिखे थे। अपनी एक सहेली का लेख पढ़कर मुझे भी दो-चार बातें सूझ गयीं। लिख डालीं। अगर तुम्हारी इच्छा नहीं है, तो अब न लिखूँगी।

चक्रधर—नहीं, नहीं, मैं तुम्हें लिखने को मना नहीं करता। तुम शौक से लिखो; मगर मेरे लिए तुम्हें यह कष्ट उठाने की जरूरत नहीं। मुझे ऐश करना होता, तो सेवा-क्षेत्र में आता ही क्यों? मैं सब सोच समझकर इधर आया हूँ; मगर अब देख रहा हूँ कि 'माया और राम' दोनों साथ नहीं मिलते। मुझे राम को त्यागकर माया की उपासना करनी पड़ेगी।

अहल्या ने कातर भाव से कहा—मैंने तो तुमसे किसी बात की शिकायत नहीं की। अगर तुम जो हो, वह न होकर धनी होते, तो शायद मैं अब तक क्वाँरी ही रहती। धन की मुझे लालसा न तब थी, न अब है। तुम-जैसा रत्न पाकर अगर मैं धन के लिए रोऊँ, तो मुझसे बढ़कर अभागिनी कोई संसार में न होगी। तुम्हारी तपस्या में योग देना मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ। मैंने केवल यह सोचा कि जब मैंने मेहनत की है, तो उसकी

मजूरी ले लेने में क्या हरज है। यह कम्बल तो कोई शाल नहीं है, जिसे ओढ़ने से संकोच हो। मेरे लिए चादर काफी है। तुम्हें जब रुपए मिलें, तो मेरे लिए एक लिहाफ बनवा देना।

कम्बल रात-भर ज्यों का-त्यों तह किया हुआ पड़ा रहा। सरदी के मारे चक्रधर को नींद न आती थी; पर कम्बल को छुआ तक नहीं। उसका एक-एक रोयाँ सर्प की भाँति काटने दौड़ता था। एक बार उन्होंने अहल्या की ओर देखा। वह हाथ-पाँव सिकोड़े, चादर सिर से ओढे एक गठरी की तरह पड़ी हुई थी, पर उन्होंने उसे भी वह कम्बल न ओढ़ाया। उनका स्नेह-करुण हृदय रो पड़ा। ऐसा मालूम होता था, मानो कोई फूल तुषार से मुरझा गया हो। उनकी अन्तरात्मा सहस्रों जिह्वाओं से उनका तिरस्कार करने लगी। समस्त ससार उन्हें धिक्कारता हुआ जान पड़ा—तेरी लोक-सेवा केवल भ्रम है, कोरा प्रमाद है। जब तू उस रमणी की रक्षा नहीं कर सकता, जो तुझपर अपने प्राण तक अर्पण कर सकती है, तो तू जनता का उपकार क्या करेगा? त्याग और भोग में दिशाओं का अन्तर है। चक्रधर उन्मत्तों की भाँति चारों ओर देखने लगे कि कोई ऐसी चीज मिले जो इसे ओढ़ा सकूँ, लेकिन पुरानी धोतियों के सिवा उन्हें और कोई चीज न नजर आयी। उन्हें इस समय भीषण मर्म वेदना हो रही थी। अपना व्रत और सयम, अपना समस्त जीवन शुष्क और निरर्थक जान पड़ता था। जिस दरिद्रता का उन्होंने सदैव आह्वान किया था, वह इस समय भयकर शाप की भाँति उन्हें भयभीत कर रही थी। जिस रमणी-रत्न की ज्योति से रनिवास में उजाला हो जाता था, उसको मेरे हाथों यह यन्त्रणा मिल रही है। सहसा अहल्या ने आँखें खोल दीं और बोली—तुम खड़े क्या कर रहे हो? मैं अभी स्वप्न देख रही थी कि कोई पिशाच मुझे नदी के शीतल जल में डुबाये देता है। अभी तक छाती धड़क रही है।

चक्रधर ने ग्लानित होकर कहा—वह पिशाच मैं ही हूँ, अहल्या! मेरे ही हाथों तुम्हें यह कष्ट मिल रहा है।

अहल्या ने पति का हाथ पकड़कर चारपाई पर सुला दिया और वही कम्बल ओढ़ाकर बोली—तुम मेरे देवता हो, जिसने मुझे मझधार से निकाला है। पिशाच मेरा मन है, जो मुझे डुबाने की चेष्टा कर रहा है।

इतने में पड़ोस के एक मुर्ग ने बाँग दी। अहल्या ने किवाड़ खोलकर देखा, तो प्रभात-कुसुम खिल रहा था। चक्रधर को आश्चर्य हुआ कि इतनी जल्द रात कैसे कट गयी।

आज वह नाश्ता करते ही कहीं बाहर न गये, बल्कि अपने कमरे में जाकर कुछ लिखते-पढ़ते रहे। शाम को उन्हें कुमार सभा में एक वक्तृता देनी थी। विषय था 'समाज-सेवा'। इस विषय को छोड़कर वह पूरे घण्टे-भर तक ब्रह्मचर्य की महिमा गाते रहे। सात बजते-बजते वह फिर लौट आये और दस बजे तक कुछ लिखते रहे। आज से यही उनका नियम हो गया। नौकरी तो वह कर न सकते थे। चित्त को इससे घृणा होती थी;

लेकिन अधिकांश समय पुस्तकें और लेख लिखने मे बिताते। उनकी विद्या और बुद्धि अब सेवा के अधीन नहीं, स्वार्थ के अधीन हो गयी। भाव के साथ उनके जीवन-सिद्धान्त भी बदल गये। बुद्धि का उद्देश्य केवल तत्व-निरूपण और विद्या-प्रसार न रहा, वह धनोपार्जन का मन्त्र बन गया। उस मकान में अब उन्हें कष्ट होने लगा। दूसरा मकान लिया, जिसमे बिजली के पंखे और रोशनी थी। इन नये साधनो से उन्हें लिखने पढ़ने में और भी आसानी हो गयी। बरसात मे मच्छरों के मारे कोई मानसिक काम न कर सकते थे। गरमी मे तो उस नन्हें-से आँगन में बैठना भी मुश्किल था; काम करने का जिक्र ही क्या। अब वह खुली हुई छत पर बिजली के पखे के सामने शाम ही से बैठकर काम करने लगते थे। अहल्या खुद तो कुछ न लिखती; पर चक्रधर की सहायता करती रहती थी। लेखों को साफ करना, अन्य पुस्तकों और पत्रों से अवतरणों को नकल करना उसका काम था। पहले ऊसर की खेती करते थे, जहाँ न धन था, न कीर्ति। अब धन भी मिलता था और कीर्ति भी। पत्रों के सम्पादक उनसे आग्रह करके लेख लिखवाते थे। लोग इन लेखों को बड़े चाव से पढ़ते थे। भाषा भी अलकृत होती थी, भाव भी सुन्दर, विषय भी उपयुक्त। दर्शन से उन्हें विशेष रुचि थी। उनके लेख भी अधिकाश दार्शनिक होते थे।

पर चक्रधर को अब अपने कृत्यों पर गर्व न था। उन्हें काफी धन मिलता था। यूरप और अमेरिका के पत्रों में भी उनके लेख छपते थे। समाज मे उनका आदर भी कम न था; सेवा-कार्य मे जो सन्तोष और शान्ति मिलती थी, वह अब मयस्सर न थी। अपने दीन, दुखी एवं पीड़ित बन्धुओं की सेवा करने मे जो गौरव-युक्त आनन्द मिलता था, वह अब सभ्य समाज की दावतों मे न प्राप्त होता था। मगर अहल्या सुखी थी। वह अब सरल बालिका नहीं, गौरवशील युवती थी—गृह-प्रबन्ध में कुशल, पति-सेवा में प्रवीण, उदार, दयालु और नीति चतुर। मजाल न थी कि नौकर उसकी आँख बचाकर एक पैसा भी खा जाय। उसकी सभी अभिलाषाएँ पूरी होती जाती थीं। ईश्वर ने उसे एक सुन्दर बालक भी दे दिया। रही सही कसर भी पूरी हो गयी।

इस प्रकार पाँच साल गुजर गये।

एक दिन काशी से राजा विशालसिंह का तार आया। लिखा था—'मनोरमा बहुत बीमार है। तुरन्त आइए। बचने की कम आशा है।' चक्रधर के हाथ से कागज छूट कर गिर पड़ा। अहल्या सँभाल न लेती, तो शायद वह खुद भी गिर पड़ते। ऐसा मालूम हुआ, मानो मस्तक पर किसी ने लाठी मार दी हो। आँखों के सामने तितलियाँ सी उड़ने लगीं। एक क्षण के बाद सँभलकर बोले—मेरे कपड़े बक्स में रख दो, मैं इसी गाड़ी से जाऊँगा।

अहल्या—यह हो क्या गया है? अभी तो लालाजी ने लिखा था कि वहाँ सब कुशल है।

चक्रधर—क्या कहा जाय? कुछ नहीं, यह सब यह ... का फल है। मनोरमा ने

राजा साहब से विवाह करके बड़ी भूल की। सौतों ने तानों से छेद-छेदकर उसकी जान ले ली। राजा साहब उसपर जान देते थे। यही सारे उपद्रव की जड़ है। अहल्या! वह स्त्री नहीं है, देवी है।

अहल्या—हम लोगों के यहाँ चले आने से शायद नाराज हो गयीं। इतने दिनों में केवल मुन्नू के जन्मोत्सव पर एक पत्र लिखा था।

चक्रधर—हाँ, उनकी यही इच्छा थी कि हम सब उनके साथ रहें।

अहल्या—कहो तो मैं भी चलूँ? देखने को जी चाहता है। उनका शील और स्नेह कभी न भूलेगा।

चक्रधर—योगेन्द्र बाबू को साथ लेते चलें। इनसे अच्छा तो यहाँ और कोई डाक्टर नहीं है।

अहल्या—अच्छा तो होगा। डाक्टर साहब से तुम्हारी दोस्ती है, खूब दिल लगाकर दवा करेंगे।

चक्रधर—मगर तुम मेरे साथ लौट न सकोगी, यह समझ लो। मनोरमा तुम्हें इतनी जल्द न आने देगी।

अहल्या—वह अच्छी तो हो जायँ। लौटने की बात पीछे देखी जायगी। तो तुम जाकर डाक्टर साहब को तैयार करो। मैं यहाँ सब सामान कर रही हूँ।

दस बजते-बजते में लोग यहाँ से डाक पर चले। अहल्या खिड़की से पावस का मनोहर दृश्य देखती थी, चक्रधर व्यग्र हो होकर घड़ी देखते थे कि पहुँचने में कितनी देर है और मुन्नू खिड़की से बाहर कूद पड़ने के लिए जोर लगा रहा था।

३०

चक्रधर जगदीशपुर पहुँचे, तो रात के आठ बज गये थे। राजभवन के द्वार पर हजारों आदमियों की भीड़ थी। अन्न दान दिया जा रहा था और कँगले एक-पर एक टूटे पड़ते थे। सिपाही धक्के-पर-धक्के देते थे, पर कगलों का रेला कम न होता था। शायद वे समझते थे कि कहीं हमारी बारी आने से पहले ही सारा अन्न समाप्त न हो जाय, अन्न कम हो जाने पर थोड़ा-थोड़ा देकर ही न टरका दें। मुशी वज्रधर बार-बार चिल्ला रहे थे—क्यों एक दूसरे पर गिरे पड़ते हो? सबको मिलेगा कोई खाली न जायगा, सैकड़ों बोरे भरे हुए हैं, लेकिन उनके आश्वासन का कोई असर न दिखायी देता था। छोटी सी बस्ती में इतने आदमी भी मुश्किल से होंगे। इतने कङ्गाल न-जाने कहाँ से फट पड़े थे।

सहसा मोटर की आवाज सुनकर सामने देखा, तो भीड़ को हटाकर दौड़े और चक्रधर को गले लगा लिया। पिता और पुत्र दोनों रो रहे थे, पिता मे पुत्र-स्नेह था, पुत्र में पितृ भक्ति थी, किसी के दिल में जरा भी मैल न था, फिर भी वे आज पाँच साल के बाद मिल रहे हैं। कितना घोर अनर्थ है।

अहल्या पति के पीछे खड़ी थी। मुन्नू उसकी गोद में बैठा बड़े कुतूहल से दोनों

आदमियों का रोना देख रहा था। उसने समझा, इन दोनों में मार-पीट हुई है, शायद दोनों ने एक दूसरे का गला पकड़कर दबाया है, तभी तो यों रो रहे हैं। बाबूजी का गला दुख रहा होगा। यह सोचकर उसने भी रोना शुरू किया। मुंशीजी उसे रोते देखकर प्रेम से बढ़े कि उसको गोद में लेकर प्यार करूँ तो बालक ने मुँह फेर लिया। जिसने अभी-अभी बाबूजी को मारकर रुलाया है, वह क्या मुझे न मारेगा? कैसा विकराल रूप है? अवश्य मारेगा।

अभी दोनों आदमियों में कोई बात न होने पायी थी कि राजा साहब दौड़ते हुए भीतर से आते दिखायी दिये। सूरत से नैराश्य और चिन्ता झलक रही थी। शरीर भी दुर्बल था। आते-ही-आते उन्होंने चक्रधर को गले लगाकर पूछा—मेरा तार कब मिल गया था?

चक्रधर—कोई आठ बजे मिला होगा। पढ़ते ही मेरे होश उड़ गये। रानीजी की क्या हालत है?

राजा—वह तो अपनी आँखों देखोगे, मैं क्या कहूँ। अब भगवान् ही का भरोसा है। अहा! यह शंखधर महाशय हैं।

यह कहकर उन्होंने बालक को गोद में ले लिया और स्नेहपूर्ण नेत्रों से देखकर बोले—मेरी सुखदा बिलकुल ऐसी ही थी। ऐसा जान पड़ता है, यह उसका छोटा भाई है। उसकी सूरत अभी तक मेरी आँखों में है। मुख से बिलकुल ऐसी ही थी।

अन्दर जाकर चक्रधर ने मनोरमा को देखा। वह मोटे गद्दों में ऐसी समा गयी थी कि मालूम होता था कि पलँग खाली है, केवल चादर पड़ी है। चक्रधर की आहट पाकर उसने मुँह चादर से बाहर निकाला। दीपक के क्षीण प्रकाश में किसी दुर्बल की आह असहाय नेत्रों से आकाश की ओर ताक रही थी!

राजा साहब ने आहिस्ता से कहा—नोरा, तुम्हारे बाबूजी आ गये!

मनोरमा ने तकिये का सहारा लेकर कहा—मेरे धन्य भाग! आइए बाबूजी, आपके दर्शन भी हो गये। तार न जाता, तो आप क्यों आते?

चक्रधर—मुझे तो बिलकुल खबर ही न थी। तार पहुँचने पर हाल मालूम हुआ।

मनोरमा—खैर, आपने बड़ी कृपा की। मुझे तो आपके आने की आशा ही न थी।

राजा—बार-बार कहती थी कि वह न आयेंगे, उन्हें इतनी फ़ुरसत कहाँ; पर मेरा मन कहता था, आप यह समाचार पाकर रुक ही नहीं सकते। शहर के सब चिकित्सकों को देख चुका। किसी से कुछ न हो सका। अब तो ईश्वर ही का भरोसा है।

चक्रधर—मैं भी एक डाक्टर को साथ लाया हूँ। बहुत ही होशियार आदमी हैं।

मनोरमा—(बालक को देखकर) अच्छा! अहल्यादेवी भी आयी हैं? जरा यहाँ तो लाना, अहल्या! इसे छाती से लगा लूँ।

राजा—इसकी सूरत सुखदा से बहुत मिलती है, नोरा! बिलकुल उसका छोटा भाई

मालूम होता है ?

'सुखदा' का नाम सुनकर अहल्या पहले भी चौंकी थी। अब की वही शब्द सुनकर फिर चौंकी! बाल-स्मृति किसी भूले हुए स्वप्न की भाँति चेतना-क्षेत्र मे आ गयी। उसने घूँघट की आड़ से राजा साहब की ओर देखा। उसे अपनी स्मृति पर ऐसा ही आकार खिचा हुआ मालूम पड़ा।

बालक को स्पर्श करते ही मनोरमा के जर्जर शरीर में एक स्फूर्ति-सी दौड़ गयी। मानो किसी ने बुझते हुए दीपक की बत्ती उकसा दी हो। बालक को छाती से लगाये हुए उसे अपूर्व आनन्द मिल रहा था, मानों बरसों के तृषित कण्ठ को शीतल जल मिल गया हो, और उसकी प्यास न बुझती हो। वह बालक को लिये हुए उठ बैठी और बोली—अहल्या, मैं अब यह लाल तुम्हें न दूँगी। यह मेरा है। तुमने इतने दिनों तक मेरी सुध न ली, यह उसी की सजा है।

राजा साहब ने मनोरमा को सँभालकर कहा—लेट जाओ, लेट जाओ। देह में हवा लग रही है। क्या करती हो।

किन्तु मनोरमा बालक को लिये हुए कमरे के बाहर निकल गयी। राजा साहब भी उसके पीछे पीछे दौड़े कि कहीं वह गिर न पड़े। कमरे मे केवल चक्रधर और अहल्या रह गये। अहल्या धीरे से बोली—मुझे अब याद आ रहा है कि मेरा भी नाम सुखदा था। जब मै बहुत छोटी थी, तो मुझे लोग सुखदा कहते थे।

चक्रधर ने बेपरवाही से कहा—हाँ, यह कोई नया नाम नहीं।

अहल्या—मेरे बाबूजी की सूरत राजा साहब से बहुत मिलती है।

चक्रधर ने उसी लापरवाही से कहा—हाँ, बहुत-से आदमियों की सूरत मिलती है।

अहल्या—नहीं बिलकुल ऐसे ही थे।

चक्रधर—हो सकता है। २० वर्ष की सूरत अच्छी तरह ध्यान में भी तो नहीं रहती।

अहल्या—जरा तुम राजा साहब से पूछो तो कि आपकी सुखदा कब खोयी थी?

चक्रधर ने झुँझलाकर कहा—चुपचाप बैठो, तुम इतनी भाग्यवान् नहीं हो। राजा साहब की सुखदा कहीं खोयी नहीं, मर गयी होगी।

राजा साहब इसी वक्त बालक को गोद में लिये मनोरमा के साथ कमरे में आये। चक्रधर के अन्तिम शब्द उनके कान में पड़ गये। बोले—नहीं बाबूजी, मेरी सुखदा मरी नहीं, त्रिवेणी के मेले में खो गयी थी। आज बीस साल हुए, जब मै पत्नी के साथ त्रिवेणी स्नान करने प्रयाग गया था, वहीं सुखदा खो गयी थी। उसकी उम्र कोई चार साल की रही होगी। बहुत ढूँढा, पर कुछ पता न चला। उसकी माता उसके वियोग में स्वर्ग सिधारीं। मै भी बरसों तक पागल बना रहा। अन्त में सब्र करके बैठ रहा।

अहल्या ने सामने आकर निस्संकोच भाव से कहा—मैं भी तो त्रिवेणी के स्नान में खो गयी थी। आगरा की सेवा-समितिवालों ने मुझे कहीं रोते पाया, और मुझे आगरे

ले गये। बाबू यशोदानन्दन ने मेरा पालन पोषण किया।

राजा—तुम्हारी क्या उम्र होगी, बेटी?

अहल्या—चौबीसवाँ लगा है।

राजा—तुम्हें अपने घर की कुछ याद है? तुम्हारे द्वार पर किस चीज का पेड़ था।

अहल्या—शायद बरगद का पेड़ था। मुझे याद आता है कि मैं उसके गोदे चुनकर खाया करती थी।

राजा—अच्छा, तुम्हारी माता कैसी थी? कुछ याद आता है?

अहल्या—हाँ, याद क्यों नहीं आता! उनका साँवला रंग था, दुबली-पतली, लेकिन बहुत लम्बी थीं। दिन-भर पान खाती रहती थीं।

राजा—घर में कौन कौन लोग थे?

अहल्या—मेरी एक बुढ़िया दादी थी, जो मुझे गोद में लेकर कहानी सुनाया करती थी। एक बूढ़ा नौकर था, जिसके कन्धे पर मैं रोज सवार हुआ करती थी। द्वार पर एक बड़ा-सा घोड़ा बँधा रहता था। मेरे द्वार पर एक कुआँ था और पिछवाड़े एक बुढिया चमारिन का मकान था।

राजा ने सजल-नेत्र होकर कहा—बस बस, बेटी आ; तुझे छाती लगा लूँ। तू ही मेरी सुखदा है। मैं बालक को देखते ही ताड़ गया था। मेरी सुखदा मिल गयी! मेरी सुखदा मिल गयी!

चक्रधर—अभी शोर न कीजिए। सम्भव है आपको भ्रम हो रहा हो।

राजा—जरा भी नहीं, जौ-भर भी नहीं; मेरी सुखदा यही है। इसने जितनी बातें बतायीं, सभी ठीक हैं। मुझे लेश-मात्र भी सन्देह नहीं। आह! आज तेरी माता होती तो उसे कितना आनन्द होता! क्या लीला है भगवान की! मेरी सुखदा घर-बैठे मेरी गोद में आ गयी। जरा सी गयी थी, बड़ी-सी आयी। अरे! मेरा शोक-सन्ताप हरने को एक नन्हा-मुन्ना बालक भी लायी। आओ, भैया चक्रधर, तुम्हें छाती से लगा लूँ। अब तक तुम मेरे मित्र थे, अब मेरे पुत्र हो। याद है, मैंने तुम्हें जेल भिजवाया था? नोरा, ईश्वर की लीला देखी? सुखदा घर में थी, और मैं उसके नाम को रो बैठा था। अब मेरी सारी अभिलाषा पूरी हो गयी। जिस बात की आशा तक मिट गयी थी, वह आज पूरी हो गयी।

चक्रधर विमन भाव से खड़े थे, मनोरमा अंगों फूली न समाती थी। अहल्या अभी तक खड़ी रो रही थी। सहसा रोहिणी कमरे के द्वार से जाती हुई दिखायी दी। राजा साहब उसे देखते ही बाहर निकल आये और बोले—कहाँ जाती हो, रोहिणी? मेरी सुखदा मिल गयी। आओ, देखो, यह उसका लड़का है।

रोहिणी वहीं ठिठक गयी और सन्देहात्मक भाव से बोली—क्या स्वर्ग से लौट आयी है, क्या?

राजा—नहीं-नहीं, आगरे में थी। देखो, यह उसका लड़का है। मेरी सूरत इससे

कितनी मिलती है ! आओ, सुखदा को देखो। मेरी सुखदा खड़ी है।

रोहिणी ने वहीं खड़े-खड़े उत्तर दिया—यह आपकी सुखदा नहीं, रानी मनोरमा की माया मूर्ति है, जिसके हाथों में आप कठपुतली की भाँति नाच रहे हैं।

राजा ने विस्मित होकर कहा—क्या यह मेरी सुखदा नहीं है। कैसी बात कहती हो ? मैंने खूब परीक्षा करके देख लिया है।

रोहिणी—ऐसे मदारी के खेल बहुत देख चुकी हूँ। भड़री भी आपको ऐसी बातें बता देता है, जो आपको आश्चर्य में डाल देती हैं। यह सब माया लीला है।

राजा—क्यों व्यर्थ किसी पर आक्षेप करती हो, रोहिणी ? मनोरमा को भी तो वे बातें नहीं मालूम हैं, जो सुखदा ने मुझसे बता दीं। भला, किसी गैर की लड़की को मनोरमा क्यों मेरी लड़की बनायेगी ? इसमें उसका क्या स्वार्थ हो सकता है ?

रोहिणी—वह हमारी जड़ खोदना चाहती है। क्या आप इतना भी नहीं समझते ? चक्रधर को राजा बनाकर वह आपको कोने में बैठा देगी। यही बालक, जो आपकी गोद में है, एक दिन आपका शत्रु होगा। यह सब सधी हुई बातें हैं। जिसे आप मिट्टी की गऊ समझते हैं, वह आप जैसों को बाजार में बेच सकती है। किसकी बुद्धि इतनी ऊँची उड़ेगी !

राजा ने व्यग्र होकर कहा—अच्छा, अब चुप रहो, रोहिणी ! मुझे मालूम हो गया कि तुम्हारे हृदय में मेरे अमंगल के सिवा और किसी भाव के लिए स्थान नहीं है ! आज न-जाने किसके पुण्य प्रताप से ईश्वर ने मुझे यह शुभ दिन दिखाया, है, और तुम मुँह से ऐसे कुवचन निकाल रही हो। ईश्वर ने मुझे वह सब कुछ दे दिया, जिसकी मुझे स्वप्न में भी आशा न थी। यह बाल-रत्न मेरी गोद में खेलेगा, इसकी किसे आशा थी ! और ऐसे शुभ अवसर पर तुम यह विष उगल रही हो। मनोरमा के पैर के धूल की बराबरी भी तुम नहीं कर सकतीं। जाओ, मुझे तुम्हारा मुख देखते हुए रोमाञ्च होता है। तुम स्त्री के रूप में पिचाशिनी हो।

यह कहते हुए राजा साहब उसी आवेश में दीवानखाने में जा पहुँचे। द्वार पर अभी तक कँगालों की भीड़ लगी हुई थी। दो चार अमले अभी तक बैठे दफ़्तर में काम कर रहे थे। राजा साहब ने बालक को कन्धे पर बिठाकर उच्च स्वर से कहा—मित्रों ! यह देखो, ईश्वर की असीम कृपा से मेरा निवासा घर बैठे मेरे पास आ गया। तुम लोग जानते हो कि बीस साल हुए, मेरी पुत्री सुखदा त्रिवेणी के स्नान में खो गयी थी ? वही सुखदा आज मुझे मिल गयी है और यह बालक उसी का पुत्र है। आज से तुम लोग इसे अपना युवराज समझो। मेरे बाद यही मेरी रियासत का स्वामी होगा। गारद से कह दो, अपने युवराज को सलामी दे। नौबतखाने में कह दो, नौबत बजे। आज के सातवें दिन राजकुमार का अभिषेक होगा। अभी से उसकी तैयारी शुरू करो।

यह हुक्म देकर राजा साहब बालक को गोद में लिये ठाकुरद्वारे में जा पहुँचे। वहाँ इस समय ठाकुरजी के भोग की तैयारियाँ हो रही थीं। साधु-सन्तों की मण्डली जमा

थी। एक पण्डित कोई कथा कह रहे थे; लेकिन श्रोताओं के कान उसी घण्टी की ओर लगे थे, जो ठाकुरजी की पूजा की सूचना देगी और जिसके बाद तर माल के दर्शन होंगे। सहसा राजा साहब ने आकर ठाकुरजी के सामने बालक को बैठा दिया और खुद साष्टांग दण्डवत् करने लगे। इतनी श्रद्धा से उन्होंने अपने जीवन में कभी ईश्वर की प्रार्थना न की थी। आज उन्हें ईश्वर से साक्षात्कार हुआ। उस अनुराग में उन्हें समस्त संसार आनंद से नाचता हुआ मालूम हुआ। ठाकुरजी स्वयं अपने सिंहासन से उतरकर बालक को गोद में लिये हुए हैं। आज उनकी चिर-संचित कामना पूरी हुई, और इस तरह पूरी हुई, जिसकी उन्हें कभी आशा भी न थी। यह ईश्वर की दया नहीं तो और क्या है? पुत्र-रत्न के सामने संसार की सम्पदा क्या चीज है? अगर पुत्र-रत्न न हो, तो संसार की सम्पदा का मूल्य ही क्या है, जीवन की सार्थकता ही क्या है, कर्म का उद्देश्य ही क्या है? अपने लिए कौन दुनिया के मनसूबे बाँधता है? अपना जीवन तो मनसूबों में ही व्यतीत हो जाता है, यहाँ तक कि जब मनसूबे पूरे होने के दिन आते हैं, तो हमारी संसार-यात्रा समाप्त हो चुकी होती है। पुत्र ही आकांक्षाओं का स्रोत, चिन्ताओं का आगार, प्रेम का बन्धन और जीवन का सर्वस्व है। वही पुत्र आज विशालसिंह को मिल गया था। उसे देख-देखकर उनकी आँखें आनन्द से उमड़ी आती थीं, हृदय पुलकित हो रहा था। इधर अबोध बालक को छाती से लगाकर उन्हें अपना बल शतगुण होता हुआ ज्ञात होता था। अब उनके लिए संसार ही स्वर्ग था।

पुजारीने कहा—भगवान् राजकुँवर को चिरञ्जीव करें!

राजा ने अपनी हीरे की अँगूठी उसे दे दी। एक बाबाजी को इसी आशीर्वाद के लिए १०० बीघे जमीन मिल गयी।

ठाकुरद्वारे से जब वह घर में आये, तो देखा कि चक्रधर आसन पर बैठे भोजन कर रहे हैं, और मनोरमा सामने खड़ी खाना परस रही है। उसके मुख-मंडल पर हार्दिक उल्लास की कान्ति झलक रही थी। कोई यह अनुमान ही न कर सकता था कि यह वही मनोरमा है, जो अभी दस मिनट पहले मृत्यु शय्या पर पड़ी हुई थी।

३१

यौवन-काल जीवन का स्वर्ग है। बाल्य-काल में यदि हम कल्पनाओं के राग गाते हैं, तो यौवन-काल में हम उन्हीं कल्पनाओं का प्रत्यक्ष स्वरूप देखते हैं, और वृद्धावस्था में उसी स्वरूप का स्वप्न। कल्पना अपंगु होती है, स्वप्न मिथ्या, जीवन का सार केवल प्रत्यक्ष में है। हमारी दैहिक और मानसिक शक्ति का विकास यौवन है। यदि समस्त संसार की सम्पदा एक ओर रख दी जाय, और यौवन दूसरी ओर तो ऐसा कौन प्राणी है, जो उस विपुल धन-राशि की ओर आँख उठाकर भी देखे। वास्तव में यौवन ही जीवन का स्वर्ग है, और रानी देवप्रिया की-सी सौभाग्यवती और कौन होगी, जिसके लिए यौवन के द्वार फिर से खुल गये थे।

सन्ध्या का समय था। देवप्रिया एक पर्वत की गुफा में एक शिला पर अचेत पड़ी

हुई थी। महेन्द्र उसके मुख की ओर आशापूर्ण नेत्रों से देख रहे थे। उनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया है, मुख पीला पड़ गया है और आँखें भीतर घुस गयी हैं, जैसे कोई यक्ष्मा का रोगी हो, यहाँ तक कि उन्हें साँस लेने में भी कष्ट होता है। जीवन का कोई चिह्न है, तो उसके नेत्रों में आशा की झलक है। आज उनकी तपस्या का अन्तिम दिन है, आज देवप्रिया का पुनर्जन्म होगा, सूखा हुआ वृक्ष नव-पल्लवों से लहरायेगा, आज फिर उसके यौवन-सरोवर में लहरें उठेंगी। आकाश में कुसुम खिलेंगे। वह बारबार उसके चेतनाशून्य हृदय पर हाथ रखकर देखते हैं कि रक्त का सचार होने में कितनी देर है, और जीवन का कोई लक्षण न देखकर व्यग्र हो उठते हैं। इन्हें भय हो रहा है, मेरी तपस्या निष्फल तो न हो जायगी।

एकाएक महेन्द्र चौंककर उठ खड़े हुए। आत्मोल्लास से मुख चमक उठा। देवप्रिया की हृत्तन्त्रियों में जीवन के कोमल सगीत का कम्पन हो रहा था। जैसे वीणा के अस्फुट स्वरों से शनैः-शनैः गान का स्वरूप प्रस्फुटित होता है, जैसे मेघ-मण्डल से शनैः-शनैः इन्दु की उज्ज्वल छवि प्रकट होती हुई दिखायी देती है, उसी भाँति देवप्रिया के श्री-हीन, सज्ञा-हीन, प्राण-हीन मुखमण्डल पर जीवन का स्वरूप अंकित होने लगा। एक क्षण में उसके नीले अधरों पर लालिमा छा गयी, आँखें खुल गयीं, मुख पर जीवन श्री का विकास हो गया। उसने एक अँगड़ाई ली और विस्मित नेत्रों से इधर-उधर देखकर शिला-शैया से उठ बैठी। कौन कह सकता था कि वह महानिद्रा की गोद से निकलकर आयी है? उसका मुख-चन्द्र अपनी सोलहों कलाओं से आलोकित हो रहा था। यह वही देवप्रिया थी, जो आशा और भय से काँपता हुआ हृदय लिये आज से चालीस वर्ष पहले पति गृह में आयी थी। वही यौवन का माधुर्य था, वही नेत्रों को मुग्ध करने वाली छवि थी, वही सुधा मय मुस्कान, वही सुकोमल गात! उसे अपने पोर-पोर में नये जीवन का अनुभव हो रहा था, लेकिन कायाकल्प हो जाने पर भी उसे अपने पूर्व-जीवन की सारी बातें याद थीं। वैधव्य-काल की विलासिता भीषण रूप धारण करके उसके सामने खड़ी थी। एक क्षण तक लज्जा और ग्लानि के कारण वह कुछ बोल न सकी। अपने पति की इस प्रेम-मय तपस्या के सामने उसका विलास-मय जीवन कितना घृणित, कितना लज्जास्पद था!

महेन्द्र ने मुस्कराकर कहा—प्रिये, आज मेरा जीवन सफल हो गया। अभी एक क्षण पहले तुम्हारी दशा देखकर मैं अपने दुस्साहस पर पछता रहा था।

देवप्रिया ने महेन्द्र का प्रेम मुग्ध नेत्रों से देखकर कहा—प्राणनाथ, तुमने मेरे साथ जो उपकार किया है, उसका धन्यवाद देने के लिए मेरे पास शब्द ही नहीं हैं।

देवप्रिया की प्रबल इच्छा हुई कि स्वामी के चरणों पर सिर रख दूँ और कहूँ, कि तुमने मेरा उद्धार कर दिया, मुझे वह अलभ्य वस्तु प्रदान कर दी, जो आज तक किसी ने न पायी थी, जो सर्वदा से मानव-कल्पना का स्वर्ण-स्वप्न रही है, पर सकोच ने जबान बन्द कर दी।

महेन्द्र—सच कहना, तुम्हें विश्वास था कि मैं तुम्हारा कायाकल्प कर सकूँगा ?

देवप्रिया—प्रियतम, यह तुम क्यों पूछते हो ? मुझे तुम्हारे ऊपर विश्वास न होता, तो आती ही क्यों ?

देवप्रिया को अपनी मुख-छवि देखने की बड़ी तीव्र इच्छा हो रही थी। एक शीशे के टुकड़े के लिए इस समय वह क्या कुछ न दे डालती ?

सहसा महेन्द्र फिर बोले—तुम्हें मालूम है, इस क्रिया में कितने दिन लगे ?

देवप्रिया—मैं क्या जानूँ, कि कितने दिन लगे ?

महेन्द्र—पूरे तीन साल।

देवप्रिया—तीन साल ! तीन साल से तुम मेरे लिए यह तपस्या कर रहे हो ?

महेन्द्र—तीन क्या, अगर तीस साल भी यह तपस्या करनी पड़ती, तो भी मैं न घबराता।

देवप्रिया ने सकुचाते हुए पूछा—ऐसा तो न होगा कि कुछ ही दिनों में यह 'चार दिन की चटक चाँदनी फिर अँधेरा पाख' हो जाय ?

महेन्द्र—नहीं प्रिये, इसकी कोई शंका नहीं।

देवप्रिया—और हम इस वक्त हैं कहाँ ?

महेन्द्र—एक पर्वत की गुफा में। मैंने अपने राज्याधिकार मन्त्री को सौंप दिये और तुम्हें लेकर यहाँ चला आया। राज्य की चिन्ताओं में पड़कर मैं यह सिद्धि कभी न प्राप्त कर सकता था। तुम्हारे लिए मैं ऐसे-ऐसे कई राज्य त्याग सकता था।

देवप्रिया को अब ऐसी वस्तु मिल गयी थी, जिसके सामने राज्य-वैभव की कोई हस्ती न थी। वन्य जीवन की कल्पना उसे अत्यन्त सुखद जान पड़ी। प्रेम का आनन्द भोगने के लिए, स्वामी के प्रति अपनी भक्ति दिखाने के लिए यहाँ जितने मौके थे, उतने राजभवन में कहाँ मिल सकते थे ? उसे विलास की लेशमात्र भी आकांक्षा न थी, वह पति-प्रेम का आनन्द उठाना चाहती थी। प्रसन्न होकर बोली—यह तो मेरे मन की बात हुई।

महेन्द्र ने चकित होकर पूछा—मुझे खुश करने के लिए यह बात कह रही हो या दिल से ? मुझे तो इस विषय में बड़ी शंका थी।

देवप्रिया—नहीं प्राणनाथ, दिल से कह रही हूँ। मेरे लिए जहाँ तुम हो, वहीं सब कुछ है।

महेन्द्र ने मुस्कराकर कहा—अभी तुमने इस जीवन के कष्टों का विचार नहीं किया। ज्येष्ठ-वैशाख की लू और लपट, शीत-काल की हड्डियों में चुभनेवाली हवा और वर्षा की मूसलधार वृष्टि की कल्पना तुमने नहीं की। मुझे भय है कि शायद तुम्हारा कोमल शरीर उन कष्टों को न सह सकेगा।

देवप्रिया ने निश्शंक भाव से कहा—तुम्हारे साथ मैं सब कुछ आनन्द से सह सकती हूँ।

उसी वक्त देवप्रिया ने गुफा से बाहर निकलकर देखा, तो चारों ओर अंधकार छाया हुआ था, लेकिन एक ही क्षण में उसे वहाँ की सब चीजें दिखायी देने लगीं। अन्धकार वही था, पर उसकी आँखें उसमें प्रवेश कर गयी थीं। सामने ऊँची पहाड़ियों की श्रेणियाँ अप्सराओं के विशाल भवनों की-सी मालूम होती थीं। दाहिने ओर वृक्षों के समूह साधुओं की कुटियों के समान दीख पड़ते थे और बायीं ओर एक रत्नजटित नदी किसी चञ्चल पनिहारिन की भाँति मीठे राग गाती, अठलाती चली जाती थी। फिर उसे गुफा से नीचे उतरने का मार्ग साफ-साफ दिखायी देने लगा। अन्धकार वही था, पर उसमें कितना प्रकाश आ गया था।

उसी क्षण देवप्रिया के मन में एक विचित्र शंका उत्पन्न हुई—मेरा वह निकृष्ट जीवन कहीं फिर तो मेरा सर्वनाश न कर देगा?

३२

राजा विशालसिंह ने इधर कई साल से राज-काज छोड़ सा रखा था। मुंशी वज्रधर और दीवान साहब की चढ़ बनी थी। गुरुसेवकसिंह भी अपने राग-रंग में मस्त थे। सेवा और प्रेम का आवरण उतारकर अब वह पक्के विलायती हो गये थे। प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता अगर किसी को थी, तो वह मनोरमा थी। राजा साहब के सत्य और न्याय का उत्साह ठण्ढा पड़ गया था। मनोरमा को पाकर उन्हें किसी चीज की सुधि न थी। उन्हें एक क्षण के लिए भी मनोरमा से अलग होना असह्य था। जैसे कोई दरिद्र प्राणी कहीं से विपुल धन पा जाय और रात दिन उसी की चिन्ता में पड़ा रहे, वही दशा राजा साहब की थी। मनोरमा उनका जीवन धन थी। उनकी दृष्टि में मनोरमा फूल की पँखड़ी से भी कोमल थी, उसे कुछ हो न जाय, यही भय उन्हें बना रहता था। अन्य रानियों की अब वह खुशामद करते रहते थे, जिसमें वे मनोरमा को कुछ कह न बैठें। मनोरमा को बात कितनी लगती है, इसका अनुभव उन्हें हो चुका था। रोहिणी के एक व्यंग्य ने उसे काशी छोड़कर इस गाँव में ला बिठाया था। वैसा ही दूसरा व्यंग्य उसके प्राण ले सकता था। इसलिए वह रानियों को खुश रखना चाहते थे, विशेषकर रोहिणी को; हालाँकि वह मनोरमा को जलाने का कोई अवसर हाथ से न जाने देती थी।

लेकिन इस बालक ने आकर राजा साहब के जीवन में एक नवीन उत्साह का सञ्चार कर दिया। अब तक उनके जीवन का कोई लक्ष्य न था। मन में प्रश्न होता था, जिसके लिए करूँ? कौन रोनेवाला बैठा हुआ है? प्रतिमा ही न थी, तो मन्दिर की रचना कैसे होती? अब वह प्रतिमा आ गयी थी, जीवन का लक्ष्य मिल गया था। वह राज-काज से क्यों विरक्त रहते? मुंशीजी अब तक तो दीवान साहब से मिलकर अपना स्वार्थ साधते रहते थे, पर अब वह कब किसी को गिनने लगे थे। ऐसा मालूम होता था कि अब वही राजा हैं। दीवान साहब अगर मनोरमा के पिता थे, तो मुन्शीजी राजकुमार के दादा थे। फिर दोनों में कौन दबता? कर्मचारियों पर कभी ऐसी फटकारें न पड़ी थीं। मुन्शीजी को देखते ही बेचारे थर थर काँपने लगते थे। भाग्य किसी का चमके, तो ऐसे

चमके। कहाँ पेंशन के पचीस रुपयों पर गुजर-बसर होती थी, कहाँ अब रियासत के मालिक थे। राजा साहब भी उनका अदब करते थे। अगर कोई अमला उनके हुक्म की तामील करने में देर करता, तो जामे से बाहर हो जाते। बात पीछे करते, निकालने की धमकी पहले देते—यहाँ तुम्हारे हथकण्डे एक न चलेंगे, याद रखना। जो तुम आज कह रहे हो, वह सब किये बैठा हूँ। एक एक को निगल जाऊँगा। अब वह मुंशीजी नहीं हैं, जिनकी बात इस कान से सुनकर उस कान से उड़ा दिया करते थे। अब मुंशीजी रियासत के मालिक हैं।

इसमें भला किसी को आपत्ति करने का साहस हो सकता था? हाँ, सुननेवालों को ये बातें जरूर बुरी मालूम होती थीं। चक्रधर के कानों में कभी ये बातें पड़ जातीं, तो वह जमीन में गड़ से जाते थे। मारे लज्जा के उनकी गर्दन झुक जाती थी। वह आज-कल मुंशीजी से बहुत कम बोलते थे। अपने घर भी केवल एक बार गये थे। वहाँ माता की बातें सुनकर उनको फिर जाने की इच्छा न होती थी। मित्रों से मिलना-जुलना उन्होंने बहुत कम कर दिया था; हालाँकि अब उनकी संख्या बहुत बढ़ गयी थी। वास्तव में यहाँ का जीवन उनके लिए असह्य हो गया था। वह फिर अपनी शान्ति कुटीर को लौट जाना चाहते थे। यहाँ आये दिन कोई न-कोई बात हो ही जाती थी, जो दिन-भर उनके चित्त को व्यग्र रखने को काफी होती थी। कहीं कर्मचारियों में जूती-पैजार होती थी, कहीं गरीब असामियों पर डाँट-फटकार, कहीं रनिवास में रगड़-झगड़ होती थी, तो कहीं इलाके में दंगा-फिसाद। उन्हें स्वयं कभी-कभी कर्मचारियों को तम्बीह करनी पड़ती, कई बार उन्हें विवश होकर नौकरों को मारना भी पड़ा था। सबसे कठिन समस्या यही थी कि यहाँ उनके पुराने सिद्धांत भंग होते चले जाते थे। वह बहुत चेष्टा करते थे कि मुँह से एक भी अशिष्ट शब्द न निकले; पर प्रायः नित्य ही ऐसे अवसर आ पड़ते कि उन्हें विवश होकर दण्ड नीति का आश्रय लेना ही पड़ता था।

लेकिन अहल्या इस जीवन का चरम सुख भोग कर रही थी। बहुत दिनों तक दुःख झेलने के बाद उसे यह सुख मिला था और वह उसमें मग्न थी। अपने पुराने दिन उसे बहुत जल्द भूल गये थे और उनकी याद दिलाने से उसे दुःख होता था। उसका रहन-सहन बिलकुल बदल गया था। वह अच्छी-खासी अमीरजादी बन गयी थी। सारे दिन आमोद-प्रमोद के सिवा उसे दूसरा काम न था। पति के दिल पर क्या गुजर रही है, यह सोचने का कष्ट वह क्यों उठाती? जब वह सुखी थी, तब उसके स्वामी भी अवश्य सुखी रहे होंगे। राज्य पाकर कौन रोता है? उसकी सुन्दर छवि अब पूर्ण-चन्द्र की भाँति तेजोमय हो गयी थी। उसकी वह सरलता, वह नम्रता, वह सहनशीलता गायब हो गयी थी। चतुर गृहिणी अब एक सगर्वा शासनवाली कामिनी थी, जिसकी आँखों से मद छलका पड़ता था। चक्रधर ने जब उसे पहली बार देखा था, तब वह एक मुरझायी हुई कली थी और मनोरमा एक खिला हुआ प्रभात की स्वर्णमयी किरणों से विकसित सुमन। अब मनोरमा अहल्या हो गयी थी और अहल्या मनोरमा। अहल्या बहुत दिन चैं

अँगड़ाइयाँ लेती हुई शयनागार से निकलती। मनोरमा पहर रात ही से घर या राज्य का कोई-न-कोई काम करने लगती थी शंखधर अब मनोरमा ही के पास रहता था, वही उसका लालन-पालन करती थी। अहल्या केवल कभी-कभी उसे गोद में लेकर प्यार कर लेती, मानों किसी दूसरे का बालक हो। बालक भी अब उसकी गोद में आते हुए झिझकता। मनोरमा ही अब उसकी माता थी। मनोरमा की जान अब उसमें थी और उनकी मनोरमा में। कभी-कभी एकान्त में मनोरमा बालक को गोद मे लिये घण्टों मुँह छिपाकर रोती। उसके अन्तस्थल में अहर्निश एक शूल-सा होता रहता था, हृदय मे नित्य एक अग्नि-शिखा प्रज्ज्वलित रहती थी और जब किसी कारण से वेदना और जलन बढ़ जाती, तो उसके मुख से एक आह और आँखों से आँसू की चार बूँदें निकल पड़ती थीं। बालक भी उसे रोते देखकर रोने लगता। तब मनोरमा आँसुओं को पी जाती और हँसने की चेष्टा करके बालक को छाती से लगा लेती। उसकी तेजस्विता गहन चिन्ता और गम्भीर विचार में रूपान्तरित हो गयी थी। वह अहल्या से दबती थी। पर अहल्या उससे खिंची-सी रहती। कदाचित् वह मनोरमा के अधिकारों को छीनना चाहती थी, उसके प्रबन्ध में दोष निकालती रहती। पर रानी मनोरमा अपने अधिकारों से जी जान से चिमटी हुई थी, उनका अल्पांश भी न त्यागना चाहती थी, बल्कि दिनोदिन उन्हें और बढ़ाती जाती थी। यही उसके जीवन का आधार था।

अब चक्रधर अहल्या से अपने मन की बातें कभी न कहते थे। यह सम्पदा उनका सर्वनाश किये डालती थी। क्या अहल्या यह सुख-विलास छोड़कर मेरे साथ चलने पर राजी होगी? उन्हें शंका होती थी कि कहीं वह इस प्रस्ताव को हँसी में न उड़ा दे, या मुझे रुकने के लिए मजबूर न करे। अगर वह दृढ भाव से एक बार कह देगी कि तुम मुझे छोड़कर नहीं जा सकते, तो वह कैसे जायँगे? उन्हें इसका क्या अधिकार है कि उसे अपने साथ विपत्ति झेलने के लिए कहें? उन्होंने कहा, और वह अगर धर्म संकट में पड़कर उनके साथ चलने पर तैयार भी हो गयी, तो मनोरमा शंखधर को कब छोड़ेगी? क्या शंखधर को छोड़कर अहल्या उनके साथ जायगी? जाकर प्रसन्न रहेगी? अगर बालक को मनोरमा ने दे भी दिया, तो क्या वह इस वियोग की वेदना सह सकेगी? इसी प्रकार के कितने ही प्रश्न चक्रधर के मन में उठते रहते थे और वह किसी भाँति अपने कर्तव्य का निश्चय न कर सकते थे। केवल एक बात निश्चित थी–वह इन बन्धनों में पड़कर अपना जीवन नष्ट न करना चाहते थे, सम्पत्ति पर अपने सिद्धान्तों को भेंट न कर सकते थे।

एक दिन चक्रधर बैठे कुछ पढ रहे थे कि मुन्शीजी ने आकर कहा—बेटा, जरा एक बार रियासत का दौरा क्यों नहीं कर आते? आखिर दिन-भर पड़े ही तो रहते हो? मेरी समझ में नहीं आता, तुम किस रंग के आदमी हो। बेचारे राजा साहब अकेले कहाँ कहाँ देखेंगे और क्या क्या देखेंगे? रहा मैं सो किसी मसरफ का नहीं। मुझसे किसी दावत या बारात या मजलिस का प्रबन्ध करने के सिवा अब और क्या हो सकता

है ? गाँव गाँव दौड़ना अब मुझसे नहीं हो सकता। अब तो ईश्वर की दया से रियासत अपनी है। तुम्हीं इतनी लापरवाही करोगे, तो कैसे काम चलेगा? हाथी, घोड़े, मोटरें सब कुछ मौजूद हैं। कभी कभी इधर उधर चक्कर लगा आया करो। इसी तरह धाक बैठेगी, घर में बैठे-बैठे तुम्हें कौन जानता है?

चक्रधर ने उदासीन भाव से कहा—मैं इस झंझट में नहीं पड़ना चाहता। मैं तो यहाँ से जाने को तैयार बैठा हुआ हूँ।

मुशीजी चक्रधर का मुँह ताकने लगे। बात इतनी अश्रुत-पूर्व थी कि उनकी समझ ही में न आयी। पूछा—क्यों अब भी वही सनक सवार है?

चक्रधर—आप उसे सनक—पागलपन—जो चाहें समझें; पर मुझे तो उसमें जितना आनन्द आता है, उतना इस ढकोसले में नहीं आता। आपको तो मेरी यही सलाह है, आराम से घर में बैठकर भगवान् का भजन कीजिए। मुझसे जो कुछ बन पड़ेगा, आपकी मदद करता रहूँगा।

मुशी—बेटा, मुझे मालूम होता है, तुम अपने होश में नहीं हो। बिस्वे-बिस्वे के लिए तो खून की नदियाँ बह जाती हैं और तुम इतनी बड़ी रियासत पाकर ऐसी बातें करते हो। तुम्हें क्या हो गया है? बेटा, इन बातों में कुछ नहीं रखा है। अब तुम समझदार हुए, उन पुरानी बातों को दिल से निकाल डालो। भगवान् ने तुम्हारे ऊपर कृपा-दृष्टि फेरी है। उसको धन्यवाद दो और राज्य का इन्तजाम अपने हाथ में लो। तुम्हें करना ही क्या है, करनेवाले तो कर्मचारी हैं। बस, जरा डाँट फटकार करते रहो; नहीं तो कर्मचारी लोग शेर हो जायँगे, तो फिर काबू में न आयेंगे।

चक्रधर को अब मालूम हुआ कि मैं शान्त बैठने भी न पाऊँगा, आज लाला जी ने यह उपदेश दिया है। सम्भव है, कल अहल्या को भी मेरा एकान्तवास बुरा मालूम हो। वह भी मुझे उपदेश करे, राजा साहब भी कोई कान गले मढ़ दें। अब जल्द ही यहाँ से बोरिया बँधना सँभालना चाहिए; मगर इसी सोच विचार में एक महीना और गुजर गया और वह कुछ निश्चय न कर सके। उस हलचल की कल्पना करके उनकी हिम्मत छूट जाती थी, जो उनका प्रस्ताव सुनकर अन्दर से बाहर तक मच जायगा। अहल्या रोयेगी, मनोरमा कुढ़ेगी; पर मुँह से कुछ न कहेगी, लालाजी जामे से बाहर हो जायँगे और राजा साहब एक ठण्डी साँस लेकर सिर झुका लेंगे।

एक दिन चक्रधर मोटर पर हवा खाने निकले। गरमी के दिन थे। जी बेचैन था। हवा लगी, तो देहात की तरफ जाने का जी चाहा। बढ़ते ही गये, यहाँ तक कि अँधेरा हो गया। शोफर को साथ न लिया था। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते थे, सड़क खराब आती जाती थी। सहसा उन्हें रास्ते में एक बड़ा साँड़ दिखायी दिया। उन्होंने बहुत शोर मचाया; पर साँड़ न हटा। जब समीप आने पर भी साँड़ राह में खड़ा ही रहा, तो उन्होंने कतराकर निकल जाना चाहा; पर साँड़ सिर झुकाये फों फों करता फिर सामने आ खड़ा हुआ। चक्रधर छड़ी हाथ में लेकर उतरे कि उसे भगा दें, पर वह भागने के

बदले उनके पीछे दौड़ा। कुशल यह हुई कि सड़क के किनारे एक पेड़ मिल गया, नहीं तो उनकी जान जाने में कोई सन्देह ही न था। जी छोड़कर भागे और छड़ी फेंक, पेड़ की एक शाख पकड़कर लटक गये। साँड़ एक मिनट तक तो पेड़ से टक्कर लेता रहा, पर जब चक्रधर न मिले, तो वह मोटर के पास लौट गया और उसे सींगों से पीछे को ठेलता हुआ दौड़ा। कुछ दूर के बाद मोटर सड़क से हटकर एक वृक्ष से टकरा गयी। अब साँड़ पूँछ उठा-उठाकर कितना ही जोर लगाता है, पीछे हट हटकर उसमें टक्करें मारता है, पर वह जगह से नहीं हिलती। तब उसने बगल में जाकर इतनी जोर से टक्कर लगायी कि मोटर उलट गयी। फिर भी साँड़ ने उसका पिंड न छोड़ा। कभी उसके पहियों से टक्कर लेता, कभी पीछे की तरफ जोर लगाता। मोटर के पहिये फट गये, कई पुरजे टूट गये, पर साँड़ बराबर उस पर आघात किये जाता था। चक्रधर शाख पर बैठे तमाशा देख रहे थे। मोटर की तो फिक्र न थी, फिक्र यह थी कि घर कैसे लौटेंगे। चारों ओर सन्नाटा था। कोई आदमी न जाता-आता था। अभी मालूम नहीं, साँड़ कितनी देर तक मोटर से लड़ेगा और कितनी देर तक उन्हें वृक्ष पर टँगे रहना पड़ेगा। अगर उनके पास इस वक्त बन्दूक होती, तो साँड़ का मार ही डालते। दिल में साँड़ छोड़ने की प्रथा पर झुँझला रहे थे। अगर मालूम हो जाय कि किसका साँड़ है, तो सारी जायदाद बिकवा लूँ। पाजी ने साँड़ छोड़ रखा है!

साँड़ ने जब देखा कि शत्रु की धज्जियाँ उड़ गयीं और अब वह शायद फिर न उठे, तो डँकारता हुआ एक तरफ को चला गया। तब चक्रधर नीचे उतरे और मोटर के समीप जाकर देखा, तो वह उलटी पड़ी हुई थी। जब तक सीधी न हो जाय, यह पता कैसे चले कि क्या-क्या चीजें टूट गयी हैं, और अब वह चलने योग्य है या नहीं। अकेले मोटर को सीधी करना एक आदमी का काम न था। सोचने लगे, आदमियों को कहाँ से लाऊँ। इधर से तो शायद अब रातभर कोई न निकलेगा। पूर्व की ओर थोड़ी ही दूर पर एक गाँव था। चक्रधर उसी तरफ चले। रास्ते में इधर उधर ताकते जाते थे कि कहीं साँड़ न आता हो, नहीं तो यहाँ सपाट मैदान में कहीं वृक्ष भी नहीं है, मगर साँड़ न मिला और वह एक गाँव में पहुँचे। वह बहुत छोटा-सा 'पुरवा' था। किसान लोग अभी थोड़ी ही देर पहले ऊख की सिंचाई करके आये थे। कोई बैलों को सानी-पानी दे रहा था, कोई खाने जा रहा था, कोई गाय दुह रहा था। सहसा चक्रधर ने जाकर पूछा--यह कौन गाँव है?

एक आदमी ने जवाब दिया--भैंसौर।

चक्रधर--किसका गाँव है?

किसान--महाराज का। कहाँ से आते हो?

चक्रधर--हम महाराज ही के यहाँ से आते हैं। वह बदमाश साँड़ किसका है, जो इस वक्त सड़क पर घूमा करता है?

किसान- यह तो नहीं जानते साहब; पर उसके मारे नाकोंदम है। उधर से किसी

को निकलने ही नहीं देता। जिस गाँव में चला जाता है, दो-एक बैलों को मार डालता है। बहुत तंग कर रहा है!

चक्रधर ने साँड़ के आक्रमण का जिक्र करके कहा—तुम लोग मेरे साथ चलकर मोटर को उठा दो।

इस पर दूसरा किसान अपने द्वार पर से बोला—सरकार, भला रात को मोटर उठाकर क्या कीजिएगा? वह चलने लायक तो होगी नहीं।

चक्रधर—तो तुम लोगों को उसे ठेलकर ले चलना पड़ेगा।

पहला किसान—सरकार, रात भर यहीं ठहरें, सबेरे चलेंगे। न चलने लायक होगी, तो गाड़ी पर लादकर पहुँचा देंगे।

चक्रधर ने झुँझलाकर कहा—कैसी बातें करते हो जी! मैं रात भर यहाँ पड़ा रहूँगा! तुम लोगों को इसी वक्त चलना होगा।

चक्रधर को इन आदमियों में कोई न पहचानता था। समझे, राजाओं के यहाँ सभी तरह के लोग आते जाते हैं, होंगे कोई। फिर वे सभी जाति के ठाकुर थे, और ठाकुर से सहायता के नाम से जो काम चाहे ले लो बेगार के नाम से उनकी त्योरियाँ बदल जाती हैं। किसान ने कहा—साहब, इस बखत तो हमारा जाना न होगा। अगर बेगार चाहते हों, तो वह उत्तर की ओर दूसरा गाँव है, वहाँ चले जाइए। बहुत चमार मिल जायँगे।

चक्रधर ने गुस्से में आकर कहा—मैं कहता हूँ, तुमको चलना पड़ेगा।

किसान ने दृढ़ता से कहा—तो साहब, इस ताव पर तो हम न जायँगे। पाजी चमार नहीं हैं, हम भी ठाकुर हैं।

यह कहकर वह घर में जाने लगा।

चक्रधर को ऐसा क्रोध आया कि उसका हाथ पकड़कर घसीट लूँ और ठोकर मारते हुए ले चलूँ; मगर उन्होंने जब्त करके कहा—मैं सीधे से कहता हूँ, तो तुम लोग इधर-उधर घाइयाँ बताते हो। अभी कोई चपरासी आकर दो घुड़कियाँ जमा देता, तो सारा गाँव भेड़ की भाँति उसके पीछे चला जाता।

किसान वहीं खड़ा हो गया और बोला—सिपाही क्यों घुड़कियाँ जमावेगा, कोई चोर हैं? हमारी खुशी, नहीं जाते। आपको जो करना हो कर लीजिएगा।

चक्रधर से जब्त न हो सका। छड़ी हाथ में थी ही। वह बाज की तरह किसान पर टूट पड़े और एक धक्का देकर कहा—चलता है या जमाऊँ दो चार हाथ? तुम लात के आदमी बात से क्यों मानने लगे!

चक्रधर कसरती आदमी थे। किसान धक्का खाकर गिर पड़ा। यों वह भी करारा आदमी था। उलझ पड़ता, तो चक्रधर आसानी से उसे न गिरा सकते; पर वह रोब में आ गया। सोचा, कोई हाकिम है, नहीं तो इसकी हिम्मत न पड़ती कि हाथ उठावे। सँभलकर उठने लगा। चक्रधर ने समझा, शायद यह उठकर मुझ पर वार करेगा।

लपकर फिर एक धक्का दिया। सहसा सामनेवाले घर में से एक आदमी लालटेन लिये बाहर निकल आया और चक्रधर को देखकर बोला—अरे भगतजी! तुमने यह भेष कब से धारण किया? मुझे पहचानते हो? हम भी तुम्हारे साथ जेहल में थे।

चक्रधर उसे तुरत पहचान गये। यह उनका जेल का साथी धन्नासिंह था। चक्रधर का सारा क्रोध हवा हो गया। लजाते हुए बोले—क्या तुम्हारा घर इसी गाँव में है, धन्ना?

धन्नासिंह--हाँ साहब, यह आदमी, जिसे आप ठोकरें मार रहे हैं, मेरा सगा भाई है। खाना खा रहा था। खाना छोड़कर जब तक उठूँ, तब तक तो तुम गरमा ही गये। तुम्हारा मिजाज इतना कड़ा कब से हो गया? जेहल में तो तुम दया और धरम के देवता बने हुए थे। क्या दिखावा-ही-दिखावा था? निकला तो था कुछ और ही सोचकर, मगर तुम अपने पुराने साथी निकले। कहाँ तो दारोगा को बचाने के लिए अपनी छाती पर सगीन रोक ली थी, कहाँ आज जरा सी बात पर इतने तेज पड़ गये।

चक्रधर पर घड़ों पानी पड़ गया। मुँह से बात न निकली। वह अपनी सफाई में एक शब्द भी न बोल सके। उनके जीवन की सारी कमाई, जो उन्होंने न जाने कौन-कौन से कष्ट सहकर बटोरी थी, यहाँ लुट गयी। उनके मन की सारी सद्वृत्तियाँ आहत होकर तड़पने लगीं। एक ओर उनकी न्याय-बुद्धि मन्दित होकर किसी अनाथ बालक की भाँति दामन में मुँह छिपाये रो रही थी, दूसरी ओर लज्जा किसी पिशाचिनी की भाँति उनपर आग्नेय बाणों का प्रहार कर रही थी।

धन्नासिंह ने अपने भाई का हाथ पकड़कर बैठाना चाहा, तो वह जोर से 'हाय! हाय!' करके चिल्ला उठा। दूसरी बार गिरते समय उसका दाहिना हाथ उखड़ गया था। धन्नासिंह ने समझा, उसका हाथ टूट गया है। चक्रधर के प्रति उसकी रही-सही भक्ति भी गायब हो गयी। उनकी ओर आरक्त नेत्रों से देखकर बोला—सरकार, आपने तो इसका हाथ ही तोड़ दिया। (ओठ चबाकर) क्या कहें, अपने द्वार पर आये हो और कुछ पुरानी बातों का ख्याल है, नहीं तो इस समय क्रोध तो ऐसा आ रहा है कि इसी तरह तुम्हारे हाथ भी तोड़ दूँ। यह तुम इतने कैसे बदल गये! अगर आँखों से न देखता होता, तो मुझे कभी विश्वास न आता। जरूर तुम्हें कोई ओहदा या जायदाद मिल गयी, मगर यह न समझो कि हम अनाथ हैं। अभी जाकर महाराज के द्वार पर फरियाद करें, तो तुम खड़े-खड़े बँध जाओ। बाबू चक्रधरसिंह का नाम तो तुमने सुना ही होगा? अब किसी सरकारी आदमी की मजाल नहीं कि बेगार ले सके, तुम बेचारे किस गिनती में हो? ओहदा पाकर अपने दिन भूल न जाना चाहिए। तुम्हें मैंने अपना गुरु और देवता समझा था। तुम्हारे ही उपदेश से मेरी पुरानी आदतें छूट गयीं। गाँजा और चरस तभी से छोड़ दिया, जुए के नगीच नहीं जाता। जिस लाठी से सैकड़ों सिर फोड़ डाले होंगे, अब वह टूटी हुई पड़ी है। मुझे तो तुमने यह उपदेश दिया और आप लगे गरीबों को कुचलने। मन्नासिंह ने इतना ही न कहा था कि रात को यहीं ठहर जाओ, सबेरे हम चलकर तुम्हारी मोटर पहुँचा देंगे। इसमें

क्या बुराई थी? अगर मैं उसकी जगह होता, तो कह देता कि तुम्हारा गुलाम नहीं हूँ जैसे चाहो अपनी मोटर ले जाओ, मुझसे मतलब नहीं। मगर उसने तो तुम्हारे साथ भलमनसी की और तुम उसे मारने लगे। अब बताओ, इसके हाथ की क्या दवा की जाय? सच है, पद पाकर सबको मद हो जाता है।

चक्रधर ने ग्लानि-वेदना से व्यथित स्वर में कहा—धन्नासिंह, मैं बहुत लज्जित हूँ, मुझे क्षमा करो। जो दण्ड चाहो, दो; सिर झुकाये हुए हूँ, जरा भी सिर न हटाऊँगा, एक शब्द भी मुँह से न निकालूँगा।

यह कहते-कहते उनका गला फँस गया। धन्नासिंह भी गद्‌गद् हो गया। बोला—अरे भगतजी, ऐसी बातें न कहो। तुम मेरे गुरु हो, तुम्हें मैं अपना देवता समझता हूँ। क्रोध में आदमी के मुँह से दो-चार कड़ी बातें निकल ही जाती हैं, उनका खयाल न करो। भैया, भाई का नाता बड़ा गहरा होता है। भाई चाहे अपना शत्रु भी हो; लेकिन कौन आदमी है, जो भाई को मारखाते देखकर क्रोध को रोक सके? मुझे अपना वैसा ही दास समझो, जैसे जेहल में समझते थे। तुम्हारी मोटर कहाँ है? चलो, मैं उसे उठाये देता हूँ; या हुक्म हो तो गाड़ी जोत लूँ?

चक्रधर ने रोकर कहा—जब तक इसका हाथ अच्छा न हो जायगा, तब तक मैं कहीं न जाऊँगा, धन्नासिंह! हाँ, कोई आदमी ऐसा मिले, जो यहाँ से जगदीशपुर जा सके, तो उसे मेरी एक चिट्ठी दे दो।

धन्नासिंह—जगदीशपुर में तुम्हारा कौन है, भैया? क्या रियासत में नौकर हो गये हो?

चक्रधर—नौकर नहीं हूँ। मैं मुंशी वज्रधर का लड़का हूँ।

धन्नासिंह ने विस्मित होकर कहा—सरकार ही बाबू चक्रधरसिंह हैं। धन्य भाग थे कि सरकार के आज दर्शन हुए।

यह कहते हुए वह दौड़कर घर में गया और एक चारपाई लाकर द्वार पर डाल दी। फिर लपककर गाँव में खबर दे आया। एक क्षण में गाँव के सब आदमी आकर चक्रधर को नजरें देने लगे। चारों ओर हलचल सी मच गयी। सब-के-सब उनके यश गाने लगे। जब से सरकार आये हैं, हमारे दिन फिर गये हैं, आपका शील स्वभाव जैसा सुनते थे, वैसा ही पाया। आप साक्षात् भगवान् हैं।

धन्नासिंह ने कहा—मैंने तो पहचाना ही नहीं। क्रोध में न-जाने क्या-क्या बक गया।

दूसरा ठाकुर बोला—सरकार अपने को खोल देते, तो हम मोटर को कन्धों पर लादकर ले चलते। हजूर के लिए जान हाजिर है। मन्नासिंह मरदे आदमी, हाथ झटक कर उठ खड़े हो, तुम्हारे तो भाग्य खुल गये।

मन्नासिंह ने कराहकर मुस्कराते हुए कहा—सरकार देखने में तो दुबले पतले हैं; पर आपके हाथ-पाँव लोहे के हैं। मैंने सरकार से भिड़ना चाहा; पर आपने एक ही अड़ंगे में मुझे दे पटका।

धन्नासिंह—अरे पागल, भाग्यवानों के हाथ-पाँव मे ताकत नहीं होती, अकबाल में ताकत होती है। उससे देवता तक काँपते हैं।

चक्रधर को इन ठकुरसुहाती बातों में जरा भी आनन्द न आता था। उन्हें उनपर दया आ रही थी। वही प्राणी, जिसे उन्होंने अपने कोप का लक्ष्य बनाया था, उनके शौर्य और शक्ति की प्रशसा कर रहा था। अपमान को निगल जाना चरित्र-पतन की अन्तिम सीमा है। और यही खुशामद सुनकर हम लट्टू हो जाते हैं। जिस वस्तु से घृणा होनी चाहिए, उस पर हम फूले नहीं समाते। चक्रधर को अब आश्चर्य हो रहा था कि मुझे इतना क्रोध आया कैसे? आज से साल भर पहले भी मुझे कभी किसी पर इतना क्रोध नहीं आया था? साल भर पहले कदाचित् वह मन्नासिंह के पास आकर सहायता के लिए मिन्नत समाजत करते, अगर रात भर रहना ही पड़ता, तो रह जाते, इसमें उनकी हानि ही क्या थी। शायद उन्हें देहातियों के साथ एक रात कटने का अवसर पाकर खुशी होती! आज उन्हें अनुभव हुआ कि रियासत की बू कितनी गुप्त और अलक्षित-रूप से उनमें समाती जाती है। कितने गुप्त और अलक्षित रूप से उनकी मनुष्यता, चरित्र और सिद्धान्त का ह्रास हो रहा है।

सहसा सड़क की ओर प्रकाश दिखायी दिया। जरा देर मे दो मोटरें सड़क पर धीरे-धीरे जाती हुई दिखायी दीं, जैसे किसी को खोज रही हों। एकाएक दोनों उसी स्थान पर पहुँचकर रुक गयीं, जहाँ चक्रधर की मोटर टूटी पड़ी थी। फिर कई आदमी मोटर से उतरते दिखायी दिये। चक्रधर समझ गये की मेरी तलाश हो रही है। तुरन्त उठ खड़े हुए। उनके साथ गाँव के लोग भी चले। समीप आकर देखा, तो सड़क को तरफ से भी लोग इसी गाँव की तरफ चले आ रहे थे। उनके पास बिजली की बत्तियाँ थीं। समीप आने पर मालूम हुआ कि रानी मनोरमा पाँच सशस्त्र सिपाहियों के साथ चली आ रही हैं। चक्रधर उसे देखते ही लपककर आगे बढ गये। रानी उन्हें देखते ही ठिठक गयी और घबरायी हुई आवाज में बोली—बाबूजी, आपको चोट तो नहीं आयी? मोटर टूटी देखी, तो जैसे मेरे प्राण ही सन्न हो गये। अब मैं आपको अकेले कभी न घूमने दिया करूँगी।

३३

देवप्रिया को उस गुफा मे रहते कई महीने गुजर गये। वह तन-मन से पति-सेवा में रत रहती। प्रातःकाल नीचे जाकर नदी से पानी लाती, पहाड़ी वृक्षों से लकड़ियाँ तोड़ती और जगली फलों को उबालती। बीच बीच में महेन्द्रकुमार कई-कई दिनों के लिए कहीं चले जाते थे। देवप्रिया अकेले गुफा में बैठी उनकी राह देखा करती, पर महेन्द्र को वन-वन में घूमने से इतना अवकाश ही न मिलता कि दो चार पल के लिए उसके पास भी बैठ जायँ। रात को वह योगाभ्यास किया करते थे। न-जाने कब कहाँ चले जाते, न-जाने कब कैसे चले आते, इसका देवप्रिया को कुछ भी पता न चलता। उनके जीवन का रहस्य उसकी समझ मे न आता था। उस गुफा में भी उन्होंने न-

जाने कहाँ से वैज्ञानिक यन्त्र जमा कर लिये थे और दिन को जब घर पर रहते, तो उन्हीं यन्त्रों से कोई-न-कोई प्रयोग किया करते। उनके पास सभी कामों के लिए समय था। अगर समय न था, तो केवल देवप्रिया से बातचीत करने का! देवप्रिया की समझ में कुछ न आता कि इनका हृदय इतना कठोर क्यों हो गया है। वह प्रेम-भाव कहाँ गया? अब तो उससे सीधे मुँह बोलते तक नहीं। उससे कौन-सा अपराध हुआ?

देवप्रिया पति को वन के पक्षियों के साथ विहार करते, हिरणों के साथ खेलते सर्पों को नचाते, नदी में जल-क्रीड़ा करते देखती। प्रेम की इस अमोघ राशि से उसके लिए मुट्ठी भी नहीं? उसने कौन-सा अपराध किया है? उससे तो वह बोलते तक नहीं।

ऐसी अनिन्द्य सुन्दरी उसने स्वय न देखी थी। उसने एक-से एक रूपवती रमणियाँ देखी थीं; पर अपने सामने कोई उसकी निगाह में न जँचती थी। वह जंगली फूलों के गहने बना-बनाकर पहनती, आँखों से हँसती, हाव भाव, कटाक्ष सब कुछ करती; पर पति के हृदय में प्रवेश न कर सकती थी। तब वह झुँझला पड़ती कि अगर यों जलाना था, तो यौवन-दान क्यों दिया? यह बला क्यों मेरे सिर पड़ी। जिस यौवन को पाकर उसने एक दिन अपने को संसार से सब से सुखी समझा था, उसी जोवन से अब उसका जी जलता था। वह रूपविहीन होकर स्वामी के चरणों में आश्रय पा सकती, तो इस अनुपम सौन्दर्य को बासी हार की भाँति उतारकर फेंक देती, पर कौन इसका विश्वास दिलायेगा?

एक दिन देवप्रिया ने महेन्द्र से कहा—तुमने मेरी काया तो बदल दी, पर मेरा मन क्यों न बदल दिया?

महेन्द्र ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया—जब तक पूर्व-संस्कारों का प्रायश्चित न हो जाय, मन की भावनाएँ नहीं बदल सकतीं।

इन शब्दों का आशय जो कुछ हो; पर देवप्रिया ने यह समझा कि यह मुझसे केवल मेरे पूर्व-संस्कारों के कारण घृणा करते हैं। उसका पीड़ित हृदय इस अन्याय से विकल हो उठा। आह! यह इतने कठोर हैं! इनमें क्षमा का नाम तक नहीं, तो क्या इन्होंने मुझे उन संस्कारों का दण्ड देने के लिए मेरी कायाकल्प की? प्रलोभनों से घिरी हुई अबला के प्रति इन्हें ज़रा भी सहानुभूति नहीं! यह वाक्य शर के समान उसके हृदय में चुभने लगा। पति में वह श्रद्धा न रही। जीवन से विरक्त हो गयी। पति प्रेम का सुख भोगने के लिए ही उसने अपना त्याग किया था; पूर्व संस्कारों का दण्ड भोगने के लिए नहीं। उसने समझा था, स्वामी मुझपर दया करके मेरा उद्धार करने ले जा रहे हैं। उनके हाथों यह दण्ड सहना उसे स्वीकार न था। अपने पूर्व-जीवन पर लज्जा थी, पश्चात्ताप था, पर पति के मुख से यह व्यंग्य न सुनना चाहती थी। वह संसार की सारी विपत्ति सह सकती थी, केवल पति-प्रेम से वंचित रहना उसे असह्य था। उसने सोचना शुरू किया, क्यों न चली जाऊँ? पति से दूर रहकर कदाचित् वह शान्त रह सकती थी। दुखती हुई आँखों की अपेक्षा फूटी आँखें ही अच्छी; पर इस वियोग की

कल्पना ही से उसका मन भयभीत हो जाता था।

आखिर उसने यहाँ से प्रस्थान करने का निश्चय कर लिया। रात का समय था। महेन्द्र गुफा के बाहर एक शिला पर पड़े हुए थे। देवप्रिया आकर बोली—आप सो रहे हैं क्या ?

महेन्द्र उठकर बैठ गये और बोले—नहीं, सो नहीं रहा हूँ। मैं एक ऐसे यन्त्र की कल्पना कर रहा हूँ, जिससे मनुष्य अपनी इन्द्रियों का दमन कर सके। सयम, साधन और विराग पर मुझे अब विश्वास नहीं रहा।

देवप्रिया—ईश्वर आपकी कल्पना सफल करें। मैं आपसे यह कहने आयी हूँ कि जब आप मुझे त्याज्य समझते हैं, तो क्यों हर्षपुर या कहीं और नहीं भेज देते ?

महेन्द्र ने पीड़ित होकर कहा—मै तुम्हें त्याज्य नहीं समझ रहा हूँ। प्रिये, तुम मेरी चिरसगिनी हो और सदा रहोगी। अनन्त में दस-बीस या सौ-पचास वर्ष का वियोग 'नहीं' के बराबर है। तुम अपने को उतना नहीं जानतीं, जितना मे जानता हूँ। मेरी दृष्टि में तुम पवित्र, निर्दोष और धवल के समान उज्ज्वल हो। इस विश्व प्रेम के साम्राज्य में त्याज्य कोई वस्तु नहीं है, न कि तुम, जिसने मेरे जीवन को सार्थक बनाया है। मैं तुम्हारी प्रेम-शक्ति का विकास मात्र हूँ।

देवप्रिया ये प्रेम से भरे हुए शब्द सुनकर गद्गद हो गयी। उसका सारा सन्ताप, सारा क्रोध, सारी वेदना इस भाँति शान्त हो गयी, जैसे पानी पड़ते ही धूर बैठ जाती है। वह उसी शिला पर बैठ गयी और महेन्द्र के गले में बाहें डालकर बोली—फिर आप मुझसे बोलते क्यों नहीं ? मुझसे क्यों भागे-भागे फिरते हैं ? मुझे इतने दिन यहाँ रहते हो गये, आपने कभी मेरी ओर प्रेम की दृष्टि से देखा भी नहीं। आप जानते हैं, पति प्रेम नारी जीवन का आधार है। इससे वंचित होकर अबला निराधार हो जाती है।

महेन्द्र ने करुण स्वर से कहा—प्रिये, बहुत अच्छा होता यदि तुम मुझसे यह प्रश्न न करती। मैं जो कुछ कहूँगा, उससे तुम्हारा चित्त और भी दुखी होगा। मेरे अन्दर की आग बाहर नहीं निकलती, इससे यह न समझो कि उसमें ज्वाला नहीं है। आह ! उस अनन्त प्रेम की स्मृतियाँ अभी हरी हैं, जिनका आनन्द उठाने का सौभाग्य बहुत थोड़े दिनों के लिए प्राप्त हुआ था। उसी सुख की लालसा मुझे तुम्हारे द्वार का भिक्षुक बनाकर ले गयी थी। उसी लालसा ने मुझसे ऐसी कठिन तपस्याएँ करायीं, जहाँ प्रतिक्षण प्राणों का भय था। क्या जानता था कि कौशलमय विधि मेरी साधनाओं का उपहास कर रहा है। जिस वक्त मैं तुम्हारी ओर लालसा-पूर्ण नेत्रों से ताकता हूँ, तो मेरी आँखें जलने लगती हैं, जब तुम्हें प्रातःकाल अञ्चल में फूल भरे ऊषा की भाँति स्वर्ण-छटा की वर्षा करते आते देखता हूँ, तो मेरे मन में अनुराग का जो भीषण विप्लव होने लगता है, उसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकती, लेकिन तुम्हारे समीप जाते ही मेरे समस्त शरीर में ऐसी जलन होने लगती है, मानो अग्निकुण्ड में घुसा जा रहा हूँ। तुम्हें याद है, एक दिन मैंने तुम्हारा हाथ पकड़ लिया था। मुझे ऐसा जान पड़ा कि

जलते तवे पर हाथ पड़ गया। इसका क्या कारण है! विधि क्यों हमारे प्रेम मिलन में बाधक हो रहा है, यह मैं नहीं जानता; पर ऐसा अनुमान करता हूँ कि यह मेरी लालसा का दण्ड है।

नारी बुद्धि तीक्ष्ण होती है। महेन्द्र की समझ में जो बात न आयी थी, वह देवप्रिया समझ गयी। उस दिन से वह तपस्विनी बन गयी। पति के साये से भी भागती। अगर वह उसके कमरे में आ जाते, तो उनकी ओर आँखें उठाकर भी न देखती; पर वह इस दशा में भी प्रसन्न थी। रमणी का हृदय सेवा के सूक्ष्म परमाणुओं से बना होता है। उसका प्रेम भी सेवा है, उसका अधिकार भी सेवा है, यहाँ तक कि उसका क्रोध भी सेवा है। विडम्बना तो यह थी कि यहाँ सेवा-क्षेत्र में भी वह स्वाधीन न थी। उसके लिए सेवा की सीमा वहीं तक थी, जहाँ से अनुराग का आरम्भ होता है। उसकी सेवा में पत्नी-भाव का अल्पांश भी न आने पाये, यही चेष्टा वह करती रहती थी। अगर विधि को उसके सौभाग्य से आपत्ति है, अगर वह इस अपराध के लिए उसके पति को दण्ड देना चाहता है, तो देवप्रिया यह साक्षी देने को तैयार थी कि उसने पति-प्रेम का उतना ही आनन्द उठाया है, जितना एक विधवा भी उठा सकती है।

एक दिन महेन्द्र ने आकर कहा—प्रिये, चलो; आज तुम्हें आकाश की सैर करा लाऊँ। मेरा हवाई जहाज तैयार हो गया है।

महेन्द्र ने सात वर्ष के अनवरत परिश्रम से यह वायुयान बनाया था। इसमें विशेषता यह थी कि तूफान और मेह में भी स्थिर रूप से चला जाता था, मानो नैसर्गिक शक्तियों पर विजय का डंका बजा रहा हो। उसमें ज़रा भी शोर न होता था। गति घंटे में एक हज़ार मील की थी। इस पर बैठकर वह पृथ्वी की प्रत्येक वस्तु को उसके यथार्थ रूप में देख सकते थे, दूर-से-दूर देशों के विद्वानों के भाषण और गानेवालों के गीत सुन सकते थे। उस पर बैठते ही मानसिक शक्तियाँ दिव्य और नेत्रों की ज्योति सहस्त्रगुणी हो जाती थी। यह एक अद्‌भुत यन्त्र था। महेन्द्र ने अब तक कभी देवप्रिया से उस पर बैठने का अनुरोध न किया था। उनके मुँह से उसके गुण सुनकर उसका जी तो चाहता था कि उसमें एक बार बैठूँ, इसकी बड़ी तीव्र उत्कण्ठा होती थी, पर वह संवरण कर जाती थी। आज यह प्रस्ताव करने पर भी उसने अपनी उत्सुकता को दबाते हुए कहा आप जाइए, आकाश की सैर कीजिए, मैं अपनी कुटिया में ही मगन हूँ।

महेन्द्र—मानव-बुद्धि ने अब तक जितने आविष्कार किये हैं, उनका पूर्ण विकास देख लोगी।

देवप्रिया—आप जाइए, मैं नहीं जाती।

महेन्द्र—मैं तो आज तुम्हें जबरदस्ती ले चलूँगा।

यह कहकर उन्होंने देवप्रिया का हाथ पकड़ लिया और अपनी ओर खींचा। देवप्रिया का चित्त डाँवाँडोल हो गया। जैसे अपने नटखट बालक के बुलाने पर कुत्ता डरता-डरता जाता है कि मालूम नहीं भोजन मिलेगा या डंडे, उसी भाँति देवप्रिया

महेन्द्र के साथ चली गयी।

गुफा के बाहर स्वर्ण की वर्षा हो रही। आकाश, पर्वत और उनपर विहार करने वाले पक्षी और पशु सोने में रँगे थे। विश्व स्वर्ण-मय हो रहा था। शान्ति का साम्राज्य छाया हुआ था। पृथ्वी विश्राम करने जा रही थी।

यान एक पल में दोनों आरोहियों को लेकर अनन्त आकाश में विचरने लगा। वह सीधा चन्द्रमा की ओर चला जाता था, ऊपर ऊपर और भी ऊपर, यहाँ तक कि चन्द्रमा का दिव्य प्रकाश देखकर देवप्रिया भयभीत हो गयी।

सहसा देवप्रिया संगीत की मधुर ध्वनि सुनकर चौंक पड़ी और बोली—यहाँ कौन गा रहा है?

महेन्द्र ने मुस्कराकर कहा—हमारे स्वामीजी ईश्वर की स्तुति कर रहे हैं। मैं अभी उनसे बातें करता हूँ। सुनो—स्वामीजी, क्या हो रहा है?

'बच्चा, भगवान की स्तुति कर रहा हूँ। अच्छा तुम्हारे साथ तो देवप्रियाजी भी हैं। उन्हें जापानी सिनेमा की सैर नहीं करायी?'

सहसा देवप्रिया को एक जापानी नौका डूबती हुई दिखायी दी। एक क्षण में एक जापानी युवक कगार पर से समुद्र में कूद पड़ा और लहरों को चीरता हुआ नौका की ओर चला।

देवप्रिया ने काँपते हुए कहा—कहीं यह बेचारा भी न डूब जाय।

महेन्द्र ने कहा—यह किसी प्रेम कथा का अन्तिम दृश्य है।

यान और भी ऊपर उड़ता चला जाता था, पृथ्वी पर से जो तारे टिमटिमाते हुए ही नजर आते थे, अब चन्द्रमा की भाँति ज्योतिर्मय हो गये थे और चन्द्रमा अपने आकार से दसगुना बड़ा दिखायी देता था। विश्व पर अखण्ड शान्ति छाई हुई थी। केवल देवप्रिया का हृदय धड़क रहा था। वह किसी अज्ञात शंका से विकल हो रही थी। जापानी सिनेमा का अन्तिम दृश्य उसकी आँखों में नाच रहा था।

तब महेन्द्र ने वीणा उठा ली और देवप्रिया से बोले—प्रिये, तुम्हारा मधुर गान सुने बहुत दिन बीत गये। याद है, तुमने पहले जो गीत गाया था, वही गीत आज फिर गाओ। देखो, तारागण कान लगाये बैठे हैं।

देवप्रिया स्वामी की बात न टाल सकी। उसे ऐसा भासित हुआ कि वह स्वामी का अन्तिम आदेश है, मैं इन कानों से स्वामी की बातें फिर न सुनूँगी। उसने काँपते हुए हाथों में वीणा ले ली और काँपते हुए स्वरों में गाने लगी—

'प्रिया मिलन है कठिन बावरी!'

प्रेम, करुणा और नैराश्य में डूबी हुई यह ध्वनि सुनते ही महेन्द्र की आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। आह! वियोग-व्यथा से पीड़ित यह हृदय स्वर उनके अन्तस्तल पर शर जैसी चोटें करने लगा। बार-बार हृदय थामकर रह जाते थे। सहसा उनका मन एक अत्यन्त प्रबल आवेग से आन्दोलित हो उठा। लालसा विह्वल मन ने कहा—यह

संयम कब तक ? इस जीवन का भरोसा ही क्या ? न जाने कब इसका अन्त हो जाय और ये चिरसंचित अभिलाषाएँ भी धूल में मिल जायँ। अब जो होना है, सो हो !

अनन्त शान्ति का साम्राज्य था, यान प्रतिक्षण और ऊपर चढ़ता जाता था। महेन्द्र ने देवप्रिया का कोमल हाथ पकड़कर कहा—प्रिये, अनन्त वियोग से तो अनन्त विश्राम ही अच्छा !

वीणा देवप्रिया के हाथ से छूटकर गिर पड़ी। उसने देखा, महेन्द्र के कामप्रदीप्त अधर उसके मुख के पास आ गये हैं और उनके दोनों हाथ उसके आलिंगित होने के लिए खुले हुए हैं। देवप्रिया एक क्षण, केवल एक क्षण के लिए सब कुछ भूल गयी। उसके दोनों हाथ महेन्द्र के गले में जा पड़े।

एकाएक धमाके की आवाज हुई। देवप्रिया चौंक पड़ी। उसे मालूम हुआ, यान बड़े वेग से नीचे चला जा रहा है। उसने अपने को महेन्द्र के कर पाश से मुक्त कर लिया और घबराकर बोली—प्राणनाथ, यान नीचे चला जा रहा है।

महेन्द्र ने कुछ उत्तर न दिया।

देवप्रिया ने फिर कहा—ईश्वर के लिए इसे रोकिए, देखिए, कितने वेग से नीचे गिर रहा है।

महेन्द्र ने व्यथित कण्ठ से कहा—प्रिये ! अब इसे मैं नहीं रोक सकता, मेरे पैर काँप रहे हैं, मालूम होता है, जीवन का अन्त हो रहा है। आह ! आह ! प्रिये ! मैं गिर रहा हूँ।

देवप्रिया उन्हें सँभालने चली थी कि महेन्द्र गिर पड़े। उनके मुँह से केवल ये शब्द निकले—'डरो मत, यान भूमि से टक्कर न खायगा, तुम हर्षपुर जाकर राज्याधिकार अपने हाथ में लेना। मैं फिर आऊँगा, हम और तुम फिर मिलेंगे, अवश्य मिलेंगे, अतृप्त तृष्णा फिर मुझे तुम्हारे पास लायेगी, विधि का निर्दय हाथ भी उसमें बाधक नहीं हो सकता। इस प्रेम की स्मृति देवलोक में भी मुझे विकल करती रहेगी। आह ! इस अनन्त विश्राम की अपेक्षा अनन्त वियोग कितना सुखकर था !

देवप्रिया खड़ी रो रही थी और यान वेग से नीचे उतरता जाता था !

३४

चक्रधर को रात भर नींद न आयी। उन्हें बार-बार पश्चात्ताप होता था कि मैं क्रोध के आवेग में क्यों आ गया। जीवन में यह पहला ही अवसर था कि उन्होंने एक निर्बल प्राणी पर हाथ उठाया था। जिसका समस्त जीवन दीनजनों की उपासना में गुजरा हो, उसमें यह [illegible] नैतिक पतन से कम न था। आह ! मुझ पर भी प्रभुता का जादू चल गया। इतने सजग रहने पर भी मैं उसके जाल में फँस गया। कितना चतुर शिकारी है ! अब मुझे अनुभव हो गया कि इस वातावरण में रहकर मेरे लिए अपनी [illegible] को स्थिर रखना असाध्य है। धन में धर्म है, दया है, उदारता है; लेकिन इसके साथ ही गर्व भी है, जो इन गुणों को मटियामेट कर देता है।

चक्रधर तो इस विचार में पड़े हुए थे, और अहल्या अपने सजे हुए शयनागार में मखमली गद्दों पर लेटी अँगड़ाइयाँ ले रही थी। चारपाई के सामने ही दीवार में एक बड़ा-सा आईना लगा हुआ था। वह उस आईने में अपना स्वरूप देख-देखकर मुग्ध हो रही थी। सहसा शंखधर एक रेशमी कुरता पहने लुढ़कता हुआ आकर उसके पास खड़ा हो गया। अहल्या ने हाथ फैलाकर कहा—बेटा, जरा मेरी गोद में आ जाओ।

शंखधर अपना खोया हुआ घोड़ा ढूँढ रहा था। बोला—अम नईं

अहल्या—देखो, मैं तुम्हारी अम्माँ हूँ ना ?

शंखधर—तुम अम्माँ नईं। अम्माँ लानी है।

अहल्या—क्या मैं रानी नहीं हूँ ?

शंखधर ने उसे कुतूहल से देखकर कहा—तुम लानी नईं। अम्माँ लानी है।

अहल्या ने चाहा कि बालक को पकड़ लें, पर वह 'तुम लानी नईं, तुम लानी नईं !' कहता हुआ कमरे से निकल गया। बात कुछ न थी; लेकिन अहल्या ने कुछ और ही आशय समझा। यह भी उसकी समझ में मनोरमा की कूटनीति थी। वह उससे राज-माता का अधिकार भी छीनना चाहती है। वह बालक को पकड़ लाने के लिए उठी ही थी कि चक्रधर ने कमरे में कदम रखा। उन्हें देखते ही अहल्या ठिठक गयी और त्योरियाँ चढ़ाकर बोली—अब तो रात रात भर आपके दर्शन ही नहीं होते।

चक्रधर—कुछ तुम्हें खबर भी है। आध घण्टे तक जगाता रहा, जब तुम न जागीं, तो चला गया। यहाँ आकर तुम सोने में कुशल हो गया।

अहल्या—बातें बनाते हो। तुम रात को यहाँ थे ही नहीं। १२ बजे तक जागती रही। मालूम होता है, तुम्हें भी सैर सपाटे की सूझने लगी। अब मुझे यह एक और चिन्ता हुई।

चक्रधर—अब तक जितनी चिन्ताएँ हैं, उनमें तो तुम्हारी नींद का यह हाल है. यह चिन्ता और हुई, तो शायद तुम्हारी कभी आँख ही न खुले।

अहल्या—क्या मैं सचमुच बहुत सोती हूँ ?

चक्रधर—अच्छा, अभी तुम्हें इसमें सन्देह भी है ! घड़ी में देखो ! आठ बज गये हैं। तुम पाँच बजे उठकर घर का धन्धा करने लगती थीं।

अहल्या—तब की बातें जाने दो। अब उतने सवेरे उठने की जरूरत ही क्या है ?

चक्रधर—तो क्या तुम उम्र-भर यहाँ मेहमानी खाओगी ?

अहल्या ने विस्मित होकर कहा—इसका क्या मतलब ?

चक्रधर—इसका मतलब यही है कि हमें यहाँ आये हुए बहुत दिन गुजर गये। अब अपने घर चलना चाहिए।

अहल्या—अपना घर कहाँ है ?

चक्रधर—अपना घर वहीं है, जहाँ अपने हाथों की कमाई है।

अहल्या ने एक मिनट सोचकर कहा—लल्लू कहाँ रहेगा ?

चक्रधर—लल्लू को यहीं छोड़ सकती हो। वह रानी मनोरमा से खूब हिल गया है। तुम्हारी तो शायद उसे याद भी न आये।

अहल्या—अच्छा, तो समझ में आया। इसी लिए रानीजी उसमें इतना प्रेम करती हैं। यह बात तुमने स्वयं सोची है, या रानीजी ने कुछ कहा है?

चक्रधर—भला, यह क्या कहेंगी? मैं खुद यहाँ रहना नहीं चाहता। ससुराल की रोटियाँ बहुत खा चुका। खाने में तो वह बहुत मीठी मालूम होती हैं; पर उनसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। औरों को हजम होती होंगी; पर मुझे तो नहीं पचतीं, और शायद तुम्हें भी नहीं पचतीं। इतने ही दिनों में हम दोनों कुछ-के-कुछ हो गये। यहाँ कुछ दिन और रहा, तो कम-से-कम मैं तो कहीं का न रहूँगा। कल मैंने एक गरीब किसान को मारते-मारते अधमुआ कर दिया। उसका कसूर केवल यह था कि वह मेरे साथ आने पर राजी न होता था।

अहल्या—यह कोई बात नहीं। गँवारों के उजड्डपन पर कभी-कभी क्रोध आ ही जाता है। मैं ही यहाँ दिन-भर लौंडियों पर झल्लाती रहती हूँ; मगर मुझे तो कभी यह खयाल ही नहीं आया कि घर छोड़कर भाग जाऊँ।

चक्रधर—तुम्हारा घर, है तुम रह सकती हो; लेकिन मैंने तो जाने का निश्चय कर लिया है।

अहल्या ने अभिमान से सिर उठाकर कहा—तुम न रहोगे, तो मुझे यहाँ रहकर क्या लेना है। मेरे राज-पाट तो तुम हो; जब तुम्हीं न रहोगे, तो अकेली पड़ी-पड़ी मैं क्या करूँगी? जब चाहे, चलो। हाँ, पिताजी से पूछ लो। उनसे बिना पूछे तो जाना उचित नहीं; मगर एक बात अवश्य कहूँगी। हम लोगों के जाते ही यहाँ का सारा कारोबार चौपट हो जायगा। रानी मनोरमा का हाल देख ही रहे हो। रुपए को ठीकरा समझती हैं। दादाजी उनसे कुछ कह नहीं सकते। थोड़े दिनों में रियासत जेरबार हो जायगी और एक दिन बेचारे लल्लू को ये सब पापड़ बेलने पड़ेंगे।

अहल्या के मनोभाव इन शब्दों से साफ टपकते थे। कुछ पूछने की जरूरत न थी। चक्रधर समझ गये कि अगर मैं आग्रह करूँ, तो वह मेरे साथ जाने पर राजी हो जायगी। जब ऐश्वर्य और पति-प्रेम, दो में से एक को लेने और दूसरे को त्याग करने की समस्या पड़ जायगी, तो अहल्या किस ओर झुकेगी, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं था; लेकिन वह उसे इस कठोर धर्म-संकट में डालना उचित न समझते थे। आग्रह से विवश होकर वह उनके साथ चली ही गयी तो क्या? जब उसे कोई कष्ट होगा, मन-ही-मन झुँझलायेगी और बात-बात पर कुढ़ेगी, तब लल्लू को यहाँ छोड़ना ही पड़ेगा। मनोरमा उसे एक क्षण के लिए भी नहीं छोड़ सकती। राजा साहब तो शायद उसके वियोग में प्राण ही त्याग दें। पुत्र को छोड़कर अहल्या कभी जाने पर तैयार न होगी और गयी भी, तो बहुत जल्द लौट आयेगी।'

चक्रधर बड़ी देर तक इन्हीं विचारों मे मग्न बैठे रहे। अहल्या पति के साथ जाने पर सहमत तो हो गयी थी, पर दिल में डर रही थी कि कहीं सचमुच न जाना पड़े। वह राजा साहब को पहले ही से सचेत कर देना चाहती थी, जिसमें वह चक्रधर की नीति और धर्म की बातों में न आ जायँ। उसे इसका पूरा विश्वास था कि चक्रधर राजा साहब से बिना पूछे कदापि न जायँगे। वह क्या जानती थी कि जिन बातों से उसके दिल पर जरा भी असर नहीं होता, वही बातें चक्रधर के दिल पर तीर की भाँति लगती हैं। चक्रधर ने अकेले, बिना किसी से कुछ कहे-सुने चले जाने का संकल्प किया। इसके सिवा उन्हें गला छुड़ाने का कोई उपाय ही न सूझता था।

इस वक्त वह उस मनहूस घड़ी को कोस रहे थे, जब मनोरमा की बीमारी की खबर पाकर अहल्या के साथ वह यहाँ आये थे। वह अहल्या को यहाँ लाये ही क्यों थे? अहल्या ने आने के लिए आग्रह न किया था। उन्होंने खुद गलती की थी। उसी का यह भीषण परिणाम था कि आज उनको अपनी स्त्री और पुत्र दोनों से हाथ धोना पड़ता था। उन्होंने लाठी के सहारे से दीपक का काम लिया था; लेकिन हा दुर्भाग्य! आज वह लाठी भी उनके हाथ से छीनी जाती थी। पत्नी और पुत्र के वियोग की कल्पना ही से उनका जी घबराने लगा। कोई समय था, जब दाम्पत्य जीवन से उन्हें उलझन होती थी। मृदुल हास्य और तोतले शब्दों का आनन्द उठाने के बाद अब एकान्तवास असह्य प्रतीत होता था। कदाचित् अकेले घर में वह कदम ही न रख सकेंगे, कदाचित् उस निर्जन वन को देखकर वह रो पड़ेंगे।

मनोरमा इस वक्त शंखधर को लिये हुए बगीचे की ओर जाती हुई इधर से निकली। चक्रधर को देखकर वह एक क्षण के लिए ठिठक गयी। शायद वह देखना चाहती थी कि अहल्या है या नहीं। अहल्या होती, तो वह यहाँ दम-भर भी न ठहरती, अपनी राह चली जाती। अहल्या को न पाकर वह कमरे के द्वार पर आ खड़ी हुई और बोली—बाबूजी, रात को सोये नहीं क्या? आँखें चढ़ी हुई हैं।

चक्रधर—नींद ही नहीं आयी। इसी उधेड़-बुन में पड़ा था कि रहूँ या जाऊँ? अन्त में यही निश्चय किया कि यहाँ और रहना अपना जीवन नष्ट करना है।

मनोरमा—क्यों लल्लू! यह कौन हैं?

शंखधर ने शर्माते हुए कहा—बाबूजी!

मनोरमा—इनके साथ जायगा?

बालक ने आँचल से मुँह छिपाकर कहा—लानी अम्माँ छाथ?

चक्रधर हँसकर बोले—मतलब की बात समझता है। रानी अम्माँ को छोड़कर किसी के साथ न जायगा।

शंखधर ने अपनी बात का अनुमोदन किया—अम्माँ लानी।

चक्रधर—जभी तो चिमटे हो। बैठे-बिठाये मुफ्त का राज्य पा गये। घाटे में तो हमीं रहे कि अपनी सारी पूँजी खो बैठे।

मनोरमा ने कहा—कब तक लौटिएगा ?

चक्रधर—कह नहीं सकता; लेकिन बहुत जल्द लौटने का विचार नहीं है। इस प्रलोभन से बचने के लिए मुझे बहुत दूर जाना पड़ेगा।

रानी ने मुस्कराकर कहा—मुझे भी लेते चलिए।

यह कहते-कहते रानी की आँखें सजल हो गयीं।

चक्रधर ने गम्भीर भाव से कहा—यह तो होना ही नहीं था, मनोरमा रानी! जब तुम बालिका थीं, तब भी मेरे लिए देवी की प्रतिमा थीं, और अब भी देवी की प्रतिमा हो।

मनोरमा—बातें न बनाओ, बाबूजी; तुम मुझे हमेशा धोखा देते आये हो और अब भी वही नीति निभा रहे हो! सच कहती हूँ, मुझे भी लेते चलिए। अच्छा; मैं राजा साहब को राजी कर लूँ, तब तो आपको कोई आपत्ति न होगी ?

चक्रधर—मनोरमा, दिल्लगी कर रही हो, या दिल से कहती हो ?

मनोरमा—दिल से कहती हूँ, दिल्लगी नहीं।

चक्रधर—मैं आपको अपने साथ न ले जाऊँगा।

मनोरमा—क्यों ?

चक्रधर—बहुत सी बातों का अर्थ बिना कहे ही स्पष्ट होता है।

मनोरमा—तो आपने मुझे अब भी नहीं समझा। मुझे भी बहुत दिनों से कुछ सेवा करने की इच्छा है। मैं भोग विलास करने के लिए यहाँ नहीं आयी थी। ईश्वर को साक्षी देकर कहती हूँ, मैं कभी भोग-विलास में लिप्त न हुई थी। धन से मुझे प्रेम है; लेकिन केवल इसलिए कि उससे मैं कुछ सेवा कर सकती, और सेवा करनेवालों की कुछ मदद कर सकती। सच कहा है, पुरुष कितना ही विद्वान् और अनुभवी हो, पर स्त्री को समझने मे असमर्थ ही रहता है। खैर, न ले जाइए। अहल्यादेवी ने तप किया है।

चक्रधर—वह तो साथ जाने को कहती हैं।

मनोरमा—कौन! अहल्या! वह आपके साथ नहीं जा सकतीं, और आप ले भी गये, तो आज के तीसरे दिन यहाँ पहुँचाना पड़ेगा। मैं वही हूँ जो तब थी, किन्तु वह अपने दिन भूल गयीं।

यह कहते हुए मनोरमा ने बालक को गोद में उठा लिया और मन्द गति से बगीचे की ओर चली गयी। चक्रधर खड़े सोच रहे थे, क्या वास्तव में मैंने इसे नहीं समझा ? अवश्य ही मेरा इसे विलासिनी समझना भ्रम है। हम क्यों ऐसा समझते हैं कि स्त्रियों का जन्म केवल भोग-विलास के लिए ही होता है? क्या उनका हृदय ऊँचे और पवित्र भावों से शून्य होता है ? हमने उन्हें कामिनी, रमणी, सुन्दरी आदि विलास सूचक नाम दे-देकर वास्तव में उन्हें वीरता, त्याग और उत्सर्ग से शून्य कर दिया है। अगर सभी पुरुष वासना-प्रिय नहीं होते, तो सभी स्त्रियाँ क्यों वासना-प्रिय होने लगीं! अगर मनोरमा जो कुछ कहती है, वह सत्य है, तो मैंने उसे वास्तव में नहीं समझा! हा मन्दबुद्धि!

सहसा चक्रधर को एक बात याद आ गयी! तुरन्त मनोरमा के पास जाकर बोले—मैं आपसे एक विनय करने आया हूँ। धन्नासिंह के साथ मैंने जो अत्याचार किया है, उसका कुछ प्रायश्चित्त करना आवश्यक है।

मनोरमा ने मुस्कराकर कहा—बहुत देर में इसकी सुधि आयी। मैंने उसकी कुल जोत मुआफी कर दी है।

चक्रधर ने चकित होकर कहा—आप सचमुच देवी हैं! तो मैं जाकर उन सबों को इसकी इत्तला दे दूँ?

मनोरमा—आपका जाना आपकी शान के खिलाफ है। इस जरा-सी बात की सूचना देने के लिए भला आप क्या जाइएगा? तो आपने कब जाने का विचार किया है?

चक्रधर—आज ही रात को।

मनोरमा ने मुस्कराते हुए कहा—हाँ, उस वक्त अहल्यादेवी सोती भी होंगी।

एक क्षण के बाद फिर बोली—मैं अहल्या होती, तो सब कुछ छोड़कर आपके साथ चलती।

यह कहते-कहते मनोरमा ने लजा से सिर झुका लिया। जो बात वह ध्यान में भी न लाना चाहती थी, वह उसके मुँह से निकल गयी। उसने उसी वक्त शखधर को उठा लिया और बाग के दूसरी तरफ चली गयी, मानो उनसे पीछा छुड़ाना चाहती है, या शायद डरती है कि कहीं मेरे मुँह से कोई और असगत बात न निकल जाय।

चक्रधर कुछ देर तक वहीं खड़े रहे, फिर बाहर चले गये। किसी काम में जी न लगा। सोचने लगे, जरा शहर चलकर अम्माँजी से मिलता आऊँ, मगर डरे कि कहीं अम्माँ शिकायतों का दफ्तर न खोल दें। निर्मला एक बार यहाँ आयी थी; मगर एक ही सप्ताह में ऊबकर चली गयी थी। अहल्या की रुखाई से उसका दिल खट्टा हो गया था। जो अहल्या शील और विनय की पुतली थी, वह यहाँ सीधे मुँह बात भी न करती थी।

ज्यों ज्यों सन्ध्या निकट आती थी, उनका जी उचाट होता जाता था। पहले कहीं बाहर जाने में जो उत्साह होता था, उसका अब नाम भी न था। जानते थे कि छलके हुए दूध पर आँसू बहाना व्यर्थ है, किन्तु इस वक्त बार-बार स्वर्गवासी मुन्शी यशोदानन्दन पर क्रोध आ रहा था। अगर उन्होंने मेरे गले में फन्दा न डाला होता, तो आज मुझे क्यों यह विपत्ति झेलनी पड़ती? मैं तो राजा की लड़की से विवाह न करना चाहता था। मुझे तो धनी कुल की कन्या से भी डर लगता था। विधाता को मेरे ही साथ यह क्रीड़ा करनी थी!

सन्ध्या-समय वह राजा साहब से पूछने गये। राजा साहब ने आँखों में आँसू भर कर कहा—बाबूजी, आप धुन के पक्के आदमी हैं, मेरी बात आप क्यों मानने लगे, मगर मैं इतना कहता हूँ कि अहल्या रो-रोकर प्राण दे देगी और आपको बहुत जल्द लौटकर आना पड़ेगा। अगर आप उसे ले गये, तो शखधर भी जायगा और मेरी सोने

की लज्जा धूल में मिल जायगी। आखिर आपको यहाँ क्या कष्ट है?

चक्रधर को बार-बार एक ही बात का दुहराना बुरा मालूम होता था। कुछ झुँझलाकर बोले—इसी से तो मैं जाना चाहता हूँ कि यहाँ मुझे कोई कष्ट नहीं है। विलास में पड़कर अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहता।

राजा—और इस राज्य को कौन सँभालेगा?

चक्रधर—राज्य सँभालना मेरे जीवन का आदर्श नहीं है। फिर आप तो हैं ही।

राजा—तुम समझते हो, मैं बहुत दिन जीऊँगा? सुखी आदमी बहुत दिन नहीं जीता, बेटा! यह सब मेरे मरने के सामान हैं। मैं मिथ्या नहीं कहता। मुझे ऐसा आभास हो रहा है कि मेरे दिन निकट आ गये हैं। शखधर मेरा शत्रु बनकर आया है। यह लो, वह तलवार लिये दौड़ा भी आ रहा है? क्यों शखधर, तलवार क्यों लाये हो?

शखधर—तुमको मालेंगे।

राजा—क्यों भाई, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?

शखधर—अम्माँ लानी लोती हैं, तुमने उनको क्यों माला है?

राजा—लो साहब, यह नया अपराध मेरे सिर पर मढ़ा जा रहा है। चलो, जरा देखूँ तो, तुम्हारी लानी अम्माँ को किसने मारा है। क्या सचमुच रोती हैं?

शंखधर—चली देख छे लोती हैं।

राजा साहब तो तुरन्त अन्दर चले गये। मनोरमा के रोने की खबर सुनकर वह व्याकुल हो उठे। अन्दर जाकर देखा, तो मनोरमा सचमुच रो रही थी। कमल पुष्प में ओस की बूँदें झलक रही थीं। राजा साहब ने आतुर होकर पूछा—क्या बात है, नोरा? कैसा जी है?

मनोरमा ने आँसू पोंछते हुए कहा—अच्छी तो हूँ।

राजा—तो आँखें क्यों लाल हैं?

मनोरमा—आँखें तो लाल नहीं हैं। (जरा रुककर) अहल्यादेवी बाबूजी के साथ जा रही हैं। लल्लू को भी ले जायँगी।

राजा—यह तुमसे किसने कहा?

मनोरमा—अहल्यादेवी ने।

राजा—अहल्या नहीं जा सकती।

मनोरमा—आप बाबूजी को क्यों नहीं समझाते?

राजा—वह मेरे समझाने से न मानेंगे। किसी के समझाने से न मानेंगे।

मनोरमा—तो फिर?

राजा—तो उन्हें जाने दो। वह बहुत दिन बाहर नहीं रहेंगे। उन्हें थोड़े ही दिनों में लौटकर आना पड़ेगा।

मनोरमा की आँखों से अश्रुवर्षा होने लगी। उसने अवरुद्ध कण्ठ से कहा—वह अब यहाँ न आवेंगे। आप उन्हें नहीं जानते?

राजा—मेरा मन कहता है, वह थोड़े ही दिनों मे आयेंगे। शखधर उन्हें खींच लावेगा। अभी माया ने उनपर केवल एक अस्त्र चलाया है।

चक्रधर ने सोचा, इस तरह तो शायद मै यहाँ से मरकर भी छुट्टी न पाउँ। इनसे पूछूँ, उनसे पूछूँ। मुझे किसी से पूछने की जरूरत ही क्या है। जब अकेले ही जाना है, तो क्यों यह सब झमट करूँ? अपने कमरे मे जाकर दो-चार कपड़े और किताब समेटकर रख दीं। कुल इतना ही सामान था, जिसे एक आदमी आसानी से हाथ में लटकाये लिये जा सकता था। उन्होंने रात को चुपके से बकुचा उठाकर चले जाने का निश्चय किया।

आज उन्हें भोजन से जरा भी रुचि न हुई। वह अहल्या से भी मिलना चाहते थे। उसे सम्पत्ति प्यारी है, तो सम्पत्ति लेकर रहे। मेरे साथ वह क्यों जाने लगी। मेरा मन रखने को मीठी मीठी बातें करती है। जी में मनाती होगी, किसी तरह यहाँ से टल जायँ। अगर मुझे पहले मालूम होता कि वह इतनी विलास लोलुप है, तो उससे कोसों दूर रहता। लेकिन फिर दिल को समझाया, मेरा अहल्या से रूठना अन्याय है। वह अगर अपने पुत्र को छोड़कर नहीं जाना चाहती, तो कोई अनुचित बात नहीं करती। ऐसे क्षुद्र विचार मेरे मन में क्यों आ रहे हैं? मैं यदि अपना कर्त्तव्य पालन करने जा रहा हूँ, तो किसी पर एहसान नहीं कर रहा हूँ।

यात्रा की तैयारी करके और अपने मन को अच्छी तरह समझाकर चक्रधर ने सन्देह को दूर करने के लिए अपने शयनागार में विश्राम किया। अहल्या ने कहा—दादाजी तो राजी न हुए।

चक्रधर—न जाऊँगा, और क्या। उनको नाराज भी तो नहीं करना चाहता।

अहल्या प्रसन्न होकर बोली—यही उचित भी है। सोचो, उन्हें कितना बड़ा दुःख होगा। मैंने तुम्हारे साथ जाने का निश्चय कर लिया था। शखधर को भी अपने साथ ले ही जाती। फिर बेचारे किसका मुँह देखकर रहते।

चक्रधर ने इसका कुछ जवाब न दिया। वह चुप साध गये। नींद का बहाना करने लगे। वह चाहते थे कि यह सो जाय, तो मैं चुपके से अपना बकुचा उठाऊँ और लम्बा हो जाऊँ, मगर निद्रा-विलासिनी अहल्या की आँखों से आज नींद कोसों दूर थी। वह कोई-न-कोई प्रसंग छेड़कर बातें करती जाती थी। यहाँ तक कि जब आधीरात से अधिक बीत गयी, तो चक्रधर ने कहा—भाई, अब मुझे सोने दो, आज तुम्हारी नींद कहाँ भाग गयी?

उन्होंने चादर ओढ ली और मुँह फेर लिया। गरमी के दिन थे। कमरे में पखा चल रहा था। फिर भी गरमी मालूम होती थी। रोज किवाड़ खुले रहते थे। जब अहल्या को विश्वास हो गया कि चक्रधर सो गये, तो उसने दरवाजे अन्दर से बन्द कर दिये और बिजली की बत्ती ठण्ढी करके सोयी। आज वह न-जाने क्यों इतनी सावधान हो गयी थी। पगली! जानेवालों को किसने रोका है?

रात भीग ही चुकी थी। अहल्या को नींद आते देर न लगी। चक्रधर का प्रेम-

कातर हृदय अहल्या के यों सावधान होने पर एक बार विचलित हो उठा। वह अपने आँसुओं के वेग को न रोक सके। यह सोचकर उनका कलेजा फटा जाता था कि जब प्रातःकाल यह मुझे न पायेगी, तो इसकी क्या दशा होगी। इधर कुछ दिनों से अहल्या को विलास-प्रमोद में मग्न देखकर चक्रधर समझने लगे थे कि इसका प्रेम अब शिथिल हो गया है। यहाँ तक कि वह शखधर को भी गोद में उठाकर प्यार न करती थी; पर आज उसकी व्यग्रता देखकर उनका भ्रम जाता रहा, उन्हें ज्ञात हुआ कि इसका विलासी हृदय अब भी प्रेम में रत है। जब कोई वस्तु हमारे हाथ से जाने लगती है, तभी उसके प्रति हमारे सच्चे मनोभाव प्रकट होते हैं। निःशक दशा में सबसे प्यारी वस्तुओं की भी हमें सुध नहीं रहती, हम उनकी ओर से उदासीन-से रहते हैं।

चारों तरफ सन्नाटा छाया हुआ था। सारा राज-भवन शान्ति में विलीन हो रहा था। चक्रधर ने उठकर द्वारों को टटोलना शुरू किया, पर ऐसा दिशा-भ्रम हो गया था की कभी सपाट दीवार हाथ मे आती, कभी कोई खिड़की, कभी कोई मेज। याद करने की चेष्टा करते थे कि मैं किस तरफ मुँह करके सोया था। द्वार ठीक चारपाई के सामने था; पर बुद्धि कुछ काम न देती थी। उन्होंने एक क्षण शान्त चित्त होकर विचार किया; पर द्वार का ज्ञान फिर भी न हुआ। यहाँ तक कि अपनी चारपाई भी न मिलती थी। आखिर उन्होंने दीवारों को टटोल-टटोलकर बिजली का बटन खोज निकाला और बत्ती जला दी। देखा, अहल्या सुख-निद्रा मे मग्न है। क्या छवि थी, मानो उज्ज्वल पुष्प-राशि पर कमल-दल बिखरे पड़े हों, मानो हृदय मे प्रेम-स्मृति विश्राम कर रही हो।

चक्रधर के मन मे एक बार यह आवेश उठा कि अहल्या को जगा दें और उसे गले लगाकर कहें—प्रिये! मुझे प्रसन्न मन से विदा करो, मैं बहुत जल्द-जल्द आया करूँगा। इस तरह चोरों की भाँति जाते हुए उन्हें असीम मर्म-वेदना हो रही थी; किंतु जिस भाँति किसी बूढ़े आदमी को फिसलकर गिरते देख हम अपनी हँसी के वेग को रोकते हैं, उसी भाँति उन्होंने मन की इस दुर्बलता को दबा दिया और आहिस्ता से किवाड़ खोला। मगर प्रकृति को गुप्त व्यापार से कुछ वैर है। किवाड़ को उन्होंने कुछ रिश्वत तो दी नहीं थी, जो वह अपनी जबान बन्द करता, खुला; पर प्रतिरोध की एक दबी हुई ध्वनि के साथ। अहल्या सोयी तो थी; पर उसे खटका लगा हुआ था। वह आहट पाते ही उसकी सचित निद्रा टूट गयी। वह चौंककर उठ बैठी और चक्रधर को पास की चारपाई पर न पाकर घबरायी हुई कमरे के बाहर निकल आयी। देखा तो चक्रधर दबे पाँव उस जीने पर चढ़ रहे थे, जो रानी मनोरमा के शयनागार को जाता था।

उसने घबराई हुई आवाज में पुकारा—कहाँ भागे जाते हो?

चक्रधर कमरे से निकले, तो उनके मन मे बलवती इच्छा हुई कि शंखधर को देखते चलें। इस इच्छा को वह संवरण न कर सके। वह तेजस्वी बालक मानो उनका रास्ता रोककर खड़ा हो गया हो। वह ऊपर कमरे मे रानी मनोरमा के पास सोता हुआ था। इसी लिए चक्रधर ऊपर जा रहे थे कि उसे आँख-भर देख लूँ। यह बात उनके ध्यान

में न आयी कि रानी को इस वक्त कैसे जगाऊँगा। शायद वह बरामदे ही मे खड़े खिड़की से उसे देखना चाहते हों। इच्छा वेगवती होकर विचार-शून्य हो जाती है। सहसा अहल्या की आवाज सुनकर वह स्तम्भित से हो गये। ऊपर न जाकर नीचे उतर आये और अत्यन्त सरल भाव से बोले—क्या तुम्हारी भी नींद खुल गयी?

अहल्या—मैं सोई कब थी! म जानती थी कि तुम आज जाओगे। तुम्हारा चेहरा कहे देता था कि तुमने आज मुझे छलने का इरादा कर लिया है; मगर मे कहे देती हूँ कि मैं तुम्हारा साथ न छोड़ूँगी। मे अपने शङ्खधर को भी साथ ले चलूँगी। मुझे राज्य की परवा नहीं है। राज्य रहे या जाय। तुम मुझे छोड़कर नहीं जा सकते। तुम इतने निर्दयी हो, यह मुझे न मालुम था। तुम तो छल करना न जानते थे। यह विद्या कब सीख ली? बोलो, मुझे छोड़कर जाते हुए तुम्हें जरा भी दया नहीं आती?]

चक्रधर ने लज्जित होकर कहा—तुम्हें मेरे साथ बहुत कष्ट होगा, अहल्या! मुझे प्रसन्नचित्त जाने दो। ईश्वर ने चाहा तो मे जल्द ही लौटूँगा।

अहल्या—क्यों प्राणेश, मैंने तुम्हारे साथ कौन से कष्ट नहीं झेले, और वह ऐसा कौन सा कष्ट है, जो मैं झेल नहीं चुकी हूँ? अनाथिनी क्या पान-फूल मे पूजी जाती है? मैं अनाथिनी थी, तुमने मेरा उद्धार किया। क्या वह बात भूल जाऊँगी? मैं विलास की चेरी नहीं हूँ। हाँ, यह सोचती थी कि ईश्वर ने जो सुख अनायास दिया है, उसे क्यों न भोगूँ? लेकिन नारी के लिए पुरुष सेवा से बढ़कर और कोई शृंगार, कोई विलास, कोई भोग नहीं है।

चक्रधर—और शङ्खधर?

अहल्या—उसे भी ले चलूँगी।

चक्रधर—रानी जी उसे जाने देंगी? जानती हो, राजा साहब का क्या हाल होगा?

अहल्या—यह सब तो तुम भी जानते हो। मुझ पर क्यों भार रखते हो?

चक्रधर—साराश यह कि तुम मुझे न जाने दोगी!

अहल्या—हाँ, तो मुझे छोड़कर तो तुम नहीं जा सकते, और न मैं ही लल्लू को छोड़ सकती हूँ। किसी को दुःख हो, तो हुआ करे।

इन बातों की कुछ भनक मनोरमा के कानों में भी पड़ी। वह भी अभी तक न सोयी थीं। उसने दरबान से ताकीद कर दी थी कि रात को चक्रधर बाहर जाने लगें, तो मुझे इत्तला देना। वह अपने मन की दो-चार बात चक्रधर से कहना चाहती थी। यह बोल-चाल सुनकर नीचे उतर आयी। अहल्या के अन्तिम शब्द उसके कानो में पड़ गये। उसने देखा कि चक्रधर बड़े हतबुद्धि से खड़े हैं, अपने कर्तव्य का निश्चय नहीं कर सकते, कुछ जवाब भी नहीं दे सकते। उसे भय हुआ कि इस दुविधे में पड़कर कहीं वह अपने कर्त्तव्य मार्ग से हट न जायँ, मेरा चित्त दुखी न हो जाय, इस भय से वह विरक्त होकर कहीं बैठ न रहें। वह चक्रधर को आत्मोत्सर्ग की मूर्ति समझती थी। उसे निश्चय था कि चक्रधर इस राज्य की तृण बराबर भी परवा नहीं करते, उन्हें तो सेवा की धुन लगी

हुई है, यहाँ रहकर वह अपने ऊपर बड़ा जब्र कर रहे हैं। वह यह भी जानती थी कि चक्रधर किसी तरह रुकनेवाले नहीं, अब यह दशा उनके लिए असह्य हो गयी है। तो क्या वह शंखधर के मोह में पड़कर उनकी स्वतन्त्रता में बाधक होगी? अपनी पुत्र-तृष्णा को तृप्त करने के लिए उनके पैर की बेड़ी बनेगी? नहीं, वह इतनी स्वार्थिनी नहीं है। जिस बालक से उसे नाम का नाता होने पर इतना प्रेम है, उसे वह कितना चाहते होंगे? इसका वह भली भाँति अनुमान कर सकती थी। वह शंखधर के लिए रोयेगी, तड़पेगी, लेकिन अपने पास रखकर चक्रधर को पुत्र-वियोग का दुःख न देगी। वह उनके दीपक से अपना घर न उजाला करेगी। यही उसने स्थिर किया। राजा साहब का क्या हाल होगा, इसकी उसे याद ही न रही। आकर बोली—बाबूजी, आप मेरा खयाल न कीजिए, शंखधर को ले जाइए। आखिर आपका दिल वहाँ कैसे लगेगा। मुझे कौन, जैसे पहले रहती थी, वैसे ही फिर रहने लगूँगी। हाँ इतनी दया कीजिएगा कि कभी कभी उसे लाकर मुझे दिखा दिया कीजिएगा, मगर अभी तो दो-चार दिन रहिएगा। बेटियाँ क्या यों गतागत बिदा हुआ करती हैं? दो-चार दिन तो शंखधर को प्यार कर लेने दीजिए।

यह कहते कहते मनोरमा की आँखें डबडबा आयीं। चक्रधर ने गद्गद कण्ठ से कहा—वह भला आपको छोड़कर मेरे साथ क्यों जाने लगा? आपके बग़ैर तो वह एक दिन भी न रहेगा।

मनोरमा—यह मैं कैसे कहूँ? माता पिता बालक के साथ जितना प्रेम कर सकते हैं, उतना दूसरा कौन कर सकता है?

अहल्या यह वाक्य सुनकर तिलमिला उठी। पति को रोकने का उसके पास यही एक बहाना था। वह न यहाँ से जाना चाहती थी, न पति को जाने देना चाहती थी। शंखधर की आड़ में वह अपने मनोभाव को छिपाये हुए थी। उसे विश्वास था कि रानी शंखधर को कभी न जाने देंगी और न चक्रधर उनसे इस विषय में कुछ कह सकेंगे; पर जब रानी ने यह शस्त्र उसके हाथ से छीन लिया, तो उसे शंका हुई कि इसमें जरूर कोई न कोई न रहस्य है। उसने तीव्र स्वर से कहा—तो क्या वह सब दिखावे ही का प्रेम था? आप तो कहती थीं, यह मेरा प्राण है, यह मेरा जीवन-आधार है, क्या वह सब केवल बातें थीं? क्या हमारी आँखों में धूल डालने के लिए ही सारा स्वाँग रचा था? आप हम लोगों को दूध की मक्खी की भाँति निकालकर अखण्ड राज्य करना चाहती हैं? यह न होगा। दादाजी को आप कोई दूसरा मन्त्र न पढ़ा सकेंगी। मेरे पुत्र का अहित आप न कर सकेंगी। मैं अब यहाँ से टलनेवाली नहीं। यह समझ लीजिएगा। अगर आपने समझ रखा हो कि इन सबों को भगाकर अपने भाई-भतीजों को यहाँ ला बिठाऊँगी, तो इस धोखे में न रहिएगा।

यह कहते कहते अहल्या उसी कोप से भरी हुई राजा साहब के शयन-गृह की ओर चली। मनोरमा स्तम्भित सी खड़ी रह गयी। उसकी आँखों से टपटप आँसू गिरने लगे।

चक्रधर मनोरमा को क्या मुँह दिखाते ? अहल्या के इन वज्रकठोर शब्दों ने मनोरमा को इतनी पीड़ा नहीं पहुँचायी थी, जितनी उनको। मनोरमा दो-एक बार और भी ऐसी ही बातें अहल्या के मुख से सुन चुकी थी और उसके स्वभाव से परिचित हो गयी थी। चक्रधर को ऐसी बातें सुनने का यह पहला अवसर था। वही अहल्या, जिसे यह नम्रता, मधुरता, शालीनता की देवी समझते थे, आज पिशाचिनी के रूप में उन्हें दिखायी दी। मारे ग्लानि के उनकी ऐसी इच्छा हुई कि धरती फट जाय और मैं उसमें समा जाऊँ, फिर न इसका मुँह देखूँ न अपना मुँह दिखाऊँ। जिस रमणी के उपकारों से उनका एक एक रोयाँ आभारी था, उसके साथ यह व्यवहार ! उसके उपकारों का यह उपहार ! यह तो नीचता की चरम सीमा है ! उन्हें ऐसा मालूम हुआ मेरे मुँह में कालिख लगी हुई है। वह मनोरमा की ओर ताक भी न सके। उनके मन में विराग की एक तरंग-सी उठी। मन ने कहा—यही तुम्हारी भोग-लिप्सा का दंड है, तुम इसी के भूखे थे। जिस दिन तुम्हें मालूम हुआ कि अहल्या राजा की पुत्री है, क्यों न उसी दिन यहाँ से मुँह में कालिख लगाकर चले गये ? इस विचार से क्यों अपनी आत्मा को धोखा देते रहते रहे कि जब मैं जाने लगूँगा, अहल्या अवश्य साथ चलेगी ? तुम समझते थे कि स्त्री की दृष्टि में पति प्रेम ही संसार की सब से अमूल्य वस्तु है ? यह तुम्हारी भूल थी। आज उसी स्त्री ने पति-प्रेम को कितनी निर्दयता से ठुकरा दिया, तुम्हारे हवाई किलों को विध्वंस कर दिया और तुम्हें कहीं न रखा।

मनोरमा अभी सिर झुकाये खड़ी ही थी कि चक्रधर चुपके से बाहर के कमरे में आये, अपना हैंडबेग उठाया और बाहर निकले। दरबान ने पूछा—सरकार, इस वक्त कहाँ जा रहे हैं ?

चक्रधर ने मुस्कराकर कहा—जरा मैदान की हवा खाना चाहता हूँ। भीतर बड़ी गरमी है, नींद नहीं आती।

दरबान—मैं भी सरकार के साथ चलूँ ?

चक्रधर—नहीं, कोई जरूरत नहीं।

बाहर आकर चक्रधर ने राज-भवन की ओर देखा। असंख्य खिड़कियों और दरीचों से बिजली का दिव्य प्रकाश दिखायी दे रहा था। उन्हें वह दिव्य भवन सहस्र नेत्रोंवाले पिशाच की भाँति जान पड़ा, जिसने उनका सर्वनाश कर दिया था। उन्हें ऐसा जान पड़ा कि वह मेरी ओर देखकर हँस रहा है और कह रहा है, क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे चले जाने से यहाँ किसी को दुःख होगा ? इसकी चिन्ता न करो। यहाँ यही बहार रहेगी, यों ही चैन की वंशी बजेगी। तुम्हारे लिए कोई दो बूँद आँसू भी न बहायेगा। जो लोग मेरे आश्रय में आते हैं, उनकी मैं कायाकल्प कर देता हूँ; उनकी आत्मा को महानिद्रा की गोद में सुला देता हूँ।

अभी चक्रधर सोच ही रहे थे कि किधर जाऊँ, सहसा उन्हें राजद्वार से दो-तीन आदमी लालटेनें लिये निकलते दिखायी दिये। समीप आने पर मालूम हुआ कि-

मनोरमा है। वह दो सिपाहियों के साथ लपकी हुई सड़क की ओर चली आ रही थी। चक्रधर समझ गये, यह मुझे ढूँढ़ रही है। उनके जी में एक बार प्रबल इच्छा हुई कि उसके चरणों पर गिरकर कहे—देवी, मैं तुम्हारी कृपाओं के योग्य नहीं हूँ। मैं नीच, पामर, अभागा हूँ। मुझे जाने दो, मेरे हाथों तुम्हें सदा कष्ट मिला है और मिलेगा।

मनोरमा अपने आदमियों से कह रही थी—अभी कहीं दूर न गये होंगे। तुम लोग पूर्व की ओर जाओ, मैं एक आदमी के साथ इधर जाती हूँ। बस, इतना ही कहना कि रानीजी ने कहा है, जहाँ जाना चाहें जायँ; पर मुझसे मिल कर जायँ।

राजभवन के सामने एक मनोहर उद्यान था। चक्रधर एक वृक्ष की आड़ में छिप गये। मनोरमा सामने से निकल गयी। चक्रधर का कलेजा धड़क रहा था कि कहीं पकड़ न लिया जाऊँ। दोनों तरफ के रास्ते बन्द थे। खैर उन्हें ज्यादा देर तक न रहना पड़ा। मनोरमा कुछ दूर जाकर लौट आयी। उसने निश्चय किया कि इधर-उधर खोजना व्यर्थ है। रेलवे स्टेशन पर जाकर उनको रोकना चाहिए। स्टेशन के सिवा और कहाँ जा सकते हैं। चक्रधर की जान-में-जान आयी, ज्योंही रानी इधर आयीं, वह कुञ्ज से निकलकर कदम बढ़ाते हुए आगे चले। वह दिन निकलने के पहले इतनी दूर निकल जाना चाहते थे कि फिर उन्हें कोई पा न सके। दिन निकलने में अब बहुत देर भी न थी। तारों की ज्योति मन्द पड़ चली। चक्रधर ने और तेजी से कदम बढ़ाया।

सहसा उन्हें सड़क के किनारे एक कुएँ के पास कई आदमी बैठे दिखायी दिये। उनके बीच में एक लाश रखी हुई थी। कई आदमी लकड़ी के कुन्दे लिये पीछे आ रहे थे। चक्रधर पूछना चाहते थे—कौन मर गया है? धन्नासिंह की आवाज पहचान-कर वह सड़क ही पर ठिठक गये। इसने पहचान लिया, तो मुश्किल पड़ेगी।

धन्नासिंह कह रहा था—कजा आ गया, तो कोई क्या कर सकता है? बाबूजी के हाथ में कोई डण्डा भी तो न था। दो-चार घूँसे मारे होंगे और क्या? मगर उस दिन से फिर बेचारा उठा नहीं।

दूसरे आदमी ने कहा--ठाँव-कुठाव की बात है। एक घूँसा पीठ पर मारो, तो कुछ न होगा, केवल 'धम' की आवाज होगी। लेकिन वही घूँसा पसली में या नाभी के पास पड़ जाय, तो गोली का काम कर सकता है। ठाँव-कुठाव की बात है। मन्ना का कुठाँव चोट लग गयी।

धन्नासिंह—बाबूजी सुनेंगे, तो उन्हें बहुत रंज होगा। उस दिन न-जाने उनके सिर कैसे क्रोध का भूत सवार हो गया था। बड़े दयावान हैं; किसी को कड़ी निगाह से देखते तक नहीं। जेहल में हम लोग उन्हें भगतजी कहा करते थे। सुनेंगे, तो बहुत पछतायेंगे।

एक बूढ़ा आदमी बोला—भैया, जेहल की बात दूसरी थी। तब दयावान रहे होंगे। तब राजा ठाकुर तो नहीं थे। राज पाकर दयावान रहें, तो जानें।

धन्नासिंह—दादा, वह राज पाकर फूल उठनेवाले आदमी नहीं हैं। तुमने देखा, यहाँ से जाते ही-जाते माफी दिला दी।

बूढ़ा—अरे पागल, जान का बदला कहीं माफी से चुकता है? जान का बदला जान है। मन्ना की अभागिनी विधवा माफी लेकर चाटेगी, उसके अनाथ बालक माफी की गोद में खेलेंगे, या माफी को दादा कहेंगे? तुम बाबूजी को दयावान कहते हो, मैं उन्हें सौ हत्यारों का एक हत्यारा कहता हूँ। राजा हैं, इससे बचे जाते हैं, दूसरा होता, तो फाँसी पर लटकाया जाता। मैं तो बूढ़ा हो गया हूँ, लेकिन उनपर इतना क्रोध आ रहा है कि मिल जायँ, तो खून चूस लूँ।

चक्रधर को ऐसा मालूम हुआ कि मन्नासिंह की लाश कफन में लिपटी हुई उन्हें निगलने के लिए दौड़ी चली आती है। चारों ओर से दानवों की विकराल ध्वनि सुनायी देती थी—यह हत्यारा है? सौ हत्यारों का एक हत्यारा है! समस्त आकाश-मंडल में देह के एक एक अणु में, यही शब्द गूँज रहे थे—यह हत्यारा है! सौ हत्यारों का हत्यारा है!

चक्रधर वहाँ एक क्षण भी और खड़े न रह सके। उन आदमियों के सामने जाने की हिम्मत न पड़ी। मन्नासिंह की लाश सामने हड्डी की एक गदा लिये उनका रास्ता रोके खड़ी थी नहीं, वह उनका पीछा करती थी। वह ज्यों-ज्यों पीछे खिसकते थे, लाश आगे बढ़ती थी। चक्रधर ने मन को शान्त करके विचार का आह्वान किया, जिसे मन की दुर्बलता ने एक क्षण के लिए शिथिल कर दिया था। 'वाह! यह मेरी क्या दशा है। मृतदेह भी कहीं चल सकती है? यह मेरी भय विकृत कल्पना का दोष है। मेरे सामने कुछ नहीं है, अब तक तो मैं डर ही गया होता।' मन को यों दृढ़ करते ही उन्हें फिर कुछ न दिखायी दिया। वह आगे बढ़े, लेकिन उनका मार्ग अब अनिश्चित न था, उनके रास्ते में अब अन्धकार न था, वह किसी लक्ष्यहीन पथिक की भाँति इधर-उधर भटकते न थे। उन्हें अपने कर्तव्य का मार्ग साफ नजर आने लगा।

सहसा उन्होंने देखा कि पूर्व दिशा प्रकाश से आच्छन्न होती चली जाती है।

३५

पाँच साल गुजर गये; पर चक्रधर का कुछ पता नहीं। फिर वही गरमी के दिन हैं, दिन को लू चलती है, रात को अँगारे बरसते हैं, मगर अहल्या को न अब पंखे की जरूरत है, न खस की टट्टियों की। उस वियोगिनी को अब रोने के सिवा दूसरा काम नहीं है। विलास की किसी बात से अब उसे प्रेम नहीं है। जिन वस्तुओं के प्रेम में फँसकर उसने अपने प्रियतम से हाथ धोया, वे सभी उसकी आँखों में काँटे की भाँति खटकतीं और हृदय में शूल की भाँति चुभती हैं, मनोरमा से अब उसका वह बर्ताव नहीं रहा। मनोरमा ही क्यों, लौंडियों तक से वह नम्रता के साथ बोलती और शंखधर के बिना तो अब वह एक क्षण नहीं रह सकती। पति को खोकर उसने अपने को पा लिया है। अगर वह विलासिता में पड़कर अपने को भूल न गयी होती, तो पति को खोती ही क्यों? वह अपने को बार बार धिक्कारती है कि वह चक्रधर के साथ क्यों न चली गयी?

शंखधर उससे पूछता रहता है—अम्माँ, बाबूजी कब आयेंगे ? वह क्यों चले गये, अम्माँजी ? आते क्यों नहीं ? तुमने उनको क्यों जाने दिया, अम्माँजी ? तुमने हमको उनके साथ क्यों नहीं जाने दिया ? तुम उनके साथ क्यों नहीं गयीं, अम्माँ ? बताओ, बेचारे अकेले न-जाने कहाँ पड़े होंगे। मैं भी उनके साथ जंगलों में घूमता ! क्यों अम्माँ, उन्होंने बहुत विद्या पढ़ी है ? रानी अम्माँ कहती हैं, वह आदमी नहीं, देवता हैं। क्यों अम्माँजी, क्या वह देवता हैं ? फिर तो लोग उनकी पूजा करते होंगे। अहल्या के पास इन प्रश्नों का उत्तर रोने के सिवा और कुछ नहीं है। शंखधर कभी-कभी अकेले बैठकर रोता है। कभी-कभी अकेले बैठा सोचा करता है कि पिताजी कैसे आयेंगे।

शंखधर का जी अपने पिता की कीर्ति सुनने से कभी नहीं भरता। वह रोज अपनी दादी के पास जाता है और वहाँ उनकी गोद में बैठा हुआ घण्टों उनकी बातें सुना करता है। चक्रधर की पुस्तकों को वह उलट-पुलटकर देखता है और चाहता है कि मैं भी जल्दी से बड़ा हो जाऊँ और ये किताबें पढ़ने लगूँ। निर्मला दिन-भर उसकी राह देखा करती है। उसे देखते ही निहाल हो जाती है। शङ्खधर ही अब उसके जीवन का आधार है। अहल्या का मुँह भी वह नहीं देखना चाहती। कहती है, उसी ने मेरे लाल को घर से विरक्त कर दिया। बेचारा न-जाने कहाँ मारा-मारा फिरता होगा। भोला-भाला गरीब लड़का इस विलासिनी के पंजे में फँसकर कहीं का न रहा। अब भले रोती है। मुंशी वज्रधर उससे बार-बार अनुरोध करते हैं कि चलकर जगदीशपुर में रहो; पर वह यहाँ से जाने पर राजी नहीं होती। उससे अपना वह छोटा-सा घर नहीं छोड़ा जाता।

मुंशीजी को अब रियासत से एक हजार रुपए महीना वसीका मिलता है। राजा साहब ने उन्हें रियासत के कामों से मुक्त कर दिया है। इसलिए मुंशीजी अब अधिकांश घर ही पर रहते हैं। शराब की मात्रा तो धन के साथ नहीं बढ़ी, बल्कि और घट गयी है; लेकिन संगीत-प्रेम बहुत बढ़ गया है। सारे दिन उनके विशाल कमरे में गायनाचार्यों की बैठक रहती है। मुहल्ले में अब कोई गरीब नहीं रहा। मुंशीजी ने सबको कुछ न-कुछ महीना बाँध दिया है। उनके हाथ में पैसा कभी नहीं टिका। अब तो और भी नहीं टिकता। उनकी मनोवृत्ति भक्ति की ओर नहीं है, दान को दान समझकर वह नहीं देते, न इसलिए देते हैं कि उस जन्म में इसका कुछ फल मिलेगा। वह इसलिए देते हैं कि उनकी यह आदत है। यह भी उनका राग है, इसमें उन्हें आनन्द मिलता है। वह अपनी कीर्ति भी नहीं सुनना चाहते; इसलिए जो कुछ देते हैं, गुप्त रूप से देते हैं। वह अब भी प्रायः खाली-हाथ रहते हैं और रुपयों के लिए मनोरमा की जान खाते रहते हैं; बिगड़-बिगड़कर पत्र-पर-पत्र लिखते हैं, जाकर खोटी-खरी सुना आते हैं और कुछ न कुछ ले ही आते हैं। मनोरमा को भी शायद उनकी कड़वी बातें मीठी लगती हैं। वह उनकी इच्छा तो पूरी करती है; पर चार बातें सुनकर। इतने पर भी उन्हें कर्ज लेना पड़ता है। उनके लिए सबसे आनन्द का समय वह होता है, जब वह शङ्खधर को गोद

में लिये मुहल्ले भर के बालकों को मिठाइयाँ और पैसे बाँटने लगते हैं। इससे बढ़ी खुशी की वह कल्पना ही नहीं कर सकते।

एक दिन शङ्खधर ६ बजे ही आ पहुँचा। गुरुसेवकसिंह उसके साथ थे। यह महाशय रियासत जगदीशपुर के तबले थे। जिस अवसर पर जो काम जरूरी समझा जाता था, वही उनसे लिया जाता था। निर्मला उस समय स्नान करके तुलसी को जल चढा रही थी। जब वह जल चढ़ाकर आयी, तो शङ्खधर ने पूछा—दादीजी, तुम पूजा क्यों करती हो?

निर्मला ने शङ्खधर को गोद में लेकर कहा—बेटा, भगवान् से माँगती हूँ कि मेरी मनोकामना पूरी करें।

शङ्खधर—भगवान् सबके मन की बात जानते हैं?

निर्मला—हाँ बेटा, भगवान् सब कुछ जानते हैं।

शङ्खधर—दादीजी, तुम्हारी क्या मनोकामना है?

निर्मला—यही बेटा, कि तुम्हारे बाबूजी आ जायँ और तुम जल्दी से बड़े हो जाओ।

शखधर बाहर मुशीजी के पास चला गया और उनके पास बैठकर सितार की गतें सुनता रहा।

दूसरे दिन प्रातःकाल शंखधर ने स्नान किया; लेकिन स्नान करके वह जलपान करने न आया। गुरुसेवकसिंह के पास पढने भी न गया। न जाने कहाँ चला गया। अहल्या इधर-उधर देखने लगी, कहाँ चला गया। मनोरमा के पास आकर देखा, वहाँ भी न था। अपने कमरे में भी न था। छत पर भी नहीं। दोनों रमणियाँ घबरायीं कि स्नान करके कहाँ चला गया। लौंडियों से पूछा तो उन सबों ने भी कहा, हमने तो उन्हें नहाकर आते देखा। फिर कहाँ चले गये, यह हमें नहीं मालूम। चारों ओर तलाश होने लगी। दोनों बगीचे की ओर दौड़ी गयीं। वहाँ भी वह न दिखायी दिया। सहसा बगीचे के पल्ले सिरे पर, जहाँ दिन को भी सन्नाटा रहता था, उसकी झलक दिखायी दी। दोनों चुपके चुपके वहाँ गयीं और एक पेड़ की आड़ में खड़ी होकर देखने लगीं। शखधर तुलसी के चबूतरे के सामने आसन मारे, आँखें बन्द किये ध्यान-सा लगाये बैठा था। उसके सामने कुछ फूल पड़े हुए थे। एक क्षण के बाद उसने आँखें खोलीं, कई बार चबूतरे की परिक्रमा और तुलसी की बन्दना करके धीरे से उठा। दोनों महिलाएँ आड़ से निकल कर उसके सामने खड़ी हो गयीं। शखधर उन्हें देखकर कुछ लज्जित हो गया और बिना कुछ बोले आगे बढ़ा।

मनोरमा—वहाँ क्या करते थे, बेटा?

शङ्खधर—कुछ तो नहीं। ऐसे ही घूमता था।

मनोरमा—नहीं, कुछ तो कर रहे थे।

शङ्खधर—जाइए, आप से क्या मतलब?

अहल्या—तुम्हें न बतायेंगे। मैं इसकी अम्माँ हूँ, मुझे बता देगा। मेरा लाल मेरी

कोई बात नहीं टालता। हाँ बेटे, बताओ क्या कर रहे थे? मेरे कान में कह दो। मैं किसी से न कहूँगी।

शङ्खधर ने आँखों में आँसू भरकर कहा—कुछ नहीं, मैं बाबूजी के जल्दी से लौट आने की प्रार्थना कर रहा था। भगवान् पूजा करने से सबकी मनोकामना पूरी करते हैं।

सरल बालक की यह पितृ-भक्ति और श्रद्धा देखकर दोनों महिलाएँ रोने लगीं। इस बेचारे को कितना दुःख है। शङ्खधर ने फिर पूछा—क्यों अम्माँ, तुम बाबूजी के पास कोई चिट्ठी क्यों नहीं लिखतीं?

अहल्या ने कहा—कहाँ लिखूँ बेटा, उनका पता भी तो नहीं जानती!

३६

इधर कुछ दिनों से लौंगी तीर्थ करने चली गयी थी। गुरुसेवकसिंह ही के कारण उसके मन में यह धर्मोत्साह हुआ था। इस यात्रा के शुभ फल में उनको भी कुछ हिस्सा मिलेगा, यह तो नहीं कहा जा सकता; पर उनके पिता को अवश्य मिलने की सम्भावना थी। जब से वह गयी थी, दीवान साहब दीवाने हो गये थे। यहाँ तक कि गुरुसेवक को भी कभी-कभी यह मानना पड़ता था कि लौंगी का घर में होना पिताजी की रक्षा के लिए जरूरी है। घर में अब कोई नौकर एक सप्ताह से ज्यादा न टिकता था, कितने ही पहली ही फटकार में छोड़कर भागते थे। रियासत से पकड़कर भेजे जाते थे, तब कहीं जाकर काम चलता था। गुरुसेवक के सद्व्यवहार और मिष्ट भाषण का कोई असर न होता था। शराब की मात्रा भी दिनोंदिन बढ़ती जाती थी, जिससे भय होता था कि कोई भयंकर रोग न खड़ा हो जाय, भोजन वह अब बहुत थोड़ा करते थे। लौंगी दिन-भर में दो ढाई सेर दूध उनके पेट में भर दिया करती थी, आध पाव के लगभग घी भी किसी-न-किसी तरह पहुँचा ही देती थी। इस कला में वह निपुण थी। पति-सेवा का वह अमर सिद्धान्त, जो चालीस साल की अवस्था के बाद भोजन की योजना ही पर विशेष आग्रह करता है, सदैव उसकी आँखों के सामने रहता था। वह कहा करती थी घोड़े और मर्द कभी बूढ़े नहीं होते, केवल उन्हें रातिब मिलना चाहिए। ठाकुर साहब लौंगी की अब सूरत भी नहीं देखना चाहते थे, इसी आशय के पत्र उसको लिखा करते हैं। लिखते हैं, तुमने मेरी जिन्दगी चौपट कर दी। मेरा लोक और परलोक दोनों बिगाड़ दिया। शायद लौंगी को जलाने ही के लिए ठाकुर साहब सभी काम उसकी इच्छा के विरुद्ध करते थे—खाना कम और शराब अधिक, नौकरों पर क्रोध, ९ बजे दिन तक सोना। सारांश यह कि जिन बातों को वह रोकती थी, वही आजकल की दिनचर्या बनी हुई थी। दीवान साहब इसकी सूचना भी दे देते थे, और पत्र के अन्त में यह भी लिख देते थे—अब तुम्हारे यहाँ आने की बिलकुल जरूरत नहीं। मेरी बहू तुमसे कहीं अच्छी तरह मेरी सेवा कर रही है। उसने मासिक खर्च में कोई २००) की बचत निकाल दी है। तुम्हारे लिए वही आमदनी पूरी न पड़ती थी। हर एक पत्र में वह अपने स्वास्थ्य का विवरण अवश्य करते थे। उनकी पाचन शक्ति

अब बहुत अच्छी हो गयी थी, रुधिर के बढ़ जाने से जितने रोग उत्पन्न होते हैं, उनकी अब कोई सम्भावना न थी।

दीवान साहब की पाचन शक्ति अच्छी हो गयी हो; पर विचार शक्ति तो जरूर क्षीण हो गयी थी। निश्चय करने की अब उनमें सामर्थ्य ही न थी। ऐसी ऐसी गलतियाँ करते थे कि राजा साहब को उनका बहुत लिहाज करने पर भी बार बार एतराज करना पड़ता था। वह कार्यदक्षता, वह तत्परता, वह विचारशीलता, जिसने उन्हें चपरासी से दीवान बनाया था, अब उनका साथ छोड़ गयी थी। वह बुद्धि भला जगदीशपुर का शासन भार क्या सँभालती। लोगों को आश्चर्य होता था कि इन्हें क्या हो गया है। गुरुसेवक को भी शायद मालूम होने लगा कि पिताजी की आड़ में कोई दूसरी ही शक्ति रियासत का सञ्चालन करती थी।

एक दिन उन्होंने पिता से कहा—लौंगी कब तक आयेगी?

दीवान साहब ने उदासीनता से कहा—उसका दिल जाने। यहाँ आने की तो कोई खास जरूरत नहीं मालूम होती। अच्छा है, अपने कर्मों का प्रायश्चित्त ही कर ले। यहाँ आकर क्या करेगी?

उसी दिन भाई बहन में भी इसी विषय पर बातें हुईं। मनोरमा ने कहा—भैया, क्या तुमने लौंगी अम्माँ को भुला ही दिया? दादाजी की दशा देख रहे हो कि नहीं? सूखकर काँटा हो गये हैं।

गुरुसेवक—भोजन तो करते ही नहीं। कोई क्या करे। बस, जब देखो शराब—शराब।

मनोरमा—उन्हें लौंगी अम्माँ ही कुछ ठीक रख सकती हैं। उन्हीं को किसी तरह बुलाओ और बहुत जल्द। दादाजी की दशा देखकर मुझे तो भय हो रहा है। राजा साहब तो कहते हैं, तुम्हारे पिताजी सठिया गये हैं।

गुरुसेवक—तो मैं क्या करूँ? बार-बार कहता हूँ कि बुला लीजिए, पर वह सुनते ही नहीं। उलटे उसे चिढ़ाने को और लिख देते हैं कि यहाँ तुम्हारे आने की जरूरत नहीं! वह एक हठिन् है। भला, इस तरह क्यों आने लगी?

मनोरमा—नहीं भैया, वह लाख हठिन हो, पर दादाजी पर जान देती है। वह केवल तुम्हारे भय से नहीं आ रही है। तीर्थयात्रा में उसकी श्रद्धा कभी न थी। वहाँ रो-रोकर उसके दिन कट रहे होंगे। पिताजी जितना ही उसे आने के लिए रोकते हैं, उतना ही उसे आने की इच्छा होती है, पर तुमसे डरती है।

गुरुसेवक—नोरा, मैं सच कहता हूँ, मैं दिल से चाहता हूँ कि वह आ जाय, पर सोचता हूँ कि जब पिताजी मना करते हैं, तो मेरे बुलाने से क्यों आने लगी। रुपए पैसे की कोई तकलीफ है ही नहीं।

मनोरमा—तुम समझते हो, दादाजी उसे मना करते हैं? उनकी दशा देखकर भी ऐसा कहते हो! जब से अम्माँजी का स्वर्गवास हुआ, दादाजी ने अपने को उसके हाथों बेच दिया। लौंगी ने न सँभाला होता, तो अम्माँजी के शोक में दादाजी प्राण दे देते।

मैंने किसी विवाहित स्त्री में इतनी पति-भक्ति नहीं देखी। अगर दादाजी को बचाना चाहते हो, तो जाकर लौंगी अम्माँ को अपने साथ लाओ!

गुरुसेवक—मेरा जाना तो बहुत मुश्किल है, नोरा!

मनोरमा—क्यों? क्या इसमें आपका अपमान होगा?

गुरुसेवक—वह समझेगी, आखिर इन्हीं को गरज पड़ी। आकर और भी सिर चढ़ जायगी। उसका मिजाज और भी आसमान पर जा पहुँचेगा।

मनोरमा—भैया, ऐसी बातें मुँह से न निकालो। लौंगी देवी है, उसने तुम्हारा और मेरा पालन किया है। उसपर तुम्हारा यह भाव देखकर मुझे दुःख होता है।

गुरुसेवक—मैं अब उससे कभी न बोलूँगा, उसकी किसी बात में भूलकर भी दखल न दूँगा, लेकिन उसे बुलाने न जाऊँगा।

मनोरमा—अच्छी बात है, तुम न जाओ; लेकिन मेरे जाने में तो तुम्हें कोई आपत्ति नहीं है?

गुरुसेवक—तुम जाओगी?

मनोरमा—क्यों, मैं क्या हूँ! क्या मैं भूल गयी हूँ कि लौंगी अम्माँ ही ने मुझे गोद में लेकर पाला है? अगर वह इस घर में आकर रहती, तो मैं अपने हाथों से उसके पैर धोती और चरणामृत आँखों से लगाती। जब मैं बीमार पड़ी थी, तो वह रात-की-रात मेरे सिरहाने बैठी रहती थी। क्या मैं इन बातों को कभी भूल सकती हूँ? माता के ऋण से उऋण होना चाहे सम्भव हो, उसके ऋण से मैं कभी उऋण नहीं हो सकती, चाहे ऐसे-ऐसे दस जन्म लूँ। आजकल वह कहाँ है?

गुरुसेवक लज्जित हुए। घर आकर उन्होंने देखा कि दीवान साहब लिहाफ ओढे पड़े हुए हैं। पूछा—आपका जी कैसा है?

दीवान साहब की लाल आँखें चढ़ी हुई थीं। बोले—कुछ नहीं जी, जरा सरदी लग रही थी।

गुरुसेवक—आपकी इच्छा हो, तो मैं जाकर लौंगी को बुला लाऊँ?

हरिसेवक—तुम! नहीं तुम उसे बुलाने क्या जाओगे। कोई जरूरत नहीं। उसका जी चाहे, आये या न आये। हुँह! उसे बुलाने जाओगे! ऐसी कहाँ की अमीरजादी है?

गुरुसेवक—यह आप कहें। हम तो उसकी गोद में खेले हुए हैं, हम ऐसा कैसे कह सकते हैं। नोरा आज मुझपर बहुत बिगड़ रही थी। वह खुद उसे बुलाने जा रही है। उसकी जिद तो आप जानते ही हैं! जब धुन सवार हो जाती है, तो उसे कुछ नहीं सूझता।

हरिसेवक सजल नेत्र होकर बोले—नोरा जाने को कहती है। नोरा जायगी? नहीं, मैं उसे न जाने दूँगा। लौंगी को बुलाने नोरा नहीं जा सकती। मैं उसे समझा दूँगा।

गुरुसेवक क्या जानते थे, इन शब्दों में कोई गूढ़ आशय भरा हुआ है। वहाँ से चले गये।

दूसरे दिन दीवान साहब को ज्वर हो आया। गुरुसेवक ने तापमान लगाकर देखा, तो ज्वर १०४ डिग्री का था। घबराकर डाक्टर को बुलाया। मनोरमा यह खबर पाते ही दौड़ी हुई आई। उसने आते-ही-आते गुरुसेवक से कहा—मैंने आपसे कल ही कहा था, जाकर लौंगी अम्माँ को बुला लाइए, लेकिन आप न गये। अब तक तो आप हरिद्वार से लौटते होते।

गुरुसेवक—मैं तो जाने को तैयार था; लेकिन जब कोई जाने भी दे। दादाजी से पूछा, तो वह मुझको बेवकूफ बनाने लगे। मैं कैसे चला जाता?

मनोरमा—तुम्हें उनसे पूछने की क्या जरूरत थी? इनकी दशा देख नहीं रहे हो। अब भी मौका है। मैं इनकी देख भाल करती रहूँगी, तुम इसी गाड़ी से चले जाओ और उसे साथ लाओ। वह इनकी बीमारी की खबर सुनकर एक क्षण भी न रुकेगी। वह केवल तुम्हारे भय से नहीं आ रही है।

दीवान साहब मनोरमा को देखकर बोले—आओ नोरा, मुझे तो आज ज्वर आ गया। गुरुसेवक कह रहा था कि तुम लौंगी को बुलाने जा रही हो। बेटी, इसमें तुम्हारा अपमान है। उसको हजार दफा गरज हो आये, या न आये। भला तुम उसे बुलाने जाओगी, तो दुनिया क्या कहेगी? सोचो, कितनी बदनामी की बात है।

मनोरमा—दुनिया जो चाहे कहे, मैंने भैयाजी को भेज दिया है। वह तो स्टेशन पहुँच गये होंगे। शायद गाड़ी पर सवार भी हो गये हों।

हरिसेवक—सच! यह तुमने क्या किया? लौंगी कभी न आयेगी।

मनोरमा—आयेगी क्यों नहीं। न आयेगी, तो मैं जाऊँगी और उसे मना लाऊँगी।

हरिसेवक—तुम उसे मनाने जाओगी? रानी मनोरमा लौंगी कहारिन को मनाने जायेंगी?

मनोरमा—मनोरमा लौंगी कहारिन का दूध पीकर बड़ी न होती, तो आज रानी मनोरमा कैसे होती?

हरिसेवक का मुरझाया हुआ चेहरा खिल उठा, बुझी हुई आँखें जगमगा उठीं, प्रसन्नमुख होकर बोले—नोरा, तुम सचमुच दया की देवी हो। देखो, अगर लौंगी आये और मैं न रहूँ, तो उसकी खबर लेती रहना। उसने मेरी बड़ी सेवा की है। मैं कभी उसके एहसानों का बदला नहीं चुका सकता। गुरुसेवक उसे सतायेगा, उसे घर से निकालेगा; लेकिन तुम उस दुखिया की रक्षा करना। मैं चाहूँ, तो अपनी सारी सम्पति उसके नाम लिख सकता हूँ। यह सब जायदाद मेरी पैदा की हुई है। मैं अपना सब कुछ लौंगी को दे सकता हूँ, लेकिन लौंगी कुछ न लेगी। वह दुष्टा मेरी जायदाद का एक पैसा भी न छुएगी। वह अपने गहने-पाते भी काम पड़ने पर इस घर में लगा देगी। बस, वह सम्मान चाहती है। कोई उससे आदर के साथ बोले और उसे लूट ले। वह घर की स्वामिनी बनकर भूखों मर जायगी, लेकिन दासी बनकर सोने का कौर भी न खायगी। यह उसका

स्वभाव है। गुरुसेवक ने आज तक उसका स्वभाव न जाना। नोरा, जिस दिन से वह गयी है, मैं कुछ और ही हो गया हूँ। जान पड़ता है, मेरी आत्मा कहीं चली गयी है। मुझे अपने ऊपर जरा भी भरोसा नहीं रहा। मुझमें निश्चय करने की शक्ति ही नहीं रही। अपने कर्त्तव्य का ज्ञान ही नहीं रहा। तुम्हें अपने बचपन की याद आती है, नोरा?

मनोरमा—बहुत पहले की बातें तो नहीं याद हैं; लेकिन लौंगी अम्मा का, मुझे गोद में खिलाना खूब याद है, अपनी बीमारी भी याद आती है, जब लौंगी अम्मा मुझे पंखा झला करती थीं।

हरिसेवक ने अवरुद्ध कण्ठ से कहा—उससे पहले की बात है नोरा, जब गुरुसेवक तीन वर्ष का था और तुम्हें तुम्हारी माता साल-भर का छोड़कर चल बसी थी। मैं पागल हो गया था। यही जी में आता था कि आत्महत्या कर लूँ। नोरा, जैसी तुम हो, वैसी ही तुम्हारी माता भी थी। उसका स्वभाव भी तुम्हारे-जैसा था। मैं बिलकुल पागल हो गया था। उस दशा में इसी लौंगी ने मेरी रक्षा की। उसकी सेवा ने मुझे मुग्ध कर दिया। उसे तुम लोगों पर प्राण देते देखकर उस पर मेरा प्रेम हो गया। मैं उसके स्वरूप और यौवन पर न रीझा। तुम्हारी माता के बाद किसका स्वरूप और यौवन मुझे मोहित कर सकता था? मैं लौंगी के हृदय पर मुग्ध हो गया। तुम्हारी माता भी तुम लोगों का लालन-पालन इतना तन्मय होकर न कर सकती थी। गुरुसेवक की बीमारी की याद तुम्हें क्या आयेगी? न-जाने इसे कौन सा रोग हो गया था। खून के दस्त आते थे और तिल-तिल पर। छः महीने तक उसकी दशा यही रही। जितनी दवा-दारू उस समय कर सकता था, वह सब करके हार गया। झाड़-फूँक, दुआ-तावीज सब कुछ कर चुका। इसके बचने की कोई आशा न थी। गलकर काँटा हो गया था। रोता तो इस तरह, मानो कराह रहा है। यह लौंगी ही थी जिसने उसे मौत के मुँह से निकाल लिया। कोई माता अपने बालक की इतनी सेवा नहीं कर सकती। जो उसके त्यागमय स्नेह को देखता, दाँतों-तले उँगली दबाता था। क्या वह लोभ के वश अपने को मिटाये देती थी? लोभ में भी कहीं त्याग होता है? और आज गुरुसेवक उसे घर से निकाल रहा है, समझता है कि लौंगी मेरे धन के लोभ से मुझे घेरे हुए है। मूर्ख यह नहीं सोचता कि जिस समय लौंगी उसका पजर गोद में लेकर रोया करती थी, उस समय धन कहाँ था। सच पूछो, तो यहाँ लक्ष्मी लौंगी के समय ही आयी; बल्कि लक्ष्मी ही लौंगी के रूप में आयी। लौंगी ही ने मेरे भाग्य को रचा। जो कुछ किया, उसी ने किया, मैं तो निमित्त मात्र था। क्यों नोरा, मेरे सिरहाने कौन खड़ा है? कोई बाहरी आदमी है? कह दो, यहाँ से जाय।

मनोरमा—यहाँ तो मेरे सिवा कोई नहीं है। आपको कोई कष्ट हो रहा है? फिर डाक्टर को बुलाऊँ?

हरिसेवक—मेरा जी घबरा रहा है, रह-रहकर डूबा जाता है। कष्ट कोई नहीं, कोई पीड़ा नहीं। बस, ऐसा मालूम होता है कि दीपक में तेल नहीं रहा। गुरुसेवक शाम तक पहुँच जायगा?

मनोरमा—हाँ, कुछ रात जाते-जाते पहुँच जायँगे।

हरिसेवक—कोई तेज मोटर हो, तो मैं शाम तक पहुँच जाऊँ।

मनोरमा—इस दशा में इतना लम्बा सफर आप कैसे कर सकते हैं?

हरिसेवक—हाँ, यह ठीक कहती हो, बेटी! मगर मेरी दवा लौंगी के पास है। उस सती का ऐसा प्रताप था! जब तक वह रही, मेरे सिर में कभी दर्द भी न हुआ। मेरी मूर्खता देखो कि जब उसने तीर्थयात्रा की बात कही, तो मेरे मुँह से एक बार भी न निकला—तुम मुझे किस पर छोड़कर जाती हो? अगर मैं यह कह सकता, तो वह कभी न जाती। एक बार भी नहीं रोका। मैं उसे निष्ठुरता का दण्ड देना चाहता था। मुझे उस वक्त यह न सूझ पड़ा कि

यह कहते-कहते दीवान साहब फिर चौंक पड़े और द्वार की ओर आशङ्कित नेत्रों से देखकर बोले—यह कौन अन्दर आया, नोरा? ये लोग क्यों मुझे घेरे हुए हैं? मुझे कुछ नहीं हुआ है। लेटा हुआ बातें कर रहा हूँ।

मनोरमा ने धड़कते हुए हृदय से उमड़नेवाले आँसुओं को दबाकर पूछा—क्या आपका जी फिर घबरा रहा है?

हरिसेवक—यह कुछ नहीं था, नोरा! मैंने अपने जीवन में अच्छे काम कम किये, बुरे काम बहुत किये। अच्छे काम जितने किये, वे लौंगी ने किये। बुरे काम जितने किये, वे मेरे हैं। उनके दंड का भागी मैं हूँ। लौंगी के कहने पर चलता, तो आज मेरी आत्मा शान्त होती। एक बात तुमसे पूछूँ, नोरा, बताओगी?

मनोरमा—खुशी से पूछिए।

हरिसेवक—तुम अपने भाग्य से सन्तुष्ट हो?

मनोरमा—यह आप क्यों पूछते हैं? क्या मैंने आपसे कभी कोई शिकायत की है?

हरिसेवक—नहीं नोरा, तुमने कभी शिकायत नहीं की और न करोगी, लेकिन मैंने तुम्हारे साथ जो घोर अत्याचार किया है, उसकी व्यथा से आज मेरा अन्तःकरण पीड़ित हो रहा है। मैंने तुम्हें अपनी तृष्णा की भेंट चढ़ा दिया, तुम्हारे जीवन का सर्वनाश कर दिया। ईश्वर! तुम मुझे इसका कठिन-से-कठिन दण्ड देना! लौंगी ने कितना विरोध किया, लेकिन मैंने एक न सुनी। तुम निर्धन होकर सुखी रहतीं। मुझे तृष्णा ने अन्धा बना दिया था। फिर जी डूबा जाता है! शायद उस देवी के दर्शन न होंगे। तुम उससे कह देना नोरा, कि यह स्वार्थी, नीच, पापी जीव अन्त समय तक उसकी याद में तड़पता रहा... ...।

मनोरमा ने रोकर कहा—दादाजी, आप ऐसी बातें क्यों करते हैं? लौंगी अम्मा कल शाम तक आ जायँगी।

हरिसेवक हँसे, वह विलक्षण हँसी, जिसमें समस्त जीवन की आशाओं और अभिलाषाओं का प्रतिवाद होता है। फिर सन्दिग्ध भाव से बोले—कल शाम तक? शायद।

मनोरमा आँसुओं के वेग को रोके हुए थी। उसे उस चिर-परिचित स्थान में आज एक विचित्र शंका का आभास हो रहा था। ऐसा जान पड़ता था कि सूर्य प्रकाश कुछ क्षीण हो गया है, मानो सन्ध्या हो गयी है। दीवान साहब के मुख की ओर ताकने की हिम्मत न पड़ती थी।

दीवान साहब छत की ओर टकटकी लगाये हुए थे, मानो उनकी दृष्टि अनन्त के उस पार पहुँच जाना चाहती हो। सहसा उन्होंने क्षीण-स्वर से पुकारा—नोरा!

मनोरमा ने उनकी ओर करुण नेत्रों से देखकर कहा—खड़ी हूँ, दादाजी!

दीवान—जरा कलम-दावात लेकर मेरे समीप आ जाओ। कोई और तो यहाँ नहीं है? मेरा दान-पत्र लिख लो। गुरुसेवक की लौंगी से न पटेगी। मेरे पीछे उसे बहुत कष्ट होगा। मैं अपनी सब जायदाद लौंगी को देता हूँ। जायदाद के लोभ से गुरुसेवक उससे दबेगा। तुम यह लिख लो और तुम्हीं इसकी साक्षी देना। जरा बहू को बुला लो, मैं उसे भी समझा दूँ। यह वसीयत तुम अपने ही पास रखना। जरूरत पड़ने पर इससे काम लेना।

मनोरमा अन्दर जाकर रोने लगी। अब आँसुओं का वेग उसके रोके न रुका। उसकी भाभी ने पूछा—क्या है दीदी, दादाजी का जी कैसा है?

यह कहते हुए वह घबराई हुई दीवान साहब के सामने आकर खड़ी हो गयी। उसकी आँखों में आँसू भर आये। कमरे में वह निस्तब्धता छायी हुई थी, जिसका आशय सहज ही समझ में आ जाता है। उसने दीवान साहब के पैरों पर सिर रख दिया और रोने लगी।

दीवान साहब ने उसके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हुए कहा—बेटी! यह मेरा अन्तिम समय है। यात्रा के सामान कर रहा हूँ। गुरुसेवक के आने तक क्या होगा, नहीं जानता। मेरे पीछे लौंगी बहुत दिन न रहेगी। उसका दिल न दुखाना। मेरी तुमसे यही याचना है। तुम बड़े घर की बेटी हो। जो कुछ करना, उसकी सलाह से करना। इसी में वह प्रसन्न रहेगी। ईश्वर तुम्हारा सौभाग्य अमर करें!

यह कहते-कहते दीवान साहब की आँखें बन्द हो गयीं। कोई आध घण्टे के बाद उन्होंने आँखें खोलीं और उत्सुक नेत्रों से इधर-उधर देखकर बोले—अभी नहीं आयी? अब भेंट न होगी?

मनोरमा ने रोते हुए कहा—दादाजी, मुझे भी कुछ कहते जाइए। मैं क्या करूँ?

दीवान साहब ने आँखें बन्द किये हुए कहा—लौंगी को देखो?

थोड़ी देर में राजा साहब आ पहुँचे। अहल्या भी उनके साथ थी। मुन्शी वज्रधर को भी उड़ती हुई खबर मिली। दौड़े आये। रियासत के सैकड़ों कर्मचारी जमा हो गये। डाक्टर भी आ पहुँचा। किन्तु दीवान साहब ने आँखें न खोलीं।

सन्ध्या हो गयी थी। कमरे में सन्नाटा छाया हुआ था। सब लोग सिर झुकाये बैठे थे, मानो श्मशान में भूतगण बैठे हों। सबको आश्चर्य हो रहा था कि इतनी जल्द यह

हो गया। अभी कल शाम तक तो मजे मे रियासत का काम करते रहे। दीवान
व अचेत पड़े हुए थे, किन्तु आँखों से आँसू की धारें बह बहकर गालों पर आ रही
। उस वेदना का कौन अनुमान कर सकता है!

एकाएक द्वार पर एक बग्घी आकर रुकी और उसमें से एक स्त्री उतरकर घर में
खल हुई। शोर मच गया—आ गयी, आ गयी! यह लौंगी थी।

लौंगी आज ही हरिद्वार से चली थी। गुरुसेवक से उनकी भेंट न हुई थी। इतने
दमियों को जमा देखकर उसका हृदय दहल उठा। उसके कमरे में आते ही और
ा हट गये। केवल मनोरमा, उसकी भाभी और अहल्या रह गयीं।

लौंगी ने दीवान साहब के सिर पर हाथ रखकर भर्रायी हुई आवाज में कहा—
ाणनाथ! क्या मुझे छोड़कर चले जाओगे?

दीवान साहब की आँखें खुल गयीं। उन आँखों में कितनी अपार वेदना थी, किन्तु
तना अपार प्रेम!

उन्होंने दोनों हाथ फैलाकर कहा—लौंगी, और पहले क्यों न आयी?

लौंगी ने दोनों फैले हुए हाथों के बीच में अपना सिर दिया और उस अन्तिम
ालिंगन के आनन्द में विह्वल हो गयी। इस निर्जीव, मरणोन्मुख प्राणी के आलिं-
 मे उसने उस आत्मबल, विश्वास और तृप्ति का अनुभव किया, जो उसके लिए
भूतपूर्व था। इस आनन्द में वह शोक भूल गयी। पचीस वर्ष के दाम्पत्य-जीवन में
ने कभी इतना आनन्द न पाया था। निर्दय अविश्वास रह रहकर उसे तड़पाता
ता था। उसे सदैव यह शका बनी रहती थी कि यह डोंगी पार लगती है, या मँझधार
में डूब जाती है। वायु का हलका-सा वेग, लहरों का हलका-सा आन्दोलन, नौका
हलका-सा कम्पन उसे भयभीत कर देता था। आज उन सारी शकाओं और
ाओं का अन्त हो गया। आज उसे मालूम हुआ कि जिसके चरणों पर मैंने अपने
समर्पित किया था, वह अन्त तक मेरा रहा। यह शोकमय कल्पना भी कितनी मधुर
र शान्तिदायिनी थी।

वह इसी विस्मृति की दशा में थी कि मनोरमा का रोना सुनकर चौंक पड़ी और
वान साहब के मुख की ओर देखा। तब उसने स्वामी के चरणों पर सिर रख दिया
र फूट-फूटकर रोने लगी। एक क्षण में सारे घर में कुहराम मच गया। नौकर-
कर सभी रोने लगे। जिन नौकरों को दीवान साहब के मुख से नित्य घुड़कियाँ
लती थीं, वह भी रो रहे थे। मृत्यु में मानसिक प्रवृत्तियों को शान्त करने की विलक्षण
क्ति होती है। ऐसे विरले ही प्राणी ससार में होंगे, जिनके अन्त:करण मृत्यु के प्रकाश
आलोकित न हो जायँ। अगर कोई ऐसा मनुष्य है, तो उसे पशु समझो। हरिसेवक
कृपणता, कठोरता, सकीर्णता, धूर्तता एव सारे दुर्गुण, जिनके कारण वह अपने
वन में बदनाम रहे, इस विशाल प्रेम के प्रवाह में बह गये।

आधी रात बीत चुकी थी। लाश अभी तक गुरुसेवक के इन्तजार में पड़ी हुई थी।

रोनेवाले रो-धोकर चुप हो गये थे। लौंगी शोकगृह से निकलकर छत पर गयी और सड़क की ओर देखने लगी। सैर करनेवालों की सैर तो खत्म हो चुकी थी; मगर मुसाफिरों की सवारियाँ कभी-कभी बँगले के सामने से निकल जाती थीं। लौंगी सोच रही थी, गुरुसेवक अब तक लौटे क्यों नहीं? गाड़ी तो यहाँ दो बजे आ जाती है। क्या अभी दो नहीं बजे? आते ही होंगे। स्टेशन की ओर से आनेवाली हर सवारी-गाड़ी को वह उस वक्त तक ध्यान से देखती थी, जब तक वह बँगले के सामने से न निकल जाती। तब वह अधीर होकर कहती—अब भी नहीं आये!

और मनोरमा बैठी दीवान साहब के अन्तिम उपदेश का आशय समझने की चेष्टा कर रही थी। उसके कानों मे ये शब्द गूँज रहे थे—'लौंगी को देखो!'

३७

जगदीशपुर के ठाकुरद्वारे मे नित्य साधु-महात्मा आते रहते थे। शंखधर उनके पास जा बैठता और उनकी बातें बड़े ध्यान से सुनता। उसके पास चक्रधर की जो तसवीर थी, उससे मन-ही-मन साधुओं की सूरत का मिलान करता; पर उस सूरत का साधु उसे न दिखायी देता था। किसी की भी बातचीत से चक्रधर की टोह न मिलती थी।

एक दिन मनोरमा के साथ शंखधर भी लौंगी के पास गया। लौंगी बड़ी देर तक अपनी तीर्थयात्रा की चर्चा करती रही। शङ्खधर उसकी बातें गौर से सुनने के बाद बोला—क्यों दाई, तो तुम्हें साधु संन्यासी बहुत मिले होंगे?

लौंगी ने कहा—हाँ बेटा, मिले क्यों नहीं। एक सन्यासी तो ऐसा मिला था कि हूबहू तुम्हारे बाबूजी से सूरत मिलती थी। बदले हुए भेस में ठीक तो न पहचान सकी; लेकिन मुझे ऐसा मालूम होता था कि वही हैं।

शङ्खधर ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—जटा बड़ी-बड़ी थीं?

लौंगी—नहीं, जटा सटा तो नहीं थी, न वस्त्र ही गेरुआ रंग के थे। हाँ, कमण्डल अवश्य लिए हुए थे। जितने दिन मैं जगन्नाथपुरी में रही, वह एक बार रोज मेरे पास आकर पूछ जाते—क्यों माताजी, आपको किसी बात का कष्ट तो नहीं है? और यात्रियों से भी वह यही बात पूछते थे। जिस धर्मशाला मे मैं टिकी थी, उसमें एक दिन एक यात्री को हैजा हो गया। सन्यासीजी उसे उठवाकर अस्पताल ले गये और दवा करायी। तीसरे दिन मैंने उस यात्री को फिर देखा। वह घर लौटता था। मालूम होता था, संन्यासीजी अमीर हैं। दरिद्र यात्रियों को भोजन करा देते और जिनके पास किराये के रुपए न होते, उन्हें रुपए भी देते थे। वहाँ तो लोग कहते थे कि यह कोई बड़े राजा संन्यासी हो गये हैं। नोरा, तुमसे क्या कहूँ, सूरत बिलकुल बाबूजी से मिलती थी। मैंने नाम पूछा, तो सेवानन्द बताया। घर पूछा, तो मुस्कराकर बोले—सेवानगर। एक दिन मैं तो मरते-मरते बची। सेवानन्द न पहुँच जाते, तो मर ही गयी थी। एक दिन मैंने उनको नेवता दिया। जब वह खाने बैठे, तो मैंने यहाँ का जिक्र छेड़ दिया। मैं देखना चाहती थी कि इन बातों से उनके दिल पर क्या असर होता है; मगर उन्होंने कुछ भी

न पूछा। मालूम होता था, मेरी बातें उन्हें अच्छी नहीं लग रही थीं। आखिर मैं चुप रही। उस दिन से वह फिर न दिखायी दिये। जब लोगों से पूछा, तो मालूम हुआ कि रामेश्वर चले गये। एक जगह जमकर नहीं रहते, इधर-उधर विचरते ही रहते हैं। क्यों नोरा, बाबूजी होते, तो जगदीशपुर का नाम सुनकर कुछ तो कहते?

मनोरमा ने तो कुछ उत्तर न दिया, न-जाने क्या सोचने लगी थी, पर शङ्खधर बोला—दाई, तुमने यहाँ तार क्यों न दे दिया? हम लोग फौरन पहुँच जाते।

लौंगी—अरे, तो कोई बात भी तो हो बेटा, न जाने कौन था, कौन नहीं था। बिना जाने बूझे क्यों तार देती?

मनोरमा ने गम्भीर भाव से कहा—मान लो वही होते, तो क्या तुम समझते हो कि वह हमारे साथ आते? कभी नहीं, आना होता, तो जाते ही क्यों?

शङ्खधर—किस बात पर नाराज होकर चले गये थे, अम्माँ? कोई-न-कोई बात जरूर हुई होगी? अम्माँजी से पूछता हूँ, तो रोने लगती हैं, तुमसे पूछता हूँ, तो तुम बतातीं ही नहीं।

मनोरमा—मैं किसी के मन की बात क्या जानूँ? किसी से कुछ कहा-सुना थोड़े ही।

शङ्खधर—मैं यदि उन्हें एक बार देख पाऊँ, तो फिर कभी साथ ही न छोड़ूँ। क्यों दाई, आजकल वह संन्यासीजी कहाँ होंगे?

मनोरमा—अब दाई यह क्या जाने? सन्यासी कहीं एक जगह रहते हैं, जो वह बता दे?

शङ्खधर—अच्छा दाई, तुम्हारे ख्याल में सन्यासीजी की उम्र क्या रही होगी?

लौंगी—मैं समझती हूँ, उनकी उम्र कोई ४० वर्ष की होगी।

शङ्खधर ने कुछ हिसाब करके कहा—रानी अम्माँ, यही तो बाबूजी की भी उम्र होगी।

मनोरमा ने बनावटी क्रोध से कहा—हाँ-हाँ वही सन्यासी तुम्हारे बाबूजी हैं। बस, अब माना। अभी उम्र ४० वर्ष की कैसे हो जायगी?

शखधर समझ गया कि मनोरमा को यह जिक्र बुरा लगता है। इस विषय में फिर मुँह से एक शब्द भी न निकाला, लेकिन वहाँ रहना अब उसके लिए असम्भव था। रामेश्वर का हाल तो उसने भूगोल में पढ़ा था, लेकिन अब उस अल्पज्ञान से उसे सन्तोष न हो सकता था। वह जानना चाहता था कि रामेश्वर को कौन रेल जाती है, वहाँ लोग जाकर ठहरते कहाँ हैं? घर के पुस्तकालय में शायद कोई ऐसा ग्रन्थ मिल जाय, यह सोचकर वह बाहर आया और शोफर से बोला—मुझे घर पहुँचा दो।

शोफर—महारानीजी न चलेंगी?

शङ्खधर—मुझे कुछ जरूरी काम है, तुम पहुँचाकर लौट आना। रानी अम्माँ से कह देना, वह चले गये।

घर आकर पुस्तकालय में जा ही रहा था कि गुरुसेवकसिंह मिल गये। आजकल यह महाशय दीवानी के पद के लिए जोर लगा रहे थे, हर एक काम बड़ी मुस्तैदी से

करते; पर मालूम नहीं, राजा साहब क्यों उन्हें स्वीकार न करते थे। मनोरमा कह चुकी थी, अहल्या ने भी सिफारिश की; पर राजा साहब अभी तक टालते जाते थे। शङ्खधर उन्हें देखते ही बोला—गुरुजी, ज़रा कृपा करके मुझे पुस्तकालय से कोई ऐसी पुस्तक निकाल दीजिए, जिसमें तीर्थ स्थानों का पूरा-पूरा हाल लिखा हो।

गुरुसेवक ने कहा—ऐसी तो कोई किताब पुस्तकालय में नहीं है।

शङ्खधर—अच्छा, तो मेरे लिए कोई ऐसी किताब मँगवा दीजिए।

यह कहकर वह लौटा ही था कि कुछ सोचकर बाहर चला गया। और एक मोटर को तैयार कराके शहर चला। अभी उसका तेरहवाँ ही साल था; लेकिन चरित्र में इतनी दृढ़ता थी कि जो बात मन में ठान लेता, उसे पूरा ही करके छोड़ता। शहर जाकर उसने अँगरेजी पुस्तकों की कई दूकानों से तीर्थ-यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकें देखीं और किताबों का एक बण्डल लेकर घर आया।

राजा साहब भोजन करने बैठे, तो शङ्खधर वहाँ न था। अहल्या ने जाकर देखा, तो वह अपने कमरे में बैठा कोई किताब देख रहा था।

अहल्या ने कहा—चलकर खाना खा लो, दादाजी बुला रहे हैं।

शङ्खधर—अम्माँजी, आज मुझे बिलकुल भूख नहीं है।

अहल्या—कोई नयी किताब लाये हो क्या? जभी भूख नहीं है। कौन-सी किताब है?

शंखधर—नहीं अम्माँजी, मुझे भूख नहीं लगी।

अहल्या ने उसके सामने से खुली हुई किताब उठा ली और दो-चार पंक्तियाँ पढ़कर बोली—इसमें तो तीर्थों का हाल लिखा हुआ है—जगन्नाथ, बदरीनाथ, काशी और रामेश्वर। यह किताब कहाँ से लाये?

शंखधर—आज ही तो बाजार से आया हूँ। दाई कहती थी कि बाबूजी की सूरत का एक संन्यासी उन्हें जगन्नाथ में मिला था, और वह वहाँ से रामेश्वर चला गया।

अहल्या ने शंखधर को दया-सजल नेत्रों से देखा, पर उसके मुख से कोई बात न निकली। आह! मेरे लाल! तुझमें इतनी पितृ भक्ति क्यों है? तू पिता के वियोग में क्यों इतना पागल हो गया है? तुझे तो पिता की सूरत भी याद नहीं। तुझे तो इतना भी याद नहीं कि कब पिता की गोद में बैठा था, कब उनकी प्यार की बातें सुनी थीं। फिर भी तुझे उनपर इतना प्रेम है? और वह इतने निर्दयी हैं कि न-जाने कहाँ बैठे हुए हैं सुधि ही नहीं लेते। वह मुझसे अप्रसन्न हैं, लेकिन तूने क्या अपराध किया है? तुझसे क्यों रुष्ट हैं? नाथ! तुमने मेरे कारण अपने आँखों के तारे पुत्र को क्यों त्याग दिया? तुम्हें क्या मालूम कि जिस पुत्र की ओर से तुमने अपना हृदय पत्थर कर लिया है, वह तुम्हारे नाम की उपासना करता है, तुम्हारी मूर्ति की पूजा करता है। आह! यह वियोगाग्नि उसके कोमल हृदय को क्या जला न डालेगी? क्या इस राज्य को पाने का यह दण्ड है? इस अभागे राज्य ने हम दोनों को अनाथ कर दिया।

अहल्या का मातृ हृदय करुणा से पुलकित हो उठा। उसने शंखधर को छाती से

लगा लिया और आँसुओं के वेग को दबाती हुई बोली—बेटा, तुम्हारा उठने को जी न चाहता हो, तो यहीं लाऊँ। बैठे-बैठे कुछ थोड़ा-सा खा लो।

शङ्खधर—अच्छा, खा लूँगा अम्माँ, किसी से खाना भेजवा दो, तुम क्यों लाओगी।

अहल्या एक क्षण में छोटी-सी थाली में भोजन लेकर आयी और शङ्खधर के सामने रखकर बैठ गयी।

शङ्खधर को इस समय खाने की रुचि न थी, यह बात नहीं थी। अब तक उसे निश्चित रूप से अपने पिता के विषय में कुछ न मालूम था। वह जानता था कि वह किसी दूसरी जगह आराम से होंगे। आज उसे यह मालूम हुआ था कि वह सन्यासी हो गये हैं, अब वह राजसी भोजन कैसे करता? इसीलिए उसने अहल्या से कहा था कि भोजन किसी के हाथ भेज देना, तुम न आना। अब यह थाल देखकर वह बड़े धर्म-संकट में पड़ा। अगर नहीं खाता, तो अहल्या दुखी होती है और खाता है, तो कौर मुँह में नहीं जाता। उसे खयाल आया, मैं यहाँ चाँदी के थाल में मोहनभोग उड़ाने बैठा हूँ और बाबूजी पर इस समय न-जाने क्या गुजर रही होगी। बेचारे किसी पेड़ के नीचे पड़े होंगे, न जाने आज कुछ खाया भी है या नहीं। वह थाली पर बैठा; लेकिन कौर उठाते ही फूट-फूटकर रोने लगा। अहल्या उसके मन का भाव ताड़ गयी और स्वयं रोने लगी। कौन किसे समझाता?

आज से अहल्या को हरदम यही संशय रहने लगा कि शङ्खधर पिता की खोज में कहीं भाग न जाय। वह उसे अकेले कहीं खेलने तक न जाने देती, उसका बाजार भी आना-जाना बन्द हो गया। उसने सबको मना कर दिया कि शङ्खधर के सामने उसके पिता की चर्चा न करें। यह भय किसी भयंकर जन्तु की भाँति उसे नित्य घूरा करता था कि कहीं शङ्खधर अपने पिता के गृह-त्याग का कारण न जान ले, कहीं वह यह न जान जाय कि बाबूजी को राज पाट से घृणा है, नहीं तो फिर इसे कौन रोकेगा?

उसे अब हरदम यही पछतावा होता रहता कि मैं शङ्खधर को लेकर स्वामी के साथ क्यों न चली गयी? राज्य के लोभ में वह पति को पहले ही खो बैठी थी, कहीं पुत्र को भी तो न खो बैठेगी? सुख और विलास की वस्तुओं से शङ्खधर की दिन-दिन बढ़नेवाली उदासीनता देख देखकर वह चिन्ता के मारे और भी घुली जाती थी।

३८

ठाकुर हरिसेवकसिंह का क्रिया-कर्म हो जाने के बाद एक एक दिन लौंगी ने अपना कपड़ा लत्ता बाँधना शुरू किया। उसके पास रुपए-पैसे जो कुछ थे, सब गुरुसेवक को सौंपकर बोली—भैया, मैं अब किसी गाँव में जाकर रहूँगी, यहाँ मुझसे नहीं रहा जाता।

वास्तव में लौंगी से अब इस घर में न रहा जाता था। घर की 'एक एक चीज उसे काटने दौड़ती थी। २५ वर्ष तक इस घर को स्वामिनी बनी रहने के बाद अब वह किसी की आश्रिता न बन सकती थी। सब कुछ उसी के हाथों का किया हुआ था,

पर अब उसका न था। यह घर उसी ने बनवाया था। उसने घर बनवाने पर जोर न दिया होता, तो ठाकुर साहब अभी तक किसी किराये के घर पड़े होते। घर का सारा सामान उसी का खरीदा हुआ था, पर अब उसका कुछ न था। सब कुछ स्वामी के साथ चला गया। वैधव्य के शोक के साथ यह भाव कि मैं किसी दूसरे की रोटियों पर पड़ी हूँ, उसके लिए असह्य था। हालाँकि गुरुसेवक पहले से अब कहीं ज्यादा उसका लिहाज करते थे, और कोई ऐसी बात न होने देते थे, जिससे उसे रंज हो। फिर भी कभी-कभी ऐसी बातें हो ही जाती थीं, जो उसकी पराधीनता की याद दिला देती थीं। कोई नौकर अब उससे अपनी तलब माँगने न आता था; रियासत के कर्मचारी अब उसकी खुशामद करने न आते थे। गुरुसेवक और उसकी स्त्री के व्यवहार में तो किसी तरह की त्रुटि न थी। लौंगी का उन लोगों से जैसी आशा थी, उससे कहीं अच्छा बर्ताव उसके साथ किया जाता था; लेकिन महरियाँ अब खड़ी जिसका मुँह जोहती हैं, वह कोई और ही है; नौकर जिसका हुक्म सुनते दौड़कर आते हैं, वह भी और ही कोई है। देहात के असामी नजराने या लगान के रुपए अब उसके हाथ में नहीं देते, शहर की दूकानों के किरायेदार भी अब उसे किराये देने नहीं आते। गुरुसेवक ने अपने मुँह से किसी से कुछ नहीं कहा है। प्रथा और रुचि ने आप ही आप सारी व्यवस्था उलट-पलट कर दी है। पर ये ही वे बातें हैं, जिनसे उसके आहत हृदय को ठेस लगती है, और उसकी मधुर स्मृतियों में एक क्षण के लिए ग्लानि की छाया आ पड़ती है। इसी लिए अब वह यहाँ से जाकर किसी देहात में रहना चाहती। आखिर जब ठाकुर साहब ने उसके नाम कुछ नहीं लिखा, उसे दूध की मक्खी की भाँति निकालकर फेंक दिया, तो वह यहाँ क्यों पड़ी दूसरों का मुँह जोहे? उसे अब एक टूटे-फूटे झोपड़े और एक टुकड़े रोटी के सिवा और कुछ नहीं चाहिए। इसके लिए वह अपने हाथों से मेहनत कर सकती है। जहाँ रहेगी, वहीं अपने गुजर-भर को कमा लेगी। उसने जो कुछ किया, यह उसी का तो फल है। वह अपनी झोपड़ी में पड़ी रहती, तो आज क्यों यह अनादर और अपमान होता? झोंपड़ी छोड़कर महल के सुख भोगने का ही यह दण्ड है।

गुरुसेवक ने कहा—आखिर सुनें तो, कहाँ जाने का विचार कर रही हो?

लौंगी—जहाँ भगवान् ले जायँगे, वहाँ चली जाऊँगी; कोई नैहर या दूसरी ससुराल है, जिसका नाम बता दूँ?

गुरुसेवक—सोचती हो, तुम चली जाओगी तो मेरी कितनी बदनामी होगी? दुनिया यही कहेगी कि इनसे एक बेवा का पालन न हो सका। उसे घर से निकाल दिया। मेरे लिए कहीं मुँह दिखाने की भी जगह न रहेगी। तुम्हें इस घर में जो शिकायत हो वह मुझसे कहो; जिस बात की जरूरत हो, मुझसे बतला दो। अगर मेरी तरफ से उसमें जरा भी कोर-कसर देखो, तो फिर तुम्हें अख्तियार है, जो चाहे करना। यों मैं कभी न जाने दूँगा।

लौंगी—क्या बाँधकर रखोगे?

गुरुसेवक—हाँ बाँधकर रखेंगे।

अगर उम्र-भर में लौंगी को गुरुसेवक की कोई बात पसन्द आयी, तो उनका यही दुराग्रह-पूर्ण वाक्य था। लौंगी का हृदय पुलकित हो गया। इस वाक्य में उसे आत्मीयता हुई जान पड़ी। उसने जरा तेज होकर कहा—बाँधकर क्यों रखोगे? क्या तुम्हारी बेसाही हूँ?

गुरुसेवक—हाँ, बेसाही हो! मैंने नहीं बेसाहा, मेरे बाप ने तो बेसाहा है। बेसाही न होतीं, तो तुम तीस साल यहाँ रहतीं कैसे? कोई और आकर क्यों न रह गयी? दादाजी चाहते, तो एक दर्जन ब्याह कर सकते थे, कोड़ियों रखेलियाँ रख सकते थे। यह सब उन्होंने क्यों नहीं किया? जिस वक्त मेरी माता का स्वर्गवास हुआ, उस वक्त उनकी जवानी की उम्र थी, मगर उनका कट्टर-से-कट्टर शत्रु भी आज यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि उनके आचरण खराब थे। यह तुम्हारी ही सेवा की जंजीर थी, जिसने उन्हें बाँध रखा। नहीं तो आज हम लोगों का कहीं पता न होता। मैं सत्य कहता हूँ, अगर तुमने घर के बाहर कदम निकाला, चाहे तो दुनिया मुझे बदनाम ही करे, मैं तुम्हारे पैर तोड़कर रख दूँगा। क्या तुम अपने मन की हो कि जो चाहोगी, करोगी और जहाँ चाहोगी जाओगी, और कोई न बोलेगा? तुम्हारे नाम के साथ मेरी और मेरे पूज्य बाप की इज्जत बँधी हुई है।

लौंगी के जी में आया कि गुरुसेवक के चरणों पर सिर रखकर रोऊँ और छाती से लगाकर कहूँ—बेटा, मैंने तो तुझे गोद में खेलाया है, तुझे छोड़कर भला मैं कहा जा सकती हूँ? लेकिन उसने क्रुद्ध भाव से कहा—यह तो अच्छी दिल्लगी हुई। यह मुझे बाँधकर रखेंगे!

गुरुसेवक तो झल्लाये हुए बाहर चले गये और लौंगी अपने कमरे में जाकर खूब रोई। गुरुसेवक क्या किसी महरी से कह सकते थे—हम तुम्हें बाँधकर रखेंगे? कभी नहीं, लेकिन अपनी स्त्री से वह यह बात कह सकते हैं, क्योंकि उसके साथ उनकी इज्जत बँधी हुई है। थोड़ी देर के बाद वह उठकर एक महरी से बोली—सुनती है रे, मेरे सिर में दर्द हो रहा है। जरा आकर दबा दे।

आज कई महीने के बाद लौंगी ने सिर दबाने का हुक्म दिया था। इधर उसे किसी से कुछ कहते हुए सकोच होता था कि कहीं यह टाल न जाय। नौकरों के दिल में उसके प्रति वही श्रद्धा थी, जो पहले थी। लौंगी ने स्वय उनसे कुछ काम लेना छोड़ दिया था। इन झगड़ों की भनक भी नौकरों के कानों में पड़ गयी थी। उन्होंने अनुमान किया था कि गुरुसेवक ने लौंगी को किसी बात पर डाँटा है, इसलिए स्वभावतः उनकी सहानुभूति लौंगी के साथ हो गयी थी। वे आपस में इस विषय पर मनमानी टिप्पणियाँ कर रहे थे। महरी उसका हुक्म सुनते ही तेल लाकर उसका सिर दबाने लगी। उसे अपने मनोभावों को प्रकट करने के लिए यह अवसर बहुत ही उपयुक्त जान पड़ा। बोली—आज छोटे बाबू किस बात पर बिगड़ रहे थे मालकिन? कमरे के

बाहर सुनायी दे रहा था। तुम यहाँ से चली गयीं मालकिन, तो एक नोकर भी न रहेगा। सबों ने यह सोच लिया है कि जिस दिन मालकिन यहाँ से चली जायँगी, हम सब भी भाग खड़े होंगे। अन्याय हम लोगों से नहीं देखा जाता।

लौंगी ने दीन भाव से कहा—नसीब ही खोटा है, नहीं तो क्यों किसी की भिड़कियाँ सुननी पड़ती?

महरी—नहीं मालकिन, नसीबे को न खोटा कहो। नसीबा तो जैसा तुम्हारा है वैसा किसी का क्या होगा? ठाकुर साहब मरते-दम तक तुम्हारा नाम रटा किये। तुम क्यों जाती हो, किसी का मजाल क्या है कि तुमसे कुछ कह सके? यह सारी सम्पदा तो तुम्हारी जोड़ी हुई है। इसे कौन ले सकता है? ठाकुर साहब को जो तुमसे सुख मिला, वह क्या किसी व्याहता से मिल सकता था?

सहसा मनोरमा ने कमरे में प्रवेश किया और लौंगी को सिर में तेल डलवाते देखकर बोली—कैसा जी है अम्मा? सिर में दर्द है क्या?

लौंगी—नहीं बेटा, जी तो अच्छा है। आओ, बैठो।

मनोरमा ने महरी से कहा—तुम जाओ, मैं दबाये देती हूँ। दरवाजे पर खड़ी होकर कुछ सुनना नहीं, दूर चली जाना।

महरी इस समय यहाँ की बातें सुनने के लिए अपना सर्वस्व दे सकती थी, यह हुक्म सुनकर मन में मनोरमा को कोसती हुई चली गयी। मनोरमा सिर दबाने बैठी, तो लौंगी ने उसका हाथ पकड़ लिया और बोली—नहीं बेटा, तुम रहने दो। दर्द नहीं था, यों ही बुला लिया था। नहीं, मैं न दबवाऊँगी। यह उचित नहीं है। कोई देखे तो कहे कि बुढ़िया पगला गयी है, रानी से सिर दबवाती है।

मनोरमा ने सिर दबाते हुए कहा—रानी जहाँ हूँ, वहाँ हूँ; यहाँ तो तुम्हारी गोद की खेलायी नोरा हूँ। आज तो भैयाजी यहाँ से जाकर तुम्हारे ऊपर बहुत बिगड़ते रहे। मैं उसकी टाँग तोड़ दूँगा, गर्दन काट लूँगा। कितना पूछा—कुछ बताओ तो, बात क्या है? पर गुस्से में कुछ सुने ही न। भाई हैं तो क्या; पर उनका अन्याय मुझसे भी नहीं देखा जाता। वह समझते होंगे कि इस घर का मालिक मैं हूँ, दादाजी मेरे नाम सब छोड़ गये हैं। मैं जिसे चाहूँ, रखूँ; जिसे चाहूँ, निकालूँ। मगर दादाजी उनकी नीयत को पहले ताड़ गये थे। मैंने अब तक तुमसे नहीं कहा अम्माँजी, कुछ तो मौका न मिला और कुछ भैया का लिहाज था; पर आज उनकी बातें सुनकर कहती हूँ कि पिताजी ने अपनी सारी जायदाद तुम्हारे नाम लिख दी है।

लौंगी पर इस सूचना का जरा भी असर नहीं हुआ। किसी प्रकार का उल्लास, उत्सुकता या गर्व उसके चेहरे पर न दिखायी दिया। वह उदासीन भाव से चारपाई पर पड़ी रही।

मनोरमा ने फिर कहा—मेरे पास उनकी लिखायी हुई वसीयत रखी हुई है और मुझी को उन्होंने उसका साक्षी बनाया है। जब यह महाशय वसीयत देखेंगे तो आँखें खुलेंगी।

लौंगी ने गम्भीर स्वर में कहा—नोरा, तुम यह वसीयतनामा ले जाकर उन्हीं को दे दो। तुम्हारे दादाजी ने व्यर्थ ही वसीयत लिखायी। मैं उनकी जायदाद की भूखी न थी, उनके प्रेम की भूखी थी। और ईश्वर को साक्षी देकर कहती हूँ बेटी, कि इस विषय में मेरा जैसा भाग्य बहुत कम स्त्रियों का होगा। मैं उनका प्रेम-धन पाकर ही सन्तुष्ट हूँ। इसके सिवा अब मुझे और किसी धन की इच्छा नहीं है। अगर मैं अपने सत पर हूँ, तो मुझे रोटी कपड़े का कष्ट कभी न होगा। गुरुसेवक को मैंने गोद में खिलाया है, उसे पाला-पोसा है। वह मेरे स्वामी का बेटा है। उसका हक मैं किस तरह छीन सकती हूँ? उसके सामने की थाली कैसे खींच सकती हूँ? वह कागज फाड़-कर फेंक दो। यह कागज लिखकर उन्होंने अपने साथ और गुरुसेवक के साथ अन्याय किया है। गुरुसेवक अपने बाप का बेटा है, तो मुझे उसी आदर से रखेगा। वह मुझे माने या न माने, मैं उसे अपना ही समझती हूँ। तुम सिरहाने बैठी मेरा सिर दबा रही हो, क्या धन में इतना सुख कभी मिल सकता है? गुरुसेवक के मुँह से 'अम्मा' सुनकर मुझे वह खुशी होगी, जो ससार की रानी बनकर भी नहीं हो सकती, तुम उनसे इतना ही कह देना।

यह कहते-कहते लौंगी की आँखें सजल हो गयीं। मनोरमा उसकी ओर प्रेम, श्रद्धा, गर्व और आश्चर्य से ताक रही थी, मानो वह कोई देवी हो।

३९

रानी वसुमती बहुत दिनों से स्नान, व्रत, ध्यान तथा कीर्तन में मग्न रहती थीं, रियासत से उन्हें कोई सरोकार ही न था। भक्ति ने उनकी वासनाओं को शान्त कर दिया था। बहुत सूक्ष्म आहार करतीं और वह भी केवल एक बार। वस्त्राभूषण से भी उन्हें विशेष रुचि न थी। देखने से मालूम होता था कि कोई तपस्विनी हैं। रानी रामप्रिया उसी एक रस पर चली जाती थीं। इधर उन्हें सगीत से विशेष अनुराग हो गया था। सबसे अलग अपनी कविता-कुटीर में बैठी सगीत का अभ्यास करती रहती थीं। पुराने सिक्के, देश-देशान्तरों के टिकट और इसी तरह की अनोखी चीजों का सग्रह करने की उन्हें धुन थी। उनका कमरा एक छोटा-मोटा अजायबखाना था। उन्होंने शुरू ही से अपने को दुनिया के झमेलों से अलग रखा था। इधर कुछ दिनों से रानी रोहिणी का चित्त भी भक्ति की ओर झुका हुआ नजर आता था। वही, जो पहले ईर्ष्या की अग्नि में जला करती थी, अब वह साक्षात् क्षमा और दया की देवी बन गयी थी। अहल्या से उसे बहुत प्रेम था, कभी-कभी आकर घण्टों बैठी रहती। शखधर भी उससे बहुत हिल गया था। राजा साहब तो उसी के दास थे, जो शखधर को प्यार करे। रोहिणी ने शखधर को गोद में खेला-खेलाकर उनका मनोमालिन्य मिटा दिया। एक दिन रोहिणी ने शखधर को एक सोने की घड़ी इनाम दी। शख धर को पहली बार इनाम का मजा मिला, फूला न समाया, लेकिन मनोरमा अभी तक रोहिणी से चौंकती रहती थी। वह कुछ साफ-साफ तो न कह सकती थी, पर शखधर

का रोहिणी के पास आना-जाना उसे अच्छा न लगता था।

जिस दिन मनोरमा अपने पिता की वसीयत लेकर लौंगी के पास गयी थी, उसी दिन की बात है—सन्ध्या का समय था। राजा साहब पाईंबाग में हौज के किनारे बैठे मछलियों को आटे की गोलियाँ खिला रहे थे। एकाएक पाँव की आहट पाकर सिर उठाया तो देखा, रोहिणी आकर खड़ी हो गयी है। आज रोहिणी को देखकर राजा साहब को बड़ी करुणा आयी! वह नैराश्य और वेदना की सजीव मूर्ति-सी दिखायी देती थी, मानो कह रही थी—तुमने मुझे क्यों यह दण्ड दे रखा है? मेरा क्या अपराध है? क्या ईश्वर ने मुझे सन्तान न दी, तो इसमें मेरा कोई दोष था? तुम अपने भाग्य का बदला मुझसे लेना चाहते हो? अगर मैंने कटुवचन ही कहे थे, तो क्या उसका यह दण्ड था?

राजा साहब ने कातर स्वर में पूछा—कैसे चली रोहिणी? आओ यहाँ बैठो।

रोहिणी—आपको यहाँ बैठे देखा, चली आयी। मेरा आना बुरा लगा हो, तो चली जाऊँ?

राजा साहब ने व्यथित कण्ठ से कहा—रोहिणी क्यों लज्जित करती हो? मैं तो स्वयं लज्जित हूँ। मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है और नहीं जानता, मुझे उसका क्या प्रायश्चित करना पड़ेगा।

रोहिणी ने सूखी हँसी हँसकर कहा—आपने मेरे साथ कोई अन्याय नहीं किया। आपने वही किया, जो सभी पुरुष करते हैं। और लोग छिपे-छिपे करते हैं, राजा लोग वही काम खुले-खुले करते हैं। स्त्री कभी पुरुषों का खिलौना है, कभी उनके पाँव की जूती। इन्हीं दो अवस्थाओं में उसकी उम्र बीत जाती है। यह आपका दोष नहीं; हम स्त्रियों को ईश्वर ने इसी लिए बनाया ही है। हमें यह सब चुपचाप सहना चाहिए, गिला या मान करने का दण्ड बहुत कठोर होता है, और विरोध करना तो जीवन का सर्वनाश करना है।

यह व्यंग्य न था, बल्कि रोहिणी की दशा की सच्ची व निष्पक्ष आलोचना थी। राजा साहब सिर झुकाये सुनते रहे। उनके मुँह से कोई जवाब न निकला। उनकी दशा उस शराबी की-सी थी, जिसने नशे में तो हत्या कर डाली हो; किन्तु अब होश में आने पर लाश को देखकर पश्चात्ताप और वेदना से उसका हृदय फटा जाता हो।

रोहिणी फिर बोली—आज सोलह वर्ष हुए, जब मैं रूठकर घर से बाहर निकल भागी थी। बाबू चक्रधर के आग्रह से लौट आयी। वह दिन है और आज का दिन है, कभी आपने भूलकर भी पूछा कि तू मरती है या जीती? इससे तो यह कहीं अच्छा होता कि आपने मुझे चले जाने दिया होता। क्या आप समझते हैं कि मैं कुमार्ग की ओर जाती? यह कुलटाओं का काम है। मैं गङ्गा की गोद के सिवा और कहीं न जाती। एक युग तक घोर मानसिक पीड़ा सहने से तो एक क्षण का कष्ट कहीं अच्छा होता; लेकिन आशा! हाय आशा! इसका बुरा हो। यही मुझे लौटा लायी। चक्रधर का तो केवल बहाना था। यही अभागिन आशा मुझे लौटा लायी और इसी ने मुझे फुसला-फुसलाकर

एक युग कटवा दिया, लेकिन आपको कभी मुझपर दया न आयी। आपको कुछ खबर है, यह सोलह वर्ष के दिन मैंने कैसे काटे हैं? किसी को संगीत में आनन्द मिलता हो, मुझे नहीं मिलता। किसी को पूजा-भक्ति मे सन्तोष होता हो, मुझे नहीं होता। मै नैराश्य की उस सीमा तक नहीं पहुँची। मे पुरुष के रहते वैधव्य की कल्पना नहीं कर सकती। मन की गति तो विचित्र है। वही पीड़ा, जो बाल-विधवा सहती है और सहने मे अपना गौरव समझती है, परित्यक्ता के लिए असह्य हो जाती है। मैं राजपूत की बेटी हूँ, मरना भी जानती हूँ। कितनी बार मैंने आत्मघात करने का निश्चय किया, वह आप न जानेंगे। लेकिन हर दफे यही सोचकर रुक गयी थी कि मेरे मर जाने से तो आप और भी सुखी होंगे। अगर यह विश्वास होता कि आप मेरी लाश पर आकर आँसू की चार बूँदे गिरा देंगे, तो शायद मै कभी की प्रस्थान कर चुकी होती। मै इतनी उदार नहीं। मने हिंसात्मक भावों को मन से निकालने की कितनी चेष्टा की है, यह भी आप न जानेंगे, लेकिन अपनी सीताओं की दुर्दशा ही ने मुझे धैर्य दिया है, नहीं तो अब तक मे न-जाने क्या कर बैठती। ईर्ष्या से उन्मत्त स्त्री जो कुछ कर सकती है, उसकी अभी आप शायद कल्पना नहीं कर सकते, अगर सीता भी अपनी आँख से वह सब देखतीं, जो म आज १६ वर्ष से देख रही हूँ, तो सीता न रहतीं। सीता बनाने के लिए राम-जैसा पुरुष चाहिए।

राजा साहब ने अनुताप से कम्पित स्वर में कहा—रोहिणी, क्या सारा अपराध मेरा ही है?

रोहिणी—नहीं, आपका कोई अपराध नहीं है, सारा अपराध मेरे ही कर्मों का है। वह स्त्री सचमुच पिशाचिनी है, जो अपने पुरुष का अनभल सोचे। मुझे आपका अनभल सोचते हुए १६ वर्ष हो गये। मेरी हार्दिक इच्छा यही रही कि आपका बुरा हो और मैं देखूँ; लेकिन इसलिए नहीं कि आपको दुखी देखकर मुझे आनन्द होता। नहीं, अभी मेरा इतना अधःपतन नहीं हुआ। मैं आपका अनभल केवल इसलिये चाहती थी कि आपकी आँखें खुलें, आप खोटे और खरे को पहचानें। शायद तब आपको मेरी याद आती, शायद तब मुझे अपना खोया हुआ स्थान पाने का अवसर मिलता। तब मै सिद्ध कर देती कि आप मुझे जितनी नीच समझ रहे हैं, उतनी नीच नहीं हूँ। मैं आपको अपनी सेवा से लज्जित करना चाहती थी, लेकिन वह अवसर भी न मिला।

राजा साहब को नारी-हृदय की तह तक पहुँचने का ऐसा अवसर कभी न मिला था। उन्हें विश्वास था कि अगर मैं मर जाऊँ, तो रोहिणी की आँखों में आँसू न आयेंगे। वह अपने हृदय से उसके हृदय को परखते थे। उनका हृदय रोहिणी की ओर से वज्र हो गया था। वह अगर मर जाती, तो निस्संन्देह उनकी आँखों में आँसू न आते, पर आज रोहिणी की बातें सुनकर उनका पत्थर-सा हृदय नरम पड़ गया। आह! इस हिंसा में कितनी कोमलता है? मुझे परास्त भी करना चाहती है, तो सेवा के अस्त्र से। इससे तीक्ष्ण उसके पास कोई अस्त्र नहीं!

उन्होंने गद्गद कण्ठ से कहा—क्या कहूँ रोहिणी, अगर मैं जानता कि मेरे अनभल ही से तुम्हारा उद्धार होगा, तो इसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करता।

अहल्या को आते देखकर रोहिणी ने कुछ उत्तर न दिया। जरा देर वहाँ खड़ी रहकर दूसरी तरफ चली गयी। राजा साहब के दिल पर से एक बोझा-सा उठ गया। उन्हें अपनी निष्ठुरता पर पछतावा हो रहा था। आज उन्हें मालूम हुआ कि रोहिणी का चरित्र समझने में उनसे कैसी भयंकर भूल हुई। वहाँ उनसे न रहा गया। जी यही चाहता था कि चलकर रोहिणी से अपना अपराध क्षमा कराऊँ। बात क्या थी और मैं क्या समझे बैठा था? यही बातें अगर इसने और पहले कही होतीं, तो हम दोनों में क्यों इतना मनोमालिन्य रहता? उसके मन की बात तो नहीं जानता; पर मुझसे तो इसने एक बार भी हँसकर बात की होती, एक बार भी मेरा हाथ पकड़कर कहती कि मैं तुम्हें न छोड़ूँगी, तो मैं कभी उसकी उपेक्षा न कर सकता; लेकिन स्त्री मानिनी होती है, वह मेरी खुशामद क्यों करती? सारा अपराध मेरा है। मुझे उसके पास जाना चाहिये था।

सहसा उनके मन में प्रश्न उठा—आज रोहिणी ने क्यों मुझसे ये बातें कीं? जो काम करने के लिये वह अपने को बीस वर्ष तक राजी न कर सकी, वह आज क्यों किया? इस प्रश्न के साथ ही राजा साहब के मन में शंका होने लगी। आज उसके मुख पर कितनी दीनता थी! बातें करते करते उसकी आँखें भर-भर आती थीं। उसका कंठ-स्वर भी काँप रहा था। उसके मुख पर इतनी दीनता कभी न दिखायी देती थी। उसके मुखमण्डल पर तो गर्व की आभा झलकती रहती थी। मुझे देखते ही वह अभिमान से गर्दन उठाकर मुँह फेर लिया करती थी। आज यह कायापलट क्यों हो गई।

राजा साहब ज्यों ज्यों इस विषय की मीमांसा करते थे, त्यों त्यों उनकी शंका बढ़ती जाती थी। रात आधी से अधिक बीत गई थी। रनिवास में सन्नाटा छाया हुआ था। नौकर-चाकर भी सभी सो गये थे; पर उनकी आँखों में नींद न थी। यह शंका उन्हें उद्विग्न कर रही थी।

आखिर राजा साहब से लेटे न रहा गया। वह चारपाई से उठे और आहिस्ता-आहिस्ता रोहिणी के कमरे की ओर चले। उसकी ड्योढ़ी पर चौकीदारिन से भेंट हुई। उन्हें इस समय वहाँ देखकर वह अवाक् रह गई। जिस भवन में इन्होंने बीस वर्ष तक कदम नहीं रखा, उधर आज कैसे भूल पड़े? उसने राजा साहब के मुख की ओर देखा, मानो पूछ रही थी—आप क्या चाहते हैं?

राजा साहब ने पूछा—छोटी रानी क्या कर रही हैं?

चौकीदारिन ने कहा—इस समय तो सरकार सो रही होंगी। महाराज को कोई सन्देशा हो, तो पहुँचा दूँ।

राजा ने कहा—नहीं, मैं खुद जा रहा हूँ, तू यहीं रह।

राजा साहब ने कमरे के द्वार पर खड़े होकर भीतर की ओर झाँका। रोहिणी मसहरी के अन्दर चादर ओढ़े सो रही थी। वह अन्दर कदम रखते हुए झिझके। भय

हुआ कि कहीं रोहिणी उठकर कह न बैठे—आप यहाँ क्यों आये? वह इसी दुविधा में आध घण्टे तक वहाँ खड़े रहे। कई बार धीरे-धीरे पुकारा भी, पर रोहिणी न मिनकी। इतनी देर में उसने एक बार भी करवट न ली। यहाँ तक कि उसकी साँस भी न सुनायी दी। ऐसा मालूम हो रहा था कि वह मक्र किये पड़ी है और देख रही है कि राजा साहब क्या करते हैं। शायद परीक्षा ले रही है कि अब भी इनका दिल साफ हुआ या नहीं। गाफिल नींद में पड़े हुए प्राणी की श्वास क्रिया इतनी निःशब्द नहीं हो सकती। जरूर बहाना किये पड़ी हुई है, मेरी आहट पाकर चादर ओढ़ ली होगी। मान के साथ ही इसके स्वभाव मे विनोद भी तो बहुत है! पहले भी तो इस तरह की नकलें किया करती थी। मुझे आते देखकर कहीं छिप जाती और जब मे निराश होकर बाहर जाने लगता, तो हँसती हुई न-जाने किधर से निकल आती। उसके चुहल और दिल्लगी की कितनी ही पुरानी बातें राजा साहब को याद आ गयीं। उन्होंने साहस करके कमरे में कदम रखा, पर अब भी किसी तरह का शब्द न सुनकर उन्हें खयाल आया, कहीं रोहिणी ने झूठ मूठ चादर तो नहीं तान दी है। मुझे चक्कर में डालने के लिए चारपाई पर चादर तान दी हो और आप किसी जगह छिपी हो। वह उसके धोखे में नहीं आना चाहते थे। उन्हें एक पुरानी बात याद आ गयी, जब रोहिणी ने उनके साथ इसी तरह को दिल्लगी की थी, और यह कहकर उन्हें खूब आड़े हाथों लिया था कि आपकी प्रिया तो वह हैं, जिन्हें आपने जगाया है, मै आपकी कोन होती हूँ? जाइए, उन्हीं से बोलिए—हँसिए। वह विनोदिनी आज फिर वही अभिनय कर रही है। इस अवसर के लिए कोई चुभती हुई बात गढ रखी होगी—बीस बरस के बाद सूरत क्या याद रह सकती है? राजा साहब का साठवाँ साल था, लेकिन इस वक्त उन्हें इस क्रीड़ा में यौवन-काल का-सा आनन्द और कुतूहल हो रहा था। वह दिखाना चाहते थे कि वह उसका कौशल ताड़ गये, वह उन्हें धोखा न दे सकेगी, लेकिन जब लगभग आध घण्टे तक खड़े रहने पर भी कोई आवाज या आहट न मिली, तो उन्होंने चारों तरफ चौकन्नी आँखों से देखकर धीरे से चादर हटा दी। रोहिणी सोयी हुई थी, लेकिन जब झुककर उसके मुख की ओर देखा, तो चौंककर पीछे हट गये। वह रोहिणी न थी, रोहिणी का शव था। बीस वर्ष की चिन्ता, दुःख, ईर्ष्या और नैराश्य के संताप से जर्जर शरीर आत्मा के रहने योग्य कब रह सकता था! उन निर्जीव, स्थिर, अनिमेष नेत्रों में अब भी अतृप्त आकांक्षा झलक रही थी। उनमें तिरस्कार था, व्यंग्य था, गर्व था। दोनों ज्योति-हीन आँखें परित्यक्ता के जीवन की ज्वलन्त आलोचनाएँ थीं। जीवन की सारी दशाएँ, सारी व्यथाएँ उनमें सार-रूप से व्यक्त हो रही थीं। वे तीक्ष्ण बाणों के समान राजा साहब के हृदय में चुभी जा रही थीं, मानो कह रही थीं—अब तो तुम्हारा कलेजा ठण्ढा हुआ। अब मीठी नींद सोओ, मुझे परवा नहीं है।

राजा साहब ने दोनों आँखें बन्द कर लीं और रोने लगे। उनकी आत्मा इस अमानुषीय निष्ठुरता पर उन्हें धिक्कार रही थी। किसी प्राणी के प्रति अपने कर्त्तव्य का

ध्यान हमें उसके मरने के बाद ही आता है—हाय ! हमने इसके साथ कुछ न किया ! हमने इसे उम्र भर जलाया, रुलाया, बेधा । हाय ! यह मेरी रानी, जिस पर एक दिन मैं अपने प्राण न्यौछावर करता था, इस दीन दशा में पड़ी हुई है, न कोई आगे, न पीछे ! कोई एक घूँट पानी देनेवाला भी न था । कोई मरते समय परितोष देनेवाला भी न था । राजा साहब को ज्ञात हुआ कि रोहिणी आज क्यों उनके पास गयी थी । वह मुझे सूचना दे रही थी, लेकिन बुद्धि पर पत्थर पड़ गया था । उस समय भी मैं कुछ न समझा । आह ! अगर उस वक्त उसका आशय समझ जाता, तो यह नौबत क्यों आती ? उस वक्त भी यदि मैंने एक बार शुद्ध हृदय से कहा होता—प्रिये, मेरा अपराध क्षमा करो, तो इसके प्राण बच जाते । अन्तिम समय वह मेरे पास क्षमा का सन्देश ले गयी थी और मैं कुछ न समझा । आशा का अन्तिम आदेश उसे मेरे पास ले गया; पर शोक !

सहसा राजा साहब को खयाल आया—शायद अभी प्राण बच जायँ । उन्होंने चौकीदारिन को पुकारा और बोले—जरा जाकर दरबान से कह दे, डाक्टर साहब को बुला लाये । इनकी दशा अच्छी नहीं है । चौकीदारिन रानी देवप्रिया के समय की स्त्री थी । रोहिणी के मुख की ओर देखकर बोली—डाक्टर को बुलाकर क्या कीजिएगा ? अगर अभी कुछ कसर रह गयी हो, तो वह भी पूरी कर दीजिए । अभागिनी मरजाद ढोती रह गयी । उसके ऊपर क्या बीती, तुम क्या जानोगे ? तुम तो बुढ़ापे में विवाह करके बुद्धि और लज्जा दोनों ही खो बैठे । उसके ऊपर जो बीती, वह मैं जानती हूँ । हाय ! रक्त के आँसू रो रोकर बेचारी मर गयी और तुम्हें दया न आयी ? क्या समझते हो, इसने विष खा लिया ? इस ढाँचे से प्राण को निकालने के लिए विष का क्या काम था ! उसके मरने का आश्चर्य नहीं, आश्चर्य यह है कि वह इतने दिन जीती कैसे रही ! खैर, जीते-जी जो अभिलाषा न पूरी की, वह मरने पर तो पूरी कर दी । इतनी ही दया अगर पहले की होती, तो इसके लिए वह अमृत हो जाती !

दम-के-दम में रनिवास मे शोर मच गया और रानियाँ बाँदियाँ सब आकर जमा हो गयीं ।

मगर मनोरमा न आयी ।

४०

रोहिणी के बाद राजा साहब जगदीशपुर न रह सके । मनोरमा का भी जी वहाँ घबराने लगा । उसी के कारण मनोरमा को वहाँ रहना पड़ा था । जब वही न रही; तो किस पर रीस करती ? उसे अब दुःख होता था कि मैं नाहक वहाँ आयी । रोहिणी के कटु-वाक्य सह लेती, तो आज उस बेचारी की जान पर क्यों बनती ? मनोरमा इस ग्लानि को मन से न निकाल सकती थी कि मैं ही रोहिणी की अकाल-मृत्यु का हेतु हुई । राजा साहब की निगाह भी अब उसकी ओर से फिरी हुई मालूम होती थी । अब खजांची उतनी तत्परता से उसकी फरमाइशें नहीं पूरी करता । राजा साहब भी अब उसके पास बहुत कम आते हैं । यहाँ तक कि गुरुसेवकसिंह को भी जवाब दे दिया है, और उन्हें

रनिवास में आने की मनाही कर दी गयी है। रोहिणी ने प्राण देकर मनोरमा पर विजय पायी है। अब वसुमती और रामप्रिया पर राजा साहब की कुछ विशेष कृपा हो गयी है। दूसरे तीसरे दिन जगदीशपुर चले जाते हैं और कभी कभी दिन का भोजन भी वहीं करते हैं। वह अब अपने पापों का प्रायश्चित्त कर रहे हैं। रियासत में अब अन्धेर भी ज्यादा होने लगा है। मनोरमा की खोली हुई शालाएँ बन्द होती जा रही हैं। मनोरमा सब देखती और समझती है, पर मुँह नहीं खोल सकती। उसके सौभाग्य-सूर्य का पतन हो रहा है। वही राजा साहब, जो उससे बिना कहे सैर करने भी न जाते थे, अब हफ्तों उसकी तरफ झाँकते तक नहीं। नौकरों-चाकरों पर भी अब उसका प्रभाव नहीं रहा। वे उसकी बातों की परवाह नहीं करते। इन गँवारों को हवा का रुख पहचानते देर नहीं लगती। रोहिणी का आत्म-बलिदान निष्फल नहीं हुआ।

शंखधर को अब एक नयी चिन्ता हो गयी है। राजा साहब के रूठने से छोटी नानी जी मर गयीं। क्या पिताजी के रूठने से अम्माँजी का भी यही हाल होगा? अम्माँजी भी तो दिन दिन घुलती जाती हैं। जब देखो, तब रोया करती हैं। उसका नाम स्कूल में लिखा दिया है। स्कूल से छुट्टी पाकर वह सीधे लौंगी के पास जाता है और उससे तीर्थ-यात्रा की बातें पूछता है। यात्री लोग कहाँ ठहरते हैं, क्या खाते हैं, जहाँ रेलें नहीं हैं, वहाँ लोग कैसे जाते हैं, चोर तो नहीं मिलते? लौंगी उसके मनोभावों को ताड़ती है, लेकिन इच्छा न होते हुए भी उसे सारी बातें बतानी पड़ती हैं। वह झुँझलाती है, घुड़क बैठती है, लेकिन जब वह किशोर आग्रह करके उसकी गोद में बैठ जाता है, तो उसे दया आ जाती है। छुट्टियों के दिन शंखधर पितृ-गृह के दर्शन करने अवश्य जाता है। वह घर उसके लिए तीर्थ है, वह भक्त की श्रद्धा और उपासक के प्रेम से उस घर में कदम रखता है और जब तक वहाँ रहता है, उसपर भक्ति-गर्व का नशा-सा छाया रहता है। निर्मला की आँखें उसे देखने से तृप्त ही नहीं होतीं। उसके घर में आते ही प्रकाश-सा फैल जाता है। वस्तुओं की शोभा बढ़ जाती है। दादा और दादी दोनों उसकी बालोत्साह से भरी बातें सुनकर मुग्ध हो जाते हैं, उनके हृदय पुलकित हो उठते हैं, ऐसा जान पड़ता है, मानो चक्रधर स्वयं बालरूप धारण करके उनका मन हरने आ गया है।

एक दिन निर्मला ने कहा—बेटा, तुम यहीं आके क्यों नहीं रहते? तुम चले जाते हो, तो यह घर काटने दौड़ता है।

शंखधर ने कुछ सोचकर गम्भीर भाव से कहा—अम्माँजी तो आती ही नहीं। वह क्यों कभी यहाँ नहीं आतीं, दादीजी?

निर्मला—क्या जाने बेटा, मैं उनके मन की बात क्या जानूँ? तुम कभी कहते नहीं। आज कहना, देखो क्या कहती हैं?

शंखधर—नहीं दादीजी, वह रोने लगेंगी। जब थोड़े दिनों में मैं गद्दी पर बैठूँगा, तो यही मेरा राजभवन होगा। तभी अम्माँजी आयेंगी।

निर्मला—जल्दी से बैठो बेटा, हम भी देख लें।

शंखधर—मैं बाबूजी के नाम से एक स्कूल खोलूँगा; देख लेना। उसमें किसी लड़के से फीस न ली जायगी।

वज्रधर—और हमारे लिए क्या करोगे बेटा?

शंखधर—आपके लिए अच्छे अच्छे सितारिये बुलाऊँगा। आप उनका गाना सुना कीजिएगा। आपको गाना किसने सिखाया, दादाजी?

वज्रधर—मैंने तो एक साधु से यह विद्या सीखी, बेटा! बरसों उनकी खिदमत की, तब कहीं जाके वह प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझे ऐसा आशीर्वाद दिया कि थोड़े ही दिनों में मैं गाने-बजाने में पक्का हो गया। तुम भी सीख लो बेटा; मैं बड़े शौक से सिखाऊँगा। राजाओं महाराजाओं के लिए तो यह विद्या है ही, बेटा, वही तो गुणियों का गुण परख-कर उनका आदर कर सकते हैं। जिन्हें यह विद्या आ गयी, बस, समझ लो कि उन्हें किसी बात की कमी न रहेगी। वह जहाँ रहेगा, लोग उसे सिर-आँखों पर बिठायेंगे। मैंने तो एक बार इसी विद्या की बदौलत बदरीनाथ की यात्रा की थी। पैदल चलता था। जिस गाँव में शाम हो जाती, किसी भले आदमी के द्वार पर चला जाता और दो-चार चीजें सुना देता। बस, मेरे लिए सभी बातों का प्रबन्ध हो जाता था।

शंखधर ने विस्मित होकर कहा—सच! तब तो मैं जरूर सीखूँगा।

वज्रधर—जरूर सीख लो बेटा! लाओ, आज ही से आरम्भ कर दूँ।

शंखधर को संगीत से स्वाभाविक प्रेम था। ठाकुरद्वारे में जब गाना होता, वह बड़े चाव से सुनता। खुद भी एकान्त में बैठा गुन-गुनाया करता था। ताल-स्वर का ज्ञान उसे सुनने ही में हो गया था। एक बार भी कोई राग सुन लेता, तो उसे याद हो जाता। योगियों के कितने ही गीत उसे याद थे। खँजरी बजाकर वह सूर, कबीर, मीरा आदि सन्तों के पद गाया करता था। इस वक्त जो उसने कबीर का एक पद गाया, तो मुंशीजी उसके संगीत-ज्ञान और स्वर लालित्य पर मुग्ध हो गये। बोले—बेटा, तुम तो बिना सिखाये ही ऐसा अच्छा गा लेते हो। तुम्हें तो मैं थोड़े ही दिनों में ऐसा बना दूँगा कि अच्छे-अच्छे उस्ताद कानों पर हाथ धरेंगे। आखिर मेरे ही पोते तो हो। बस, तुम मेरे नाम पर एक संगीतालय खोल देना।

शंखधर—जी हाँ, उसमें यही विद्या सिखायी जायगी।

निर्मला—अपनी बुढ़िया दादीजी के लिए क्या करोगे, बेटा?

शंखधर—तुम्हारे लिए एक डोली रख दूँगा, जिसे दो कहार ढोयेंगे। उसी पर बैठकर तुम नित्य गंगा स्नान करने जाना।

निर्मला—मैं डोली पर न बैठूँगी। लोग हँसेंगे कि नहीं, कि राजा साहब की दादी डोली पर बैठी जा रही है।

शंखधर—वाह! ऐसे आराम की सवारी और कौन होगी।

इस तरह दोनों प्राणियों का मनोरञ्जन करके जब वह चलने लगा, तो निर्मला द्वार पर खड़ी हो गयी, जहाँ से वह मोटर को दूर तक जाते हुए देखती रही।

सहसा शंखधर ड्योढी में खड़ा हो गया और बोला—दादीजी, आपसे कुछ माँगना चाहता हूँ।

निर्मला ने विस्मित होकर सजल नेत्रों से उसे देखा और गद्‌गद होकर बोली—क्या माँगते हो, बेटा?

शंखधर—मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मेरी मनोकामना पूरी हो!

निर्मला ने पोते को कण्ठ से लगाकर कहा—भैया, मेरा तो रोयाँ रोयाँ तुम्हें आशीर्वाद दिया करता है। ईश्वर तुम्हारी मनोकामनाएँ पूरी करें!

शंखधर ने उनके चरणों पर सिर झुकाया और मोटर पर जा बैठा। निर्मला चौखट पर खड़ी मोटरकार को निहारती रही। मोड़ पर आते ही मोटर तो आँखों से ओझल हो गयी, लेकिन निर्मला उस समय तक वहाँ से न हटी जब तक कि उसकी ध्वनि क्षीण होते होते आकाश में विलीन न हो गयी। अन्तिम ध्वनि इस तरह कान में आयी, मानो अनन्त की सीमा पर बैठे किसी प्राणी के अन्तिम शब्द हों। जब यह आधार भी न रह गया, तो निर्मला रोती हुई अन्दर चली गयी।

शंखधर घर पहुँचा, तो अहल्या ने पूछा—आज इतनी देर कहाँ लगायी बेटा? मैं कबसे तुम्हारी राह देख रही हूँ।

शंखधर—अभी तो ऐसी बहुत देर नहीं हुई, अम्माँ! जरा दादीजी के पास चला गया था। उन्होंने तुम्हें आज एक सन्देशा कहला भेजा है।

अहल्या—क्या सन्देशा है, सुनूँ? कुछ तुम्हारे बाबूजी की खबर तो नहीं मिली है?

शंखधर—नहीं। बाबूजी की खबर नहीं मिली। तुम कभी-कभी वहाँ क्यों नहीं चली जातीं?

अहल्या—क्या इस विषय में कुछ कहती थीं?

शंखधर—कहती तो नहीं थीं, पर उनकी इच्छा ऐसी मालूम होती है। क्या इसमें कोई हरज है?

अहल्या ने ऊपरी मन से यह तो कह दिया—हरज तो कुछ नहीं, हरज क्या है, घर तो मेरा वही है, यहाँ तो मेहमान हूँ। लेकिन भाव से साफ मालूम होता था कि वह वहाँ जाना उचित नहीं समझती। शायद वह कह सकती, तो कहती—वहाँ से तो एक बार निकाल दी गयी, अब कौन मुँह लेकर जाऊँ? क्या अब मैं कोई दूसरी हो गयी हूँ? बालक से यह बात कहनी मुनासिब न थी।

अहल्या तश्तरी में मिठाइयाँ और मेवे लायी और एक लौंडी से पानी लाने को कहकर बेटे से बोली—वहाँ तो कुछ जलपान न किया होगा, खा लो। आज तुम इतने उदास क्यों हो?

शंखधर ने तश्तरी की ओर बिना देखे ही कहा—इस वक्त तो खाने का जी नहीं चाहता, अम्माँ!

एक क्षण के बाद उसने कहा—क्यों अम्माँजी, बाबूजी को हम लोगों की याद भी

कभी आती होगी ?

अहल्या ने सजल नेत्र होकर कहा—क्या जानें बेटा, याद आती तो काले कोसों बैठे रहते !

शंखधर—क्या वह बड़े निष्ठुर हैं, अम्माँ ?

अहल्या रो रही थी, कुछ न बोल सकी।

शंखधर—मुझे देखें, तो पहचान जायँ कि नहीं, अम्माँजी ?

अहल्या फिर भी कुछ न बोली—उसका कण्ठ स्वर अश्रुप्रवाह में डूबा जा रहा था।

शंखधर ने फिर कहा—मुझे तो मालूम होता है अम्माजी, कि वह बहुत ही निर्दयी हैं, इसी से उन्हें हम लोगों का दुःख नहीं जान पड़ता। अगर वह भी इसी तरह रोते, तो जरूर आते। मुझे एक दफा मिल जाते, तो मैं उन्हें कायल कर देता। आप न-जाने कहाँ बैठे हैं, किसी का क्या हाल हो रहा है, इसकी सुधि ही नहीं। मेरा तो कभी-कभी ऐसा चित्त होता है कि देखूँ तो प्रणाम तक न करूँ, कह दूँ—आप मेरे होते कौन हैं, आप ही ने तो हम लोगों को त्याग दिया है।

अब अहल्या चुप न रह सकी, काँपते हुए स्वर में बोली—बेटा, उन्होंने हमें त्याग नहीं दिया है। वहाँ उनकी जो दशा हो रही होगी, उसे मैं ही जानती हूँ। हम लोगों की याद एक क्षण के लिए भी उनके चित्त से न उतरती होगी। खाने-पीने का ध्यान भी न रहता होगा। हाय ! यह सब मेरा ही दोष है, बेटा ! उनका कोई दोष नहीं।

शंखधर ने कुछ लज्जित होकर कहा—अच्छा अम्माँजी, यदि मुझे देखें, तो वह पहचान जायँ कि नहीं ?

अहल्या—तुझे ? मैं तो जानती हूँ, न पहचान सकें। तब तू बिलकुल जरा सा बच्चा था। आज उनको गये दसवाँ साल है। न-जाने कैसे होंगे। मैं तो तुम्हें देख देखकर जीती हूँ, वह किसको देखकर दिल को ढाढ़स देते होंगे। भगवान् करें, जहाँ रहें, कुशल से रहें। बदा होगा, तो कभी भेंट हो ही जायगी।

शंखधर अपनी ही धुन में मस्त था, उसने यह बातें सुनी ही नहीं। बोला—लेकिन अम्माँजी, मैं तो उन्हें देखकर फौरन् पहचान जाऊँ। वह चाहे किसी वेष में हों, मैं पहचान लूँगा।

अहल्या—नहीं बेटा, तुम भी उन्हें न पहचान सकोगे। तुमने उनकी तसवीरें ही तो देखी हैं। ये तसवीरें बारह साल पहले की हैं। फिर, उन्होंने केश भी बढ़ा लिये होंगे।

शंखधर ने कुछ जवाब न दिया। बगीचे में जाकर दीवारों को देखता रहा। फिर अपने कमरे में आया और चुपचाप बैठकर कुछ सोचने लगा। उसका मन भक्ति और उल्लास से भरा हुआ था। क्या मैं ऐसा बहुत छोटा हूँ ? मेरा तेरहवाँ साल है। छोटा नहीं हूँ। इसी उम्र में कितने ही आदमियों ने बड़े-बड़े काम कर डाले हैं। मुझे करना

ही क्या है ? दिन भर गलियों में घूमना और सन्ध्या समय कहीं पड़ रहना। यहाँ लोगों की क्या दशा होगी, इसकी उसे चिन्ता न थी। राजा साहब पागल हो जायँगे, मनोरमा रोते-रोते अन्धी हो जायगी, अहल्या शायद प्राण देने पर उतारू हो जाय, इसकी उसे इस वक्त बिल्कुल फिक्र न थी। वह यहाँ से भाग निकलने के लिए विकल हो रहा था।

एकाएक उसे ख्याल आया, ऐसा न हो कि लोग मेरी तलाश में निकलें, थाने में हुलिया लिखायें, खुद भी परेशान हों, मुझे भी परेशान करें, इसलिए उन्हें इतना बतला देना चाहिए कि मैं कहाँ और किस काम के लिये जा रहा हूँ। अगर किसी ने मुझे जबरदस्ती लाना चाहा, तो अच्छा न होगा। हमारी खुशी है, जब चाहेंगे आयेंगे, हमारा राज्य तो कोई नहीं उठा ले जायेगा। उसने एक कागज पर यह पत्र लिखा और अपने बिस्तरे पर रख दिया—

'सब को प्रणाम, मेरा कहा-सुना माफ कीजिएगा। मैं आज अपनी खुशी से पिताजी को खोजने जाता हूँ। आप लोग मेरे लिये जरा भी चिन्ता न कीजिएगा, न मुझे खोजने के लिए ही आइएगा, क्योंकि मैं किसी भी हालत में बिना पिता जी का पता लगाये न आऊँगा। जब तक एक बार दर्शन न कर लूँ और पूछ न लूँ कि मुझे किस तरह से जिन्दगी बसर करनी चाहिये, तब तक मेरा जीना व्यर्थ है। मैं पिताजी को अपने साथ लाने की चेष्टा करूँगा। या तो उनके दर्शनों से कृतार्थ होकर लौटूँगा, या इसी उद्योग में प्राण दे दूँगा। अगर मेरे भाग्य में राज्य करना लिखा है, तो राज्य करूँगा, भीख माँगना लिखा है, तो भीख माँगूँगा, लेकिन पिताजी के चरणों की रज माथे पर बिना लगाये, उनकी कुछ सेवा किये बिना मैं घर न लौटूँगा। मैं फिर कहता हूँ कि मुझे वापस लाने की कोई चेष्टा न करे, नहीं तो मैं वहीं प्राण दे दूँगा। मेरे लिए यह कितनी लज्जा की बात है कि मेरे पिताजी तो देश-विदेश मारे-मारे फिरें और मैं चैन करूँ। यह दशा अब मुझसे नहीं सही जाती। कोई यह न समझे कि मैं छोटा हूँ, भूल-भटक जाऊँगा। मैंने ये सारी बातें अच्छी तरह सोच ली हैं। रुपये पैसे की भी मुझे जरूरत नहीं। अम्माजी, मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि आप दादाजी की सेवा कीजिएगा और समझाइएगा कि वह मेरे लिए चिन्ता न करें। रानी अम्माँ को प्रणाम, बाबाजी को प्रणाम।'

आधी रात बीत चुकी थी। शङ्खधर एक कुर्ता पहने हुए कमरे से निकला। बगल के कमरे में राजा साहब आराम कर रहे थे। वह पिछवाड़े की तरफ बाग में गया और एक अमरूद के पेड़ पर चढ़कर बाहर की तरफ कूद पड़ा। अब उसके सिर पर तारिका-मण्डित नीला आकाश था, सामने विस्तृत मैदान और छाती में उल्लास, शंका और आशा से धड़कता हुआ हृदय। वह बड़ी तेजी से कदम बढ़ाता हुआ चला, कुछ नहीं मालूम कि किधर जा रहा है, तकदीर कहाँ लिये जाती है।

ऐसी ही अँधेरी रात थी, जब चक्रधर ने इस घर से गुप्त रूप से प्रस्थान किया था। आज भी वही अँधेरी रात है, और भागने वाला चक्रधर का आत्मज है। कौन जानता

है, चक्रधर पर क्या बीती ? शंखधर पर क्या बीतेगी, इसे भी कौन जान सकता है ? इस घर में उसे कौन-सा सुख नहीं था ? उसके मुँह से कोई बात निकलने भर की देर थी, पूरा होने में देर न थी। क्या ऐसी भी कोई वस्तु है, जो इस ऐश्वर्य, भोग विलास और राजपाट से प्यारी है ?

अभागिनी अहल्या ! तू पड़ी सो रही है। एक बार तूने अपना प्यारा पति खोया और अभी तक तेरी आँखों में आँसू नहीं थमे। आज फिर तू अपना प्यारा पुत्र, अपना प्राणाधार, अपना दुखिया का धन खोये देती है। जिस सम्पत्ति के निमित्त तूने अपने पति की उपेक्षा की थी, वही सम्पत्ति क्या आज तुझे अजीर्ण नहीं हो रही है ?

४१

पाँच वर्ष व्यतीत हो गये ! पर न शंखधर का कहीं पता चला, न चक्रधर का। राजा विशालसिंह ने दया और धर्म को तिलाञ्जलि दे दी है और खूब दिल खोलकर अत्याचार कर रहे हैं। दया और धर्म से जो कुछ होता है, उसका अनुभव करके अब वह यह अनुभव करना चाहते हैं कि अधर्म और अविचार से क्या होता है। रियासत में धर्मार्थ जितने काम होते थे, वे सब बन्द कर दिये गये हैं। मन्दिरों में दिया नहीं जलता, साधु-सन्त द्वार से खड़े-खड़े निकाल दिये जाते हैं, और प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार किये जा रहे हैं। उनकी फरियाद कोई नहीं सुनता। राजा साहब को किसी पर दया नहीं आती। अब क्या रह गया है, जिसके लिये वह धर्म का दामन पकड़ें ? वह किशोर अब कहाँ है, जिसके दर्शन मात्र से हृदय में प्रकाश का उदय हो जाता था ? वह जीवन और मृत्यु की सभी आशाओं का आधार कहाँ चला गया ? कुछ पता नहीं। यदि विधाता ने उनके ऊपर यह निर्दय आघात किया है, तो वह भी उसी के बनाये हुए मार्ग पर चलेंगे। इतने प्राणियों में केवल एक मनोरमा है, जिसने अभी तक धैर्य का आश्रय नहीं छोड़ा, लेकिन उसकी अब कोई नहीं सुनता। राजा साहब अब उसकी सूरत भी नहीं देखना चाहते। वह उसी को सारी विपत्ति का मूल कारण समझते हैं। वही मनोरमा, जो उनकी हृदयेश्वरी थी, जिसके इशारे पर रियासत चलती थी, अब भवन में भिखारिनी की भाँति रहती है, कोई उसकी बात तक नहीं पूछता। वह इस भीषण अन्धकार में अब भी दीपक की भाँति जल रही है। पर उसका प्रकाश केवल अपने ही तक रह जाता है, अन्धकार में प्रसारित नहीं होता।

आह अबोध बालक ! अब तूने देखा कि जिस अभीष्ट के लिये तूने जीवन की सभी आकांक्षाओं का परित्याग कर दिया, वह कितना असाध्य है ! इस विशाल प्रदेश में, जहाँ तीस करोड़ प्राणी बसते हैं, तू एक प्राणी को कैसे खोज पायेगा ? कितना अमोघ साहस था, बालोचित सरल उल्लास की कितनी अलौकिक लीला !

सन्ध्या हो गयी है। सूर्यदेव पहाड़ियों की आड़ में छिप गये हैं, इसलिए सन्ध्या से पहले ही अन्धेरा हो चला है। रमणियाँ जल भरने के लिये कुएँ पर आ गयी हैं। इसी समय एक युवक हाथ में एक खँजरी लिये आकर कुएँ की जगत पर बैठ गया।

यही शंखधर है। उसके वर्ण रूप और वेष में इतना परिवर्तन हो गया है कि शायद अहल्या भी उसे देखकर चौंक पड़ती। यह वह तेजस्वी किशोर नहीं, उसकी छाया-मात्र है। उसका मास गल गया है, केवल अस्थि-पजर-मात्र रह गया है, मानो किसी भयकर रोग से ग्रस्त रहने के बाद उठा हो। मानसिक ताप, वेदना और विषाद की उसके मुख पर ऐसी गहरी रेखा है कि मालूम होता है, उसके प्राण अब निकलने के लिए अधीर हो रहे हैं। उसकी निस्तेज आँखों में आकाक्षा और प्रतीक्षा की झलक की जगह अब घोर नैराश्य प्रतिविम्बित हो रहा था—वह नैराश्य जिसका परितोष नहीं। वह सजीव प्राणी नहीं, किसी अनाथ का रोदन या किसी वेदना की प्रतिध्वनि-मात्र है। पाँच वर्ष के कठोर जीवन सग्राम ने उसे इतना हताश कर दिया है कि कदाचित् इस समय अपने उपास्यदेव को सामने देखकर भी उसे अपनी आँखों पर विश्वास न आयेगा!

एक रमणी ने उसकी ओर देखकर पूछा—कहाँ से आते हो परदेसी, बीमार मालूम होते हो?

शखधर ने आकाश की ओर अनिमेष नेत्रों से देखते हुए कहा—बीमार तो नहीं हूँ माता, दूर से आते आते थक गया हूँ।

यह कहकर उसने अपनी खँजरी उठा ली और उसे बजाकर यह पद गाने लगा—

बहुत दिनों तक मौन-मन्त्र
मन मन्दिर में जपने के बाद।
पाऊँगी जब उन्हें प्रतीक्षा—
के तप में तपने के बाद।
ले तब उन्हें अक में नयनों—
के जल से नहलाऊँगी।
सुमन चढ़ाकर प्रेम-पुजारिन—
मैं उनकी कहलाऊँगी!
ले अनुराग आरती उनकी—
तभी उतारूँगी सप्रेम।
स्नेह सुधा नैवेद्य रूप में—
सम्मुख रक्खूँगी कर प्रेम।
ले लूँगी वरदान भक्ति-वेदी—
पर बलि हो जाने पर।
साध तभी मन की साधूँगी—
प्राणनाथ के आने पर।

इस क्षीणकाय युवक के कण्ठ में इतना स्वर लालित्य, इतना विकल अनुराग था कि रमणियाँ चित्रवत् खड़ी रह गयीं। कोई कुएँ में कलसा डाले हुए उसे खींचना भूल गयी, कोई कलसे से रस्सी का फन्दा लगाते हुए उसे कुएँ में डालना भूल गयी और

कोई कूल्हे पर कलसा रखे आगे बढ़ना भूल गयी—सभी मन्त्र-मुग्ध सी हो गयीं। उनकी हृदय-वीणा से भी वही अनुरक्त ध्वनि निकलने लगी।

एक युवती ने पूछा—बाबाजी, अब तो बहुत देर हो गयी है, यहीं ठहर जाओ न। आगे तो बहुत दूर तक कोई गाँव नहीं है।

शंखधर—आपकी इच्छा है माता, तो यहीं ठहर जाऊँगा। भला, माताजी, यहाँ कोई महात्मा तो नहीं रहते?

युवती—नहीं, यहाँ तो कोई साधु-सन्त नहीं है। हाँ, देवालय है।

दूसरी रमणी ने कहा—अभी कई दिन हुए, एक महात्मा आकर टिके थे, पर वह साधुओं के वेष में न थे। वह यहाँ एक महीने-भर रहे। तुम एक दिन पहले यहाँ आ जाते, तो उनके दर्शन हो जाते।

एक वृद्धा बोली—साधु संत तो बहुत देखे; पर ऐसा उपकारी जीव नहीं देखा। तुम्हारा घर कहाँ है, बेटा?

शंखधर—कहाँ बताऊँ माता, यों ही घूमता-फिरता हूँ।

वृद्धा—अभी तुम्हारे माता-पिता हैं न बेटा?

शंखधर—कुछ मालूम नहीं, माता! पिताजी तो बहुत दिन हुए, कहीं चले गये। मैं तब दो-तीन वर्ष का था। माताजी का हाल नहीं मालूम।

वृद्धा—तुम्हारे पिता क्यों चले गये? तुम्हारी माता से कोई झगड़ा हुआ था?

शंखधर—नहीं माताजी, झगड़ा तो नहीं हुआ। गृहस्थी के माया-मोह में नहीं पड़ना चाहते थे।

वृद्धा—तो तुम्हें घर छोड़े कितना दिन हुए?

शंखधर—पाँच साल हो गये, माता! पिताजी को खोजने निकल पड़ा था; पर अब तक कहीं पता नहीं चला।

एक युवती ने अपनी सहेली के कन्धे से मुँह छिपाकर कहा—इनका ब्याह तो हो गया होगा?

सहेली ने उसे कुछ उत्तर न दिया। वह शंखधर के मुख की ओर ध्यान से देख रही थी। सहसा उसने वृद्धा से कहा—अम्मा इनकी सूरत महात्मा से मिलती है कि नहीं, कुछ तुम्हें दिखायी देता है?

वृद्धा—हाँ रे, कुछ-कुछ मालूम तो होता है। (शंखधर से) क्यों बेटा, तुम्हारे पिताजी की क्या अवस्था होगी?

शंखधर—४० वर्ष के लगभग होगी और क्या।

वृद्धा—आँखें खूब बड़ी-बड़ी हैं?

शंखधर—हाँ माताजी, इतनी बड़ी आँखें तो मैंने किसी की देखी ही नहीं।

वृद्धा—लम्बे-लम्बे गोरे आदमी हैं?

शंखधर का हृदय धक-धक करने लगा। बोला—हाँ माताजी, उनका रंग बहुत गोरा है।

वृद्धा—अच्छा दाहिनी ओर माथे पर किसी चोट का दाग है ?

शंखधर—हो सकता है, माताजी, मैंने तो केवल उनका चित्र देखा है। मुझे तो वह दो वर्ष का छोड़कर घर से निकल गये थे।

वृद्धा—बेटा, जिन महात्मा की मैंने तुमसे चर्चा की है, उनकी सूरत तुमसे बहुत मिलती है।

शंखधर—माता, कुछ बता सकती हो, वह यहाँ से किधर गये ?

वृद्धा—यह तो कुछ नहीं कह सकती, पर वह उत्तर ही की ओर गये हैं। तुमसे क्या कहूँ बेटा, मुझे तो उन्होंने प्राण दान दिया है, नहीं तो अब तक मेरा न जाने क्या हाल होता। नदी में स्नान करने गयी थी। पैर फिसल गया। महात्माजी तट पर बैठे ध्यान कर रहे थे। डुबकियाँ खाते देखा तो चट पानी में तैर गये और मुझे निकाल लाये। वह न निकालते, तो प्राण जाने में कोई सन्देह न था। महीने-भर यहाँ रहे। इस बीच में कई जानें बचायीं। कई रोगियों को तो मौत के मुँह से निकाल लिया।

शंखधर ने काँपते हुए हृदय से पूछा—उनका नाम क्या था, माताजी ?

वृद्धा—नाम तो उनका था भगवानदास, पर यह उनका असली नाम नहीं मालूम होता था, असली नाम कुछ और ही था।

एक युवती ने कहा—यहाँ उनकी एक तसवीर भी तो रखी हुई है!

वृद्धा—हाँ बेटा, इसकी तो हमें याद ही नहीं रही थी। इस गाँव का एक आदमी बम्बई में तसवीर बनाने का काम करता है। वह यहाँ उन दिनों आया हुआ था। महात्मा जी तो 'नहीं-नहीं' करते रहे, पर उसने झट से अपनी डिबिया खोलकर उनकी तसवीर उतार ही ली। न-जाने उस डिबिया में क्या जादू है कि जिसके सामने खोल दो, उसकी तसवीर उसके भीतर खिंच जाती है।

शंखधर का हृदय शतगुण वेग से धड़क रहा था। बोले—जरा वह तसवीर मुझे दिखा दीजिए, आपकी बड़ी कृपा होगी।

युवती लपकी हुई घर गयी, और एक क्षण में तसवीर लिये हुए लौटी। आह! शंखधर की इस समय विचित्र ही दशा थी! उसकी हिम्मत न पड़ती थी कि तसवीर देखे। कहीं यह चक्रधर की तसवीर न हो! अगर उन्हीं की तसवीर हुई, तो शंखधर क्या करेगा? वह अपने पैरों पर खड़ा रह सकेगा? उसे मूर्च्छा तो न आ जायगी? अगर यह वास्तव में चक्रधर ही का चित्र, तो शङ्खधर के सामने एक नयी समस्या खड़ी हो जायगी। उसे अब क्या करना होगा? अब तक वह एक निश्चित मार्ग पर चलता आया था, लेकिन अब उसे एक ऐसे मार्ग पर चलना पड़ेगा, जिससे वह बिलकुल परिचित न था। क्या वह चक्रधर के पास जायगा? जाकर क्या कहेगा? उसे देखकर वह प्रसन्न होंगे, या सामने से दुत्कार देंगे? उसे वह पहचान भी सकेंगे? कहीं पहचान लिया और उससे अपना पीछा छुड़ाने के लिए कहीं और चले गये तो?

सहसा वृद्धा ने कहा—देखो, बेटा! यह तसवीर है।

शंखधर ने दोनों हाथों से हृदय को सँभाले हुए तसवीर पर एक भय-कम्पित दृष्टि डाली और पहचान गया। हाँ, यह चक्रधर ही की तसवीर थी। उसकी देह शिथिल पड़ गयी, हृदय का धड़कना शान्त हो गया। आशा, भय, चिन्ता और अस्थिरता से व्यग्र होकर वह हतबुद्धि सा खड़ा रह गया, मानो किसी पुरानी बात को याद कर रहा हो।

वृद्धा ने उत्सुकता से पूछा—बेटा, कुछ पहचान रहे हो?

शंखधर ने कुछ उत्तर न दिया।

वृद्धा ने फिर पूछा—चुप कैसे हो भैया, तुमने अपने पिताजी की जो सूरत देखी है, उससे यह तस्वीर कुछ मिलती है?

शंखधर ने अब भी कुछ उत्तर न दिया, मानो उसने कुछ सुना ही नहीं।

सहसा उसने निद्रा से जागे हुए मनुष्य की भाँति पूछा—वह इधर उत्तर ही की ओर गये हैं न? आगे कोई गाँव पड़ेगा?

वृद्धा—हाँ बेटा, पाँच कोस पर गाँव है। भला-सा उसका नाम है, हाँ साईंगंज, साईंगंज; लेकिन आज तो तुम यहीं रहोगे?

शंखधर ने केवल इतना कहा—नहीं माता, आज्ञा दीजिए और खजरी उठाकर चल खड़ा हुआ। युवतियाँ ठगी-सी खड़ी रह गयीं। जब तक वह निगाहों से छिप न गया, सब की-सब उसकी ओर टकटकी लगाये ताकती रहीं; लेकिन शंखधर ने एक बार भी पीछे फिरकर न देखा।

सामने गगनचुम्बी पर्वत अन्धकार में विशालकाय राक्षस की भाँति खड़ा था। शंखधर बड़ी तीव्र गति से पतली पगडण्डी पर चला जा रहा था। उसने अपने-आपको उसी पगडण्डी पर छोड़ दिया है। वह कहाँ ले जायगी, वह नहीं जानता। हम भी उस जीवन-रूपी पतली, मिटी-मिटी पगडण्डी पर क्या उसी भाँति तीव्र गति से दौड़े नहीं चले जा रहे हैं? क्या हमारे सामने उनसे भी ऊँचे अन्धकार के पर्वत नहीं खड़े हैं?

४२

रात्रि के उस अगम्य अन्धकार में शंखधर भागा चला जा रहा था। उसके पैर पत्थर के टुकड़ों से चलनी हो गये थे। सारी देह थककर चूर हो गयी थी, भूख के मारे आँखों के सामने अँधेरा छाया जाता था, प्यास के मारे कण्ठ में काँटे पड़ गये थे, पैर कहीं रखता था, पड़ते कहीं थे, पर वह गिरता-पड़ता भागा चला जाता था। अगर वह प्रातःकाल तक साईंगंज पहुँचा, तो सम्भव है, चक्रधर कहीं चले जायँ और फिर उस अनाथ की पाँच साल की मेहनत और दौड़-धूप पर पानी न फिर जाय। सूर्य निकलने के पहले उसे वहाँ पहुँच जाना था, चाहे इसमें प्राण ही क्यों न चले जायँ।

हिंस्र पशुओं का भयंकर गर्जन सुनायी देता था, अँधेरे में खड्ड और ग़ार का पता न चलता था; पर उसे अपने प्राणों की चिन्ता न थी। उसे केवल धुन थी—'मुझे सूर्योदय से पहले साईंगंज पहुँच जाना चाहिए।' आह! लाड़-प्यार में पले हुए बालक, तुझे मालूम नहीं कि तू कहाँ जा रहा है! साईंगंज की राह भूल गया। उस मार्ग में

तू और जहाँ चाहे पहुँच जाय, पर साईगंज नहीं पहुँच सकता।

गगन-मण्डल पर ऊषा का लोहित प्रकाश छा गया। तारागण किसी थके हुए पथिक की भाँति अपनी उज्ज्वल आँखें बन्द करके विश्राम करने लगे। पक्षीगण वृक्षों पर चहकने लगे, पर साईगंज का कहीं पता न चला।

सहसा एक बहुत दूर की पहाड़ी पर कुछ छोटे छोटे मकान बालिकाओं के घरौंदे की तरह दिखायी दिये। दो चार आदमी भी गुड़ियों के सदृश चलते-फिरते नजर आये। वह साईगंज आ गया। शङ्खधर का कलेजा धक-धक करने लगा। उसके जीर्ण शरीर में अद्भुत स्फूर्ति का सञ्चार हो गया, पैरों में न-जाने कहाँ से दुगुना बल आ गया। वह और वेग से चला। वह सामने मुसाफिर की मंजिल है! वह उसके जीवन का लक्ष्य दिखायी दे रहा है! वह इसके जीवन-यज्ञ की पूर्णाहुति है! आह! भ्रांत बालक! वह साईगंज नहीं है।

पहाड़ी की चढ़ाई कठिन थी। शंखधर को ऊपर चढ़ने का रास्ता न मालूम था, न कोई आदमी ही दिखायी देता था, जिससे रास्ता पूछ सके। वह कमर बाँधकर चढ़ने लगा।

गाँव के एक आदमी ने ऊपर से आवाज दी—इधर से कहाँ आते हो भाई? रास्ता तो पच्छिम की ओर से है! कहीं पैर फिसल जाय, तो २०० हाथ नीचे जाओ।

लेकिन शंखधर को इन बातों के सुनने की फुरसत कहाँ थी? वह इतनी तेजी से ऊपर चढ़ रहा था कि उस आदमी को आश्चर्य हो गया। दम के-दम में वह ऊपर पहुँच गया।

किसान ने शंखधर को सिर से पाँव तक कुतूहल से देखकर कहा—देखने में तो एक हड्डी के आदमी हो; पर हो बड़े ही हिम्मती। इधर से आने को आज तक किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी। कहाँ घर है?

शङ्खधर ने दम लेकर कहा—बाबा भगवानदास अभी यहीं हैं न?

किसान—कौन बाबा भगवानदास? यहाँ तो वह नहीं आये। तुम कहाँ से आते हो?

शङ्खधर—बाबा भगवानदास को नहीं जानते? वह इसी गाँव में तो आये हैं। साईगंज यही है न?

किसान—साईगंज! अ-र-र! साईगंज तो तुम पूरब छोड़ आये। इस गाँव का नाम बेंदो है।

शङ्खधर ने हताश होकर कहा—तो साईगंज यहाँ से कितनी दूर है?

किसान—साईगंज तो पड़ेगा यहाँ से कोई पाँच कोस; मगर रास्ता बहुत बीहड़ है।

शङ्खधर कलेजा थामकर बैठ गया! पाँच कोस की मंजिल, उसपर रास्ता बीहड़! उसने आकाश की ओर एक बार नैराश्य में डूबी हुई आँखों से देखा और सिर झुकाकर सोचने लगा—यह अवसर फिर हाथ न आयेगा! अगर आराध्यदेव के दर्शन आज न किये, तो फिर न कर सकूँगा। सारा जीवन दौड़ते ही बीत जायगा। भोजन

करने का समय नहीं और विश्राम करने का समय भी नहीं। बैठने का समय फिर आयेगा। आज या तो इस तपस्या का अन्त हो जायगा, या इस जीवन का ही! वह उठ खड़ा हुआ।

किसान ने कहा—क्या चल दिये भाई? चिलम विलम तो पी लो।

लेकिन शंखधर इसके पहले ही चल चुका था। वह कुछ नहीं देखता, कुछ नहीं सुनता, चुपचाप किसी अन्ध-शक्ति की भाँति चला जा रहा है। बसन्त का शीतल एवं सुगन्ध से लदा हुआ समीर पुत्र-वत्सला माता की भाँति वृक्षों को हिंडोले में झुला रहा है, नवजात पल्लव उसकी गोद में मुस्कराते और प्रसन्न हो होकर ठुमकते हैं, चिड़ियाँ उन्हें गा-गाकर लोरियाँ सुना रही हैं, सूर्य की स्वर्णमयी किरणें उनका चुम्बन कर रही हैं। सारी प्रकृति वात्सल्य के रंग में डूबी हुई है, केवल एक ही प्राणी अभागा है, जिसपर इस प्रकृति वात्सल्य का जरा भी असर नहीं! वह शंखधर है।

शंखधर सोच रहा है, अब की फिर कहीं रास्ता भूला, तो सर्वनाश ही हो जायगा। तब वह समझ जायगा—मेरा जीवन रोने ही के लिए बनाया गया है। रोदन—अनन्त रोदन ही उसका काम है। अच्छा, कहीं पिताजी मिल गये? उसके सम्मुख वह जा भी सकेगा या नहीं? वह उसे देखकर क्रुद्ध तो न होंगे? जिसे दिल से भुला देने के लिए ही उन्होंने यह तपस्या व्रत लिया है, उसे सामने देखकर क्या वह प्रसन्न होंगे?

अच्छा, वह उनसे क्या कहेगा? अवश्य ही उनसे घर चलने का अनुरोध करेगा। क्या माता की दारुण-दशा पर उन्हें दया न आयेगी? क्या जब वह सुनेंगे कि रानी अम्माँ गलकर काँटा हो गयी हैं, नानाजी रो रहे हैं, दादीजी रात-दिन रोया करती हैं, तो क्या उनका हृदय द्रवित न हो जायगा? वह हृदय, जो पर दुःख से पीड़ित होता है, क्या अपने घरवालों के दुःख से दुखी न होगा? जब वह नयनों में अश्रु जल भरे उनके चरणों पर गिर कर कहेगा कि अब घर चलिए, तो क्या उन्हें उस पर दया न आयेगी? अम्माँ कहती हैं, वह मुझे बहुत प्यार करते थे; क्या अपने प्यारे पुत्र की यह दयनीय दशा देखकर उनका हृदय मोम न हो जायगा? होगा क्यों नहीं? वह जायँगे कैसे नहीं? वह उन्हें खींचकर ले जायगा। अगर वह उसके साथ न आयेंगे, तो वह भी लौटकर घर न आयेगा, उन्हीं के साथ रहेगा, उनकी ही सेवा में रहकर अपना जीवन सफल करेगा।

इन्हीं कल्पनाओं में डूबा हुआ शंखधर धावा मारे चला जा रहा था। रास्ते में जो मिलता, उससे वह पूछता, साईंगंज कितनी दूर है? जवाब मिलता—बस, साईंगंज ही है। लेकिन जब आगे वाली बस्ती में पहुँचकर पूछता—क्या यही साईंगंज है, तो फिर वही जवाब मिलता—बस, आगे साईंगंज है। आखिर दोपहर होते-होते उसे दूर से एक मन्दिर का कलश दिखायी दिया। एक चरवाहे से पूछा—यह कौन गाँव है? उसने कहा—साईंगंज! साईंगंज आ गया! वह गाँव, जहाँ उसकी किस्मत का फैसला होने वाला था, जहाँ इस बात का निश्चय होगा कि वह राजा बनकर राज्य करेगा या एक

बनकर भीख माँगेगा।

लेकिन ज्यों ज्यों गाँव निकट आता था, शंखधर के पाँव सुस्त पड़ते जाते थे। उसे यह शंका होने लगी कि वह यहाँ से चले न गये हों। अब उनसे भेंट न होगी। वह इस शंका को कितना ही दिल से निकालना चाहता था, पर वह अपना आसन न छोड़ती थी।

अच्छा, अगर उनसे यहाँ भेंट न हुई, तो क्या वह और आगे जा सकेगा? नहीं, अब उससे एक पग भी न चला जायगा! अगर भेंट होगी, तो यहीं होगी, नहीं तो फिर कौन-जाने क्या होगा। अच्छा, अगर भेंट हुई और उन्होंने उसे पहचान लिया तो? पहचान कर वह उसकी ओर से मुँह फेर लें तो? तब वह क्या करेगा? उस दशा में क्या वह उनके पैरों पड़ सकेगा? उनके सामने रो सकेगा, अपनी विपत्ति-कथा कह सकेगा? कभी नहीं। उसका आत्म-सम्मान उसकी जबान पर मुहर लगा देगा। वह फिर एक शब्द भी मुँह से न निकाल सकेगा, आँसू की एक बूँद भी उसकी आँखों से निकलेगी। वह जबरदस्ती उनसे आत्मीयता न जतायेगा, 'मान-न मान, मैं तेरा मेहमान' न बनेगा। तो क्या वह इतने निर्दय, इतने निष्ठुर हो जायँगे? नहीं, वह ऐसे नहीं हो सकते। हाँ, यह हो सकता है कि उन्होंने कर्त्तव्य का जो आदर्श अपने सामने रखा है और जिस निःस्वार्थ कर्म के लिए राज-पाट को त्याग दिया है, वह उनके मनोभावों को जबान पर न आने दे, अपने प्रिय पुत्र को हृदय से लगाने के लिए विकल होने पर भी वह छाती पर पत्थर की शिला रखकर उसकी ओर से मुँह फेर लें। तो क्या इस दशा में उसका उनके पास जाना, उन्हें इतनी कठिन परीक्षा मे डालना, उन्हें आदर्श से हटाने की चेष्टा करना उचित है? कुछ भी हो, उतनी दूर आकर अब उनके दर्शन किये बिना वह न लौटेगा। उसने ईश्वर से प्रार्थना की कि वह उसे पहचान न सकें। वह अपने मुँह से एक शब्द भी ऐसा न निकालेगा, जिससे उन्हें उसका परिचय मिल सके। वह उसी भाँति दूर से उनके दर्शन करके अपने को कृतार्थ समझेगा, जैसे उनके और भक्त करते हैं।

साईंगंज दिखायी देने लगा। स्त्री पुरुष खेतों में अनाज काटते नजर आने लगे। अब वह गाँव के डाँड़ पर पहुँच गया। कई आदमी उसके सामने से होकर निकल भी गये, पर उसने किसी से कुछ नहीं पूछा। अगर किसी ने कह दिया—बाबाजी हैं, तो वह क्या करेगा? इसी असमञ्जस में पड़ा हुआ वह मन्दिर के सामने चबूतरे पर बैठ गया। सहसा मन्दिर में से एक आदमी को निकलते देखकर वह चौंक पड़ा, अनिमेष नेत्रों से उसकी ओर एक क्षण देखा, फिर उठा कि उस पुरुष के चरणों पर गिर पड़े; पर पैर थरथरा गये, मालूम हुआ, कोई नदी उसकी ओर बही चली आती है—वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

वह पुरुष कौन था? वही, जिसकी मूर्ति उसके हृदय मे बसी हुई थी, जिसका वह उपासक था।

४३

अभागिनी अहल्या के लिए संसार सूना हो गया। पति को पहले ही खो चुकी थी। जीवन का एक मात्र आधार पुत्र रह गया था। उसे भी खो बैठी। अब वह किसका मुँह देखकर जियेगी? वह राज्य उसके लिये किसी ऋषि का अभिशाप हो गया। पति और पुत्र को पाकर अब वह टूटे-फूटे झोंपड़े में कितने सुख से रहेगी। तृष्णा का उसे बहुत दण्ड मिल चुका। भगवान्, इस अनाथिनी पर दया करो!

अहल्या को अब वह राज भवन फाड़े खाता था। वह अब उसे छोड़कर कहीं चली जाना चाहती थी। कोई सड़ा-गला झोपड़ा, किसी वृक्ष की छाँह पर्वत की गुफा, किसी नदी का तट उसके लिए इस भवन से सहस्रों गुना अच्छा था। वे दिन कितने अच्छे थे, जब वह अपने स्वामी के साथ पुत्र को हृदय से लगाये एक छोटे-से मकान में रहती थी। वे दिन फिर न आयेंगे। वह मनहूस घड़ी थी, जब उसने इस भवन में कदम रखा था। वह क्या जानती थी कि इसके लिए उसे अपने पति और पुत्र से हाथ धोना पड़ेगा? आह! जब उसका पति जाने लगा, तो वह भी उसके साथ ही क्यों न चली गयी? रह-रहकर उसको अपनी भोग-लिप्सा पर क्रोध आता था, जिसने उसका सर्वनाश कर दिया था। क्या उस पाप का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। क्या इस जीवन में स्वामी के दर्शन न होंगे? अपने प्रिय पुत्र की मोहिनी मूर्ति फिर वह न देख सकेगी! कोई ऐसी युक्ति नहीं है!

राज-भवन अब भूतों का डेरा हो गया है। उसका अब कोई स्वामी नहीं रहा। राजा साहब अब महीनों नहीं आते। वह अधिकतर इलाके ही में घूमते रहते हैं। उनके अत्याचार की कथाएँ सुनकर लोगों के रोयें खड़े हो जाते हैं। सारी रियासत में हाहाकार मचा हुआ है। कहीं किसी गाँव में आग लगायी जाती है, किसी गाँव में कुएँ भ्रष्ट किये जाते हैं। राजा साहब को किसी पर दया नहीं। उनके सारे सद्भाव शंखधर के साथ चले गये। विधाता ने अकारण ही उनपर इतना कठोर आघात किया है। वह उस आघात का बदला दूसरों से ले रहे हैं। जब उनके ऊपर किसी को दया नहीं आती, तो वह किसी पर क्यों दया करें? अगर ईश्वर ने उनके घर में आग लगायी है, तो वह भी दूसरों के घर में आग लगायेंगे। ईश्वर ने उन्हें रुलाया है, तो वह भी दूसरों को रुलायेंगे। लोगों को ईश्वर की याद आती है, तो उनकी धर्म-बुद्धि जाग्रत हो जाती है; लेकिन किन लोगों की? जिनके सर्वनाश से कुछ कसर रह गयी हो, जिनके पास रक्षा करने के योग्य कोई वस्तु रह गयी हो, लेकिन जिसका सर्वनाश हो चुका है उसे किस बात का डर?

अब राजा साहब के पास जाने का किसी को साहस नहीं होता। मनोरमा को देख कर तो वह जामे से बाहर हो जाते हैं। अहल्या भी उनसे कुछ कहते हुए थर-थर काँपती है। अपने प्यारों को खोजने के लिए वह तरह-तरह के मनसूबे बाँधा करती है; लेकिन क्यों किससे? उसे ऐसा विदित होता है कि ईश्वर ने उसकी भोग-लिप्सा का यह दण्ड

दिया है। यदि वह अपने पति के घर जाकर इसका प्रायश्चित्त करे, तो कदाचित् ईश्वर उसका अपराध क्षमा कर दे। उसका डूबता हुआ हृदय इस तिनके के सहारे को जोरों से पकड़े हुए हैं, लेकिन हाय रे मानव हृदय! इस घोर विपत्ति में भी मान का भूत सिर से नहीं उतरता। जाना तो चाहती है, लेकिन उसके साथ यह शर्त है कि कोई बुलाये। अगर राजा साहब मुशी जी से इस विषय में कुछ सकेत कर दें, तो उसके लिए अवश्य बुलावा आ जाय; पर राजा साहब से तो भेंट ही नहीं होती और भेंट भी होती है, तो कुछ कहने की हिम्मत नही पड़ती।

इसमें सन्देह नहीं कि वह अपने मन की बात मनोरमा से कह देती, तो बहुत आसानी से काम निकल जाता, लेकिन अहल्या का मन मनोरमा से न पहले कभी मिला था, न अब मिलता था। उससे यह बात कैसे कहती? जो मनोरमा अब गाने बजाने और सैर-सपाटे में मग्न रहती है, उससे वह अपनी व्यथा कैसे कह सकेगी? वह कहे भी, तो मनोरमा क्यों उसके साथ सहानुभूति करने लगी? वह दिन-के-दिन और रात-की-रात पड़ी रोया करती है, मनोरमा कभी भूलकर भी उसकी बात नहीं पूछती, अपने राग रंग में मस्त रहती है। वह भला, अहल्या की पीर क्या जानेगी?

तो मनोरमा सचमुच राग रग में मस्त रहती है? हाँ, देखने में तो यही मालूम होता है। लेकिन उसके हृदय पर क्या बीत रही है, यह कौन जान सकता है? वह आशा और नैराश्य, शान्ति और अशान्ति, गम्भीरता और उच्छृङ्खलता, अनुराग और विराग की एक विचित्र समस्या बन गयी है! अगर वह सचमुच हँसती और गाती है, तो उसके मुख की वह कान्ति कहाँ है, जो चन्द्र को लजाती थी, वह चपलता कहाँ है, जो हिरन को हराती थी। उसके मुख और उसके नेत्रों को जरा सूक्ष्मदृष्टि से देखो, तो मालूम होगा कि उसकी हँसी उसका आर्त्तनाद है और उसका राग-प्रेम मर्मान्तिक व्यथा का चिह्न। वह शोक की उस चरम सीमा को पहुँच गयी है, जब चिन्ता और वासना दोनों ही का अन्त, लज्जा और आत्म-सम्मान का लोप हो जाता है, जब शोक रोग का रूप धारण कर लेता है। मनोरमा ने कच्ची बुद्धि में यौवन जैसा अमूल्य रत्न देकर जो सोने की गुड़िया खरीदी थी, वह अब किसी पक्षी की भाँति उसके हाथों से उड़ गयी थी। उसने सोचा था, जीवन का वास्तविक सुख धन और ऐश्वर्य में है, किन्तु अब बहुत दिनों से उसे ज्ञात हो रहा था कि जीवन का वास्तविक सुख कुछ और ही है, और वह सबसे आजीवन वचित रही। सारा जीवन गुड़िया खेलने ही में कट गया और अन्त में वह गुड़िया भी हाथ से निकल गयी। यह भाग्य-व्यंग्य रोने की वस्तु नहीं, हँसने की वस्तु है। उससे कहीं ज्यादा हँसते हैं, जितना परम आनन्द में हँस सकते हैं। प्रकाश जब हमारी सहन-शक्ति से अधिक हो जाता है, तो अन्धकार बन जाता है, क्योंकि हमारी आँखें ही बन्द हो जाती हैं।

एक दिन अहल्या का चित्त इतना उद्विग्न हुआ कि वह सकोच और झिझक छोड़कर मनोरमा के पास आ बैठी। मनोरमा के सामने प्रार्थी के रूप में आते हुए उसे

जितनी मानसिक वेदना हुई, उसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि अपने कमरे से यहाँ तक आने में उसे कम से-कम दो घण्टे लगे। कितनी ही बार द्वार तक आकर लौट गयी। जिसकी सदैव अवहेलना की, उसके सामने अब अपनी गरज लेकर जाने में उसे लज्जा आती थी; लेकिन जब भगवान् ने ही उसका गर्व तोड़ दिया था, तो अब झूठी ऐंठ से क्या हो सकता था।

मनोरमा ने उसे देखकर कहा--क्या रो रही थी अहल्या। यों कब तक रोती रहोगी?

अहल्या ने दीन भाव से कहा—जब तक भगवान् रुलावें!

कहने को तो अहल्या ने यह कहा; पर इस प्रश्न से उसका गर्व जाग उठा और वह पछतायी कि यहाँ नाहक आयी। उसका मुख तेज से आरक्त हो गया।

मनोरमा ने उपेक्षा-भाव से कहा—तब तो और हँसना चाहिए। जिसमें दया नहीं, उसके सामने रोकर अपना दीदा क्यों खोती हो। भगवान् अपने घर का भगवान होगा। कोई उसके रुलाने से क्यों रोये? मन में एक बार निश्चय कर लो कि अब न रोऊँगी, फिर देखूँ कि कैसे रोना आता है!

अहल्या से अब जब्त न हो सका, बोली—तुम तो जले पर नमक छिड़कती हो, रानी जी! तुम्हारा-जैसा हृदय कहाँ से लाऊँ? और फिर रोता भी वह है, जिस पर पड़ती है। जिस पर पड़ी ही नहीं, वह क्यों रोयेगा?

मनोरमा हँसी--वह हँसी, जो या तो मूर्ख ही हँस सकता है या ज्ञानी ही। बोली—अगर भगवान् किसी को रुलाकर ही प्रसन्न होता है, तब तो वह विचित्र ही जीव है। अगर कोई माता या पिता अपनी सन्तान को रोते देखकर प्रसन्न हो, तो तुम उसे क्या कहोगी--बोलो? तुम्हारा जी चाहेगा कि ऐसे प्राणी का मुँह न देखूँ। क्या ईश्वर हमसे और तुमसे भी गया बीता है? आओ, बैठकर गावें। इससे ईश्वर प्रसन्न होगा। वह जो कुछ करता है, सबके भले ही के लिए करता है। इसलिए जब वह देखता है कि उसे लोग अपना शत्रु समझते हैं, तो उसे दुःख होता है। तुम अपने पुत्र को इसीलिए तो ताड़ना देती हो कि वह अच्छे रास्ते पर चले। अगर तुम्हारा पुत्र इस बात पर तुमसे रूठ जाय और तुम्हें अपना शत्रु समझने लगे, तो तुम्हें कितना दुःख होगा? आओ, तुम्हें एक भैरवी सुनाऊँ। देखो, मैं कैसा अच्छा गाती हूँ!

अहल्या ने गाना सुनने के प्रस्ताव को अनसुना करके कहा—माता पिता सन्तान को इसीलिए तो ताड़ना देते हैं कि वह बुरी आदतें छोड़ दें, अपने बुरे कामों पर लज्जित हों और उसका प्रायश्चित्त करें? हमें भी जब ईश्वर ताड़ना देता है, तो उसकी भी यही इच्छा होती है। विपत्ति ताड़ना ही तो है। मैं भी प्रायश्चित्त करना चाहती हूँ और आप से उसके लिए सहायता माँगने आयी हूँ। मुझे अनुभव हो रहा है कि यह सारी विडम्बना मेरे विलास-प्रेम का फल है, और मैं इसका प्रायश्चित्त करना चाहती हूँ। मेरा मन कहता है कि यहाँ से निकलकर मैं अपना मनोरथ पा जाऊँगी। यह सारा दण्ड मेरी

विलासान्धता का है। आज जाकर अम्माँजी से कह दीजिए, मुझे बुला लें। इस घर में आकर मैं अपना सुख खो बैठी और इस घर से निकल कर ही उसे पाऊँगी।

मनोरमा को ऐसा मालूम हुआ, मानो उसकी आँखें खुल गयीं। क्या वह भी इस घर से निकलकर सच्चे आनन्द का अनुभव करेगी। क्या उसे भी ऐश्वर्य-प्रेम ही का दण्ड भोगना पड़ रहा है। क्या वह सारी अन्तर्वेदना इसी विलास-प्रेम के कारण है।

उसने कहा—अच्छा, अहल्या, मैं आज ही जाती हूँ।

इसके चौथे दिन मुंशी वज्रधर ने राजा साहब के पास रुखसती का सन्देशा भेजा। राजा साहब इलाके पर थे। सन्देशा पाते ही जगदीशपुर आये। अहल्या का कलेजा धक-धक करने लगा कि राजा साहब कहीं आ न जायँ। इधर-उधर छिपती फिरती थी कि उनका सामना न हो जाय। उसे मालूम होता था कि राजा साहब ने रुखसती मंजूर कर ली है, पर अब जाने के लिए वह बहुत उत्सुक न थी। यहाँ से जाना तो चाहती थी, पर जाते दु:ख होता था। यहाँ आये उसे चौदह साल हो गये। वह इसी घर को अपना घर समझने लगी थी। ससुराल उसके लिए बिरानी जगह थी। कहीं निर्मला ने कोई बात कह दी, वह क्या करेगी? जिस घर से मान करके निकली थी, वहीं अब विवश होकर जाना पड़ रहा था। इन बातों को सोचते-सोचते आखिर उसका दिल इतना घबराया कि वह राजा साहब के पास जाकर बोली—आप मुझे क्यों विदा करते हैं? मैं नहीं जाना चाहती।

राजा साहब ने हँसकर कहा—कोई लड़की ऐसी भी है, जो खुशी से ससुराल जाती हो? और कौन पिता ऐसा है, जो लड़की को खुशी से विदा करता हो! मैं कब चाहता हूँ कि तुम जाओ, लेकिन मुंशी वज्रधर की आज्ञा है, और यह मुझे शिरोधार्य करनी पड़ेगी। वह लड़के के बाप हैं, मैं लड़की का बाप हूँ, मेरी और उनकी क्या बराबरी? और बेटी, मेरे दिल में भी अरमान है, उसके पूरा करने का और कौन अवसर आयेगा। शखधर होता, तो उसके विवाह में वह अरमान पूरा होता। वह तुम्हारे गौने में पूरा होगा।

अहल्या इसका क्या जवाब देती।

दूसरे दिन से राजा साहब ने विदाई की तैयारियाँ करनी शुरू कर दीं। सारे इलाके के सोनार पकड़ बुलाये गये और गहने बनने लगे। इलाके ही के दरजी कपड़े सीने लगे। हलवाइयों के कड़ाह चढ़ गये और पकवान बनने लगे। घर की सफाई और रँगाई होने लगी। राजाओं, रईसों और अफसरों को निमन्त्रण भेजे जाने लगे। सारे शहर की वेश्याओं को बयाने दे दिये गये। बिजली की रोशनी का इन्तजाम होने लगा। ऐसा मालूम होता था, मानो किसी बड़ी बरात के स्वागत और सत्कार की तैयारी हो रही है। अहल्या यह सामान देख-देखकर दिल में झुँझलाती और शर्माती थी। सोचती—कहाँ-से-कहाँ मैंने यह विपत्ति मोल ले ली। अब इस बुढ़ापे में मेरा गौना। मैं मरने की राह देख रही हूँ; यहाँ गौने की तैयारी हो रही है। कौन जाने यह अन्तिम विदाई ही

हो। राजा साहब ऐसे व्यस्त थे कि किसी से बात करने की भी उन्हें फ़ुरसत न थी। कहीं सोनारों के पास बैठे अच्छी नक्काशी करने की ताकीद कर रहे हैं। कहीं दर्जियों के पास बैठे हुए मशीन सिलाई पर जोर दे रहे हैं। कहीं जौहरियों के पास बैठे जवाहरात परख रहे हैं। उनके अरमानों का वारापार ही न था। मन की मिठाई घी शक्कर की मिठाई से कम स्वादिष्ट नहीं होती।

४४

शङ्खधर को होश आया, तो अपने को मन्दिर के बरामदे में चक्रधर की गोद में पड़ा हुआ पाया। चक्रधर चिन्तित नेत्रों से उसके मुँह की ओर ताक रहे थे। गाँव के कई आदमी आस-पास खड़े पखा झल रहे थे। आह! आज कितने दिनों के बाद शंखधर को यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है! वह पिता की गोद में लेटा हुआ है! आकाश के निवासियों, तुम पुष्प की वर्षा क्यों नहीं करते?

शङ्खधर ने फिर आँखें बन्द कर लीं। उसकी चिर-सन्तप्त आत्मा एक अलौकिक शीतलता, एक अपूर्व तृप्ति, एक स्वर्गीय आनन्द का अनुभव कर रही थी। इस अपार सुख को वह इतनी जल्द न छोड़ना चाहता था। उसे अपनी वियोगिनी माता की याद आयी। वह उस दिन का स्वप्न देखने लगा, जब वह अपनी माता को भी इस परम आनन्द का अनुभव करायेगा, उसका जीवन सफल करेगा।

चक्रधर ने स्नेह-मधुर स्वर में पूछा—क्यों बेटा, अब कैसी तबीअत है?

कितने स्नेह-मधुर शब्द थे! किसी के कानों ने कभी इतने कोमल शब्द सुने हैं? भगवान् इन्द्र भी आकर उससे बोलते, तो क्या वह इतना गौरवान्वित हो सकता था?

'क्यों बेटा, कैसी तबीयत है'—वह इसका क्या जवाब दे? अगर कहता है—अब मैं अच्छा हूँ, तो इस सुख से वंचित होना पड़ेगा। उसने कोई उत्तर नहीं दिया। देना भी चाहता, तो उसके मुँह से शब्द न निकलते। उसका जी चाहा, इन चरणों पर सिर रखकर खूब रोये। इससे बढ़कर और किसी सुख की वह कल्पना ही न कर सकता था। संसार की कोई वस्तु कभी इतनी सुन्दर थी? वायु और प्रकाश, वृक्ष और वन, पृथ्वी और पर्वत कभी इतने प्यारे न लगते थे। उनकी छटा ही कुछ और हो गयी थी; उनमें कितना वात्सल्य था, कितनी आत्मीयता!

चक्रधर ने फिर पूछा—क्यों बेटा कैसी तबीअत है?

शंखधर ने कातर-स्वर से कहा—अब तो अच्छा हूँ। आप ही का नाम बाबा भगवानदास है?

चक्रधर—हाँ, मुझी को भगवानदास कहते हैं।

शंखधर—मैं आप ही के दर्शनों के लिए आया हूँ। बहुत दूर से आया हूँ। मैंने बेंदो में आपकी खबर पायी थी। वहाँ मालूम हुआ कि आप साईंगंज चले गये हैं। वहाँ से साईंगंज चला। सारी रात चलता रहा; पर साईंगंज न मिला। एक दूसरे गाँव में जा पहुँचा, वह जो पर्वत के ऊपर बसा हुआ है। वहाँ मालूम हुआ कि मैं रास्ता भूल

गया था। उसी वक्त इधर चला।

चक्रधर—रात को कहीं ठहरे नहीं?

शंखधर—यही भय था कि शायद आप कहीं और आगे न बढ़ जायँ।

चक्रधर—कुछ भोजन भी न किया होगा?

शंखधर—भोजन की तो ऐसी इच्छा न थी। आपके दर्शन हुए, मैं कृतार्थ हो गया। अब मेरे संकट कट जायँगे। मैं आपका यश सुनकर आया हूँ। आप ही मेरा उद्धार कर सकते हैं।

चक्रधर—बेटा, संकट काटने वाला ईश्वर है, मैं तो उनका क्षुद्र सेवक हूँ, लेकिन पहले कुछ भोजन कर लो और आराम से सो रहो। मुझे कई रोगियों को देखने जाना है। मैं शाम को लौटूँगा, तो तुमसे बातें होंगी। क्या कहूँ, मेरे कारण तुम्हें इतना कष्ट उठाना पड़ा।

शंखधर ने मन में कहा—इस परम आनन्द के लिए मैं क्या नहीं सह सकता था! अगर मुझे मालूम हो जाता कि अग्नि-कुण्ड में जाने से आपके दर्शन होंगे, तो क्या मैं एक क्षण का भी विलम्ब करता। कदापि नहीं। प्रकट में उसने कहा—मुझे तो यह स्वर्ग-यात्रा-सी मालूम होती थी। भूख, प्यास, थकान कुछ भी नहीं थी।

चक्रधर का चित्त अस्थिर हो गया। उस युवक के रूप और वाणी में न-जाने कौन-सी बात थी, जो उनके मन में उससे बात-चीत करने की प्रबल इच्छा हो रही थी। रोगियों को देखने न जाना चाहते थे, मन बहाना खोजने लगा। रोगियों को दवा तो दे ही आया हूँ, उनकी चेष्टा भी कुछ ऐसी चिन्ताजनक नहीं, जाना व्यर्थ है। जरा पूछना चाहिये कि यह युवक कौन है? क्यों मुझसे मिलने के लिए इतना उत्सुक है। कितना सुशील बालक है! इसकी वाणी में कितना विनय है और स्वरूप तो देवकुमारों का-सा है। किसी उच्च-कुल का युवक है।

लेकिन फिर उन्होंने सोचा—मेरे न जाने से रोगियों को कितनी निराशा होगी! कौन जाने, उनकी दशा बिगड़ गयी हो। जाना ही चाहिए। तब तक यह बालक भी तो आराम कर लेगा। बेचारा सारी रात चलता रहा। मैं जानता, तो बेंदों में टिक गया होता।

एक आदमी पानी लाया। शंखधर ने मुँह-हाथ धोया और चाहता था कि खाली पेट पानी पी ले, लेकिन चक्रधर ने मना किया—हाँ-हाँ यह क्या? अभी पानी न पियो। रात-भर कुछ खाया नहीं और पानी पीने लगे। आओ, कुछ भोजन कर लो।

शङ्खधर—बड़ी प्यास लगी है।

चक्रधर—पानी कहीं भागा तो नहीं जाता। कुछ खाकर पीना, और वह भी इतना नहीं कि पेट में पानी डोलने लगे।

शङ्खधर—दो ही घूँट पी लूँ। नहीं रहा जाता।

चक्रधर ने आकर उसके हाथ से लोटा छीन लिया और कठोर स्वर में कहा—अभी तुम एक बूँद भी पानी नहीं पी सकते। क्या जान देने पर उतारू हो गये हो?

शंखधर को इस भर्त्सना में जो आनन्द मिल रहा था, वह कभी माता की प्रेम भरी बातों में भी न मिला था। पाँच वर्ष हुए; तब से वह अपने मन की करता आया है। वह जो पाता है, खाता है; जब चाहता है, पानी पीता है, जहाँ जगह पाता है, पड़ रहता है। किसी को इसकी कुछ परवा नहीं होती। लोटा हाथ से न छीना गया होता, तो वह बिना दो-चार घुड़कियाँ खाये न मानता।

मन्दिर के पीछे छोटा सा बाग और कुआँ था। वहीं एक वृक्ष के नीचे चक्रधर की रसोई बनी थी। चक्रधर अपना भोजन आप पकाते थे, बर्तन भी आप ही धोते थे, पानी भी खुद खींचते थे। शङ्खधर उनके साथ भोजन करने गया, तो देखा कि रसोई में पूरी, मिठाई, दूध, दही, सब कुछ है। उसकी राल टपकने लगी। इन पदार्थों का स्वाद चखे हुए उसे एक युग बीत गया था; मगर उसे कितना आश्चर्य हुआ, जब उसने देखा कि ये सारे पदार्थ उसीके लिए मँगवाये गये हैं। चक्रधर ने उसके लिए खाना एक पत्तल में रख दिया और आप कुछ मोटी रोटियाँ और भाजी लेकर बैठे, जो खुद उन्होंने बनायी थी।

शङ्खधर ने कहा--आप तो सब मुझी को दिये जाते हैं, अपने लिए कुछ रखा ही नहीं।

चक्रधर—मेरे लिए तो यह रोटियाँ हैं। मेरा भोजन यही है।

शङ्खधर—तो फिर मुझे भी रोटियाँ ही दीजिए।

चक्रधर—मैं तो बेटा, रोटियों के सिवा और कुछ नहीं खाता। मेरी पाचन-शक्ति अच्छी नहीं है। दिन मे एक बार खा लिया करता हूँ।

शङ्खधर—मेरा भोजन तो थोड़ा-सा सत्तू या चबेना है। मैंने तो बरसों से इन चीज़ों की सूरत तक नहीं देखी। अगर आप न खायँगे, तो मैं भी न खाऊँगा।

आखिर शङ्खधर के आग्रह से चक्रधर को अपना नियम तोड़ना पड़ा। सोलह वर्षों का पाला हुआ नियम, जिसे बड़े-बड़े रईसों और राजाओं का भक्ति-मय आग्रह भी न तोड़ सका था, आज इस अपरिचित बालक ने तोड़ दिया। उन्होंने झुँझलाकर कहा—भाई, तुम बड़े जिद्दी मालूम होते हो। अच्छा, लो, मैं भी खाता हूँ। अब तो खाओगे, या अब भी नहीं?

उन्होंने सब चीज़ों में से जरा-जरा सा निकालकर अपनी पत्तल में रख लिया और बाकी चीज़ें शङ्खधर के आगे रख दीं। शङ्खधर ने अब भी भोजन में हाथ नहीं लगाया।

चक्रधर ने पूछा—अब क्या बैठे हो, खाते क्यों नहीं? तुम्हारे मन की बात हो गयी? या अब भी कुछ बाकी है?

शंखधर—आपने तो केवल उलाहना छुड़ाया है। लाइए मैं परस दूँ।

चक्रधर—अगर तुम इस तरह जिद करोगे, तो मैं तुम्हारी दवा न करूँगा। तुम्हें अपने साथ रखूँगा भी नहीं।

शङ्खधर—मुझे क्या, न दवा कीजिएगा, तो यहीं पड़ा पड़ा मर जाऊँगा। कौन

कोई रोनेवाला बैठा हुआ है ?

यह कहते-कहते शंखधर की आँखें सजल हो गयीं। चक्रधर ने विकल होकर कहा—अच्छा लाओ, तुम्हीं अपने हाथ से दे दो। अपशब्द क्यों मुँह से निकालते हो ? लाओ, कितना देते हो ? अब से मैं तुम्हें अलग भोजन मँगवा दिया करूँगा।

शङ्खधर ने सभी चीज़ों में से आधी से अधिक उनके सामने रख दी, और आप एक पखा लेकर उन्हें झलने लगा। चक्रधर ने वात्सल्यपूर्ण कठोरता से कहा—मालूम होता है, आज तुम मुझे बीमार करोगे। भला, इतनी चीज़ें मैं खा सकूँगा ?

शङ्खधर—इसीलिए तो मैंने थोड़ी-थोड़ी दी हैं।

चक्रधर—यह थोड़ी थोड़ी हैं। तो क्या तुम सब-की-सब मेरे ही पेट मे ठूँस देना चाहते हो ? अब भी बैठोगे या नहीं ? मुझे पखे की जरूरत नहीं।

शङ्खधर—आप खायँ, मैं पीछे से खा लूँगा।

चक्रधर—भाई, तुम विचित्र जीव हो। तीन दिन के भूखे हो और मुझसे कहते हो, आप खाइए, मैं फिर खा लूँगा।

चक्रधर—मैं तो आपका जूठन खाऊँगा।

उसकी आँखें फिर सजल हो गयीं। चक्रधर ने तिरस्कार के भाव से कहा—क्यों भाई, मेरा जूठन क्यों खाओगे ? अब तो सब बातें तुम्हारे ही मन की हो रही हैं।

शङ्खधर—मेरी बहुत दिनों से यही आकांक्षा थी। जब से आपकी कीर्ति सुनी, तभी से यह अवसर खोज रहा था।

चक्रधर—तुम न आप खाओगे, न मुझे खाने दोगे।

शङ्खधर—मैं तो आपका जूठन ही खाऊँगा।

चक्रधर को फिर हार माननी पड़ी। वह एकान्तवासी, संयमी व्रतधारी योगी आज इस अपरिचित दीन बालक के दुराग्रहों को किसी भाँति न टाल सकता था।

शङ्खधर को आज खड़े होकर पखा झलने मे जो आनन्द, जो आत्मोल्लास, जो गर्व हो रहा था, उसका कौन अनुमान कर सकता है। इस आनन्द के सामने वह त्रिलोक के राज्य पर भी लात मार सकता था। आज उसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ है कि अपने पूज्य पिता की कुछ सेवा कर सके। कठिन तपस्या के बाद आज उसे यह सेवा वरदान मिला है। उससे बढकर सुखी और कौन हो सकता है ! आज उसे अपना जीवन सार्थक मालूम हो रहा है—वह जीवन, जिसका अब तक कोई उद्देश्य न था। आनन्द के आँसू उसकी आँखों से बहने लगे।

चक्रधर जब भोजन करके उठ गये, तो उसने उसी पत्तल में अपनी पत्तल की चीजें डाल लीं और और भोजन करने बैठा। ओह ! इस भोजन में कितना स्वाद था ! क्या सुधा में इतना स्वाद हो सकता है ? उसने आज से कई साल पहले उत्तम से-उत्तम पदार्थ खाये थे; लेकिन उनमें यह अलौकिक स्वाद कहाँ था ?

चक्रधर हाथ मुँह धोकर गद्‌गद् कण्ठ से बोले—तुमने आज मेरे दो नियम भग

कर दिये। बिना जाने-बूझे किसी को मेहमान बना लेने का यही फल होता है। अब मैं आज कहीं न जाऊँगा। तुम भोजन कर लो और मुझसे जो कुछ कहना हो कहो। मैं ऐसे जिद्दी लड़के को अपने साथ और न रखूँगा। तुम्हारा घर कहाँ है? यहाँ से कितनी दूर है?

शंखधर—मेरे तो कोई घर ही नहीं।

चक्रधर—माता-पिता तो होंगे? वह किस गाँव में रहते हैं?

शंखधर—यह मुझे कुछ नहीं मालूम। पिताजी तो मेरे बचपन ही में घर से चले गये और माताजी का पाँच साल से मुझे कोई समाचार नहीं मिला।

चक्रधर को ऐसा मालूम हुआ, मानो पृथ्वी नीचे खिसकी जा रही है, मानों वह जल में बहे जा रहे हैं। पिता बचपन ही में घर से चले गये और माताजी का पाँच साल से कुछ समाचार नहीं मिला? भगवान्, क्या यह वही नन्हा-सा बालक है! वही, जिसे अपने हृदय से निकालने की चेष्टा करते हुए आज १६ वर्षों से अधिक हो गये!

उन्होंने हृदय को सँभालते हुए पूछा—तुम पाँच साल तक कहाँ रहे बेटा, जो घर नहीं गये?

शंखधर—पिताजी को खोजने निकला था और जब तक वह न मिलेंगे, लौटकर घर न जाऊँगा।

चक्रधर को ऐसा मालूम हुआ मानो पृथ्वी डगमगा रही है, मानो समस्त ब्रह्माण्ड एक प्रयलकारी भूचाल से आन्दोलित हो रहा है। वह सायबान के स्तम्भ के सहारे बैठ गये और एक ऐसे स्वर में बोले, जो आशा और भय के वेगों को दबाने के कारण क्षीण हो गया था। यह प्रश्न न था; बल्कि एक जानी हुई बात का समर्थन मात्र था। तुम्हारा नाम क्या है बेटा? इस प्रश्न का उत्तर क्या वही होगा, जिसकी सम्भावना चक्रधर को विकल और पराभूत कर रही थी? संसार में क्या ऐसा एक ही बालक है, जिसे उसका बाप बचपन में छोड़कर चला गया हो? क्या ऐसा एक ही किशोर है, जो अपने बाप को खोजने निकला हो? यदि उसका उत्तर वही हुआ, जिसका उन्हें भय था, तो वह क्या करेंगे? उनके सामने एक कठिन समस्या उपस्थित हो गयी। वह धड़कते हुए हृदय से उत्तर की ओर कान लगाये थे, जैसे कोई अपराधी अपना कर्म-दण्ड सुनने के लिए न्यायाधीश की ओर कान लगाये खड़ा हो।

शंखधर ने जवाब दिया—मेरा तो नाम शंखधरसिंह है।

चक्रधर—और तुम्हारे पिता का क्या नाम है?

शंखधर—मुंशी चक्रधर कहते हैं।

चक्रधर—घर कहाँ है?

शंखधर—जगदीशपुर!

सर्वनाश! चक्रधर को ऐसा ज्ञात हुआ कि उनकी देह से प्राण निकल गये हैं, मानो उनके चारों ओर शून्य है। 'शंखधर!' बस, यही एक शब्द उस प्रयल शून्य

में किसी पक्षी की भाँति चक्कर लगा रहा था। 'शङ्खधर' यही एक स्मृति थी, जो उस प्राण-शून्य दशा में चेतना को संस्कारों में बाँधे हुई थी।

४५

राजा विशालसिंह ने जिस हौसले से अहल्या का गौना किया, वह राजाओं रईसों में भी बहुत कम देखने में आता है। तहसीलदार साहब के घर में इतनी चीजों को रखने की जगह भी न थी। बर्तन, कपड़े, शीशे के सामान, लकड़ी की अलभ्य वस्तुएँ मेवे, मिठाइयाँ, गायें, भैंसे—इनका हफ्तों तक ताँता लगा रहा। दो हाथी और पाँच घोड़े भी मिले, जिनके बाँधने के लिए घर में जगह न थी। पाँच लौंडियाँ अहल्या के साथ आयीं। यद्यपि तहसीलदार साहब ने नया मकान बनवाया था, पर वह क्या जानते थे कि एक दिन यहाँ रियासत जगदीशपुर की आधी सम्पत्ति आ पहुँचेगी? घर का कोना-कोना सामानों से भरा हुआ था। कई पड़ोसियों के मकान भी अँट उठे। उसपर लाखों रुपया नगद मिले वह अलग। तहसीलदार साहब लाने को तो सब कुछ लाये, पर अब उन्हें देख देख रोते और कुढते थे। कोई भोगनेवाला नहीं। अगर यही सम्पत्ति आज के पचीस साल पहले मिली होती, तो उनका जीवन सफल हो जाता, जिन्दगी का कुछ मजा उठा लेते, अब बुढापे में इनको लेकर क्या करें? चीजों को बेचना अपमान की बात थी। हाँ, यार-दोस्तों को जो कुछ भेंट कर सकते थे, किया। अनाज की कई गाड़ियाँ मिली थीं, वह सब उन्होंने लुटा दीं। कई महीने सदाव्रत सा चलता रहा। नौकरों को हुक्म दे दिया कि किसी आदमी को कोई चीज मँगनी देने से इन्कार मत करो। सहालग के दिनों में रोज ही हाथी, घोड़े, पालकियाँ, फर्श आदि सामान मँगनी जाते। सारे शहर में तहसीलदार साहब की कीर्ति छा गयी। बड़े-बड़े रईस उनसे मुलाकात करने आने लगे। नसीब जगे, तो इस तरह जगे। रोटियाँ भी न मयस्सर होती थीं, आज द्वार पर हाथी झूमता है। सारे शहर में यही चर्चा थी।

मगर मुंशीजी के दिल पर जो कुछ बीत रही थी, वह कौन जान सकता है? दिन में बीसों ही बार चक्रधर पर बिगड़ते—नालायक! आप तो आप गया, अपने साथ लड़के को भी ले गया। न-जाने कहाँ मारा-मारा फिरता होगा, देश का उपकार करने चला है! सच कहा है—घर की रोयें, बन की सोयें। घर के आदमी मरें, परवा नहीं, दूसरों के लिए जान देने को तैयार। अब बताओ, इन हाथी, घोड़े, मोटरों और गाड़ियों को लेकर क्या करूँ? अकेले किस किस पर बैठूँ? बहू है, उसे रोने से फुरसत नहीं। बच्चा की माँ हैं, उनसे अब मारे शोक के रहा नहीं जाता, कौन बैठे। यह सामान तो मेरे जी का जंजाल हो गया। पहले बेचारे शाम-सवेरे कुछ गा बजा लेते थे, कुछ सरूर भी जमा लिया करते थे, अब इन चीजों की देख भाल ही में भोर हो जाता। क्षण-भर भी आराम से बैठने की मुहलत न मिलती। निर्मला किसी चीज की ओर आँख उठाकर भी न देखती, मुंशीजी ही को सबकी निगरानी करनी पड़ती थी।

अहल्या यहाँ आकर और भी पछताने लगी। यह रनिवास के विलासमय जीवन से

विरक्त होकर यहाँ प्रायश्चित्त करने के इरादे से आयी थी; पर वह विपत्ति उसके साथ यहाँ भी आयी। वहाँ उसे घर-गृहस्थी से कोई मतलब न था, यहाँ वह विपत्ति भी सिर पड़ी। जिन वस्तुओं से उसे वहाँ जरा भी मोह न था, उन्हीं के खो जाने की खबर हो जाने पर उसे दुःख होता था। वह माया को जीतना चाहती थी, माया ने उसी को परास्त कर दिया। सम्पत्ति से गला छुड़ाना चाहती थी; पर सम्पत्ति उससे और चिमट गयी थी। वहाँ वह कुछ देर शान्ति से बैठ सकती थी, कुछ देर हँस-बोलकर जी बहला लेती थी। किसी के ताने मेहने न सुनने पड़ते थे, यहाँ निर्मला बाणों से छेदती और घाव पर नमक छिड़कती रहती थी। बहू के कारण वह अपने पुत्र से वंचित हुई। बहू ही के कारण पोता भी हाथ से गया। ऐसी बहू को वह पान-फूल से पूज न सकती थी। सम्पत्ति लेकर वह क्या करे? चाटे? पुत्र और पौत्र के बदले में इस अतुल धन का क्या मूल्य था? भोजन वह अब भी अपने हाथों ही पकाती थी। अहल्या के साथ जो महाराजिनें आयी थीं, उनका पकाया हुआ भोजन वह ग्रहण न कर सकती थी। अहल्या से भी वह छूत मानती थी। इन दिनों मंगला भी आयी हुई थी। उसका जी चाहता था कि यहाँ की सारी चीजें समेट ले जाऊँ। अहल्या अपनी चीजों को तीन-तेरह न होने देना चाहती थी। इससे ननद-भावज में कभी-कभी खटपट हो जाती थी।

बर्तनों में कई बड़े बड़े कण्डाल भी थे। एक कण्डाल इतना बड़ा था कि उसमें ढाई सौ कलसे पानी आ जाता था। मंगला ने एक दिन यह कण्डाल अपने घर भेजवा दिया। कई दिन बाद अहल्या को यह खबर मिली, तो उसने जाकर सास से पूछा—अम्माँजी, वह बड़ा कण्डाल कहाँ है, दिखायी नहीं देता?

निर्मला ने कहा—बाबा, मैं नहीं जानती, कैसा कण्डाल था। घर में है, तो कहाँ जा सकता है?

अहल्या—जब घर में हो तब न?

निर्मला—घर में से कहाँ गायब हो जायगा?

अहल्या—घर की चीज घर के आदमियों के सिवा और कौन छू सकता है?

निर्मला—तो क्या इस घर में सब चोर ही बसते हैं?

अहल्या—यह तो मैं नहीं कहती; लेकिन चीज का पता तो लगना ही चाहिए।

निर्मला—तुम चीजें लादकर ले जाओगी, तुम्हीं पता लगाती फिरो। यहाँ चीजों को लेकर क्या करना है? इन चीजों को देखकर मेरी तो आँखें फूटती हैं। इन्हीं के लिए तो तुमने मेरे बच्चे को बनवास दे दिया। इन्हीं के पीछे अपने बेटे से हाथ धो बैठी। तुम्हें ये चीजें प्यारी होंगी। मुझे तो नहीं प्यारी हैं।

बात कड़वी थी; पर यथार्थ थी। अगर धन-मद ने अहल्या की बुद्धि पर परदा न डाल दिया होता, तो आज उसे क्यों यह दिन देखना पड़ता? दरिद्र रहकर भी सुखी होती। मोह ने उसका सर्वनाश कर दिया। फिर भी वह मोह को गले लगाये हुए है। नैहर में उसकी आयी हुई चीज अपनी न थी, सब कुछ अपना होते हुए भी उसका कुछ

न था। जो कुछ अधिकार था, वह पुत्र के नाते। जब पुत्र की कोई आशा न रही, तो अधिकार भी न रहा, पर यहाँ की सब चीजें उसी की थीं। उनपर उसका नाम खुदा हुआ था। अधिकार में स्वय एक आनन्द है, जो उपयोगिता की परवा नहीं करता। उन वस्तुओं को देख-देखकर उसे गर्व होता था।

लेकिन आज निर्मला के कठोर शब्दों ने उसमें ग्लानि और विवेक का सञ्चार कर दिया। उसने निश्चय किया, अब इन चीजों के लिए कभी न बोलूँगी। अगर अम्मॉजी को किसी चीज का मोह नहीं है, तो मैं ही क्यों करूँ? कोई आग लगा दे, मेरी बला से।

जब घर में कोई किसी चीज की चौकसी करनेवाला न रहा, तो चारों ओर लूट मच गयी। कुछ मालूम न होता कि घर में कौन लुटेरा आ बैठा है; पर चीजें एक एक करके निकलती जाती थीं। अहल्या देखकर अनदेखी और सुनकर अनसुनी कर जाती थी; पर अपनी चीजों को तहस-नहस होते देखकर उसे दुःख होता था। उसका विराग मोह का दूसरा रूप था—वास्तविक रूप से भी भयंकर और दाहक।

इस तरह कई महीने गुजर गये; अहल्या का आशा दीपक दिन-दिन मन्द होता गया। वह कितना ही चाहती थी कि मोह बन्धन से अपने को छुड़ा ले, पर मन पर कोई वश न चलता था। उसके मन में बैठा हुआ कोई नित्य कहा करता था—जब तक मोह में पड़ी रहोगी, पति-पुत्र के दर्शन न होंगे। पर इसका विश्वास कौन दिला सकता था कि मोह टूटते ही उसके मनोरथ पूरे हो जायँगे। तब क्या वह भिखारिणी होकर जीवन व्यतीत करेगी? सम्पत्ति के हाथ से निकल जाने पर फिर उसके लिए कौन आश्रय रह जायगा? क्या वह फिर अपने पिता के घर जा सकती थी? कदापि नहीं। पिता ने इतनी धूम-धाम से उसे विदा किया, इसका अर्थ ही यह था कि अब तुम इस घर से सदा के लिए जा रही हो।

अहल्या बार-बार व्रत करती कि अब अपने सारे काम अपने हाथ से करूँगी, अब सदा एक ही जून भोजन किया करूँगी, मोटा-से-मोटा अन्न खाकर जीवन व्यतीत करूँगी, लेकिन उसमें किसी व्रत पर स्थिर रहने की शक्ति न रह गयी थी। जब उसके स्नान कर चुकने पर लौंडी उसकी साड़ी छाँटने चलती, तो वह उसे मना न कर सकती थी। जो काम आज १६ वर्षों से करती आ रही थी, उसके विरुद्ध आचरण करना उसे अब अस्वाभाविक जान पड़ता था, मोटा अनाज खाने का निश्चय रहते हुए भी वह स्वादिष्ट भोजन को सामने से हटा न सकती थी। विलासिता ने उसको क्रिया-शक्ति को निर्बल कर दिया था।

यहाँ रहकर वह अपने उद्धार के लिए कुछ न कर सकेगी, यह बात शनैः-शनैः अनुभव से सिद्ध हो गयी।

लेकिन अब कहाँ जाय? जब तक मन की वृत्ति न बदल जाय, तीर्थ-यात्रा पाखण्ड सा जान पड़ती थी। किसी दूसरी जगह अकेले रहने के लिए कोई बहाना न था, पर यह

निश्चय था कि अब वह यहाँ न रहेगी; यहाँ तो वह बन्धनों में और भी जकड़ गयी थी।

अब उसे वागीश्वरी की याद आयी। सुख के दिन वही थे, जो उसके साथ कटे। असली मैका न होने पर भी जीवन का जो सुख वहाँ मिला, वह फिर न नसीब हुआ। अब उसे याद आता था कि मैं वहाँ से दुःख झेलने ही के लिए आयी थी। वह स्नेह-सुख स्वप्न हो गया। सास मिली वह इस तरह की, ननद मिली वह इस ढंग की; माँ थी ही नहीं, केवल बाप को पाया; मगर उसके बदले में क्या क्या देना पड़ा। जिस दिन मालूम हुआ था कि वह राजा की बेटी है, वह फूली न समायी थी, उसके पाँव जमीन पर न पड़ते थे; पर आह! क्या मालूम था कि उस क्षणिक आनन्द के लिए उसे सारी उम्र रोना पड़ेगा।

अब अहल्या को रात दिन यही धुन रहने लगी कि किसी तरह वागीश्वरी के पास चलूँ, मानो वहाँ उसके सारे दुःख दूर हो जायँगे। इधर कई महीनों से वागीश्वरी का पत्र न आया था; पर मालूम हुआ था कि वह आगरे ही में है। अहल्या ने कई बार बुलाया था; पर वागीश्वरी ने लिखा था—मैं बड़े आराम से हूँ, मुझे अब यहीं पड़ी रहने दो। अब अहल्या का मन वागीश्वरी के पास जाने के लिए अधीर हो उठा। वागीश्वरी भी उसी की भाँति दुःखिनी है। सारी आशाओं एवं सारे माया-मोह से मुक्त हो चुकी है। वही उसके साथ सच्ची सहानुभूति कर सकती है, वही अपने मातृ-स्नेह से उसका क्लेश हर सकती है।

आखिर एक दिन अहल्या ने सास से यह चर्चा कर ही दी। निर्मला ने कुछ भी आपत्ति नहीं की। शायद वह खुश हुई कि किसी तरह यह यहाँ से टले। मंगला तो उसके जाने का प्रस्ताव सुनकर हर्षित हो उठी। जब वह चली जायगी, तो घर में मंगला का राज हो जायगा। जो चीज चाहेगी, उठा ले जायगी, कोई हाथ पकड़नेवाला या टोकनेवाला न रहेगा। दो महीने भी अहल्या वहाँ रह गयी, तो मंगला अपना घर भर लेगी। ज्यादा नहीं, तो आधी सम्पदा तो अपने घर पहुँचा ही देगी।

अहल्या जब यात्रा की तैयारियाँ करने लगी, तो मंगला ने कहा—भाभी, तुम चली जाओगी, तो यहाँ बिलकुल अच्छा न लगेगा। वहाँ कब तक रहोगी?

अहल्या—अभी क्या कहूँ बहन, यह तो वहाँ जाने पर मालूम होगा।

मंगला—इतने दिनों के बाद जा रही हो, दो तीन महीने तो रहना ही पड़ेगा। तुम चली जा रही हो, तो मैं भी चली जाऊँगी। अब तो रानी साहबा से भी भेंट नहीं होती, अकेले कैसे रहा जायगा? तुम्हीं दोनों जनों से मिलने तो आयी थी। रानी साहबा ने तो भुला ही दिया, तुम छोड़े चली जाती हो।

यह कहकर मंगला रोने लगी।

दूसरे दिन अहल्या वहाँ से चली। अपने साथ कोई साज-सामान न लिया। साथ की लौंडियाँ चलने को तैयार थीं; पर उसने किसी को साथ न लिया। केवल एक बुड्ढे कहार को पहुँचाने के लिए ले लिया। और उसे भी आगरे पहुँचने के दूसरे दो

दिन बिदा कर दिया।

आज २० साल के बाद अहल्या ने इस घर में फिर प्रवेश किया था, पर आह! इस घर की दशा ही कुछ और थी। सारा घर गिर पड़ा था। न आँगन का पता था, न बैठक का। चारों ओर मलबे का ढेर जमा हो रहा था। उस पर मदार और धतूर के पौधे उगे हुए थे। एक छोटी सी कोठरी बच रही थी। वागीश्वरी उसी में रहती थी। उसकी सूरत भी उस घर के समान ही बदल गयी थी। न मुँह में दाँत, न आँखों में ज्योति, सिर के बाल सन हो गये थे, कमर झुककर कमान हो गयी थी। दोनों गले मिलकर खूब रोयीं। जब आँसुओं का वेग कम हुआ, तो वागीश्वरी ने कहा—बेटी, तुम अपने साथ कुछ सामान नहीं लायीं—क्या दूसरी ही गाड़ी से लौट जाने का विचार है? इतने दिनों के बाद आयी भी, तो इस तरह! बुढ़िया को बिलकुल भूल ही गयी। खँड़हर में तुम्हारा जी क्यों लगेगा?

अहल्या—अम्माँ, महल में रहते रहते जी ऊब गया, अब कुछ दिन इस खँड़हर में ही रहूँगी और तुम्हारी सेवा करूँगी। जब से तुम्हारे घर से गयी, तब से एक दिन भी सुख नहीं पाया। तुम समझती होगी कि मैं वहाँ बड़े आनन्द से रहती हूँगी, लेकिन अम्माँ, मैंने वहाँ दुःख-ही-दु ख पाया, आनन्द के दिन तो इसी घर में बीते थे।

वागीश्वरी—लड़के का अभी कुछ पता न चला?

अहल्या—किसी का पता नहीं चला, अम्माँ! मैं राज्य सुख पर लट्टू हो गयी थी। उसी का दण्ड भोग रही हूँ। राज्य सुख भोगकर तो जो कुछ मिलता है, वह देख चुकी, अब उसे छोड़कर देखूँगी कि क्या जाता है, मगर तुम्हें तो बड़ा कष्ट हो रहा है, अम्माँ?

वागीश्वरी—कैसा कष्ट बेटी? जब तक स्वामी जीते रहे, उनकी सेवा करने में सुख मानती थी। तीर्थ, व्रत, पुण्य, धर्म सब कुछ उनकी सेवा ही में था। अब वह नहीं है, तो उनकी मर्यादा की सेवा कर रही हूँ। आज भी उनके कितने ही भक्त मेरी मदद करने को तैयार हैं, लेकिन क्यों किसी की मदद लूँ? तुम्हारे दादाजी सदैव दूसरों की सेवा करते रहे। इसी में अपनी उम्र काट दी। तो फिर मैं किस मुँह से सहायता के लिए हाथ फैलाऊँ?

यह कहते कहते वृद्धा का मुखमण्डल गर्व से चमक उठा। उसकी आँखों में एक विचित्र स्फूर्ति झलकने लगी! अहल्या का सिर लज्जा से झुक गया। माता, तुझे धन्य है! तू वास्तव में सती है, तू अपने ऊपर जितना गर्व करे, वह थोड़ा है।

वागीश्वरी ने फिर कहा—ख्वाजा महमूद ने बहुत चाहा कि मैं कुछ महीना ले लिया करूँ। मेरे मैकेवाले कई बार मुझे बुलाने आये। यह भी कहा कि महीने में कुछ ले लिया करो। भैया बड़े भारी वकील हैं, लेकिन मैंने किसी का एहसान नहीं लिया। पति की कमाई को छोड़कर और किसी की कमाई पर स्त्री का अधिकार नहीं होता। चाहे कोई मुँह से न कहे; पर मन में जरूर समझेगा कि मैं इन पर एहसान कर रहा हूँ। जब तक आँखें थीं, सिलाई करती रही। जब से आँखें गयीं, दलाई करती

हूँ। कभी-कभी उनपर भी झुँझलाता है। जो कुछ कमाया, उड़ा दिया। तुम तो देखती ही थीं। ऐसा कौन सा दिन जाता था कि द्वार पर चार मेहमान न आ जाते हों? लेकिन फिर दिल को समझाती हूँ कि उन्होंने किसी बुरे काम में तो धन नहीं उड़ाया। जो कुछ किया, दूसरों के उपकार ही के लिए किया। यहाँ तक कि अपने प्राण भी दे दिये। फिर मैं क्यों पछताऊँ और क्यों रोऊँ? यश सेंत में थोड़े ही मिलता है, मगर मैं तो अपनी बातों में लग गयी। चलो, हाथ-मुँह धो डालो, कुछ खा-पी लो, तो फिर बातें करूँ।

लेकिन अहल्या हाथ-मुँह धोने न उठी। वागीश्वरी की आदर्श पति भक्ति देखकर उसकी आत्मा उसका तिरस्कार कर रही थी। अभागिनी! इसे पति-भक्ति कहते हैं! सारे कष्ट झेलकर स्वामी की मर्यादा का पालन कर रही है। नैहरवाले बुलाते हैं और नहीं जाती, हालाँकि इस दशा में मैके चली जाती, तो कोई बुरा न कहता। सारे कष्ट झेलती है और खुशी से झेलती है। एक तू है कि मैके की सम्पत्ति देखकर फूल उठी, अन्धी हो गयी। राजकुमारी और पीछे चलकर राजमाता बनने की धुन में तुझे पति की परवा ही न रही, तूने सम्पत्ति के सामने पति को कुछ न समझा, उसकी अवहेलना की। वह तुझे अपने साथ ले जाना चाहते थे, तू न गयी, राज्य सुख तुझसे न छोड़ा गया! रो, अपने कर्मों को।

वागीश्वरी ने फिर कहा—अभी तक तू बैठी ही है। हाँ, लौंडी पानी नहीं लायी न, कैसे उठेगी। ले, मैं पानी लाये देती हूँ, हाथ-मुँह धो डाल। तब तक मैं तेरे लिए गरम रोटियाँ सेकती हूँ। देखूँ, तुझे अब भी भाती हैं कि नहीं। तू मेरी रोटियों का बहुत बखान करके खाती थी।

अहल्या ये स्नेह में सने शब्द सुनकर पुलकित हो उठी। इस 'तू' में जो सुख था; वह 'आप' और 'सरकार' में कहाँ। बचपन के दिन आँखों में फिर गये। एक क्षण के लिए उसे अपने सारे दुःख विस्मृत हो गये। बोली—अभी तो भूख-प्यास नहीं है अम्माँजी, बैठिए कुछ बातें कीजिए। मैं आपसे अपने दुःख की कथा कहने के लिए व्याकुल हो रही हूँ। बताइए, मेरा उद्धार कैसे होगा?

वागीश्वरी ने गम्भीर भाव से कहा—पति-प्रेम से वंचित होकर स्त्री के उद्धार का कौन उपाय है, बेटी? पति ही स्त्री का सर्वस्व है। जिसने अपना सर्वस्व खो दिया, उसे सुख कैसे मिलेगा? जिसको लेकर तूने पति का त्याग किया, उसको त्यागकर ही पति को पायेगी। तू इतनी कर्त्तव्य-भ्रष्ट कैसे हो गयी, यह मेरी समझ में ही नहीं आया। यहाँ तो तू धन पर इतना जान न देती थी। ईश्वर ने तेरी परीक्षा ली और तू उसमें चूक गयी। जब तक धन और राज्य का मोह न छोड़ेगी, तुझे उस त्यागी पुरुष के दर्शन न होंगे।

अहल्या—अम्माँजी, सत्य कहती हूँ, मैं केवल शंखधर के हित का विचार करके उनके साथ न गयी।

वागीश्वरी—उस विचार में क्या तेरी भोग लालसा न छिपी थी? खूब ध्यान करके सोच, तू इससे इन्कार नहीं कर सकती।

अहल्या ने लज्जित होकर कहा—हो सकता है, अम्माँजी, मैं इन्कार नहीं कर सकती।

वागीश्वरी—सम्पत्ति यहाँ भी तेरा पीछा करेगी, देख लेना।

अहल्या—अब तो उससे जी भर गया, अम्माँजी!

वागीश्वरी—जभी तो वह फिर तेरा पीछा करेगी। जो उससे भागता है, उसके पीछे दौड़ती है। मुझे शङ्का होती है कि कहीं तू फिर लोभ में न पड़ जाय। एक बार चूकी, तो १४ वर्ष रोना पड़ा, अबकी चूकी तो बाकी उम्र रोते ही गुजर जायगी।

४६

शखधर को अपने पिता के साथ रहते एक महीना हो गया। न वह जाने का नाम लेता है, न चक्रधर ही जाने को कहते हैं। शखधर इतना प्रसन्नचित्त रहता है, मानो अब उसके लिए ससार में कोई दुःख, कोई बाधा नहीं है। इतने ही दिनों में उसका रग रूप कुछ और हो गया है। मुख पर यौवन का तेज झलकने लगा और जीर्ण शरीर भर आया है। मालूम होता है, कोई अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रतधारी ऋषिकुमार है।

चक्रधर को अब अपने हाथों कोई काम नहीं करना पड़ता। वह जब एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हैं, तो उनका सामान शखधर उठा लेता है, उन्हें अपना भोजन तैयार मिलता है, बर्तन मँजे हुए, साफ सुथरे। शङ्खधर कभी उन्हें अपनी धोती भी नहीं छाँटने देता। दोनों प्राणियों के जीवन का वह समय सबसे आनन्दमय होता है, जब एक प्रश्न करता और दूसरा उसका उत्तर देता है। शङ्खधर को बाबाजी की बातों से अगर तृप्ति नहीं होती, तो अल्प-भाषी बाबाजी को भी बातें करने से तृप्ति नहीं होती। वह अपने जीवन के सारे अनुभव, दर्शन, विज्ञान, धर्म, इतिहास की सारी बातें घोलकर पिला देना चाहते हैं। उन्हें इसकी परवाह नहीं होती कि शङ्खधर उन बातों को ग्रहण भी कर रहा है या नहीं, शिक्षा देने में वह इतने तल्लीन हो जाते हैं। जड़ी बूटियों का जितना ज्ञान उन्होंने बड़े-बड़े महात्माओं से बरसों मे प्राप्त किया था, वह सब शङ्खधर को सिखा दिया। वह उसे कोई नयी बात बताने का अवसर खोजा करते हैं, उसकी एक-एक बात पर उनकी सूक्ष्म दृष्टि पड़ती रहती है। दूसरों से उसकी सज्जनता और सहन-शीलता का बखान सुनकर उन्हें कितना गर्व होता है! वह मारे आनन्द के गद्‌गद् हो जाते हैं, उनकी आँखें सजल हो जाती हैं। सब जगह यह बात खुल गयी है कि यह युवक उनका पुत्र है। दोनों की सूरत इतनी मिलती है कि चक्रधर के इन्कार करने पर भी किसी को विश्वास नहीं आता। जो बात सब जानते हैं, उसे वह स्वय नहीं जानते और न जानना ही चाहते है।

एक दिन वह एक गाँव में पहुँचे, तो वहाँ दगल हो रहा था। शङ्खधर भी अखाड़े के पास जाकर खड़ा हो गया। एक पट्ठे ने शङ्खधर को ललकारा। वह शखधर का

ड्योढा था; पर शंखधर ने कुश्ती मंजूर कर ली। चक्रधर बहुत कहते रहे—यह लड़का लड़ना क्या जाने, कभी लड़ा हो तो जाने। भला, यह क्या लड़ेगा; लेकिन शंखधर लँगोट कसकर अखाड़े में उतर ही तो पड़ा! उस समय चक्रधर की सूरत देखने योग्य थी। चेहरे पर एक रंग जाता था, एक रंग आता था। अपनी व्यग्रता को छिपाने के लिए अखाड़े से दूर जा बैठे थे, मानो वह इस बात से बिलकुल उदासीन हैं। भला, लड़कों के खेल से बाबाजी का क्या सम्बन्ध? लेकिन किसी-न-किसी बहाने अखाड़े की ओर आ ही जाते थे। जब उस पट्ठे ने पहली ही पकड़ में शंखधर को धर दबाया, तो बाबाजी आवेश में आकर स्वयं झुक गये, शंखधर ने जोर मारकर उस पट्ठे को ऊपर उठाया तो बाबाजी भी सीधे हो गये और जब शंखधर ने कुश्ती मार ली, तब तो चक्रधर उछल पड़े और दौड़कर शंखधर को गले लगा लिया। मारे गर्व के उनकी आँखें उन्मत्त सी हो गयीं। उस दिन अपने नियम के विरुद्ध उन्होंने रात को बड़ी देर तक गाना सुना।

शङ्खधर को कभी कभी प्रबल इच्छा होती थी कि पिताजी के चरणों पर गिर पड़ूँ और साफ-साफ कह दूँ। वह मन में कल्पना किया करता कि अगर ऐसा करूँ, तो वह क्या कहेंगे? कदाचित् उसी दिन मुझे सोता छोड़कर किसी ओर की राह लेंगे। इस भय से बात उसके मुँह तक आ के रुक जाती थी; मगर उसी के मन में यह इच्छा नहीं थी। चक्रधर भी कभी कभी पुत्र-प्रेम से विकल हो जाते और चाहते कि उसे गले लगाकर कहूँ—बेटा, तुम मेरी ही आँखों के तारे हो; तुम मेरे ही जिगर के टुकड़े हो, तुम्हारी याद दिल से कभी न उतरती थी; सब कुछ भूल गया, पर तुम न भूले। वह शंखधर के मुख से उसकी माता की विरह व्यथा, दादी के शोक और दादा के क्रोध की कथाएँ सुनते कभी न थकते थे। रानी जी उससे कितना प्रेम करती थीं, यह चर्चा सुनकर चक्रधर बहुत दुखी हो जाते थे। जिन बाबाजी को रूखे-सूखे भोजन से तुष्टि होती थी, यहाँ, तक कि भक्तों के बहुत आग्रह करने पर भी खोये और मक्खन को हाथ से न छूते थे, वही बाबाजी इन पदार्थों को पाकर प्रसन्न हो जाते थे। वह स्वयं अब भी वही रूखा सूखा भोजन ही करते थे; पर शंखधर को खिलाने में जो आनन्द मिलता था, वह क्या कभी आप खाने में मिल सकता था?

इस तरह एक महीना गुजर गया और अब शङ्खधर को यह फिक्र हुई कि इन्हें किस बहाने से घर ले चलूँ। अहा, कैसे आनन्द का समय होगा, जब मैं इनके साथ घर पहुँचूँगा!

लेकिन बहुत सोचने पर भी उसे कोई बहाना न मिला। तब उसने निश्चय किया कि माताजी को पत्र लिखकर यहीं क्यों न बुला लूँ? माताजी पत्र पाते ही घर से चल दौड़ी आयेंगी। सभी आयेंगे। तब देखूँ, यह किस तरह निकलते हैं। वह पछताया कि मैंने व्यर्थ ही इतनी देर लगायी। अब तक तो अम्माँजी पहुँच गयी होतीं। उसी रात को उसने अपनी माता के नाम पत्र डाल दिया। वहाँ का पता-ठिकाना, रेल का स्टेशन

सभी बातें स्पष्ट करके लिख दीं। अन्त में यह लिखा—आप आने में विलम्ब करेंगी, तो पछतायँगी। यह आशा छोड़ दीजिए कि मैं जगदीशपुर राज्य का स्वामी बनूँगा। पिताजी के चरणों की सेवा छोड़कर मैं राज्य सुख नहीं भोग सकता। यह निश्चय है। इन्हें यहाँ से ले जाना असम्भव है। इन्हें यदि मालूम हो जाय कि मैं इन्हें पहचानता हूँ, तो आज ही अन्तर्द्धान हो जायँ। मैंने इनको अपना परिचय दे दिया है, आप लोगों की बातें भी सुनाया करता हूँ; पर मुझे इनके मुख पर जरा भी आवेश का चिह्न नहीं दिखायी देता, भावों पर इन्होंने इतना अधिकार प्राप्त कर लिया है। आप जल्द से-जल्द आवें।

वह सारी रात इस कल्पना में मग्न रहा कि अम्माँजी आ जायँगी, तो पिताजी को झुककर प्रणाम करूँगा और पूछूँगा—अब भागकर कहाँ जाइएगा? फिर हम दोनों इनका गला न छोड़ेंगे, मगर मन की सोची हुई बात कभी पूरी हुई है?

४७

एक महीना पूरा गुजर गया और न अहल्या ही आयी, न कोई दूसरा ही। शङ्खधर दिन-भर उसकी बाट जोहता रहता। रेल का स्टेशन वहाँ से पाँच मील पर था। रास्ता भी साफ था। फिर भी कोई नहीं आया। चक्रधर जब कहीं चले जाते, तो वह चुपके से स्टेशन की राह लेता और निराश लौट आता। आखिर एक महीने के बाद तीसरे दिन उसे एक पत्र मिला, जिसे पढ़कर उसके शोक की सीमा न रही। अहल्या ने लिखा था—मैं बड़ी अभागिनी हूँ। तुमने इतनी कठिन तपस्या करके जिस देवता के दर्शन कर पाये, उसके दर्शन करने की परम अभिलाषा होने पर भी मैं हिल नहीं सकती। एक महीने से बीमार हूँ, जीने की आशा नहीं। अगर तुम आ जाओ, तो तुम्हें देख लूँ, नहीं तो यह अभिलाषा भी साथ जायगी! मैं कई महीने हुए, आगरे में पड़ी हूँ। जी घबराया करता है। अगर किसी तरह स्वामीजी को ला सको, तो अन्त समय उनके चरणों के दर्शन भी कर लूँ। मैं जानती हूँ, वह न आयेंगे। व्यर्थ ही उनसे आग्रह न करना, मगर तुम आने में एक क्षण का भी विलम्ब न करना।

शङ्खधर डाकखाने के सामने खड़ा देर तक रोता रहा। माताजी बीमार हैं। पुत्र और स्वामी के वियोग से ही उनकी यह दशा हुई है। क्या वह माता को इस दशा में छोड़कर एक क्षण भी यहाँ विलम्ब कर सकता है? उसने पाँच साल तक अपना कोई समाचार न लिखकर माता के साथ जो अन्याय किया था, उसी व्यथा से वह अधीर हो उठा।

उसका मुख उतरा हुआ देखकर चक्रधर ने पूछा—क्यों बेटा, आज उदास क्यों मालूम होते हो?

शङ्खधर—माता जी का पत्र आया है, वह बहुत बीमार हैं। मैं पिताजी को खोजने निकला था। वह तो न मिले, माताजी भी चली जा रही हैं। पिताजी इस समय मिल जाते, तो मैं उनसे अवश्य कहता .

चक्रधर—क्या कहते, कहो न ?

शंखधर—कह देता कि...कि...आप ही माताजी के प्राण ले रहे हैं। आपका विराग और तप किस काम का, जब अपने घर के प्राणी की रक्षा नहीं कर सकते ? आपके पास बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर आया था; पर आपने भी अनाथ पर दया न की। आपको परमात्मा ने योगबल दिया है, आप चाहते, तो पिताजी की टोह लगा देते।

चक्रधर ने गम्भीर स्वर में कहा—बेटा, मैं योगी नहीं हूँ; पर तुम्हारे पिताजी की टोह लगा चुका हूँ। उनसे मिल भी चुका हूँ। तुम नहीं जानते; पर वह गुप्त रीति से तुम्हें देख भी चुके हैं। आह ! उन्हें तुमसे जितना प्रेम है, उसकी कल्पना नहीं कर सकते। तुम्हारी माता को वह नित्य याद किया करते हैं; लेकिन उन्होंने अपने जीवन का जो मार्ग निश्चित कर लिया है, उसे छोड़ नहीं सकते और न स्वयं किसी के साथ जबरदस्ती कर सकते हैं। तुम्हारी माताजी अपनी ही इच्छा से वहाँ रह गयी थीं। वह तो उन्हें अपने साथ लाने को तैयार थे !

शंखधर—आजकल तो माताजी आगरे में हैं। वागीश्वरी देवी से मिलने आयी थीं, वहीं बीमार पड़ गयीं, लेकिन आपने पिताजी से भेंट की और मुझसे कुछ न कहा। इससे तो यह प्रकट होता है कि आपको भी मुझपर दया नहीं आती।

चक्रधर ने कुछ जवाब न दिया। जमीन की ओर ताकते रहे। वह अत्यन्त कठिन परीक्षा में पड़े हुए थे। बहुत दिनों के बाद, अनायास ही उन्हें पुत्र का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त हो गया था। वे सारी भावनाएँ, सारी अभिलाषाएँ, जिन्हें वह दिल से निकाल चुके थे, जाग उठी थीं और इस समय वियोग के भय से आर्त्तनाद कर रही थीं। वह मोह-बन्धन, जिसे उन्होंने बड़ी मुश्किलों से ढीला कर पाया था, अब उन्हें शतगुण वेग से अपनी ओर खींच रहा था। मानो उसका हाथ उनके अस्थि-पंजर को चीरता हुआ उनके अन्तस्तल तक पहुँच गया है।

सहसा शंखधर ने अवरुद्ध कण्ठ से कहा—तो मैं निराश हो जाऊँ ?

चक्रधर ने हृदय से निकलते उच्छ्वास को दबाते हुए कहा—नहीं बेटा, सम्भव है, कभी वह स्वयं पुत्र-प्रेम से विकल होकर तुम्हारे पास दौड़े जायँ। इसका निश्चय तुम्हारे आचरण करेंगे। अगर तुम अपने जीवन मे ऊँचे आदर्श का पालन कर सके, तो तुम उन्हें अवश्य खींच लोगे। यदि तुम्हारे आचरण भ्रष्ट हो गये, तो कदाचित् इस शोक में वह अपने प्राण दें।

शंखधर—आपके दर्शन मुझे फिर कब होंगे ? आपका पता कैसे मिलेगा ? यद्यपि मुझे पिताजी के दर्शनों का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ; लेकिन पिता के पुत्र-प्रेम की मेरे मन में जो कल्पना थी, जिसकी तृष्णा मुझे पाँच साल तक वन-वन घुमाती रही, वह आपकी दया से पूरी हो गयी। मैंने आपको पिता-तुल्य ही समझा है और जीवन-पर्यन्त समझता रहूँगा। यह स्नेह, यह वात्सल्य, यह अपार करुणा मुझे कभी न भूलेगी। इन चरण-कमलों की भक्ति मेरे मन में सदैव बनी रहेगी। आपके दर्शनों के लिए मेरी आत्मा

सदैव विकल रहेगी और माताजी के स्वस्थ होते ही मै फिर आपकी सेवा में आ जाऊँगा।

चक्रधर ने आर्द्र कंठ से कहा—नहीं बेटा, तुम यह कष्ट न करना। मैं स्वयं कभी-कभी तुम्हारे पास आया करूँगा। मैंने भी तुमको पुत्र-तुल्य समझा है और सदैव समझता रहूँगा। मेरा आशीर्वाद सदैव तुम्हारे साथ रहेगा।

सन्ध्या समय शंखधर अपने पिता से विदा होकर चला। चक्रधर को ऐसा मालूम हो रहा था, मानो उनका हृदय वक्षस्थल को तोड़कर शंखधर के साथ चला जा रहा है। जब वह आँखों से ओझल हो गया, तो उन्होंने एक लम्बी साँस ली और बालकों की भाँति बिलख बिलखकर रोने लगे। ऐसा मालूम हुआ मानो चारों ओर शून्य है। चला गया! वह तेजस्वी कुमार चला गया, जिसको देखकर छाती गज भर की हो जाती थी; और जिसके जाने से अब जीवन निरर्थक, व्यर्थ जान पड़ता था।

उन्हें ऐसी भावना हुई कि फिर उस प्रतिभा-सम्पन्न युवक के दर्शन न होंगे!

४८

अहल्या के आने की खबर पाकर मुहल्ले की सैकड़ों औरतें टूट पड़ी। शहर के कई बड़े घरों की स्त्रियाँ भी आ पहुँची। शाम तक ताँता लगा रहा। कुछ लोग डेपुटेशन बनाकर संस्थाओं के लिए चन्दे माँगने आ पहुँचे। अहल्या को इन लोगों से जान बचानी मुश्किल हो गयी। किस-किससे अपनी विपत्ति कहे? अपनी गरज के बावले अपनी कहने में मस्त रहते हैं, वह किसी की सुनते ही कब हैं? इस वक्त अहल्या को फटे-हालों यहाँ आने पर बड़ी लज्जा आयी। वह जानती कि यहाँ यह हरबोंग मच जायगा, तो साथ दस-बीस हजार के नोट लेती आती। उसे अब इस टूटे फूटे मकान में ठहरते भी लज्जा आती थी। जब से देश ने जाना कि वह राजकुमारी है, तब से वह कहीं बाहर न गयी थी। कभी काशी रहना हुआ, कभी जगदीशपुर। दूसरे शहर मे आने का उसे यह पहला ही अवसर था। अब उसे मालूम हुआ कि धन केवल भोग की वस्तु नहीं है, उससे यश और कीर्ति भी मिलती है। भोग से तो उसे घृणा हो गयी थी, लेकिन यश का स्वाद उसे पहली ही बार मिला। शाम तक उसने १५-२० हजार के चन्दे लिख दिये और मुंशी वज्रधर को रुपये भेजने के लिए पत्र भी लिख दिया। खत पहुँचने की देर थी। रुपये आ गये। फिर तो उसके द्वार पर भिक्षुकों का जमघट रहने लगा। लँगड़ों-अन्धों से लेकर जोड़ी और मोटर पर बैठने वाले भिक्षुक भिक्षा-दान माँगने आने लगे। कहीं से किसी अनाथालय के निरीक्षण करने का निमन्त्रण आता, कहीं से टी-पार्टी में सम्मिलित होने का। कुमारी-सभा, बालिका-विद्यालय, महिला क्लब आदि संस्थाओं ने उसे मान-पत्र दिये, और उसने ऐसे सुन्दर उत्तर दिये कि उसकी योग्यता और विचारशीलता का सिक्का बैठ गया। 'आये थे हरिभजन को ओटन लगे कपास' वाली कहावत हुई। तपस्या करने आयी थी, यहाँ सभ्य समाज की क्रीड़ाओं में मग्न हो गयी। अपने अभीष्ट का ध्यान ही न रहा।

ख्वाजा महमूद को भी खबर मिली। बेचारे आँखों से माजूर थे। मुश्किल से चल-

फिर सकते थे। उन्हें आशा थी कि रानी जी मुझे जरूर सरफराज फरमायेंगी; लेकिन जब एक हफ्ता गुजर गया और अहल्या ने उन्हें सरफराज न किया, तो एक दिन तामजान पर बैठकर स्वयं आये और लाठी टेकते हुए द्वार पर खड़े हो गये। उनकी खबर पाते ही अहल्या निकल आयी और बड़ी नम्रता से बोली—ख्वाजा साहब, मिजाज तो अच्छे हैं? मैं खुद ही हाजिर होनेवाली थी, आपने नाहक तकलीफ की।

ख्वाजा—खुदा का शुक्र है। जिन्दा हूँ। हुजूर तो खैरियत से रहीं?

अहल्या—आपकी दुआ है; मगर आप मुझसे यों बातें कर रहे हैं, गोया मैं कुछ और हो गयी हूँ। मैं आपकी पाली हुई वही लड़की हूँ, जो आज से १५ साल पहले थी, और आपको उसी निगाह से देखती हूँ।

ख्वाजा साहब अहल्या की नम्रता और शील पर मुग्ध हो गये। वल्लाह! क्या इन्कसार है, कितनी खाकसारी है! इसी को शराफत कहते हैं कि इन्सान अपने को भूल न जाय। बोले—बेटी, तुम्हें खुदा ने यह दरजा अता किया; मगर तुम्हारा मिजाज वही है, वरना किसे अपने दिन याद रहते हैं! प्रभुता पाते ही लोगों की निगाहें बदल जाती हैं, किसी को पहचानते तक नहीं, जमीन पर पाँव तक नहीं रखते। कसम खुदा की, मैंने जिस वक्त तुम्हें नाली में रोते पाया था, उसी वक्त समझ गया था कि यह किसी बड़े घर का चिराग है। मैं यशोदानन्दन मरहूम से भी बराबर यह बात कहता रहा। इतनी हिम्मत, इतनी दिलेरी, अपनी अस्मत के लिए जान पर खेल जाने का यह जोश, राजकुमारियों ही में हो सकता है। खुदा आपको हमेशा खुश रखे। आपको देखकर आँखें मसरूर हो गयीं। आपकी अम्माजान तो अच्छी तरह हैं? क्या करूँ, पड़ोस में रहता हूँ; मगर बरसों आने की नौबत नहीं आती। उनकी-सी पाकीजा-सिफत खातून दुनिया में कम होंगी।

अहल्या—आप उन्हें समझाते नहीं, क्यों इतना कष्ट झेलती हैं?

ख्वाजा—अरे बेटा, एक बार नहीं, हजार बार समझा चुका; मगर जब वह खुदा की बन्दी माने भी। कितना कहा कि मेरे पास जो कुछ है, वह तुम्हारा है! यशोदानन्दन मरहूम से मेरा बिरादराना रिश्ता था। सच पूछो, तो मैं उन्हीं का बनाया हुआ हूँ। मेरी जायदाद में तुम्हारा भी हिस्सा है, लेकिन मेरी बातों का मुतलक लिहाज न किया। यह तवक्कुल खुदा की देन है। आपको इस मकान में तकलीफ होती होगी। मेरा बँगला खाली है; अगर कोई हरज न समझो, तो उसी में कयाम करो।

वास्तव में अहल्या को उस घर में बड़ी तकलीफ होती थी। रात में नींद ही न आती। आदमी अपनी आदतों को एकाएक नहीं बदल सकता। १५ साल से वह उस महल में रहने की आदी हो रही थी, जिसका सानी बनारस में न था। इन तंग, गन्दे एवं टूटे-फूटे अँधेरे मकान में, जहाँ रात-भर मच्छरों की शहनाई बजती रहती थी, उसे कब आराम मिल सकता था? उसे चारों तरफ से बदबू आती हुई मालूम होती थी। साँस लेना मुश्किल था; पर ख्वाजा साहब के निमन्त्रण को वह स्वीकार न कर सकी,

वागीश्वरी से अलग वह यहाँ न रह सकती थी। बोली—नहीं ख्वाजा साहब, यहाँ मुझे कोई तकलीफ नहीं है। आदमी को अपने दिन न भूलने चाहिए। इसी में १६ साल रही हूँ। जिन्दगी में जो कुछ सुख देखा, वह इसी घर में देखा। पुराने साथी का साथ कैसे छोड़ दूँ!

ख्वाजा—बाबू चक्रधर का अब तक कुछ पता न चला?

अहल्या—इसी लिहाज से तो मैं बड़ी बदनसीब हूँ, ख्वाजा साहब! उनको गये १५ साल गुजर गये। पाँच साल से लड़का भी गायब है। उन्हीं की तलाश में निकला हुआ है। लोग समझते होंगे कि इसकी-सी सुखी औरत दुनिया में न होगी! और मैं अपनी किस्मत को रोती हूँ। इरादा था कि चलकर कुछ दिनों अम्माजी के साथ अकेली पड़ी रहूँगी; पर अमीरी की बला यहाँ भी सिर से न टली। कहिए, अब यहाँ तो आपस में दगा-फिसाद नहीं होता?

ख्वाजा—जी नहीं, अभी तक तो खुदा का फजल है; लेकिन यह देखता हूँ कि आपस में वह पहले की-सी मुहब्बत नहीं है। दोनों कौमों में कुछ ऐसे लोग हैं, जिनकी इज्जत और सरवत दोनों को लड़ाते रहने पर ही कायम है। बस, वह एक न एक शिगूफा छोड़ा करते हैं। मेरा तो यह कौल है कि हिन्दू रहो, चाहे मुसलमान रहो, खुदा के सच्चे बन्दे रहो। सारी खूबियाँ किसी एक ही कौम के हिस्से में नहीं आयीं। न सब मुसलमान पाकीजा हैं, न सब हिन्दू देवता हैं, इसी तरह न सभी हिन्दू काफिर हैं, न सभी मुसलमान मोमिन। जो आदमी दूसरी कौम से जितनी नफरत करता है, समझ लीजिये कि वह खुदा से उतनी ही दूर है। मुझे आपसे कमाल हमदर्दी है, मगर चलने फिरने से मजबूर हूँ, वर्ना बाबू साहब जहाँ होते, वहाँ से खींच लाता।

ख्वाजा साहब जाने लगे, तो अहल्या ने इसलामी यतीमखाने के लिए पाँच हजार रुपये दान दिये। इस दान से मुसलमानों के दिलों पर भी उसका सिक्का बैठ गया। चक्रधर की याद फिर ताजी हो गयी। मुसलमान महिलाओं ने भी उसकी दावत की।

अहल्या को अब रोज ही किसी-न-किसी जलसेमें जाना पड़ता, और वह बड़े शौक से जाती। दो ही सप्ताह में उसकी कायापलट-सी हो गयी। यश लालसा ने धन की उपेक्षा का भाव उसके दिल से निकाल दिया। वास्तव में वह समारोह में अपनी मुसीबतें भूल गयी। अच्छे-अच्छे व्याख्यान तैयार करने में वह इतनी तत्पर रहने लगी, मानो उसे नशा हो गया है। वास्तव में यह नशा ही था। यश लालसा से बढ़कर दूसरा नशा नहीं।

वागीश्वरी पुराने विचारों की स्त्री थीं। उसे अहल्या का यों घूम-घूमकर व्याख्यान देना और रुपए लुटाना अच्छा न लगता था। एक दिन उसने कह ही डाला—क्यों री अहल्या, तू अपनी सम्पत्ति लुटाकर ही रहेगी?

अहल्या ने गर्व से कहा—और धन है ही किसलिए, अम्माँजी? धन में यही बुराई है कि इससे विलासिता बढ़ती है; लेकिन इसमें परोपकार करने की सामर्थ्य भी है।

वागीश्वरी ने परोपकार के नाम से चिढ़कर कहा—तू जो कर रही है, यह परोपकार नहीं, यश-लालसा है। अपने पुरुष और पुत्र का उपकार तो तू कर न सकी, संसार का उपकार करने चली है!

अहल्या—तुम तो अम्माँजी, आपे से बाहर हो जाती हो।

वागीश्वरी—अगर तू धन के पीछे अन्धी न हो जाती, तो तुझे यह दण्ड न भोगना पड़ता। तेरा चित्त कुछ कुछ ठिकाने पर आ रहा था, तब तक तुझे यह नयी सनक सवार हो गयी। परोपकार तो तब समझती, जब तू वहीं बैठे-बैठे गुप्त-रूप से चन्दे भेजवा देती। मुझे शंका हो रही है कि इस वाह वाह से तेरा सिर न फिर जाय। धन का भूत तेरे पीछे बुरी तरह पड़ा हुआ है और अभी तेरा कुछ और अनिष्ट करेगा।

अहल्या ने नाक सिकोड़कर कहा—जो कुछ करना था, कर चुका; अब क्या करेगा? जिन्दगी ही कितनी रह गयी है, जिसके लिए रोऊँ?

दूसरे दिन प्रातःकाल डाकिया शङ्खधर का पत्र लेकर पहुँचा, जो जगदीशपुर और काशी से घूमता हुआ आया था। अहल्या पत्र पढ़ते ही उछल पड़ी और दौड़ी हुई वागीश्वरी के पास जाकर बोली—अम्माँ, देखो, लल्लू का पत्र आ गया। दोनों जने एक ही जगह हैं। मुझे बुलाया है।

वागीश्वरी—ईश्वर को धन्यवाद दो बेटी। कहाँ हैं?

अहल्या—दक्खिन की ओर हैं, अम्माँजी! पता ठिकाना सब लिखा हुआ है।

वागीश्वरी—तो बस, अब तू चली ही जा। चल, मैं भी तेरे साथ चलूँगी।

अहल्या—आज पूरे पाँच साल के बाद खबर मिली है, अम्माँजी! मुझे आगरे आना फल गया। यह तुम्हारे आशीर्वाद का फल है, अम्माँजी।

वागीश्वरी—मैं तो उस लड़के के जीवन को बखानती हूँ कि बाप का पता लगाकर ही छोड़ा।

अहल्या—इस आनन्द में आज उत्सव मनाना चाहिए, अम्माँजी।

वागीश्वरी—उत्सव पीछे मनाना, पहले वहाँ चलने की तैयारी करो। कहीं और चले गये, तो हाथ मलकर रह जाओगी।

लेकिन सारा दिन गुजर गया और अहल्या ने यात्रा की कोई तैयारी न की। वह अब यात्रा के लिए उत्सुक न मालूम होती थी। आनन्द का पहला आवेश समाप्त होते ही वह इस दुविधे में पड़ गयी थी कि वहाँ जाऊँ या न जाऊँ? वहाँ जाना केवल दस-पाँच दिन या महीने के लिए जाना न था; वरन् राजपाट से हाथ धो लेना और शङ्खधर के भविष्य को बलिदान करना था। वह जानती थी कि पितृभक्त शंखधर पिता को छोड़कर किसी भाँति न आयेगा और मैं भी प्रेम के बन्धन में फँस जाऊँगी। उसने यही निश्चय किया कि शंखधर को किसी हीले से बुला लेना चाहिए। उसका मन कहता था कि शङ्खधर आ गया, तो स्वामी के दर्शन भी उसे अवश्य होंगे। शङ्खधर ने पत्र में लिखा था कि पिताजी को मुझसे अपार स्नेह है। क्या यह पुत्रप्रेम उन्हें खींच न

लायेगा ? वह चाहे सन्यासी ही के रूप में आयें, पर आयेंगे जरूर, और जब अब की वह उनके चरणों को पकड़ लेगी, तो फिर वह नहीं छुड़ा सकेंगे। शङ्खधर के राज-सिंहासन पर बैठ जाने के बाद यदि स्वामीजी की इच्छा हुई, तो वह उनके साथ चली जायगी और शेष जीवन उनके चरणों की सेवा में कटेगी। इस वक्त वहाँ जाकर वह अपनी प्रेमकाङ्क्षाओं की वेदी पर अपने पुत्र के जीवन को बलिदान न करेगी। जैसे इतने दिनों पति-वियोग में जली है, उसी तरह कुछ दिन और जलेगी। उसने मन में यह निश्चय करके शङ्खधर के पत्र का उत्तर दे दिया। लिखा—मैं बहुत बीमार हूँ, बचने की कोई आशा नहीं, बस, एक बार तुम्हें देखने की अभिलाषा है। तुम आ जाओ, तो शायद जी उठूँ, लेकिन न आये तो समझ लो, अम्माँ मर गयीं। अहल्या का विश्वास था कि यह पत्र पढ़कर शङ्खधर दौड़ा चला आयेगा और स्वामी भी यदि उसके साथ न आयेंगे तो उसे आने से रोकेंगे भी नहीं।

अभागिनी अहल्या! तू फिर धन-लिप्सा के जाल फँस गयी। क्या इच्छाएँ भी राक्षसों की भाँति अपने ही रक्त से उत्पन्न होती हैं? वे कितनी अजेय हैं! जब ऐसा ज्ञात होने लगा कि वे निर्जीव हो गयी हैं, तो सहसा वे फिर जी उठीं और संख्या में पहले से शतगुण होकर। १५ वर्ष की दारुण वेदना एक क्षण में विस्मृत हो गयी। धन्य रे तेरी माया!

सन्ध्या-समय वागीश्वरी ने पूछा—क्या जाने का इरादा नहीं है?

अहल्या ने शर्माते हुए कहा—अभी तो अम्माँजी मैंने लल्लू को बुलाया है। अगर वह न आवेगा, तो चली जाऊँगी।

वागीश्वरी—लल्लू के साथ क्या चक्रधर भी आ जायँगे? तू ऐसा अवसर पाकर भी छोड़ देती है। न-जाने तुझपर क्या आनेवाली है!

अहल्या अपने सारे दुःख भूलकर शङ्खधर के राज्याभिषेक की कल्पना में विभोर हो गयी।

४९

गाड़ी अन्धकार को चीरती हुई चली जाती थी। सहसा शङ्खधर 'हर्षपुर' का नाम सुनकर चौंक पड़ा। वह भूल गया, मैं कहाँ जा रहा हूँ, किस काम से जा रहा हूँ, और मेरे रुक जाने से कितना बड़ा अनर्थ हो जायगा? किसी अज्ञात शक्ति ने उसे गाड़ी खोलकर उतर आने पर मजबूर कर दिया। उसने स्टेशन को गौर से देखा। उसे जान पड़ा, मानो उसने इसे पहले भी देखा है। वह एक क्षण तक आत्म-विस्मृति की दशा में खड़ा रहा। फिर टहलता हुआ स्टेशन के बाहर चला गया।

टिकट-बाबू ने पूछा—आपका टिकट तो आगरे का है?

शङ्खधर ने लापरवाही से कहा—कोई हरज नहीं।

वह स्टेशन से बाहर निकला, तो उस समय अन्धकार में भी वह स्थान परिचित मालूम हुआ। ऐसा जान पड़ा, मानो बहुत दिनों तक यहाँ रहा है। वह सड़कों पर हो

लिया और आबादी की ओर चला। ज्यों-ज्यों बस्ती निकट आती थी, उसके पाँव तेज होते थे। उसे एक विचित्र उत्साह हो रहा था। जिसका आशय वह स्वयं कुछ न समझ सकता था। एकाएक उसके सामने एक विशाल भवन दिखायी दिया। भवन के सामने एक छोटा-सा बाग था। वह बिजली की रोशनी से जगमगा रहा था। उस दिव्य प्रकाश में भवन की शुभ्र छटा देखकर शंखधर उछल पड़ा। उसे ज्ञात हुआ, यही उसका पुराना घर है, यहीं उसका बालापन बीता है। भवन के भीतर एक एक कमरा उसकी आँखों में फिर गया। ऐसी इच्छा हुई कि उड़कर अन्दर चला जाऊँ। बाग के द्वार पर एक चौकीदार संगीन चढ़ाये खड़ा था। शङ्खधर को अन्दर कदम रखते देखकर बोला—तुम कौन हो?

शङ्खधर ने डाँटकर कहा—चुप रहो, हम रानीजी के पास जा रहे हैं।

यह रानी कौन थी, वह क्यों उसके पास जा रहा था, और उसका रानी से कब परिचय हुआ था, यह सब शङ्खधर को कुछ याद न आता था। दरबान को उसने जो जवाब दिया था, वह भी अनायास ही उसके मुँह से निकल गया था। जैसे नशे में आदमी का अपनी चेतना पर कोई अधिकार नहीं रहता, उसकी वाणी, उसके अंग, उसकी कर्मेन्द्रियाँ उसके काबू के बाहर हो जाती हैं, वही दशा शङ्खधर की भी हो रही थी। चौकीदार उसका उत्तर सुनकर रास्ते से हट गया और शङ्खधर ने बाग में प्रवेश किया। बाग का एक एक पौदा, एक-एक क्यारी, एक-एक कुञ्ज, एक एक मूर्ति, हौज, संगमरमर का चबूतरा उसे जाना-पहचाना सा मालूम हो रहा था। वह निःशंक भाव से राजभवन में जा पहुँचा।

एक सेविका ने पूछा—तुम कौन हो?

शङ्खधर ने कहा—साधु हूँ। जाकर महारानी को सूचना दे दे।

सेविका—महारानीजी तो इस समय पूजा पर हैं। उनके पास जाने का हुक्म नहीं है।

शङ्खधर—क्या बहुत देर तक पूजा करती हैं?

सेविका—हाँ, कोई तीन बजे रात को पूजा से उठेंगी। उसी वक्त नाममात्र को पारण करेंगी और घण्टे-भर आराम करके स्नान करने चली जायँगी। फिर तीन बजे रात-तक एक क्षण के लिए भी आराम न करेंगी। यही उनका जीवन है।

शङ्खधर—बड़ी तपस्या कर रही हैं!

सेविका—अब और कैसी तपस्या होगी, महाराज? न कोई शौक है, न शृंगार है, न किसी से हँसना, न बोलना। आदमियों की सूरत से कोसों भागती हैं। रात-दिन जप-तप के सिवा और कोई काम ही नहीं। जब से महाराज का स्वर्गवास हुआ है, तभी से तपस्विनी बन गयी हैं। आप कहाँ से आये हैं और उनसे क्या काम है?

शङ्खधर—साधु-सन्तों को किसी से क्या काम? महारानी की साधु-सेवा की चर्चा सुनकर चला आया।

सेविका—आपकी आवाज तो मालूम होता है, कहीं सुनी है; लेकिन आपको देखा नहीं।

यह कहते-कहते वह सहसा काँप उठी। शङ्खधर की तेजमयी मूर्ति में उसे उस आकृति का प्रतिबिम्ब अमानुषीय प्रकाश से दीप्त दिखायी दिया, जिसे उसने २० वर्ष पूर्व देखा था! वह सादृश्य प्रतिक्षण प्रत्यक्ष होता जाता था, यहाँ तक कि वह भयभीत होकर वहाँ से भागी और रानी कमला के कमरे में जाकर सहमी हुई खड़ी हो गयी।

रानी कमलावती ने आग्नेय नेत्रों से देखकर पूछा—तू यहाँ क्या करने आयी? इस समय तेरा यहाँ क्या काम है?

सेविका—महारानीजी, क्षमा कीजिए। प्राण-दान मिले तो कहूँ! आँगन में एक तेजस्वी पुरुष खड़ा आपको पूछ रहा है। मैं क्या कहूँ महारानीजी, उसका कण्ठ-स्वर और आकृति हमारे महाराजा से इतनी मिलती है कि मालूम होता है, वही खड़े हैं। न जाने कैसी दैवी लीला है! अगर मैंने कभी किसी का अहित चेता हो तो मैं सौ जन्म नरक भोगूँ।

रानी कमला पूजा पर से उठ खड़ी हुई और गम्भीर भाव से बोली—डर मत, डर मत, उन्होंने तुझसे क्या कहा?

सेविका—सरकार मेरा तो कलेजा काँप रहा है। उन्होंने सरकार का नाम लेकर कहा कि उन्हें द्वारे आने की सूचना दे दे।

रानी—उनकी क्या अवस्था है?

सेविका—सरकार, अभी तो मसें भीँग रही हैं।

रानी कमला देर तक विचार में मग्न खड़ी रही। क्या ऐसा हो सकता है? क्या इस जीवन में अपने प्राणाधार के दर्शन फिर हो सकते हैं? बीस ही वर्ष तो उन्हें शरीर त्याग किये भी हुए। क्या ऐसा कभी हो सकता है?

उसकी पूर्व स्मृतियाँ जाग्रत हो गयीं। एक पर्वत की गुफा में महेन्द्र के साथ रहना याद आया। उस समय भी वह ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे थे। उनके कितने ही अलौकिक कृत्य याद आ गये, जिनका मर्म वह अब तक न समझ सकी थी। फिर वायुयान पर उनके साथ बैठकर उड़ने की याद आयी। आह! वह गीत याद आया, जो उस समय उसने गाया था। उस समय प्राणनाथ कितने प्रेमविह्वल हो रहे थे। उनकी प्रेम प्रदीप्त छवि उसके सामने आ गयी। हाय! उन नेत्रों में कितनी तृष्णा थी, कितनी अतृप्त लालसा! उस अपार सुखमय अशांति, उस मधुर व्यथा-पूर्ण उल्लास को याद करके वह पुलकित हो उठी। आह! वह भीषण अन्त! उसे ऐसा जान पड़ा, वह खड़ी न रह सकेगी।

सेविका ने कातर स्वर में पूछा—सरकार, क्या आज्ञा है?

रानी ने चौंककर कहा—चल, देखूँ तो कौन है?

वह हृदय को सँभालती हुई आँगन में आयी। वहाँ बिजली के उज्ज्वल प्रकाश में

उसे शंखधर की दिव्य मूर्ति ब्रह्मचर्य के तेज से चमकती हुई खड़ी दिखायी दी, मानो उसका सौभाग्य-सूर्य उदित हो गया हो। क्या अब भी कोई सन्देह हो सकता था? लेकिन संस्कारों को मिटाना भी तो आसान नहीं। संसार में कितना कपट है, क्या इसका उसे काफी अनुभव न था? यद्यपि उसका हृदय उन चरणों से दौड़कर लिपट जाने के लिए अधीर हो रहा था, फिर भी मन को रोककर उसने दूर ही से पूछा—महाराज, आप कौन हैं, और मुझे क्यों याद किया है?

शंखधर ने रानी के समीप जाकर कहा—क्या मुझे इतनी जल्द भूल गयीं, कमला? क्या इस रूपान्तर ही से तुम्हें यह भ्रम हो रहा है? मैं वही हूँ, जिसने न-जाने कितने दिन हुए, तुम्हारे हृदय में प्रेम के रूप में जन्म लिया था, और तुम्हारे प्रियतम के रूप में तुम्हारे सत्, व्रत और सेवा से अमर होकर आज तक उसी अपार आनन्द की खोज में भटकता फिरता हूँ। क्या कुछ और परिचय दूँ? वह पर्वत की गुफा तुम्हें याद है? वह वायुयान पर बैठकर आकाश में भ्रमण करना याद है? आह! तुम्हारे उस स्वर्गीय संगीत की ध्वनि अभी तक कानों में गूँज रही है। प्रिये, कह नहीं सकता, कितनी बार तुम्हारे हृदय-मन्दिर के द्वार पर भिक्षुक बनकर आया; लेकिन दो बार आना याद है। मैंने उसे खोलकर अन्दर जाना चाहा; पर दोनों ही बार असफल रहा। वही अतृप्त आकांक्षा मुझे फिर खींच लायी है, और

रानी कमला ने उन्हें अपना वाक्य न पूरा करने दिया। वह दौड़कर उनके चरणों पर गिर पड़ी और उन्हें अपने आँसुओं से पखारने लगी। यह सौभाग्य किसको प्राप्त हुआ है? जिस पवित्र मूर्ति की वह बीस वर्ष से उपासना कर रही थी, वही उसके सम्मुख खड़ी थी। वह अपना सर्वस्व त्याग देगी; इस ऐश्वर्य को तिलांजलि दे देगी और अपने प्रियतम के साथ पर्वतों में रहेगी। वह सब कुछ झेलकर अपने स्वामी के चरणों से लगी रहेगी। इसके सिवा अब उसे कोई आकांक्षा, कोई इच्छा नहीं है।

लेकिन एक ही क्षण में उसे अपनी शारीरिक अवस्था की याद आ गयी। उसके उन्मत्त हृदय को ठोकर-सी लगी। यौवन-काल के रूप-लावण्य के लिए उसका मन लालायित हो उठा; वे काले-काले लम्बे केश, वह पुष्प के समान विकसित कपोल, वे मदभरी मतवाली आँखें, वह कोमलता, वह माधुर्य अब कहाँ? क्या इस दशा में वह अपने स्वामी की प्राणेश्वरी बन सकेगी?

सहसा शंखधर बोले—कमला, कभी तुम्हें मेरी याद आती थी?

रानी ने उनका हाथ पकड़कर कहा—स्वामी, आज २० वर्ष से तुम्हारी उपासना कर रही हूँ। आह! आप उस समय आये हैं, जब मेरे पास प्रेम नहीं, केवल श्रद्धा और भक्ति है। आइए, मेरे हृदय-मन्दिर में विराजिए।

शंखधर—ऐसा क्यों कहती हो, कमला?

कमला ने सजल-नेत्रों से शंखधर की ओर देखा, पर मुँह से कुछ न बोली। शंखधर ने उसके मन का भाव ताड़कर कहा—प्रिये, मेरी दृष्टि में तुम वही हो, जो आज से

बीस वर्ष पहले थीं। नहीं, तुम्हारा आत्मस्वरूप उससे कहीं सुन्दर, कहीं मनोहर हो गया है, लेकिन तुम्हें सन्तुष्ट करने के लिए मैं तुम्हारी कायाकल्प कर दूँगा। विज्ञान में इतनी विभूति है कि वह काल के चिह्नों को भी मिटा दे।

कमला ने कातर स्वर में कहा—प्राणनाथ, क्या यह सम्भव है?

शङ्खधर—हाँ प्रिये, प्रकृति जो कुछ कर सकती है, वह सब विज्ञान के लिए सम्भव है। यह ब्रह्माण्ड एक विराट् प्रयोगशाला के सिवा और क्या है?

कमला के मनोल्लास का अनुमान कौन कर सकता है? आज बीस वर्ष के बाद उसके ओठों पर मधुर हास्य क्रीड़ा करता हुआ दिखायी दिया। दान, व्रत और तप के प्रभाव का उसे आज अनुभव हुआ। इसके साथ ही उसे अपने सौभाग्य पर भी गर्व हो उठा। यह मेरी तपस्या का फल है! मैं अपनी तपस्या से प्राणनाथ को देवलोक से खींच लायी हूँ! दूसरा कौन इतना तप कर सकता है? कौन इन्द्रिय-सुखों को त्याग सकता है?

यह भाव मन में आया ही था कि कमला चौंक पड़ी! हाय! यह क्या हुआ? उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी आँखों की ज्योति क्षीण हो गयी है। शङ्खधर का तेजमय स्वरूप उसे मिटा-मिटा-सा दिखायी दिया। और सभी वस्तुएँ साफ नजर न आती थीं; केवल शखधर दूर-दूर होते जा रहे थे।

कमला ने घबड़ाकर कहा—प्राणनाथ, क्या आप मुझे छोड़कर चले जा रहे हैं! हाय! इतनी जल्द?

शखधर ने गम्भीर स्वर में कहा—नहीं प्रिये, प्रेम का बन्धन इतना निर्बल नहीं होता।

कमला—तो आप मुझे जाते हुए क्यों दीखते हैं?

शंखधर—इसका कारण अपने मन में देखो!

प्रातःकाल शखधर ने कहा—प्रिये, मेरी प्रयोगशाला की क्या दशा है?

कमला—चलिए, आपको दिखाऊँ।

शखधर—उस कठिन परीक्षा के लिए तैयार हो?

कमला—आपके रहते मुझे क्या भय है?

लेकिन प्रयोगशाला में पहुँचकर सहसा कमला का दिल बैठ गया। जिस सुख की लालसा उसे माया के अन्धकार में लिये जाती है, क्या वह सुख स्थायी होगा? पहले ही की भाँति क्या फिर दुर्भाग्य की एक कुटिल क्रीड़ा उसे इस सुख से वंचित न कर देगी? उसे ऐसा आभास हुआ कि अनन्त-काल से वह सुख-लालसा के इसी चक्र में पड़ी हुई यातनाएँ झेल रही है। हाय रे ईश्वर! तूने ऐसा देव तुल्य पुरुष देकर भी मेरी सुख-लालसा को तृप्त न होने दिया।

इतने में शखधर ने कहा—प्रिये, तुम इस शिला पर लेट जाओ और आँखें बन्द कर लो।

कमला ने शिला पर बैठकर कातर स्वर में पूछा—प्राणनाथ, तब मुझे ये बातें याद रहेंगी ?

शंखधर ने मुस्कराकर कहा—सब याद रहेंगी प्रिये, इससे निश्चिन्त रहो।

कमला—मुझे यह राज-पाट त्याग करना पड़ेगा ?

शंखधर ने देखा, अभी तक कमला मोह में पड़ी हुई है। अनन्त सुख की आशा भी उसके मोह बन्धन को नहीं तोड़ सकी। दुखी होकर बोले—हाँ, कमला, तुम इससे बड़े राज्य की स्वामिनी बन जाओगी। राज्य सुख में बाधक नहीं होता, यदि विलास की ओर न ले जाय।

पर कमला ने ये शब्द न सुने। शिला में प्रवाहित विद्युत्-शक्ति ने उसे अचेत कर दिया था। केवल उसकी आँखें खुली थीं। उसमें अब भी तृष्णा चमक रही थी।

५०

राजा विशालसिंह की हिंसा-वृत्ति किसी प्रकार शान्त न होती थी। ज्यों-ज्यों अपनी दशा पर उन्हें दुःख होता था, उनके अत्याचार और भी बढ़ते थे। उनके हृदय में अब सहानुभूति, प्रेम और धैर्य के लिए जरा भी स्थान न था। उनकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ 'हिंसा-हिंसा !' पुकार रही थीं। जब उनपर चारों ओर से दैवी आघात हो रहे थे, उनकी दशा पर दैव को लेशमात्र भी दया न आती थी, तो वह क्यों किसी पर दया करें ? अगर उनका वश चलता, तो इन्द्रलोक को भी विध्वंस कर देते। देवताओं पर ऐसा आक्रमण करते कि वृत्रासुर की याद भूल जाती। स्वर्ग का रास्ता बन्द पाकर वह अपनी रियासत को ही खून के आँसू रुलाना चाहते थे। इधर कुछ दिनों से उन्होंने प्रतीकार का एक और ही शस्त्र खोज निकाला था। उन्हें निस्सन्तान रखकर मिली हुई सन्तान उनकी गोद से छीनकर, दैव ने उनके साथ सबसे बड़ा अन्याय किया था। दैव के शस्त्रालय में उनका दमन करने के लिए यही सबसे कठोर शस्त्र था। इसे राजा साहब उनके हाथों से छीन लेना चाहते थे। उन्होंने सातवाँ विवाह करने का निश्चय कर लिया था। राजाओं के लिए कन्याओं की क्या कमी ? ब्राह्मणों ने राशि, वर्ग और विधि मिला दी थी। बड़े-बड़े पण्डित इस काम के लिए बुलाये गये थे। उन्होंने व्यवस्था दे दी थी कि यह विवाह कभी निष्फल नहीं जा सकता; अतएव कई महीने से इस सातवें विवाह की तैयारियाँ बड़े जोरों से हो रही थीं। कई राजवैद्य रात-दिन बैठे भाँति-भाँति के रस बनाते रहते। पौष्टिक औषधियाँ चारों ओर से मँगायी जा रही थीं। राजा साहब यह विवाह इतनी धूम-धाम से करना चाहते थे कि देवताओं के कलेजे पर साँप लोटने लगे।

रानी मनोरमा ने इधर बहुत दिनों से घर या रियासत के किसी मामले में बोलना छोड़ दिया था। वह बोलती भी, तो सुनता कौन ? कहाँ तो यह हाल था कि राजा साहब को उसके बगैर एक क्षण भी चैन न आता था, उसे पाकर मानो वह सब कुछ पा गये थे। रियासत का सियाह-सुफेद सब कुछ उसी के हाथों में था; यहाँ तक कि उसके प्रेम-

प्रवाह में राजा साहब की सन्तान लालसा भी विलीन हो गयी थी। वही मनोरमा अब दूध की मक्खी बनी हुई थी। राजा साहब को उसकी सूरत से घृणा हो गयी थी। मनोरमा के लिए अब यह घर नरक तुल्य था। चुपचाप सारी विपत्ति सहती थी। उसे बड़ी इच्छा होती थी कि एक बार राजा साहब के पास जाकर पूछूँ, मुझसे क्या अपराध हुआ है, पर राजा साहब उसे इसका अवसर ही न देते थे। उनके मन में एक धारणा बैठ गयी थी और किस तरह न हटती थी। उन्हे विश्वास था कि मनोरमा ही ने रोहिणी को विष देकर मार डाला। इसका कोई प्रमाण हो या न हो, पर यह बात उनके मन में बैठ गयी थी। इस हत्यारिनी से वह कैसे बोलते?

मनोरमा को आये दिन कोई-न कोई अपमान सहना पड़ता था। उसका गर्व चूर करने के लिए रोज कोई-न-कोई षड्यन्त्र रचा जाता था। पर वह उद्दण्ड प्रकृतिवाली मनोरमा अब धैर्य और शान्ति का अथाह सागर है, जिसमें वायु के हलके-हलके झोंकों से कोई आन्दोलन नहीं होता। वह मुस्कराकर सब कुछ शिरोधार्य करती जाती है। यह विकट मुस्कान उसका साथ कभी नहीं छोड़ती। इस मुस्कान में कितनी वेदना, विडम्बनाओं की कितनी अवहेलना छिपी हुई है, इसे कौन जानता है? वह मुस्कान नहीं, 'वह भी देखा, यह भी देखा' वाली कहावत का यथार्थ रूप है। नयी रानी साहब के लिए सुन्दर भवन बनवाया जा रहा था। उसकी सजावट के लिए एक बड़े आईने की जरूरत थी। शायद बाजार में उतना बड़ा आईना न मिल सका। हुक्म हुआ—छोटी रानी के दीवानखाने का बड़ा आईना उतार लाओ। मनोरमा ने यह हुक्म सुना और मुस्करा दी। फिर कालीन की जरूरत पड़ी। फिर वही हुक्म हुआ—छोटी रानी के दीवानखाने से लाओ। मनोरमा ने मुस्कराकर सारी कालीनें दे दीं। इसके कुछ दिनों बाद हुक्म हुआ—छोटी रानी की मोटर नये भवन में लायी जाय। मनोरमा इस मोटर को बहुत पसन्द करती थी, उसे खुद चलाती थी। यह हुक्म सुना, तो मुस्करा दिया। मोटर चली गयी।

मनोरमा के पास पहले बहुत सी सेविकाएँ थीं। इधर घटते घटते उनकी संख्या तीन तक पहुँच गयीं थी। एक दिन हुक्म हुआ कि तीन सेविकाओं में से दो नये महल में नियुक्त की जायँ। उसके एक सप्ताह बाद वह एक भी बुला ली गयी। मनोरमा के यहाँ अब कोई सेविका न रही। इस हुक्म का भी मनोरमा ने मुस्कराकर स्वागत किया।

मगर अभी सबसे कठोर आघात बाकी था। नयी रानी के लिए तो नया महल बन ही रहा था। उनकी माताजी के लिए एक दूसरे मकान की जरूरत पड़ी। माताजी को अपनी पुत्री का वियोग असह्य था। राजा साहब ने नये महल मे उनका निवास उचित न समझा। माता के रहने से नयी रानी की स्वाधीनता में विघ्न पड़ेगा, इसलिए हुक्म हुआ कि छोटी रानी का महल खाली करा लिया जाय। रानी ने यह हुक्म सुना और मुस्करा दी। महल खाली करा दिया गया। जिस हिस्से में पहले महरियाँ रहती थीं, उसी को उसने अपना निवास स्थान बना लिया। द्वार पर टाट के परदे लगवा दिये।

यहाँ भी पर उतनी ही प्रसन्न थी, जितनी अपने महल में।

एक दिन गुरुसेवक मनोरमा से मिलने आये। राजा साहब की अप्रसन्नता का पहला वार उन्हीं पर हुआ था। वह दरबार से अलग कर दिये गये थे। वह अपनी जमींदारी की देख-भाल करते थे। अधिकार छीने जाने पर वह अधिकार के शत्रु हो गये थे। अब फिर वह किसानों का संगठन करने लगे थे, बेगार के विरुद्ध अब फिर उनकी आवाज उठने लगी थी। मनोरमा पर ये सब अत्याचार देख-देखकर उनकी क्रोधाग्नि भड़कती रहती थी। जिस दिन उन्होंने सुना कि मनोरमा अपने महल से निकाल दी गयी है, उनके क्रोध का वारापार न रहा। उनकी सारी वृत्तियाँ इस अपमान का बदला लेने के लिए तिलमिला उठीं।

मनोरमा ने उनका तमतमाया हुआ चेहरा देखा, तो काँप उठी।

गुरुसेवक ने आते-ही-आते पूछा—तुमने महल क्यों छोड़ दिया?

मनोरमा—कोई किसी से जबरदस्ती मान करा सकता है? मुझे वहीं कौन सा ऐसा बड़ा सुख था, जो महल को छोड़ने का दुःख होता? मैं यहाँ भी खुश हूँ।

गुरुसेवक—मैं देख रहा हूँ, बुड्ढा दिन-दिन सठियाता जाता है। विवाह के पीछे अन्धा हो गया है।

मनोरमा—भैया, आप मेरे सामने ऐसे शब्द मुँह से न निकालें। आपके पैरों पड़ती हूँ।

गुरुसेवक—तुम शब्दों को कहती हो, मैं इनकी मरम्मत करने की फिक्र में हूँ। जरा विवाह का मजा चख लें।

मनोरमा ने त्योरियाँ बदलकर कहा—भैया, मैं फिर कहती हूँ कि आप मेरे सामने ऐसी बातें न करें। मुझे उनसे कोई शिकायत नहीं है। वह इस समय अपने होश में नहीं हैं। यही क्या, कोई आदमी शोक के ऐसे निर्दय आघात सहकर अपने होश में नहीं रह सकता। मैं या आप उनके मन के भावों का अनुमान नहीं कर सकते। जिस प्राणी ने चालीस वर्ष तक एक अभिलाषा को हृदय में पाला हो, उसी एक अभिलाषा के लिए उचित अनुचित, सब कुछ किया हो और चालीस वर्ष के बाद जब उस अभिलाषा के पूरे होने के सब सामान हो गये हों, एकाएक उसके गले पर छुरी चल जाय, तो सोचिए कि उस प्राणी की क्या दशा होगी? राजा साहब ने सिर पटककर प्राण नहीं दे दिये, यही क्या कम है। कम-से-कम मैं तो इतना धैर्य न रख सकती। मुझे इस बात का दुःख है कि उनके साथ मुझे जितनी सहानुभूति होनी चाहिए, मैं नहीं कर रही हूँ।

गुरुसेवक ने गम्भीर भाव से कहा—अच्छा, प्रजा पर इतना जुल्म क्यों हो रहा है? यह भी बेहोशी है?

मनोरमा—बेहोशी नहीं तो और क्या है? जो आदमी ६५ वर्ष की उम्र में सन्तान के लिए विवाह करे, वह बेहोश ही है। चाहे उसमें बेहोशी का कोई लक्षण न भी दिखायी दे।

गुरुसेवक लज्जित और निराश होकर यहाँ से चलने लगे, तो मनोरमा यहाँ से

गयी और आँखों में आँसू भरकर बोली—भैया, अगर कोई शका की बात हो, तो मुझे बतला दो।

गुरुसेवक ने आँखें नीची करके कहा—शङ्का की कोई बात नहीं। शङ्का की कौन बात हो सकती है, भला?

मनोरमा—मेरी ओर ताक नहीं रहे हो, इससे मुझे शक होता है। देखो भैया, अगर राजा साहब पर जरा भी आँच आयी, तो बुरा होगा। जो बात हो, साफ-साफ कह दो।

गुरुसेवक—मुझसे राजा साहब से मतलब ही क्या है? अगर तुम खुश हो, तो मुझे उनसे कौन-सी दुश्मनी है? रही प्रजा। वह जाने और राजा साहब जानें। मुझसे कोई सरोकार नहीं, मगर बुरा न मानो, तो एक बात पूछूँ। वह तो तुम्हें ठोकरें मारते हैं और तुम उनके पाँव सहलाती हो। क्या समझती हो कि तुम्हारी इस भक्ति से राजा साहब फिर तुमसे खुश हो जायँगे?

मनोरमा ने भाई को तिरस्कार की दृष्टि से देखकर कहा—अगर ऐसा समझती हूँ, तो क्या कोई बुराई करती हूँ। उनकी खुशी की परवा नहीं, तो फिर किसकी खुशी की परवा करूँगी? जो स्त्री अपने पति से दिल में कीना रखे, उसे विष खाकर प्राण दे देना चाहिए। हमारा धर्म कीना रखना नहीं, क्षमा करना है। मेरा विवाह हुए बीस वर्ष से अधिक हुए। बहुत दिनों तक मुझपर उनकी कृपा-दृष्टि रही। अब वह मुझसे तने हुए हैं। शायद मेरी सूरत से भी उन्हें घृणा हो। लेकिन आज तक उन्होंने मुझे एक भी कठोर शब्द नहीं कहा। ससार में ऐसे कितने पुरुष हैं, जो अपनी जबान को इतना सँभाल सकते हों? मेरी यह दशा जो हो रही है, मान के कारण हो रही है। अगर मैं मान को त्यागकर उनके पास जाऊँ, तो मुझे विश्वास है कि इस समय भी मुझसे वह हँसकर बोलेंगे और जो कुछ कहूँगी, उसे स्वीकार करेंगे। क्या इन बातों को मैं कभी भूल सकती हूँ? मैं तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, अगर कोई शङ्का की बात हो, तो मुझे बतला दो।

गुरुसेवक ने बगलें झाँकते हुए कहा—मै तो कह चुका, मुझसे इन बातों से कोई मतलब नहीं।

यह कहते हुए गुरुसेवक ने आगे कदम बढाया। मगर मनोरमा ने उनका हाथ पकड़ लिया और अपनी ओर खींचती हुई बोली—तुम्हारे मुख का भाव कहे देता है कि तुम्हारे मन में कोई न-कोई बात अवश्य है, जिसे तुम मुझसे छिपा रहे हो। जब तक मुझे न बताओगे, मैं तुम्हें जाने न दूँगी।

गुरुसेवक—नोरा! तुम नाहक जिद करती हो।

मनोरमा—अच्छी बात है, न बताइए। जाइए, अब न पूछूँगी। मगर आज से समझ लीजिएगा कि नोरा मर गयी।

गुरुसेवक ने हारकर कहा—अगर मै कोई बात अनुमान से बता ही दूँ, तो तुम क्या कर लोगी?

मनोरमा—अगर रोक सकूँगी, तो रोकूँगी।

गुरुसेवक—उसको तुम नहीं रोक सकती, मनोरमा! और न मैं ही रोक सकता हूँ।

मनोरमा कुछ उत्तेजित होकर बोली—कुछ मुँह से कहिए भी तो।

गुरुसेवक—प्रजा राजा साहब की अनीति से तंग आ गयी है।

मनोरमा—यह तो मैं बहुत पहले से जानती हूँ। भारत भी तो अंग्रेजों की अनीति से तङ्ग आ गया है। फिर इससे क्या?

गुरुसेवक—मैं विश्वासघात नहीं कर सकता।

मनोरमा—भैया, बता दीजिए, नहीं तो पछताइएगा।

गुरुसेवक—मैं इतना नीच नहीं हूँ। बस, इतना ही बता देता हूँ कि राजा साहब से कह देना, विवाह के दिन सावधान रहें।

गुरुसेवक लपककर बाहर चले गये। मनोरमा स्तम्भित-सी खड़ी रह गयी, मानो हाथ के तोते उड़ गये हों। इस वाक्य का आशय उसकी समझ में न आया। हाँ इतना समझ गयी कि बरात के दिन कुछ-न-कुछ उपद्रव अवश्य होनेवाला है!

कल ही विवाह का दिन था। सारी तैयारियाँ हो चुकी थीं। सन्ध्या हो गयी थी। प्रातःकाल बरात यहाँ से चलेगी। ज्यादा सोचने-विचारने का समय नहीं था। इसी वक्त राजा साहब को सचेत कर देना चाहिए। कल फिर अवसर हाथ से निकल जायगा। उसने राजा साहब के पास जाने का निश्चय किया; मगर पुछवाये किससे कि राजा साहब हैं या नहीं? इस वक्त तो वह रोज सैर करने जाते हैं। आज शायद सैर करने न गये हों; मगर तैयारियों में लगे होंगे।

मनोरमा उसी वक्त राजा साहब के दीवानखाने की ओर चली। इस संकट में वह मान कैसे करती? मान करने का समय नहीं है। चार वर्ष के बाद आज उसने पति के शयनागार में प्रवेश किया। जगह वही थी, पर कितनी बदली हुई। पौदों के गमले सूखे पड़े थे, चिड़ियों के पिंजरे खाली। द्वार पर चिक पड़ी हुई थी। राजा साहब कहीं बाजार जाने के लिए कपड़े पहने तैयार थे। मेज पर बैठे जल्दी-जल्दी कोई पत्र लिख रहे थे; मनोरमा को देखते ही कुरसी से चौंककर उठ बैठे और बाहर की ओर चले, मानो कोई भयंकर जन्तु सामने आ गया हो।

मनोरमा ने सामने खड़े होकर कहा—मैं आपसे एक बहुत जरूरी बात करने आयी हूँ। एक क्षण के लिए ठहर जाइए।

राजा साहब कुछ झिझककर खड़े हो गये। जिस अत्याचारी के आतङ्क से सारी रियासत त्राहि-त्राहि कर रही थी, जिसके भय से लोगों के रक्त सूख जाते थे, जिसके सम्मुख जाने का साहस किसी को नहीं होता था, उसे ही देखकर दया आती थी। वह भवन, जो किसी समय आसमान से बातें करता था, इस समय पृथ्वी पर मस्तक रगड़ रहा था। वह निराशा की सजीव मूर्ति थी, दलित अभिलाषाओं की जीती-जागती तसवीर। पराजय की करुण प्रतिमा, मर्दित अभिमान का आर्त्तनाद। और वह मंद रा

उपासक विवाह करने जा रहा था। मनोरथों पर पड़ी हुई तुषार सिर, मूँछ और भौंहों को सम्पूर्ण रूप से ग्रस चुकी थी, जिनकी ठण्ढी साँसों मे दाँत तक गल गये थे, वही अपनी झुकी हुई कमर और काँपती हुई टाँगों से प्रणय-मन्दिर की ओर दौड़ा जा रहा था। वाह रे मोह की कुटिल-क्रीड़ा!

मनोरमा ने आग्रह-पूर्ण स्वर से कहा—जरा बैठ जाइए, मैं आपका बहुत समय न लूँगी।

राजा—बैठूँगा नहीं, मुझे फुरसत नहीं है। जो बात कहनी है, वह कह दो, मगर मुझे ज्ञान का उपदेश मत देना।

मनोरमा—ज्ञान का उपदेश मै भला आपको क्या दूँगी? केवल इतना ही कहती हूँ कि कल बरात में सावधान रहिएगा।

राजा—क्यों?

मनोरमा—उपद्रव हो जाने का भय है।

राजा—बस, इतना ही कहना है या कुछ और?

मनोरमा—बस, इतना ही।

राजा—तो तुम जाओ, मैं उपद्रवों की परवा नहीं करता। लुटेरों का भय उसे होता है, जिसके पास सोने की गठरी हो। मेरे पास क्या है, जिसके लिए डरूँ?

एकाएक उनकी मुखाकृति कठोर हो गयी। आँखों में अस्वाभाविक प्रकाश दिखायी दिया। उद्दण्डता से बोले—मुझे किसी का भय नहीं है। अगर किसी ने चूँ भी किया, तो रियासत में आग लगा दूँगा। खून की नदी बहा दूँगा। विशालसिंह रियासत का मालिक है, उसका गुलाम नहीं। कौन है, जो मेरे सामने खड़ा हो सके? मेरी एक तेज निगाह शत्रुओं का पित्ता पानी कर देने के लिए काफी है।

मनोरमा का हृदय करुणा से व्याकुल हो उठा। इन शब्दों में कितनी मानसिक वेदना भरी हुई थी, वे होश की बातें नहीं, बेहोशी की बड़ थीं। आग्रह करके बोली—फिर भी सावधान रहने में तो कोई बुराई नहीं है। मैं आपके साथ रहूँगी।

राजा ने मनोरमा की ओर सशक नेत्रों से देखकर कहा—नहीं, नहीं, तुम मेरे साथ नहीं रह सकतीं, किसी तरह नहीं। मैं तुमको खूब जानता हूँ।

यह कहते हुए राजा साहब बाहर चले गये। मनोरमा खड़ी सोचती रह गयी कि इन बातों का क्या आशय है? इन शब्दों में जो शङ्का और दुश्चिन्ता छिपी हुई थी, यदि इनकी गन्ध भी उसे मिल जाती, तो शायद उसका हृदय फट जाता, वह वहीं खड़ी-खड़ी चिल्लाकर रो पड़ती। उसने समझा, शायद राजा साहब को उसे अपने साथ रखने में वही सकोचमय आपत्ति है, जो प्रत्येक पुरुष को स्त्रियों से सहायता लेने में होती है। इस वक्त वह लौट गयी, लेकिन यह खटका उसे बराबर लगा हुआ था।

रात अधिक बीत गयी थी। बाहर बारात की तैयारियाँ हो रही थीं। ऐसा शानदार जुलूस निकालने की आयोजना की जा रही थी, जैसा इस नगर में कभी न निकला हो।

गोरी फौज थी, काली फौज थी, रियासत की फौज थी। फौजी-बैंड था, कोतल घोड़े, सजे हुए हाथी, फूलों की सवाँरी हुई स्वारी गाड़ियाँ, सुन्दर पालकियाँ—इतनी जमा की गयी थीं कि शाम से घड़ी रात तक उनका ताँता ही न टूटे। बैंड से लेकर डफले और नृसिंहे तक सभी प्रकार के बाजे थे। सैकड़ों ही विमान सजाये गये थे और फुलवारियों की तो गिनती ही नहीं थी। सारी रात द्वार पर चहल पहल रही और सारी रात राजा साहब सजावट का प्रबन्ध करने मे व्यस्त रहे। मनोरमा कई बार उनके दीवानखाने में आयी और उन्हें वहाँ न देखकर लौट गयी। उसके जी में बार-बार आता था कि बाहर ही चलकर राजा साहब से अनुनय-विनय करूँ; लेकिन भय यही था कि कहीं वह सबके सामने बक झक न करने लगें, उसे कुछ कह न बैठें। जो अपने होश मे नहीं; उसे किसकी लज्जा और किसका सकोच! आखिर, जब इस तरह जी न माना, तो वह द्वार पर जाकर खड़ी हो गयी कि शायद राजा साहब उसे देखकर उसकी तरफ आयें; लेकिन उसे देखकर भी राजा साहब उसकी ओर न आये; बल्कि और दूर निकल गये।

सारे शहर मे इस जुलूस और इस विवाह का उपहास हो रहा था, नौकर-चाकर तक आपस में हँसी उड़ाते थे, राजा साहब की चुटकियाँ लेते थे, अपनी धुन में मस्त राजा साहब को कुछ न सूझता था, कुछ न सुनायी देता था। सारी रात बीत गयी और मनोरमा को कुछ कहने का अवसर न मिला। तब वह अपनी कोठरी मे लौट आयी और ऐसा फूट-फूटकर रोयी, मानो उसका कलेजा बाहर निकल पड़ेगा। उसे आज बीस वर्ष पहले की बात याद आयी, जब उसने राजा से विवाह के पहले कहा था—मुझे आपसे प्रेम नहीं है, और न हो सकता है। उसने अपने मनोभावों के साथ कितना अन्याय किया था। आज वह बड़ी खुशी से राजा साहब की रक्षा के लिए अपना बलिदान कर देगी। इसे वह अपना धन्य भाग्य समझेगी। यह उस अखण्ड प्रेम का प्रसाद है, जिसका उसने १५ वर्ष तक आनन्द उठाया और जिसकी एक-एक बात उसके हृदय पर अंकित हो गयी थी। उन अंकित चिह्नों को कौन उसके हृदय से मिटा सकता है? निष्ठुरता में इतनी शक्ति नहीं, अपमान में इतनी शक्ति! प्रेम अमर है; अमिट है।

दूसरे दिन बरात निकलने से पहले मनोरमा फिर राजा साहब के पास जाने को तैयार हुई, लेकिन कमरे से निकली ही थी कि दो हथियार-बन्द सिपाहियों ने उसे रोका।

रानी ने डाँटकर कहा—हट जाओ, नमकहरामो! मैंने ही तुम्हें नौकर रखा और तुम मुझसे गुस्ताखी करते हो?

एक सिपाही बोला—हजूर के हुक्म के तावेदार हैं, क्या करें? महाराजा साहब का हुक्म है कि हजूर इस भवन से बाहर न निकलने पावें। हमारा क्या अपराध है, सरकार?

मनोरमा—तुम्हें किस ने यह आज्ञा दी है?

सिपाही--खुद महाराज साहब ने।

मनोरमा--मैं केवल एक मिनट के लिए राजा साहब से मिलना चाहती हूँ।

सिपाही--बड़ी कड़ी ताकीद है सरकार, हमारी जान न बचेगी।

मनोरमा ऐंठकर रह गयी। एक दिन सारी रियासत उसके इशारे पर चलती थी। आज पहरे के सिपाही तक उसकी बात न सुनते। तब और अब में कितना अन्तर है!

मनोरमा ने वहीं खड़े-खड़े पूछा--बरात निकलने में कितनी देर है?

सिपाही--अब कुछ देर नहीं है। सब तैयारी हो चुकी है।

मनोरमा--राजा साहब की सवारी के साथ पहरे का कोई विशेष प्रबन्ध भी किया गया है?

सिपाही--हाँ हजूर! महाराज के साथ एक सौ गोरे रहेंगे। महाराज की सवारी उन्हीं के बीच में रहेगी।

मनोरमा सन्तुष्ट हो गयी। उसकी इच्छा पूरी हो गयी। राजा साहब सावधान हो गये, किसी बात का खटका नहीं। वह अपने कमरे में लौट गयी।

चार बजते-बजते बरात निकली। जुलूस की लम्बाई दो मील से कम न थी। भाँति-भाँति के बाजे बज रहे थे, रुपये लुटाये जा रहे थे, पग पग पर फूलों की वर्षा की जा रही था। सारा शहर तमाशा देखने को फटा पड़ता था।

इसी समय अहल्या और शखधर ने नगर मे प्रवेश किया और राजभवन की ओर चले, किन्तु थोड़ी ही दूर गये थे कि बरात के जुलूस ने रास्ता रोक दिया। जब यह मालूम हुआ कि महाराज विशालसिंह की बरात है, तो शखधर ने मोटर रोक दी और उसपर खड़े होकर अपना रूमाल हिलाते हुए जोर से बोले--सब आदमी रुक जायँ, कोई एक कदम भी आगे न बढे! फौरन महाराजा साहब को सूचना दो कि कुँवर शखधर आ रहे हैं।

दम-के-दम में सारी बरात रुक गयी। 'कुँवर साहब आ गये!' यह खबर वायु के झोंके की भाँति इस सिरे से उस सिरे तक दौड़ गयी। जो जहाँ था, वहीं खड़ा रह गया। फिर उनके दर्शन के लिए लोग दौड़े-दौड़कर जमा होने लगे। सारा जुलूस तितर-बितर हो गया। विशालसिंह ने यह भगदड़ देखी, तो समझे, कुछ उपद्रव हो गया। गोरों का तैयार हो जाने का हुक्म दे दिया। कुछ अँधेरा हो चला था। किसी ने राजा साहब से साफ तो न कहा कि कुँवर साहब आ गये, बस जिसने सुना, झण्डी-झण्डे, बल्लम भाले फेंक फाँककर भागा। राजा साहब का घबरा जाना स्वाभाविक ही था। उपद्रव की शंका पहले ही से थी। तुरत खयाल हुआ कि उपद्रव हो गया। गोरों को बन्दूकें सँभालने का हुक्म दिया।

उसी क्षण शखधर ने सामने आकर राजा साहब को प्रणाम किया!

शखधर को देखते ही राजा साहब घोड़े से कूद पड़े और उसे छाती से लगा लिया। आज इस शुभ मुहूर्त में, वह अभिलाषा भी पूरी हो गयी, जिसके नाम को वह रो चुके

थे। बार-बार कुँवर को छाती से लगाते थे; पर तृप्ति ही न होती थी। आँखों से आँसू की झड़ी लगी हुई थी। जब जरा चित्त शान्त हुआ, तो बोले—तुम आ गये बेटा, मुझपर बड़ी दया की। चक्रधर को लाये हो न ?

शखधर ने कहा—वह तो नहीं आये।

राजा—आयेंगे, मेरा मन कहता है। मैं तो निराश हो गया था, बेटा! तुम्हारी माता भी चली गयीं। तुम पहले ही चले गये; फिर मै किसका मुँह देख-देखकर जीता ? जीवन का कुछ तो आधार चाहिए। अहल्या तभी से न-जाने कहाँ घूम रही है।

शखधर—वह तो मेरे साथ हैं।

राजा—अच्छा, वह भी आ गयी। वाह मेरे ईश्वर! सारी खुशियाँ एक ही दिन के लिए जमा कर रखी थीं। चलो, उसे देखकर आँखें ठण्ढी करूँ।

बरात रुक गयी। राजा साहब और शंखधर अहल्या के पास आये। पिता और पुत्री का सम्मिलन बड़े आनन्द का दृश्य था! कामनाओं के वे वृक्ष, जो मुद्दत हुई, निराशा-तुषार की भेंट हो चुके थे आज लहलहाते, हरी-भरी पत्तियों से लदे हुए सामने खड़े थे। आँसुओं का वेग शान्त हुआ, तो राजा साहब बोले—तुम्हें यह बरात देखकर हँसी आयी होगी। सभी हँस रहे हैं; लेकिन बेटा, यह बारात नहीं है। कैसी बारात और कैसा दूल्हा! यह विक्षिप्त हृदय का उद्गार है, और कुछ नहीं। मन कहता था—जब ईश्वर को मेरी सुधि नहीं, वह मुझपर जरा भी दया नहीं करते, अकारण ही मुझे सताते हैं, तो मैं क्यों उनसे डरूँ ? जब स्वामी को सेवक की फिक्र नहीं, तो सेवक को स्वामी की फिक्र क्यों होने लगी ? मैने उतना अन्याय किया, जितना मुझसे हो सका। धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य के विचार दिल से निकाल डाले। आखिर मेरी विजय हुई कि नहीं ?

अहल्या—लल्लू अपने लिए रानी भी लेता आया है।

राजा—सच कहना! यह तो खूब हुई। क्या वह भी साथ है ?

मोटर के पिछले भाग में बहूजी बैठी थीं। अहल्या ने पुकारकर कहा—बहू, पिताजी के चरणों के दर्शन कर लो।

बहूजी आयी। राजा साहब देखकर चकित हो गये। ऐसा अनुपम सौन्दर्य उन्होंने किसी चित्र में भी न देखा था। बहू को गले लगाकर आशीर्वाद दिया और अहल्या से मुस्कराकर बोले—शखधर तो बड़ा भाग्यवान् मालूम होता है। यह देव-कन्या कहाँ से उड़ा लाया ?

अहल्या—दक्षिण के एक राजा की कुमारी है। ऐसा शील-स्वभाव है कि देखकर भूख प्यास बन्द हो जाती है। आपने सच ही कहा—देवकन्या है।

राजा—तो यह मेरी बरात का जुलूस नहीं, शंखधर के विवाह का उत्सव है!

५१

कमला को जगदीशपुर में आकर ऐसा मालूम हुआ कि वह एक युग के बाद अपने

घर आयी है। वहाँ की सभी चीजें, सभी प्राणी उसके जाने-पहचाने थे, पर अब उनमें कितना अन्तर हो गया था। उसका विशाल नाच घर बिलकुल बेमरम्मत पड़ा हुआ था। मोर उड़ गये थे, हिरन भाग गये थे और फौवारे सूखे हुए पड़े थे। लताएँ और गमले कब के मिट चुके थे, केवल लम्बे-लम्बे स्तम्भ खड़े थे, पर कमला को नाच घर के विध्वस होने का जरा भी दुःख न हुआ। उसकी यह दशा देखकर उसे एक प्रकार का सन्तोष हुआ, मानो उसके घृणित विलास की चिता हो। अगर वह नाच-घर आज वैसा ही हरा-भरा होता, जैसा उसके समय में था, तो क्या वह उसके अन्दर कदम रख सकती? कदाचित् वह वहीं गिर पड़ती। अब भी उसे ऐसा जान पड़ा कि यह उसके उसी जीवन का चित्र है। कितनी ही पुरानी बातें उसकी आँखों में फिर गयीं, कितनी ही स्मृतियाँ जाग्रत हो गयीं। भय और ग्लानि से उसके रोएँ खड़े हो गये। आह! यही वह स्थान है, जहाँ उस हतभागिनी ने स्वय अपने पति को न पहिचानकर उसके लिए अपने कलुषित प्रेम का जाल बिछाया था! आह! काश वह पिछली बातें भूल जातीं। उस विकास जीवन की याद उसके हृदय-पट से मिट जाती! उन बातों को याद रखते हुए क्या उस जीवन का आनन्द उठा सकती थी? मृत्यु का भयकर हाथ न-जाने कहाँ से निकलकर उसे डराने लगा। ईश्वरीय दण्ड के भय से वह काँप उठी। दीनता के साथ मन में ईश्वर से प्रार्थना की—भगवान्, पापिनी मैं हूँ, मेरे पापों के लिए महेन्द्र को दण्ड मत देना। मैं सहस्र जीवन तक प्रायश्चित्त करूँगी, मुझे वैधव्य की आग में न जलाना!

नाच-घर से निकलकर देवप्रिया ने रानी मनोरमा के कमरे में प्रवेश किया। वह अनुपम छवि अब मलिन पड़ गयी थी। जिस केश राशि को हाथ में लेकर एक दिन वह चकित हो गयी थी, उसका अब रूपान्तर हो गया था। जिन आँखों में मद-माधुर्य का प्रवाह था, अब वह सूखी पड़ीं थीं। उत्कण्ठा की करुण-प्रतिमा थी, जिसे देखकर हृदय के टुकड़े हुए जाते थे। कौन कह सकता था, वह सरला विशालसिंह के गले पड़ेगी।

मनोरमा बोली—नाच घर देखने गयी थीं। आजकल तो बेमरम्मत पड़ा हुआ है। उसकी शोभा तो रानी देवप्रिया के साथ चली गयी।

देवप्रिया ने धीरे से कहा—वहाँ आग क्यों न लग गयी—यही आश्चर्य है?

मनोरमा—क्या कुछ सुन चुकी हो?

देवप्रिया—हाँ, जितना जानती हूँ, उतना ही बहुत है। और ज्यादा नहीं जानना चाहती।

यहाँ से वह रानी रामप्रिया के पास गयी। उसे देखकर देवप्रिया की आँखें सजल हो गयीं। बड़ी मुश्किल से आँसुओं को रोक सकी। आह! जिस बालिका को उसने एक दिन गोद में खिलाया था, वही अब इस समय यौवन की स्मृति मात्र रह गयी थी।

देवप्रिया ने वीणा की ओर देखकर कहा—आपको संगीत से बहुत प्रेम है?

रामप्रिया अनिमेष नेत्रों से उसकी ओर ताक रही थी। शायद देवप्रिया की बात उसके कानों तक पहुँची ही नहीं।

देवप्रिया ने फिर कहा—मैं भी आप से कुछ सीखूँगी।

रामप्रिया अभी तक उसकी मुख-छवि निहारने में मग्न थी। अब की भी कुछ न सुन सकी?

देवप्रिया फिर बोली—आपको मेरे साथ बहुत परिश्रम न करना पड़ेगा। थोड़ा बहुत जानती भी हूँ।

यह कहकर उसने फिर वीणा उठा ली और यह गीत गाने लगी—

प्रभु के दर्शन कैसे पाऊँ?
बनकर सरस-सुमन की लतिका, पद कमलों से लग जाऊँ,
या तेरे मन-मन्दिर की हरि, प्रेम-पुजारिन बन जाऊँ।
प्रभु के दर्शन कैसे पाऊँ?

आह! यही गीत था, जो रामप्रिया ने कितनी बार देवप्रिया को गाते सुना था, वही स्वर था, वही माधुर्य था, वही लोच था, वही हृदय मे चुभानेवाली तान थी। रामप्रिया ने भयातुर नेत्रों से देवप्रिया की ओर देखा और मूर्छित हो गयी। देवप्रिया को भी अपनी आँखों के सामने एक परदा-सा गिरता हुआ मालूम हुआ। उसकी आँखें आप-ही आप झपकने लगीं। एक क्षण और, सारा रहस्य खुल जायगा! कदाचित कायाकल्प का आवरण हट जाय और फिर न जाने क्या हो! वह रामप्रिया को उसी दशा में छोड़कर इस तरह अपने भवन की ओर चली, मानो कोई उसे दौड़ा रहा हो।

मनोरमा को ज्योंही एक लौंडी से रामप्रिया के मूर्च्छित हो जाने की खबर मिली, वह तुरन्त रामप्रिया के पास आयी और घण्टों की दौड़-दूप के बाद कहीं रामप्रिया ने आँखें खोलीं। मनोरमा को खड़ी देखकर वह फिर सहम उठी और सशंक दृष्टि से चारों ओर देखकर उठ बैठी।

मनोरमा ने कहा—आपको एकाएक यह क्या हो गया? अभी तो बहूजी यहाँ बैठी थीं।

रामप्रिया ने मनोरमा के कान के पास मुँह ले जाकर कहा—कुछ कहने नहीं बनता बहन! मालूम नहीं आँखों को धोखा हो रहा है, या क्या बात है। बहू की सूरत बिल-कुल देवप्रिया बहन से मिलती है। रत्ती-भर भी फर्क नहीं है।

मनोरमा—कुछ-कुछ मिलती तो है, मगर इससे क्या? एक ही सूरत के दो आदमी क्या नहीं होते?

रामप्रिया—नहीं मनोरमा, बिलकुल वही सूरत है। रंग-ढंग, बोल-चाल सब वही है। गीत भी इसने वही गाया, जो देवप्रिया बहन गाया करती थीं। बिल्कुल वही स्वर था, वही आवाज। अरे बहन, तुमसे क्या कहूँ, आँखों मे वही मुस्कुराहट है, तिल और मसों में भी फर्क नहीं। तुमने देवप्रिया को जवानी मे नहीं देखा। मेरी आँखों मे तो आज भी उनकी यह मोहिनी छवि फिर रही है। ऐसा मालूम होता है कि बहन स्वयं कहीं से आ गयी हैं। क्या रहस्य है, कह नहीं सकती; पर यह वही देवप्रिया हैं, इसमे रत्ती-भर

भी सन्देह नहीं।

मनोरमा—राजा साहब ने भी तो रानी देवप्रिया को जवानी मे देखा होगा।

रामप्रिया—हाँ, देखा है और देख लेना, वह भी यही बात कहेंगे। सूरत का मिलना और बात है, वही हो जाना और बात है। चाहे कोई माने या न माने; मै तो यही कहूँगी कि देवप्रिया फिर अवतार लेकर आयी है।

मनोरमा—हाँ यह बात हो सकती है।

रामप्रिया—सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि इसने गीत भी वही गाया, जो देवप्रिया बहन को बहुत पसन्द था। ज्योतिषियों से इस विषय में राय लेनी चाहिए। देवप्रिया को जो कुछ भोग विलास करना था, कर चुकी। अब वह यहाँ क्या करने आयी है?

मनोरमा—आप तो ऐसी बातें कर रही हैं, मानो वह अपनी खुशी से आयी है।

रामप्रिया—यह तो होता ही है, और तुम क्या समझती हो? आत्मा को वही जन्म मिलता है, जिसकी उसे प्रबल इच्छा होती है। मैंने कई पुस्तकों मे पढ़ा है, आत्माएँ एक जन्म का अधूरा काम पूरा करने के लिए फिर उसी घर मे जन्म लेती हैं। इसकी कितनी ही मिसालें मिलती हैं।

मनोरमा—लेकिन रानी देवप्रिया तो राज-पाट स्वय छोड़कर तीर्थयात्रा करने गयीं थी।

रामप्रिया—क्या हुआ बहन, उसकी भोग तृष्णा शान्त न हुई थी। अगर वही तृष्णा उन्हे फिर लायी है, तो कुशल नहीं है।

मनोरमा—आपकी बातें सुनकर तो मुझे भी शंका होने लगी है।

इसी समय अहल्या सामने से निकल गयी। मारे गर्व और आनन्द के उसके पाँव जमीन पर न पड़ते थे। पति की याद भी इस आनन्द प्रवाह मे विलीन हो गयी थी, जैसे संगीत की ध्वनि आकाश में विलीन हो जाती है।

५२

मुंशी वज्रधर ने यह शुभ-समाचार सुना, तो फौरन् घोड़े पर सवार हुए और राज-भवन आ पहुँचे। शखधर उनके आने का समाचार पाकर नगे पाँव दौड़े और उनके चरणों को स्पर्श किया। मुशीजी ने पोते को छाती से लगा लिया और गद्‌गद कण्ठ से बोले—यह शुभ दिन भी देखना बदा था बेटा, इसी से अभी तक जीता हूँ। यह अभिलाषा पूरी हो गयी। बस, इतनी लालसा और है कि तुम्हारा राज-तिलक देख लूँ। तुम्हारी दादी बैठी तुम्हारी राह देख रही हैं। क्या उन्हें भूल गये?

शखधर ने लजाते हुए कहा—जी नहीं, शाम को जाने का इरादा था। उन्हीं के आशीर्वाद से तो मुझे पिताजी के दर्शन हुए। उन्हें कैसे भूल सकता हूँ?

मुशी—तुम लल्लू को अपने साथ घसीट नहीं लाये?

शखधर—वह अपने जीवन में जो पवित्र कार्य कर रहे हैं, उसे छोड़कर कभी न आते। मैंने अपने को जाहिर भी नहीं किया, नहीं तो शायद वह मुझसे मिलना भी

स्वीकार न करते।

इसके बाद शंखधर ने अपनी यात्रा का, अपनी कठिनाइयों का और पिता से मिलने का सारा वृत्तान्त कहा।

यों बातें करते हुए मुशीजी राजा साहब के पास जा पहुँचे। राजा साहब ने बड़े आदर से उसका अभिवादन किया और बोले—आप तो इधर का रास्ता ही भूल गये।

मुन्शीजी—महाराज, अब आपका और मेरा सम्बन्ध और प्रकार का है। ज्यादा आऊँ-जाऊँ तो आप ही कहेंगे, यह अब क्या करने आते हैं, शायद कुछ लेने की नीयत से आते होंगे। कभी जिन्दगी में धनी नहीं रहा; पर मर्यादा की सदैव रक्षा की है।

राजा—आखिर आप दिन-भर बैठे बैठे वहाँ क्या करते हैं, दिल नहीं घबराता? (मुस्कराकर) समधिनजी में भी तो अब आकर्षण नहीं रहा?

मुन्शीजी—वाह, आप उस आकर्षण का मजा क्या जानेंगे? मेरा तो अनुभव है कि स्त्री-पुरुष का प्रेम-सूत्र दिन-दिन दृढ़ होता जाता है। अब तो राजकुमार का तिलक हो जाना चाहिए। आप भी कुछ दिन शांति का आनन्द उठा लें।

राजा—विचार तो मेरा भी है; लेकिन मुन्शीजी, न-जाने क्या बात है कि जबसे शखधर आया है; क्यों शङ्का हो रही है कि इस मगल मे कोई न-कोई विघ्न अवश्य पड़ेगा। दिल को बहुत समझाता हूँ, लेकिन न-जाने क्यों यह शका अन्दर से निकलने का नाम नहीं लेती।

मुन्शीजी—आप ईश्वर का नाम लेकर तिलक कीजिए। जब टूटी हुई आशाएँ पूरी हो गयीं, तो अब सब कुशल ही होंगी। आज मेरे यहाँ कुछ आनन्दोत्सव होगा। आजकल शहर में अच्छे-अच्छे कलावन्त आये हुए हैं, सभी आयेंगे। आपने कृपा की, तो मेरे सौभाग्य की बात होगी।

राजा—नहीं मुशीजी, मुझे तो क्षमा कीजिए। मेरा चित्त शान्त नहीं। आपसे सत्य कहता हूँ मुशीजी, आज अगर मेरा प्राणान्त हो जाय, तो मुझसे बढ़कर सुखी प्राणी ससार में न होगा। अगर प्राण दे देने की कोई सरल तरकीब मुझे मालूम होती, तो जरूर दे देता। शोक की पराकाष्ठा देख ली। आनन्द की पराकाष्ठा भी देख ली। अब और कुछ देखने की आकाक्षा नहीं है। डरता हूँ, कहीं पलड़ा फिर न दूसरी ओर झुक जाय।

मुशीजी देर तक बैठे राजा साहब को तस्कीन देते रहे, फिर सब महिलाओं को अपने यहाँ आने का निमन्त्रण देकर और शखधर को गले लगाकर वह घोड़े पर सवार हो गये। इस निर्द्वन्द्व जीव ने चिन्ताओं को कभी अपने पास नहीं फटकने दिया। धन की इच्छा थी, ऐश्वर्य की इच्छा थी; पर उनपर जान न देते थे, सचय करना तो उन्होंने सीखा ही न था। थोड़ा मिला तब भी अभाव रहा, बहुत मिला तब भी अभाव रहा। अभाव से जीवन-पर्यन्त उनका गला न छूटा। एक समय था, जब स्वादिष्ट भोजनों को तरसते थे। अब दिल खोलकर दान देने को तरसते हैं। क्या पाऊँ और

क्या दे दूँ ? बस, फ़िक्र थी तो इतनी ही। कमर झुक गयी थी, आँखों से सूझता भी कम था, लेकिन मजलिस नित्य जमती थी, हँसी दिल्लगी करने में कभी न चूकते थे। दिल में कभी किसी से कीना नहीं रखा और न कभी किसी की बुराई चेती।

✿ ✿ ✿

दूसरे दिन सन्ध्या-समय मुंशीजी के घर बड़ी धूम धाम से उत्सव मनाया गया। निर्मला पोते को छाती से लगाकर खूब रोयी। उसका जी चाहता था, यह मेरे ही घर रहता। कितना आनन्द होता! शङ्खधर से बातें करने से उसकी तृप्ति ही न होती थी। अहल्या ही के कारण उसका पुत्र हाथ से गया। पोता भी उसी के कारण हाथ से जा रहा है। इसलिए अब भी उसका मन अहल्या से न मिलता था। निर्मला को अपने बाल-बच्चों के साथ रहकर सभी प्रकार का कष्ट सहना मंजूर था। वह अब इस अन्तिम समय किसी को आँखों की ओट न करना चाहती थी। न जाने कब दम निकल जाय, कब आँखें बन्द हो जायँ। बेचारी किसी को देख भी न सके।

बाहर गाना हो रहा था। मुंशीजी शहर के रईसों की दावत का इन्तजाम कर रहे थे। अहल्या लालटेन ले-लेकर घर-भर की चीजों को देख रही थी और अपनी चीजों के तहस-नहस होने पर मन ही-मन झुँझला रही थी। उधर निर्मला चारपाई पर लेटी शंखधर की बातें सुनने में तन्मय हो रही थी। कमला उसके पाँव दबा रही थी, और शङ्खधर उसे पंखा झल रहा था। क्या स्वर्ग में इससे बढ़कर कोई सुख होगा? इस सुख से उसे अहल्या वंचित कर रही थी। आकर उसका घर मटियामेट कर दिया।

प्रातःकाल जब शङ्खधर विदा होने लगे, तो निर्मला ने कहा—बेटा, अब बहुत दिन न चलूँगी। जब तक जीती हूँ, एक बार रोज आया करना।

मुंशीजी ने कहा—आखिर सैर करने तो रोज ही निकलोगे। घूमते हुए इधर भी आ जाया करो। यह मत समझो कि यहाँ आने से तुम्हारा समय नष्ट होगा। बड़े बूढ़ों के आशीर्वाद निष्फल नहीं जाते। मेरे पास राजपाट नहीं, पर ऐसा धन है, जो राजपाट से कहीं बढ़कर है। बड़ी सेवा, बड़ी तपस्या करके मैंने उसे एकत्र किया है। वह मुझसे ले लो। अगर साल भर भी बिला नागा अभ्यास करो, तो बहुत-कुछ सीख सकते हो। इसी विद्या की बदौलत तुमने पाँच वर्ष देश-विदेश की यात्रा की। कुछ दिन और अभ्यास कर लो, तो पारस हो जाओ।

निर्मला ने मुंशीजी का तिरस्कार करते हुए कहा—भला, रहने दो अपनी विद्या, आये हो वहाँ से बड़े विद्वान् बनके! उसे तुम्हारी विद्या नहीं चाहिए। चाहे तो सारे देश के उस्तादों को बुलाकर गाना सुने। उसे कमी काहे की है?

मुंशी—तुम तो हो मूर्ख। तुमसे कोई क्या कहे? इस विद्या से देवता प्रसन्न हो जाते हैं, ईश्वर के दर्शन हो जाते हैं, तुम्हें कुछ खबर भी है? जो बड़े भाग्यवान् होते हैं, उन्हें ही यह विद्या आती है।

निर्मला—तभी तो बड़े भाग्यवान् हो।

मुंशी—तो और क्या भाग्यहीन हूँ? जिसके ऐसा देव-रूप पोता हो, ऐसी देव-कन्या सी बहू हो, मकान हो, जायदाद हो, चार को खिलाकर खाता हो, क्या वह अभागा है? जिसकी इज्जत-आबरू से निभ जाय, जिसका लोग यश गावें, वही भाग्यवान् है। धन गाड़ लेने ही से कोई भाग्यवान् नहीं हो जाता।

आज राजा साहब के यहाँ भी उत्सव था; इसलिए शङ्खधर इच्छा रहते हुए भी न ठहर सके।

स्त्रियाँ निर्मला के चरणों को अञ्चल से स्पर्श करके विदा हो गयीं, तो शङ्खधर खड़े हुए। निर्मला ने रोते हुए कहा—कल मैं तुम्हारी बाट देखती रहूँगी।

शङ्खधर ने कहा—अवश्य आऊँगा।

जब मोटर पर बैठ गये, तो निर्मला द्वार पर खड़ी होकर उन्हें देखती रही। शङ्खधर के साथ उसका हृदय भी चला जा रहा था। युवकों के प्रेम में उद्विग्नता होती है, वृद्धों का प्रेम हृदय-विदारक होता है। युवक जिससे प्रेम करता है, उससे प्रेम की आशा भी रखता है। अगर उसे प्रेम के बदले प्रेम न मिले, तो वह प्रेम को हृदय से निकालकर फेंक देगा। वृद्ध-जनों की भी क्या यही आशा होती है? वे प्रेम करते हैं और जानते हैं कि इसके बदले में उन्हें कुछ न मिलेगा। या मिलेगी, तो दया। शङ्खधर की आँखों मे आँसू न थे, हृदय में तड़प न थी, वह यों प्रसन्नचित्त चले जा रहे थे, मानो सैर करके लौटे जा रहे हों।

मगर निर्मला का दिल फटा जाता था और मुन्शी वज्रधर की आँखों के सामने अँधेरा छा रहा था।

५३

कई दिन गुजर गये। राजा साहब हरि-भजन और देवोपासना मे व्यस्त थे। इधर ५-६ वर्ष से उन्होंने किसी मन्दिर की तरफ झाँका भी न था। धर्म-चर्चा का बहिष्कार-सा कर रखा था। रियासत में धर्म का खाता ही तोड़ दिया गया था। जो कुछ धार्मिक जीवन था, वह वसुमती के दम से। मगर अब एकाएक देवताओं में राजा साहब की फिर श्रद्धा हो आयी थी। धर्म खाता फिर खोला गया और जो वृत्तियाँ बन्द कर दी गयी थीं, वे फिर से बाँधी गयीं। राजा साहब ने फिर चोला बदला। वह धर्म या देवता किसी के साथ निःस्वार्थ प्रेम नहीं रखते थे। जब सन्तान की ओर से निराशा हो गयी, तो उनका धर्मानुराग भी शिथिल हो गया। जब अहल्या और शखधर ने उनके जीवन क्षेत्र में पदार्पण किया, तब फिर धर्म और दान-व्रत की ओर उनकी रुचि हुई। जब शंखधर चला गया और ऐसा मालूम हुआ कि अब उसके लौटने की आशा नहीं है, तो राजा साहब ने धर्म की अवहेलना ही नहीं की, बल्कि देवताओं के साथ जोर-शोर, से प्रतिरोध भी करने लगे। धर्म-संगत बातों को चुन-चुनकर बन्द किया! अधर्म की बातें चुन चुनकर ग्रहण कीं। शखधर के लौटते ही उनका धर्मानुराग फिर जाग्रत हो गया। सम्पत्ति मिलने ही पर तो रक्षकों की आवश्यकता होती है।

इन दिनों राजा साहब बहुधा एकान्त में बैठे किसी चिन्ता में निमग्न रहते थे, बाहर कम निकलते थे। भोजन से भी उन्हें कुछ अरुचि हो गयी थी। वह मानसिक अन्धकार, जो नैराश्य की दशा में उन्हे घेरे हुए था, अब एकाएक आशा के प्रकाश से छिन्न-भिन्न हो गया था। धर्मानुराग के साथ उनका कर्त्तव्य ज्ञान भी जाग पड़ा था। जैसे जीवन लीला के अन्तिम काण्ड में हमें भक्ति की चिन्ता सवार होती है, बड़े बड़े भोगी भी रामायण और भागवत का पाठ करने लगते हैं, उसी भाँति राजा साहब को भी अब बहुधा अपनी अपकीर्ति पर पश्चात्ताप होता था।

आधी रात से अधिक बीत चुकी थी। रनिवास में सोता पड़ा हुआ था। अहल्या के बहुत समझाने पर भी मनोरमा अपने पुराने भवन में न आयी। वह उसी छोटी कोठरी में पड़ी हुई थी। सहसा राजा साहब ने प्रवेश किया। मनोरमा विस्मित होकर उठ खड़ी हुई।

राजा साहब ने कोठरी को ऊपर-नीचे देखकर करुण-स्वर में कहा—नोरा, मैं आज तुमसे अपना अपराध क्षमा कराने आया हूँ। मैंने तुम्हारे साथ बड़ा अन्याय किया है, इसे क्षमा कर दो। मुझे इतने दिनों तक क्या हो गया था, कह नहीं सकता। ऐसा मालूम होता है कि रोहिणी की मृत्यु के पश्चात् जो दुर्घटनाएँ हुईं, उन्होंने मेरे चित्त को अस्थिर कर दिया। मुझे ऐसा मालूम होता था कि शत्रुओं से घिरा हूँ। मन में भाँति-भाँति की शङ्काएँ उठा करती थीं। किसी पर विश्वास न होता था। अब भी मुझे किसी अनिष्ट की शङ्का हो रही है; लेकिन वह दशा नहीं। तुम मेरी रक्षा के लिए जो कुछ कहती और करती थीं, उसमें मुझे कपट की गन्ध आती थी। अब की ही तुमने मुझे सावधान रहने के लिए कहा था, लेकिन मैं उसका आशय कुछ और ही समझ बैठा था और तुम्हारे ऊपर पहरा बिठा दिया था। अपने होश में रहनेवाला आदमी कभी ऐसी बातें न करेगा।

मनोरमा ने सजल-नेत्र होकर कहा—उन बातों को याद न कीजिए। आपको भी दुःख होता है और मुझे भी दुःख होता है। मेरा ईश्वर ही जानता है कि एक क्षण के लिए भी मेरे हृदय में आपके प्रति दुर्भावना नहीं उत्पन्न हुई।

राजा—जानता हूँ नोरा, जानता हूँ। तुम्हें इस कोठरी में पड़े देखकर इस समय मेरा हृदय फटा जाता है। हाँ! अब मुझे मालूम हो रहा है कि दुर्दिन में मन के कोमल भावों का सर्वनाश हो जाता है और उनकी जगह कठोर एवं पाशविक भाव जाग्रत हो जाते हैं। सच तो यह है नोरा, कि मेरा जीवन ही निष्फल हो गया। प्रभुता पाकर मुझे जो कुछ करना चाहिए था, सो कुछ न किया, जो कुछ करने के मंसूबे दिल में थे, एक भी न पूरे हुए। जो कुछ किया, उल्टा ही किया। मैं रानी देवप्रिया के राज्य-प्रबन्ध पर हँसा करता था; पर मैंने प्रजा पर जितना अन्याय किया, उतना देवप्रिया ने कभी नहीं किया था। मैं कर्ज को काला साँप समझता था, पर आज रियासत कर्ज के बोझ से लदी हुई है। प्रजा रानी देवप्रिया का नाम आज भी आदर के साथ लेती है।

मेरा नाम सुनकर लोग कानों पर हाथ रख लेते हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूँ, मुझे यह रियासत न मिली होती, तो मेरा जीवन कहीं अच्छा होता।

मनोरमा—मुझे भी अकसर यही विचार हुआ करता है।

राजा—अब जीवन-लीला समाप्त करते समय अपने जीवन पर निगाह डालता हूँ, तो मालूम होता है, मेरा जन्म ही व्यर्थ हुआ। मुझसे किसी का उपकार न हुआ। मैं गृहस्थी के उस सुख से भी वंचित रहा, जो छोटे-से-छोटे मनुष्यों के लिए भी सुलभ है। मैंने कुल मिलाकर छः विवाह किये और सातवाँ करने जा रहा था। क्या किसी भी स्त्री को मुझसे सुख पहुँचा? यहाँ तक कि तुम जैसी देवी को भी मैं सुखी न रख सका। नोरा, इसमें रत्ती-भर भी बनावट नहीं है कि मेरे जीवन में अगर कोई मधुर स्मृति है, तो वह तुम हो, और तुम्हारे साथ मैंने यह व्यवहार किया! कह नहीं सकता, मेरी आँखों पर क्या परदा पड़ा हुआ था। शंखधर अपने साथ मेरे हृदय की सारी कोमलताओं को लेता गया था। उसे पाकर आज मैं फिर अपने को पा गया हूँ। सच कहता हूँ, उसके आते ही मैं अपने को पा गया; लेकिन नोरा, हृदय अन्दर-ही-अन्दर काँप रहा है। मैं इस शंका को किसी तरह दिल से बाहर नहीं निकाल सकता कि कोई अनिष्ट होने-वाला है। उस समय मेरी क्या दशा होगी? उसकी कल्पना करके मैं घबरा जाता हूँ, मुझे रोमाञ्च हो जाता है और जी चाहता है, प्राणों का अन्त कर दूँ। ऐसी मालूम होता है, मैं सोने की गठरी लिये भयानक वन में अकेला चला जा रहा हूँ, न-जाने कब डाकुओं का निर्दय हाथ मेरी गठरी पर पड़ जाय। बस, यह धड़कन मेरे रोम-रोम में समायी हुई है!

मनोरमा—जब ईश्वर ने गयी हुई आशाओं को जिलाया है, तो अब सब कुशल ही होगी। अगर अनिष्ट होना होता, तो यह बात ही न होती। मैं तो यही समझती हूँ।

राजा—क्या करूँ नोरा, मुझे इस विचार से शान्ति नहीं होती। मुझे भय होता है कि यह किसी अमंगल का पूर्वाभास है।

यह कहते-कहते राजा साहब मनोरमा के और समीप चले आये और उसके कान के पास मुँह ले जाकर बोले—यह शङ्का बिलकुल अकारण ही नहीं है, नोरा! रानी देवप्रिया के पति मेरे बड़े भाई होते थे। उनकी सूरत शंखधर से बिलकुल मिलती है। जवानी में मैंने उनको देखा था। हूबहू यही सूरत थी। तिल-बराबर भी फर्क नहीं। भाई साहब का एक चित्र भी मेरे अलबम में है। तुम यही कहोगी कि यह शंखधर ही का चित्र है। इतनी समानता तो जुड़वाँ भाइयों में भी नहीं होती। कोई पुराना नौकर नहीं है, नहीं तो मैं इसकी साक्षी दिला देता। पहले शंखधर की सूरत भाई साहब से उतनी ही मिलती थी, जितनी मेरी। अब तो ऐसा जान पड़ता है कि स्वयं भाई साहब ही आ गये हैं।

मनोरमा—तो इसमें शंका की क्या बात है? उसी वृक्ष का फल शंखधर भी तो है।

राजा—आह! नोरा, तुम यह बात नहीं समझ रही हो। तुम्हें कैसे समझा दूँ?

इसमें भयकर रहस्य है, नोरा, ! मैंने अबकी शखधर को देखा, तो चौंक पड़ा। सच कहता हूँ, उसी वक्त मेरे रोयें खड़े हो गये।

मनोरमा—आश्चर्य तो मुझे भी हो रहा है। रानी रामप्रिया आयीं थीं। वह कहती थीं, बहू की सूरत रानी देवप्रिया से बिलकुल मिलती है। वह भी बहू को देखकर विस्मित रह गयी थीं।

राजा ने घबराकर कहा—रामप्रिया ने मुझसे वह बात नहीं कही, नोरा ! अब कुशल नहीं है। मैं तुमसे कहता हूँ नोरा, मेरी बात को यथार्थ समझो। अब कुशल नहीं है। कोई भारी दुर्घटना होनेवाली है। हाँ ! विधाता, इससे तो अच्छा था कि मैं निस्सन्तान ही रहता।

राजा साहब ने विकल होकर दोनों हाथों से सिर पकड़ लिया और चिन्ता में डूब गये। एक क्षण के बाद मानो मन ही-मन यह निश्चय करके, कि अमुक दशा में उन्हें क्या करना होगा, अत्यन्त स्नेह करुण शब्दों में मनोरमा से बोले—क्यों नोरा, एक बात तुमसे पूछूँ, बुरा तो न मानोगी ? मेरे मन में कभी-कभी यह प्रश्न हुआ करता है कि तुमने मुझसे क्यों विवाह किया ? उस वक्त भी मेरी अवस्था ढल चुकी थी। धन का इच्छुक मैंने तुम्हें कभी नहीं पाया। जिन वस्तुओं पर अन्य स्त्रियाँ प्राण देती हैं, उनकी ओर मैंने तुम्हारी रुचि कभी नहीं देखी। क्या वह केवल ईश्वरीय प्रेरणा थी, जिसके द्वारा पूर्व-पुण्य का उपहार दिया गया हो ?

मनोरमा ने मुस्कराकर कहा—दण्ड कहिए।

राजा—नहीं नोरा, मैंने जीवन में जो कुछ सुख और स्वाद पाया, वह तुम्हारे स्नेह और माधुर्य में पाया। यह भाग्य की निर्दय क्रीड़ा है कि जिसे मैं अपना सुख-सर्वस्व समझता था, उसपर सबसे अधिक अन्याय किया, किन्तु अब मुझे अपने अन्याय पर दुख के बदले एक प्रकार का सन्तोष हो रहा है। वह परीक्षा थी, जिसने तुम्हारे सतीत्व को और भी उज्ज्वल कर दिया, जिसने तुम्हारे हृदय की उस अपार कोमलता का परिचय दे दिया, जो कठोर होना नहीं जानती, जो कञ्चन की भाँति तपने पर और भी विशुद्ध एव उज्ज्वल हो जाती है। इस परीक्षा के बिना तुम्हारे ये गुण छिपे रह जाते। मैंने तुम्हारे साथ जो जो नीचताएँ कीं, वे किसी दूसरी स्त्री में शत्रुता के भाव उत्पन्न कर देती। वह मानसिक वेदना, वह अपमान, वह दुर्जनता दूसरा कौन सहता और सहकर हृदय में मैल न आने देता ? इसका बदला मैं तुम्हें क्या दे सकता हूँ ?

मनोरमा—स्त्री क्या बदले ही के लिए पुरुष की सेवा करती है ?

राजा—इस विषय को और न बढ़ाओ मनोरमा, नहीं तो कदाचित् तुम्हें मेरे मुँह से अपनी अन्य बहनों के विषय में अप्रिय सत्य सुनना पड़ जाय। मेरे उस प्रश्न का उत्तर दो, जो अभी मैंने तुमसे किया था। वह कौन सी बात थी, जिसने तुम्हें मुझसे विवाह करने की प्रेरणा की ?

मनोरमा—बता दूँ ! आप हँसियेगा तो नहीं ? मैं रानी बनना चाहती थी। मैंने

बाबूजी से अपनी तारीफ सुनी थी। इसका भी एक कारण था—आपकी सहृदयता और आपकी विश्वासमय सेवा।

राजा—रानी किसलिए बनना चाहती थीं, नोरा?

मनोरमा—आप राजा जिस लिए बनना चाहते थे। उसी लिए मैं रानी बनना चाहती थी। कीर्ति, दान, यश, सेवा, मैं इन्हीं को अधिकार के सुख समझती हूँ; प्रभुता और विलास को नहीं।

राजा—इसका आशय यही है न, कि कीर्ति तुम्हारे जीवन की सबसे बड़ी आकांक्षा थी या कुछ और? कीर्ति के लिए तुमने यौवन के अन्य सुखों का त्याग कर दिया। मैं यह पहले से ही जानता था नोरा, और इसी लिए स्वभाव से कृपण होने पर भी मैंने कभी तुम्हारे उपकार के कामों में बाधा नहीं डाली। मेरे लिए सेवा और उपकार गौण बातें थीं। अधिकार, ऐश्वर्य, शासन इन्हीं को मैं प्रधान समझता है। तुम्हारा आदर्श कुछ और है, मेरा कुछ और। जब कीर्ति के लिए तुमने जीवन के और सभी सुखों पर लात मार दी, तो मैं चाहता हूँ कि कोई ऐसी व्यवस्था कर दूँ, जिसमे तुम्हें आगे चल कर किसी बाधा का सामना न करना पड़े। कौन जानता है कि क्या होने वाला है, नोरा! पर मैं यह आशा कदापि नहीं करता कि शङ्खधर तुम्हें प्रसन्न रखने की उतनी चेष्टा करेगा, जितनी उसे करनी चाहिए। मैं उसकी बुराई नहीं कर रहा हूँ। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है, इसलिए मैं यह चाहता हूँ कि रियासत का एक भाग तुम्हारे नाम लिख दूँ। मेरी बात सुन लो, मनोरमा! मैंने दुनिया देखी है और दुनिया का व्यवहार जानता हूँ। इसमे न मेरी कोई हानि है, न तुम्हारी और न शङ्खधर की। तुम्हें इसका अख्तियार होगा कि यदि इच्छा हो, तो अपना हिस्सा शंखधर को दे दो; लेकिन एक हिस्से पर तुम्हारा नाम होना जरूरी है। मैं कोई आपत्ति न मानूँगा।

मनोरमा—मेरी कीर्ति अब इसी मे है कि आपकी सेवा करती रहूँ।

राजा—नोरा, तुम अब भी मेरी बातें नहीं समझीं। मेरे मन मे कैसी-कैसी शङ्काएँ हैं, यह मैं तुमसे कहूँ, तो तुम्हारे ऊपर जुल्म होगा। मुझे लक्षण बुरे दिखायी दे रहे हैं।

मनोरमा ने अब की दृढ़ता से कहा—शङ्काएँ निर्मूल हैं; लेकिन यदि ईश्वर कुछ बुरा ही करने वाले हो, तो भी मैं शङ्खधर की प्रतियोगिनी बनना स्वीकार न करूँगी, जिसे मैंने पुत्र की भाँति पाला है। चक्रधर का पुत्र इतना कृतघ्न नहीं हो सकता।

राजा ने जाँघ पर हाथ पटक कर कहा—नोरा, तुम अब भी नहीं समझीं। खैर, कल से तुम नये भवन में रहोगी। यह मेरी आज्ञा है।

यह कहते हुए वह उठ खड़े हुए। बिजली के निर्मल प्रकाश में मनोरमा उन्हें खड़ी देखती रही। गर्व से उसका हृदय फूला न समाता था। इस बात का गर्व नहीं था कि अब फिर रियासत में उसकी तूती बोलेगी, फिर वह मन-माना धन लुटायेगी।

गर्व इस बात का था कि मेरे स्वामी इतना आदर करते हैं। आज विशालसिंह ने मनोरमा के हृदय पर अन्तिम विजय पायी। आज मनोरमा को अपने स्वामी की सहृदयता ने जीत लिया। प्रेम सहृदयता ही का रसमय रूप है। प्रेम के अभाव में सहृदयता ही दम्पति के सुख का मूल हो जाती है।

५४

राजा साहब को अब किसी तरह शान्ति न मिलती थी। कोई-न-कोई भयंकर विपत्ति आनेवाली है, इस शंका को वह दिल से न निकाल सकते थे। दो-चार प्राणियों को जोर-जोर से बातें करते सुनकर वह घबरा जाते थे कि कोई दुर्घटना तो नहीं हो गयी। शंखधर कहीं जाता, तो जब तक वह कुशल से लौट न आये, वह व्याकुल रहते थे। उनका जी चाहता था कि वह मेरी आँखों के सामने से दूर न हो। उसके मुख की ओर देखकर उनकी आँखें आप ही-आप सजल हो जाती थीं। वह रात को उठकर ठाकुर-द्वारे में चले जाते और घण्टों ईश्वर की वन्दना किया करते। जो शंका उनके मन में थी, उसे प्रगट करने का उन्हें साहस न होता था। वह उसे स्वयं व्यक्त करते थे। वह अपने मरे हुए भाई की स्मृति को मिटा देना चाहते थे, पर वह सूरत आँखों से न टलती थी। कोई ऐसी क्रिया, ऐसी आयोजना, ऐसी विधि न थी, जो इस पर मँडरानेवाले संकट का मोचन करने के लिए न की जा रही हो, पर राजा साहब को शान्ति न मिलती थी।

सन्ध्या हो गयी थी। राजा साहब ने मोटर मँगवायी और मुंशी वज्रधर के मकान पर जा पहुँचे। मुंशीजी की संगीत मण्डली जमा हो गयी थी। संगीत ही उनका दान, व्रत, ध्यान और तप था। उनकी सारी चिन्ताएँ और सारी बाधाएँ संगीत स्वरों में विलीन हो जाती थीं। मुंशीजी राजा साहब को देखते ही खड़े होकर बोले—आइए, महाराज! आज ग्वालियर के एक आचार्य का गाना सुनवाऊँ। आपने बहुत गाने सुने होंगे, पर इनका गाना कुछ और ही चीज है।

राजा साहब मन में मुंशीजी की बेफिक्री पर झुँझलाये। ऐसे प्राणी भी संसार में हैं, जिन्हें अपने विलास के आगे किसी वस्तु की परवा नहीं। शंखधर से मेरा और इनका एक-सा सम्बन्ध है, पर यह अपने संगीत में मस्त है और मैं शङ्काओं से व्यग्र हो रहा हूँ। सच है—'सबसे अच्छे मूढ़, जिन्हें न व्यापत जगत-गति।' बोले—इसी-लिए तो आया ही हूँ, पर जरा देर के लिए आपसे कुछ बातें करना चाहता हूँ।

दोनों आदमी अलग एक कमरे में जा बैठे। राजा साहब सोचने लगे, किस तरह बात शुरू करूँ? मुंशीजी ने उनको असमंजस में देखकर कहा—मेरे लायक जो काम हो, फरमाइए। आप बहुत चिन्तित मालूम होते हैं। बात क्या है?

राजा—मुझे आपके जीवन पर डाह होता है। आप मुझे भी क्यों नहीं निर्द्वन्द्व रहना सिखा देते?

मुंशी—यह तो कोई कठिन बात नहीं। इतना समझ लीजिए कि ईश्वर ने संसार

की सृष्टि की है और वही इसे चलाता है। जो कुछ उसकी इच्छा होगी, वही होगा। फिर उसकी चिन्ता का भार क्यों लें?

राजा—यह तो बहुत दिनों से जानता हूँ। पर इससे चित्त को शान्ति नहीं होती! अब मुझे मालूम हो रहा है कि संसार में मन लगाना ही सारे दुःख का मूल है। जगदीशपुर-राज्य को भोगना ही मेरे जीवन का लक्ष्य था। मैंने अपने जीवन में जो कुछ किया, इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए। अपने जीवन पर कभी एक क्षण के लिए भी विचार नहीं किया। जीवन का सदुपयोग कैसे होगा, इस पर कभी ध्यान नहीं दिया। जब राज्य न था, तब अवश्य कुछ दिनों के लिए सेवा के भाव मन में जाग्रत हुए थे—वह भी बाबू चक्रधर के सत्संग से। राज्य मिलते ही मेरी कायापलट हो गयी। फिर कभी आत्म-चिन्तन की नौबत न आयी। शंखधर को पाकर मैं निहाल हो गया। मेरे जीवन में ज्योति-सी आ गयी। मैं सब कुछ पा गया; पर अबकी जब से शंखधर लौटा है, मुझे उसके विषय में भयंकर शंका हो रही है। आपने मेरे भाई साहब को देखा था?

मुंशी—जी नहीं, उन दिनों तो मैं यहाँ से बाहर नौकर था। अजी, तब इल्म की कदर थी। मिडिल पास करते ही सरकारी नौकरी मिल गयी थी। स्कूल में कोई लड़का मेरी टक्कर का न था। अध्यापकों को भी मेरी बुद्धि पर आश्चर्य होता था। बड़े पण्डित-जी कहा करते थे, यह लड़का एक दिन ओहदे पर पहुँचेगा। उनकी भविष्यवाणी उस दिन पूरी हुई, जब मैं तहसीलदारी पर पहुँचा।

राजा—भाई साहब की सूरत आज तक मेरी आँखों में फिर रही है। यह देखिये, उनकी तसवीर है।

राजा साहब ने एक फोटो निकालकर मुंशीजी को दिखाया। मुंशीजी उसे देखते ही बोले—यह तो शंखधर की तसवीर है।

राजा—नहीं साहब, यह मेरे बड़े भाई का फोटो है। शंखधर ने तो अभी तक तसवीर ही नहीं खिचवायी; न-जाने तसवीर खिचवाने से उसे क्यों चिढ़ है।

मुन्शी—मैं इसे कैसे मान लूँ? यह तसवीर साफ शंखधर की है।

राजा—तो मालूम हो गया कि मेरी आँखें धोखा नहीं खा रही थीं।

राजा—जी हाँ, यकीन मानिए।

मुंशी—तब तो बड़ी विचित्र बात है।

राजा—अब आपसे क्या अर्ज करूँ? मुझे बड़ी शंका हो रही है, रात को नींद नहीं आती। दिन को बैठे-बैठे चौंक पड़ता हूँ। दो प्राणियों की सूरतें कभी इतनी नहीं मिलतीं। भाई साहब ने ही फिर मेरे घर में जन्म लिया है, इसमें मुझे बिल्कुल शंका नहीं रही। ईश्वर ही जाने, क्यों उन्होंने कृपा की है, अगर शंखधर का बाल भी बाँका हुआ, तो मेरे प्राण न बचेंगे।

मुन्शी—ईश्वर चाहेंगे तो सब कुशल होगी। घबराने की कोई बात नहीं। कभी-कभी ऐसा होता है।

राजा—अगर ईश्वर चाहते कि कुशल हो, तो यह समस्या ही क्यों आगे आती ? उन्हें कुछ-न-कुछ अनिष्ट करना है। मेरी शका निर्मूल नहीं है मुन्शीजी ! बहू की सूरत भी रानी देवप्रिया से मिल रही है। रामप्रिया तो बहू को देखकर मूर्च्छित हो गयी थी। वह कहती थी, देवप्रिया ही ने अवतार लिया है। भाई और भावज का फिर इस घर में अवतार लेना क्या अकारण ही है ? भगवान, अगर तुम्हें फिर वही लीला दिखानी हो, तो मुझे ससार से उठा लो।

मुन्शीजी ने अबकी कुछ चिन्तित होकर कहा—यह तो वास्तव में बड़ी विचित्र बात है।

राजा—विचित्र नहीं है मुन्शीजी, इस रियासत का सर्वनाश होनेवाला है। रानी देवप्रिया ने अगर जन्म लिया है, तो वह कभी सधवा नहीं रह सकती। उसे न जाने कितने दिनों तक अपने पूर्व-कर्मों का प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। दैव ने मुझे दण्ड देने ही के लिए मेरे पूर्व कर्मों के फल स्वरूप यह विधान किया है, पर आप देख लीजिएगा, मैं अपने को उसके हाथों की कठपुतली न बनाऊँगा, अगर मैंने बुरे कर्म किये हैं तो मुझे चाहे जो दण्ड दो, मैं उसे सहर्ष स्वीकार करूँगा। मुझे अन्धा कर दो, भिक्षुक बना दो, मेरा एक-एक अग गल-गलकर गिरे, मैं दाने दाने का मुहताज हो जाऊँ। ये सारे ही दण्ड मुझे मजूर हैं, लेकिन शखधर का सिर भी दुखे, यह मै नहीं सहन कर सकता। इसके पहले मैं अपनी जान दे दूँगा। विधाता के हाथ की कठपुतली न बनूँगा।

मुन्शी—आपने किसी पण्डित से इस विषय मे पूछ-ताछ नहीं की ?

राजा—जी नहीं, किसी से नहीं। जो बात प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, उसे किसी से क्या पूछूँ ? कोई अनुष्ठान, कोई प्रायश्चित्त इस सकट को नहीं टाल सकता। उसके रूप की कल्पना करके मेरी आँखों में अँधेरा छा जाता है। पण्डित लोग अपने स्वार्थ के लिए तरह-तरह के अनुष्ठान बता देंगे, लेकिन अनुष्ठानों से क्या विधि का विधान पलटा जा सकता है ? मैं अपने को इस धोखे में नहीं डाल सकता। मुन्शीजी, अनुष्ठानों का मूल्य मैं खूब जानता हूँ। माया बड़ी कठोर-हृदया होती है। मुन्शीजी ! मैंने जीवन-पर्यन्त उसकी उपासना की है। कर्म-अकर्म का एक क्षण भी विचार नहीं किया। उसका मुझे यह उपहार मिल रहा है ! लेकिन मैं उसे दिखा दूँगा कि वह मुझे अपने विनोद का खिलौना नहीं बना सकती। मैं उसे कुचल दूँगा, जैसे कोई जहरीले साँप को कुचल डालता है। अपना सर्वनाश अपनी आँखों देखने ही में दुःख है। मैं उस पिशाचिनी को यह अवसर न दूँगा कि वह मुझे रुलाकर आप हँसे। मैं ससार के सबसे सुखी प्राणियों में हूँ। इसी दशा में हूँ और इसी दशा में ससार से बिदा हो जाऊँगा। मेरे बाद मेरा निर्माण किया हुआ भवन रहेगा या गिर पड़ेगा, इसकी मुझे चिन्ता नहीं। अपनी आँखों से अपना सर्वनाश न देखूँगा। मुझे आश्चर्य हो रहा है कि इस स्थिति में भी आप कैसे सगीत का आनन्द उठा सकते हैं ?

मुन्शीजी ने गम्भीर भाव से कहा—मैं अपनी जिन्दगी में कभी नहीं रोया। ईश्वर ने

जिस दशा में रखा, उसी में प्रसन्न रहा। फाके भी किये हैं और आज ईश्वर की दया से पेट भर भोजन भी करता हूँ, पर रहा एक ही रस। न साथ कुछ लाया हूँ; न ले जाऊँगा। व्यर्थ क्यों रोऊँ?

राजा—आप ईश्वर को दयालु समझते हैं? ईश्वर दयालु नहीं है।

मुंशी—मैं तो ऐसा नहीं समझता।

राजा—नहीं, वह पल्ले सिरे का कपटी व निर्दयी जीव है, जिसे अपने ही रचे हुए प्राणियों को सताने में आनन्द मिलता है, जो अपने ही बालकों के बनाये हुए घरौंदे रौंदता फिरता है। आप उसे दयालु कहें, ससार उसे दयालु कहे, मैं तो नहीं कह सकता। अगर मेरे पास शक्ति होती, तो मैं उसका यह सारा विधान उलट-पलट देता। उसमें ससार के रचने की शक्ति है, किन्तु उसे चलाने की नहीं!

राजा साहब उठ खड़े हुए और चलते-चलते गम्भीर भाव से बोले—जो बात पूछने आया था, वह तो भूल ही गया। आपने साधु सन्तों की बहुत सेवा की है। मरने के बाद जीव को किसी बात का दुःख तो नहीं होता?

मुशी—सुना तो यही है कि होता है और उससे अधिक होता है, जितना जीवन में।

राजा—झूठी बात है, बिलकुल झूठी। विश्वास नहीं आता। उस लोक के दुःख-सुख और ही प्रकार के होंगे। मैं तो समझता हूँ, किसी बात की याद ही न रहती होगी। सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर ये सब विद्वानों के गोरख-धन्धे हैं। उनमें न पड़ूँगा। अपने को ईश्वर की दया और भय के धोखे में न डालूँगा। मेरे बाद जो कुछ होना है, वह तो होगा ही, आपसे इतना ही कहना है कि अहल्या को ढाढ़स दीजियेगा। मनोरमा की ओर से मैं निश्चिन्त हूँ। वह सभी दशाओं में सँभल सकती है। अहल्या उस वज्राघात को न सह सकेगी।

मुंशीजी ने भयभीत होकर राजा साहब का हाथ पकड़ लिया और सजल नेत्र होकर बोले—आप इतने निराश क्यों होते हैं? ईश्वर पर भरोसा कीजिए। सब कुशल होगी।

राजा—क्या करूँ, मेरा हृदय आपका-सा नहीं है। शखधर का मुँह देखकर मेरा खून ठण्डा हो जाता है। वह मेरा नाती नहीं, शत्रु है। इससे कहीं अच्छा था कि निस्सन्तान रहता। मुंशीजी, आज मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि निर्धन होकर मैं इससे कहीं सुखी रहता।

राजा साहब द्वार की ओर चले। मुंशीजी भी उनके साथ मोटर तक आये। शङ्का के मारे मुँह से शब्द न निकलता था। दीन-भाव से राजा साहब की ओर देख रहे थे, मानो प्राण-दान माँग रहे हों।

राजा साहब ने मोटर पर बैठकर कहा—अब तकलीफ न कीजिए, जो बात कही है, उसका ध्यान रखिएगा।

मुन्शीजी मूर्तिवत् खड़े रहे। मोटर चली गयी।

५५

शंखधर राजकुमार होकर भी तपस्वी है। विलास की किसी भी वस्तु से उसे प्रेम नहीं। दूसरों से वह बहुत प्रसन्न होकर बातें करता है। अहल्या और मनोरमा के पास वह घण्टों बैठा गप-शप किया करता है। दादा और दादी के समीप जाकर तो उसकी हँसी की पिटारी सी खुल जाती है, लेकिन सैर शिकार से कोसों भागता है। एकान्त में बैठा हुआ वह नित्य गहरे विचारों में मग्न रहता है। उसके जी में बार बार आता है कि पिताजी के पास चला जाऊँ, पर घरवालों के दुःख का विचार करके जाने की हिम्मत नहीं पड़ती। जब उसके पिता ने सेवाव्रत ले रखा है, तो वह किस हृदय से राज-सुख भोगे? नरम-नरम तकिये उसके हृदय में काँटे के समान चुभते हैं, स्वादिष्ट भोजन उसे जहर की तरह लगता है।

पर सबसे विचित्र बात यह है कि वह कमला से भागता रहता है। युवती देवप्रिया अब वह रानी कमला नहीं है, जो हर्षपुर में तप और व्रत में मग्न रहती थी। वे सभी कामनाएँ, जो रमणी के हृदय में लहरें मारा करती हैं, उदित हो गयी हैं। यह नित्य नये रूप बदलकर शंखधर के पास आती है, पर ठीक उसी समय शंखधर को या तो कोई जरूरी काम बाहर ले जाता है, या वह कोई धार्मिक प्रश्न उठा देता है। रात को भी शंखधर कुछ-न कुछ पढता लिखता रहता है। कभी कभी सारी रात पढ़ने में कट जाती है। देवप्रिया उसकी राह देखती देखती सो जाती है। विपत्ति तो यह है कि देवप्रिया को पूर्व-जीवन की सभी बातें याद हैं, वायुयान का दृश्य भी याद है, पर वह सोचती है, एक बार ऐसा हुआ, तो क्या बार-बार होगा? उसने अपना वैधव्य कितने संयम से व्यतीत किया था। पूर्व कर्मों का प्रायश्चित्त इतने पर भी पूरा नहीं हुआ?

प्रकृति माधुर्य में डूबी हुई है। आधी रात का समय है। चारों तरफ चाँदनी छिटकी हुई है! वृक्षों के नीचे कैसा सुन्दर जाल बिछा हुआ है! क्या पक्षी हृदय को फँसाने के लिए? नदियों पर कैसा सुन्दर जाल है! क्या मीन-हृदय को तड़पाने के लिए? ये जाल किसने फैला रखे हैं?

देवप्रिया ने आज अपने आभूषण उतार दिये हैं, केश खोल दिये हैं और वियोगिनी के रूप में पति से प्रेम की भिक्षा माँगने जा रही है। आईने के सामने जाकर खड़ी हो गयी। आईना चमक उठा। देवप्रिया विजय गर्व से मुस्करायी। कमरे के बाहर निकली।

सहसा उसके अन्तःकरण में कहीं से आवाज आयी, 'सर्वनाश!' देवप्रिया के पाँव रुक गये। देह शिथिल पड़ गयी। उसने भीत-दृष्टि से इधर उधर देखा। फिर आगे बढ़ी।

उसी समय वायु बड़े वेग से चली। कमरे में कोई चीज 'खट-खट!' करती हुई नीचे गिर पड़ी। देवप्रिया ने कमरे में जाकर देखा। शङ्खधर का तैल-चित्र संगमरमर की भूमि पर गिरकर चूर-चूर हो गया था। देवप्रिया के अन्तःकरण में फिर वही आवाज आयी—सर्वनाश! उसके रोयें खड़े हो गये। पुष्प के समान कोमल शरीर मुरझा गया।

वह एक क्षण तक खड़ी रही। फिर आगे बढ़ी।

शङ्खधर दीवानखाने में बैठे हुए सोच रहे थे। मेरे बार-बार जन्म लेने का हेतु क्या है? क्या मेरे जीवन का उद्देश्य जवान होकर मर जाना ही है? क्या मेरे जीवन की अभिलाषाएँ कभी पूरी न होंगी? संसार के और सब प्राणियों के लिए यदि भोग-विलास वर्जित नहीं है, तो मेरे ही लिए क्यों है? क्या परीक्षा की आग में जलते ही रहना मेरे जीवन का ध्येय है?

देवप्रिया द्वार पर आकर खड़ी हो गयी।

शंखधर ने उसका अलंकार-विहीन रूप देखा, तो उन्मत्त हो गये। अलंकारों का त्याग करके वह मोहिनी हो गयी थी।

देवप्रिया ने द्वार पर खड़े-खड़े कहा—अन्दर आऊँ!

शंखधर के अन्तःकरण में कहीं से आवाज आयी। मुँह से कोई शब्द न निकला।

देवप्रिया ने फिर कहा—अन्दर आऊँ?

शङ्खधर ने कातर स्वर मे कहा—नेकी और पूछ-पूछ!

देवप्रिया—नहीं प्रियतम, तुम्हारे पास आते डर लगता है।

शङ्खधर ने एक पग आगे बढ़कर देवप्रिया का हाथ पकड़ा और अन्दर खींच लिया। उसी वक्त वायु का वेग प्रचण्ड हो गया। बिजली का दीपक बुझ गया। कमरे में अन्धकार छा गया।

देवप्रिया ने सहमी हुई आवाज मे कहा—मुझे छोड़ दो!

उसका हृदय धक-धक कर रहा था।

सितार पर चोट पड़ते ही जैसे उसके तार गूँज उठते हैं, वैसे ही शङ्खधर का स्नायु-मण्डल थरथरा उठा। रमणी को कर-पाश में लपेट लेने की प्रबल इच्छा हुई। मन को सँभालकर कहा—घर आयी हुई लक्ष्मी को कौन छोड़ता है!

देवप्रिया—बिना बुलाया मेहमान बिना कहे जा भी तो सकता है।

शङ्खधर की विचित्र दशा थी। भीतर भय था, बाहर इच्छा। मन पीछे हटता था, पैर आगे बढ़ते थे। उसने बिजली का बटन दबाकर कहा—लक्ष्मी बिना बुलाये नहीं आती प्रिये! कभी नहीं। उपासक का हृदय अव्यक्त-रूप से नित्य उसकी कामना करता ही रहता है। वह मुँह से कुछ न कहे, पर उसके रोम-रोम से आह्वान के शब्द निकलते रहते हैं।

देवप्रिया की चिर-क्षुधित प्रेमाकांक्षा आतुर हो उठी। अनन्त वियोग से तड़पता हुआ हृदय आलिंगन के लिए चीत्कार करने लगा। उसने अपना सिर शङ्खधर के वक्षःस्थल पर रख दिया और दोनों बाँहें उसके गले में डाल दीं। कितना कोमल, कितना मधुर, कितना अनुरक्त स्पर्श था! शङ्खधर प्रेमोल्लास से विभोर हो गया। उसे जान पड़ा कि पृथ्वी नीचे काँप रही है और आकाश ऊपर उड़ा जाता है। फिर ऐसा हुआ कि वज्र बड़े वेग से उसके सिर पर गिरा।

वह मूर्च्छित हो गया।

देवप्रिया के अन्तःकरण में फिर आवाज आयी—'सर्वनाश! सर्वनाश! सर्वनाश! घबराकर बोली—प्रियतम, तुम्हें क्या हो गया? हाय! तुम कैसे हुए जाते हो? हाय! मैं जानती कि मुझ पापिनी के कारण तुम्हारी यह दशा होगी, तो अन्तकाल तक वियोगाग्नि में जलती रहती, पर तुम्हारे निकट न आती। प्यारे, आँखें खोलो, तुम्हारी कमला रो रही है।

शखधर ने आँखें खोल दीं। उनमें अकथनीय शोक था, असहनीय वेदना थी, अपार तृष्णा थी।

अत्यन्त क्षीण स्वर से बोला—प्रिये! फिर मिलेंगे। यह लीला उस दिन समाप्त होगी, जब प्रेम मे वासना न रहेगी!

चाँदनी अब भी छिटकी हुई थी। वृक्षों के नीचे अब भी चाँदनी का जाल बिछा हुआ था। जल-क्षेत्र में अब भी चाँदनी नाच रही थी। वायु सगीत अब भी प्रवाहित हो रहा था, पर देवप्रिया के लिए चारों ओर अन्धकार और शून्य हो गया था।

सहसा राजा विशालसिंह द्वार पर आकर खड़े हो गये।

देवप्रिया ने विलाप करके कहा—हाय नाथ! तुम मुझे छोड़कर कहाँ चले गये? क्या इसीलिए, इसी क्षणिक मिलाप के लिए मुझे हर्षपुर से लाये थे?

राजा साहब ने यह करुण-विलाप सुना और उनके पैरों-तले से जमीन निकल गयी। उन्होंने विधि को परास्त करने का सकल्प किया था। विधि ने उन्हें परास्त कर दिया। वह विधि को हाथों का खिलौना बनाना चाहते थे। विधि ने दिखा दिया, तुम मेरे हाथ के खिलौने हो। वह अपनी आँखों से जो कुछ न देखना चाहते थे, वह देखना पड़ा और इतनी जल्द! आज ही वह मुशी वज्रधर के पास से लौटे थे। आज ही उनके मुँह से वे अहंकारपूर्ण शब्द निकले थे। आह! कौन जानता था कि विधि इतनी जल्द यह सर्वनाश कर देगा! इससे पहले कि वह अपने जीवन का अन्त कर दें, विधि ने उनकी आशाओं का अन्त कर दिया।

राजा साहब ने कमरे में जाकर शखधर के मुख की ओर देखा। उनके जीवन का आधार निर्जीव पड़ा हुआ था। यही दृश्य आज से पचास वर्ष पहले उन्होंने देखा था। यही शंखधर था! हाँ, यही शखधर था! यही कमला थी! हाँ, यही कमला थी! वह स्वय बदल गये थे। उस समय दिल में मनसूबे थे, बड़े-बड़े इरादे थे। आज नैराश्य और शोक के सिवा कुछ न था।

उनके मुख से विलाप का एक शब्द भी न निकला। आँखों से आँसू की एक बूँद भी न गिरी। खड़े खड़े भूमि पर गिर पड़े और दम निकल गया।

५६

शखधर के चले आने के बाद चक्रधर को ससार शून्य जान पड़ने लगा। सेवा का

वह पहला उत्साह लुप्त हो गया। उसी सुन्दर युवक की सूरत आँखों मे नाचती रहती। उसी की बातें कानों में गूँजा करतीं। भोजन करने बैठते, तो उसकी जगह खाली देख-कर उनके मुँह मे कौर न धँसता। हरदम कुछ खोये-खोये-से रहते। बार-बार यही जी चाहता था कि उसके पास चला जाऊँ। बार-बार चलने का इरादा करते; पर रुक जाते। साईंगञ्ज से जाने का अब उनका जी नहीं चाहता था। इतने दिनों तक वह एक जगह कभी नहीं रहे। शंखधर जिस कम्बल पर सोता था, उसे वह रोज झाड़-पोछकर तह करते हैं। शखधर अपनी खँजरी यहीं छोड़ गया है। चक्रधर के लिए ससार में इससे बहूमूल्य कोई वस्तु नहीं है। शखधर की पुरानी धोती और फटे हुए कुरते सिरहाने रखकर सोते हैं। रमणी अपने सुहाग के जोड़े की भी इतनी देख रेख न करती होगी।

सन्ध्या हो गयी है। चक्रधर मन्दिर के दालान बैठे हुए चलने की तैयारी कर रहे हैं। अब यहाँ नहीं रहा जा सकता। उस देवकुमार को देखने के लिए आज वह बहुत विकल हो रहे हैं।

गाँव के चौधरी ने आकर कहा—महाराज, आप व्यर्थ गठरी बाँध रहे हैं। हम लोगों का प्रेम आपको फिर आधे रास्ते से खींच लायेगा। आप हमारी विनती न सुनें पर प्रेम की रस्सी को कैसे तोड़ डालिएगा ?

चक्रधर—नहीं भाई, अब जाने दो। बहुत दिन हो गये।

चौधरी का लड़का नीचे रखी हुई खँजरी उठाकर बजाने लगा। चक्रधर ने उसके हाथ से खँजरी छीन ली और बोले—खँजरी हमें दे दो बेटा, टूट जायगी।

लड़के ने रोकर कहा—हम खँजरी लेंगे।

चौधरी ने चक्रधर की ओर देखकर कहा—बाबाजी के चरण छुओ, तो दिला दूँ।

चक्रधर बोले—नहीं भाई, खँजरी न दूँगा। यह खँजरी उस युवक की है, जो कई दिनों तक मेरे पास रहा था। दूसरे की चीज कैसे दे दूँ ?

गाँव के बहुत-से आदमी जमा हो गये। चक्रधर विदा हुए। कई आदमी मील भर तक उनके साथ आये।

लेकिन प्रातःकाल लोग मन्दिर पर पूजा करने आये, तो देखा कि बाबा भगवान-दास चबूतरे पर झाड़ू लगा रहे हैं।

एक आदमी बोला—हम कहते थे, महाराज न जाइए, लेकिन आपने न माना। आखिर हमारी भक्ति खींच लायी न। अब इसी गाँव में आपको कुटी बनानी पड़ेगी।

चक्रधर ने सकुचाते हुए कहा—अभी यहाँ कुछ दिन और अन्न-जल है भाई, सचमुच इस गाँव की मुहब्बत नहीं छोड़ती।

चक्रधर ने मन मे निश्चय किया, अब शखधर को देखने का इरादा कभी न करूँगा। वह अपने घर पहुँच गया। सम्भव है, उसका तिलक भी हो गया हो। मेरी याद भी उसे न आती होगी। मैं व्यर्थ ही उसके लिए इतना चिन्तित हूँ। पुत्र सभी के

होते हैं, पर उसके पीछे कोई इतना अन्धा नहीं हो जाता कि और सब काम छोड़कर बस उसी के नाम रोता रहे।

फिर सोचा—एक बार देख आने में हरज ही क्या है? कोई मुझे बाँध तो रखेगा नहीं। जब उस वक्त कोई न रोक सका, तो अब कौन रोकेगा? जरा देखूँ, किस ढंग से राज करता है। मेरे उपदेशों का कुछ फल हुआ, या पड़ गया उसी चक्कर में? धुन का पक्का तो जरूर है। कर्मचारियों के हाथ की कठपुतली तो शायद न बने, मगर कुछ कहा नहीं जा सकता। मानवीय चरित्र इतना जटिल है कि बुरे-से-बुरा आदमी देवता हो जाता है, और अच्छे-से-अच्छा आदमी भी पशु। मुझे देखकर झेंपेगा तो क्या! मैं यों उसके सम्मुख जाऊँ ही क्यों? दूर ही से देखकर चला आऊँगा। रंग-ढंग तो दो-चार आदमियों से बातें करते ही मालूम हो जायगा।

यह सोचते-सोचते चक्रधर सो गये। रात को उन्हें एक भयंकर स्वप्न दिखाई दिया। क्या देखते हैं कि शंखधर एक नदी के किनारे उनके साथ बैठा हुआ है। सहसा दूर से एक नाव आती हुई दिखायी दी। उसमें से मन्नासिंह उतर पड़ा। उसने हँसकर कहा—बाबूजी, यही राजकुमार हैं न? मैं बहुत दिनों से खोज रहा हूँ। राजा साहब इन्हें बुला रहे हैं। शंखधर उठकर मन्नासिंह के साथ चला। दोनों नाव पर बैठे, मन्नासिंह डाँड़ चलाने लगा। चक्रधर किनारे ही खड़े रह गये। नाव थोड़ी ही दूर जाकर चक्कर खाने लगी। शंखधर ने दोनों हाथ उठाकर उन्हें बुलाया। वह दौड़े, पर इतने में नाव डूब गयी। एक क्षण में फिर नाव ऊपर आ गयी। मन्नासिंह पूर्ववत् डाँड़ चला रहा था, पर शंखधर का पता न था।

चक्रधर जोर से एक चीख मारकर जग पड़े। उनका हृदय धक-धक कर रहा था। उनके मुख से ये शब्द निकल पड़े—ईश्वर! यह स्वप्न है, या होनेवाली बात! अब उनसे वहाँ न रहा गया। उसी वक्त उठ बैठे, बकुचा लिया और चल खड़े हुए।

चाँदनी छिटकी हुई थी। चारों ओर सन्नाटा था। पर्वत श्रेणियाँ अभिलाषाओं की समाधियों-सी मालूम होती थीं। वृक्षों के समूह श्मशान से उठनेवाले धूँए की तरह नजर आते थे। चक्रधर कदम बढ़ाते हुए पथरीली पगडण्डियों पर चले जाते थे।

चक्रधर की इस वक्त वह मानसिक दशा हो गयी थी, जब अपने ही को अपनी खबर नहीं रहती। वह सारी रात पथरीले पथ पर चलते रहे। प्रातःकाल रेलवे स्टेशन मिला। गाड़ी आयी, उसपर जा बैठे। गाड़ी में कौन लोग बैठे थे, उन्हें देख-देखकर लोग उनसे क्या प्रश्न करते थे, उसका वह क्या उत्तर देते थे, रास्ते में कौन-कौन से स्टेशन मिले, कब दोपहर हुई, कब संध्या हुई, इन बातों का उन्हें जरा भी ज्ञान न हुआ। पर वह कर वही रहे थे, जो उन्हें करना चाहिए था। किसी की बात का ऊट-पटांग जवाब न देते थे, जिन गाड़ियों पर बैठना न चाहिए था, उनपर न बैठते थे, जिन स्टेशनों पर उतरना न चाहिए था, वहाँ न उतरते थे। अभ्यास बहुधा चेतना का स्थान ले लिया करता है।

तीसरे दिन प्रातःकाल गाड़ी काशी जा पहुँची। ज्योंही गाड़ी गंगा के पुल पर पहुँची, चक्रधर की चेतना जाग उठी। सँभल बैठे। गंगा के बायें किनारे पर हरियाली छायी हुई थी। दूसरी ओर काशी का विशाल नगर ऊँची अट्टालिकाओं और गगन-चुम्बी मंदिर-कलशों से सुशोभित, सूर्य के स्निग्ध प्रकाश से चमकता हुआ खड़ा था। मध्य में गंगा मन्दगति से अनन्त की ओर दौड़ी चली जा रही थीं, मानो अभिमान से अटल नगर और उच्छृङ्खलता से झूमती हुई हरियाली से कह रही हों—अनन्त जीवन अनन्त प्रवाह में है। आज बहुत दिनों के बाद यह चिर-परिचित दृश्य देखकर चक्रधर का हृदय उछल पड़ा। भक्ति का उद्‌गार मन में उठा। एक क्षण के लिए वह अपनी सारी चिन्ताएँ भूल गये, गंगा-स्नान की प्रबल इच्छा हुई। इसे वह किसी तरह न रोक सके।

स्टेशन पर कई पुराने मित्रों से उनकी भेंट हो गयी। उनकी सूरतें कितनी बदल गयी थीं। वे चक्रधर को देखकर चौंके, कुशल पूछी और जल्दी से चले गये। चक्रधर ने मन में कहा—कितने रूखे लोग हैं कि किसी को बातें करने की भी फुरसत नहीं।

वह एक ताँगे पर बैठकर स्नान करने चले। थोड़ी ही दूर गये थे कि गुरुसेवकसिंह मोटर पर सामने से आते दिखायी दिये। चक्रधर ने ताँगेवाले को रोक दिया। गुरुसेवक ने भी मोटर रोकी और पूछा—क्या अभी चले आ रहे हैं?

चक्रधर—जी हाँ, चला ही आता हूँ।

गुरुसेवक ने मोटर आगे बढ़ा दी। चक्रधर को इनसे इतनी रुखाई की आशा न थी। चित्त खिन्न हो उठा।

दशाश्वमेध घाट पहुँचकर ताँगे से उतरे। इसी घाट पर वह पहले भी स्नान किया करते थे। सभी पण्डे उन्हें जानते थे; पर आज किसी ने भी प्रसन्न-चित्त से उनका स्वागत नहीं किया। ऐसा जान पड़ता था कि उन लोगों को उनसे बातें करते जब्र हो रहा है। किसी ने पूछा, कहाँ-कहाँ घूमें? क्या करते रहे?

स्नान करके चक्रधर फिर ताँगे पर आ बैठे और राजभवन की ओर चले। ज्यों-ज्यों भवन निकट आता था, उनका आशंकित हृदय अस्थिर होता जाता था।

ताँगा सिंह-द्वार पर पहुँचा। वह राज्य पताका, जो मस्तक ऊँचा किये लहराती रहती थी, झुकी हुई थी। चक्रधर का दिल बैठ गया। इतने जोर से धड़कन होने लगी, मानो हथौड़े की चोट पड रही हो।

ताँगा देखते ही एक बूढ़ा दरबान आकर खड़ा हो गया, चक्रधर को ध्यान से देखा और भीतर की ओर दौड़ा। एक क्षण में अन्दर हाहाकार मच गया। चक्रधर को मालूम हुआ कि वह किसी भयंकर जन्तु के उदर में पड़े हुए तड़फड़ा रहे हैं।

किससे पूछें, क्या विपत्ति आयी है? कोई निकट नहीं आता। सब दूर सिर झुकाये खड़े हैं। वह कौन लाठी टेकता हुआ चला आता है? अरे! यह तो मुंशी वज्रधर हैं। चक्रधर ताँगे से उतरे और दौड़कर पिता के चरणों पर गिर पड़े।

मुशीजी ने तिरस्कार के भाव से कहा—दो चार दिन पहले न आते बना कि लड़के का मुँह तो देख लेते। अब आये हो, जब कि सर्वनाश हो गया! क्या बैठे यही मना रहे थे?

चक्रधर रोये नहीं, गम्भीर एवं सुदृढ भाव से बोले—ईश्वर की इच्छा। मुझे किसी ने एक पत्र तक न लिखा। बीमारी क्या थी?

मुन्शी—अजी, सिर तक नहीं दुखा, बीमारी होना किसे कहते हैं? बस, होनहार! तकदीर! रात को भोजन करके बैठे एक पुस्तक पढ रहे थे। बहू से बातें करते हुए स्वर्ग की राह ली। किसी हकीम-वैद्य की अक्ल नहीं काम करती कि क्या हो गया था। जो सुनता है, दाँतों-तले अँगुली दबाकर रह जाता है। बेचारे राजा साहब भी इस शोक मे चल बसे। तुमने उसे भुला ही दिया था, पर उसे तुम्हारे नाम की रट लगी हुई थी। बेचारे के दिल में कैसे कैसे अरमान थे! हम और तुम क्या रोयेंगे, रोती है प्रजा। इतने ही दिनों मे सारी रियासत उसपर जान देने लगी थी। इस दुनिया में क्या कोई रहे! जी भर गया। अब तो जब तक जीना है, तब तक रोना है। ईश्वर बड़ा ही निर्दयी है।

चक्रधर ने लम्बी साँस खींचकर कहा—मेरे कर्मों का फल है। ईश्वर को दोष न दीजिए।

मुन्शी—तुमने ऐसे कर्म किये होंगे, मैंने नहीं किये। मुझे क्यों इतनी बड़ी चोट लगायी? मैं भी अब तक ईश्वर को दयालु समझता था, लेकिन अब वह श्रद्धा नहीं रही। गुणानुवाद करते सारी उम्र बीत गयी। उसका यह फल! उसपर कहते हो, ईश्वर को दोष न दीजिए। अपने कल्याण ही के लिए तो ईश्वर का भजन किया है, या किसी की जीभ खुजलाती है? कसम ले लो, जो आज से कभी एक पद भी गाऊँ। तोड़ आया सितार, सारंगी, सरोद, पखावज; सब पटककर तोड़ डाले। ऐसे निर्दयी की महिमा कौन गाये और क्यों गाये? मरदे आदमी, तुम्हारी आँखों से आँसू भी नहीं निकलते? खड़े ताक रहे हो। मै कहता हूँ—रो लो, नहीं तो कलेजे में नासूर पड़ जायगा। बड़े बड़े त्यागी देखे हैं, लेकिन जो पेट-भरकर रोया नहीं, उसे फिर हँसते नहीं देखा। आओ, अन्दर चलो। बहू ने दीवार से सिर पटक दिया, पट्टी बाँधे पड़ी हुई है। तुम्हें देखकर उसे धीरज हो जायगा। मैं डरता हूँ कि वहाँ जाकर कहीं तुम भी रो न पड़ो, नहीं तो उसके प्राण ही निकल जायँगे।

यह कहकर मुन्शीजी ने उनका हाथ पकड़ लिया और अन्तःपुर में ले गये। अहल्या को उनके आने की खबर मिल गयी थी। उठना चाहती थी, पर उठने की शक्ति न थी।

चक्रधर ने सामने आकर कहा—अहल्या!

अहल्या ने फिर चेष्टा की। बरसों की चिन्ता, कई दिनों के शोक और उपवास एवं बहुत-सा रक्त निकल जाने के कारण शरीर जीर्ण हो गया था। करवट घूमकर दोनों

हाथ पति के चरणों की ओर बढ़ाये; पर वह चरणों को स्पर्श न कर सकी, हाथ फैले रह गये, और एक क्षण मे भूमि पर लटक गये। चक्रधर ने घबराकर उसके मुख की ओर देखा। निराशा मुरझाकर रह गयी थी। नेत्रों में करुण याचना भरी हुई थी।

चक्रधर ने रुँधे हुए स्वर मे कहा—अहल्या, मैं आ गया, अब कहीं न जाऊँगा। ईश्वर से कहता हूँ, कहीं न जाऊँगा। हाय ईश्वर! क्या तू मुझे यही दिखाने के लिए यहाँ लाया था?

अहल्या ने एक बार तृषित दीन एवं तिरस्कारमय नेत्रों से पति की ओर देखा। आँखें सदैव के लिए बन्द हो गयीं।

उसी वक्त मनोरमा आकर द्वार पर खड़ी हो गयी। चक्रधर ने आँसुओं को रोकते हुए कहा—रानीजी, जरा आकर इन्हें चारपाई से उतरवा दीजिए।

मनोरमा ने अन्दर आकर अहल्या का मुख देखा और रोकर बोली—आपके दर्शन बदे थे, नहीं तो प्राण तो कब के निकल चुके थे। दुखिया का कोई भी अरमान पूरा न हुआ।

यह कहते-कहते मनोरमा की आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गयी।

उपसंहार

कई साल बीत गये हैं। मुंशी वज्रधर नहीं रहे। घोड़े की सवारी का उन्हें बड़ा शौक था। नर घोड़े ही पर सवार होते थे। बग्घी, मोटर, पालकी इन सभी को वह जनानी सवारी कहते थे। एक दिन जगदीशपुर से बहुत रात गये लौट रहे थे। रास्ते मे एक नाला पड़ता था। नाले में उतरने के लिए रास्ता भी बना हुआ था; लेकिन मुंशीजी नाले में उतरकर पार करना अपमान की बात समझते थे। घोड़े ने जस्त मारी, उस पार निकल भी गया, पर उसके पाँव गड्ढे में पड़ गये। गिर पड़ा, मुंशीजी भी गिरे और फिर न उठे। हँस-खेलकर जीवन काट दिया, निर्मला भी पति का वियोग सहने के लिए बहुत दिन जीवित न रही। उसकी अन्तिम अभिलाषा, कि चक्रधर फिर विवाह कर लें, पूरी न हो सकी।

देवप्रिया फिर जगदीशपुर पर राज्य कर रही है। हाँ, उसका नाम बदल गया है। विलासिनी देवप्रिया अब तपस्विनी देवप्रिया है। उसका भविष्य अब अन्धकार-मय नहीं है। प्रभात की आशामयी किरणें उसके जीवन मार्ग को आलोकित कर रही हैं।

रानी मनोरमा नये भवन मे रहती हैं। उसने कितनी ही चिड़िया पाल रखी हैं। उन्हीं की देख-रेख मे अब वह अपने दिन काटती है। पक्षियों के कलरव में वह अपनी मनोव्यथा को विलीन कर देना चाहती है। उसके शयनागार मे सोने के चौखट में

जड़ा हुआ एक चित्र दीवार से लटका हुआ है, जिसमे दीवान हरिसेवक के मुँह से निकले हुए ये शब्द अंकित हुए हैं—

'लोगों को देखो !'

आज से कई साल पहले, जब राजा साहब जीवित थे, मनोरमा को उसके पिता ने यही अन्तिम उपदेश दिया था। उसी दिन से यह उपदेश उसका जीवन मन्त्र बना हुआ है।

चक्रधर बहुत दिन घर पर न रहे। माता-पिता के बाद वह घर, घर ही न रहा। फिर दक्षिण की ओर सिधारे, लेकिन अब वह केवल सेवा-कार्य ही नहीं करते, उन्हें पक्षियों से बहुत प्रेम हो गया है। विचित्र पक्षियों की उन्हें नित्य खोज रहती है। भक्त-जन उनका यह पक्षी-प्रेम देखकर उन्हें प्रसन्न करने के लिए नाना प्रकार के पक्षी लाते रहते हैं। इन पक्षियों के अलग-अलग नाम हैं। अलग अलग उनके भोजन की व्यवस्था है। उन्हें पढाने, घुमाने व चुगाने का समय नियत है।

साँझ हो गयी थी। मनोरमा बाग मे टहल रही थी। सहसा हौज के पास एक बहुत ही सुन्दर पिंजरा दिखायी दिया। उसमें एक पहाड़ी मैना बैठी हुई थी। रानीजी को आश्चर्य हुआ। यहाँ पिंजरा कहाँ से आया? उसके पास कई पहाड़ी चिड़ियाँ थीं, जिन्हें उसने सैकड़ों रुपये खर्च करके खरीदा था, पर ऐसी सुन्दर एक भी न थी। रग पीला था, सिर पर लाल दाग था, चोंच इतनी प्यारी कि चूम लेने का जी चाहता था। मनोरमा समीप गयी, तो मैना बोली—'नोरा! हमें भूल गयीं? तुम्हारा पुराना सेवक हूँ।'

मनोरमा के आश्चर्य का वारापार न रहा। उसे कुछ भय सा लगा। इसे मेरा नाम किसने पढाया? किसकी चिड़िया है? यहाँ कैसे आयी? इसका स्वामी अवश्य कोई होगा। आता होगा, देखूँ, कौन है?

मनोरमा बड़ी देर तक खड़ी उस आदमी का इन्तजार करती रही। जब अब भी कोई न आया, तो उसने माली को बुलाकर पूछा—यह पिंजरा बाग में कौन लाया?

माली ने कहा—पहचानता तो नहीं हजूर, पर हैं कोई भले आदमी। मुझसे देर तक रियासत की बातें पूछते रहे। पिंजरा रखकर गये कि और चिड़ियाँ लेता आऊँ, पर लौटकर न आये।

रानी—आज फिर आयेंगे?

माली—हाँ हजूर कह तो गये हैं।

रानी—आयें तो मुझे खबर देना।

माली—बहुत अच्छा सरकार!

रानी—सूरत कैसी है, बता सकता है?

माली—बड़ी-बड़ी आँखें हैं हजूर, लम्बे आदमी हैं। एक एक बाल पक रहा है।

रानी पिंजरा लिये हुए चली आयी। रात-भर वही मैना उसके ध्यान में बसी रही। उसकी बातें कानों में गूँजती रहीं।

कौन कह सकता है, यह संकेत पाकर उसका मन कहाँ-कहाँ विचर रहा था। सारी रात वह मधुर स्मृतियों का सुखद स्वप्न देखने में मग्न रही। प्रातःकाल उसके मन में आया, चलकर देखूँ, वह आदमी आया है या नहीं। वह भवन से निकली; पर फिर लौट गयी।

थोड़ी ही देर में फिर वही इच्छा हुई। वह आदमी कौन है, क्या यह बात उससे छिपी हुई थी? वह बाग के फाटक तक आयी; पर वहीं से लौट गयी। उसका हृदय हवा के पर लगाकर उस मनुष्य के पास पहुँच जाना चाहता था, पर आह! कैसे जाय?

चार बजे वह ऊपर के कमरे में जा बैठी और उस आदमी की राह देखने लगी। वहाँ से माली का मकान साफ दिखायी देता था। बैठे-बैठे बड़ी देर हो गयी। अँधेरा होने लगा। रानी ने एक गहरी साँस ली। शायद अब न आयेंगे।

सहसा उसने देखा, एक आदमी दो पिंजरे दोनों हाथों में लटकाये बाग में आया। मनोरमा का हृदय बाँसों उछलने लगा। सहस्र घोड़ों की शक्तिवाला इञ्जिन उसे उस आदमी की ओर खींचता हुआ जान पड़ा। वह बैठी न रह सकी। दोनों हाथों से हृदय को थामे, साँस बन्द किये, मनोवेग से आन्दोलित वह खड़ी रही। उसने सोचा, माली अभी मुझे बुलाने आता होगा; पर माली न आया और वह आदमी वहीं पिंजरा रखकर चला गया। मनोरमा अब वहाँ न रह सकी। हाय! वह चले जा रहे हैं! तब वहीं जमीन पर लेटकर वह फफक-फफककर रोने लगी।

सहसा माली ने आकर कहा—सरकार, वह आदमी दो पिंजरे रख गया है और कह गया है कि फिर कभी और चिड़ियाँ लेकर आऊँगा।

मनोरमा ने कठोर स्वर में पूछा—तूने मुझसे उस वक्त क्यों नहीं कहा?

माली पिंजरे को उसके सामने जमीन पर रखता हुआ बोला—सरकार मैं उसी वक्त आ रहा था; पर उसी आदमी ने मना किया। कहने लगा, अभी सरकार को क्यों बुलाओगे? मैं फिर कभी और चिड़ियाँ लाकर उनसे आप ही मिलूँगा।

रानी कुछ न बोली। पिंजरे में बन्द दोनों चिड़ियों को सजल नेत्रों से देखने लगी।

———